Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust

: 302, 'Krishna-Kunj', Plot No.30, Navyug CHS Ltd., V. L. Mehta Marg, Vile Parle(w), Mumbai–400056
Phone No. : (022) 2613 0820. **Website:** www.vitragvani.com **Email:** vitragva@vsnl.com

"Natak Samaysaar Pravachan Part-2" has been published by us & the PDF version of the same has been put on our website www.vitragvani.com

We have taken due care, while preparing the same. However, if you find any error, you may kindly inform us on info@Vitragvani.com

By "Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust"
(Shri Shantilal Ratilal Shah-Parivar, Mumbai)

www.vitragvani.com

ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय-पुष्प नं. - 31

समयसार नाटक प्रवचन

भाग-2

अध्यात्म रसिक पण्डित बनारसीदास रचित समयसार नाटक शास्त्र पर

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के

अध्यात्मरसपूरित प्रवचन

हिन्दी अनुवाद व सम्पादन :

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राजस्थान)

प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

वीर निर्वाण 2536 विक्रम संवत् 2065 ईस्वी सन् 2010

(पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के जन्म दिवस के अवसर पर)

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

— **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
302, कृष्ण-कुंज, वी. एल. मेहता मार्ग
विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई - 400 056
e-mail - vitragva@vsnl.com

— **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट**
तीर्थधाम मङ्गलायतन,
अलीगढ़-आगरा मार्ग,
सासनी - 204216 (महामायानगर), उत्तरप्रदेश।
e-mail - info@mangalayatan.com

— **श्री टोडरमल स्मारक भवन**
ए-4, बापू नगर, जयपुर - 302015

टाइप सैटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

श्री समयसार आदि परमागमों के गम्भीर रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री तीर्थङ्कर भगवान के शुद्धात्मानुभव प्रधान आध्यात्मिक शासन को जीवन्त रखनेवाले आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं और इस प्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्ता कर आपने असाधारण महान् उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्मविद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है, वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावनायोग का अद्‌भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशन करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तद्‌नुसार कविवर पण्डित बनारसीदास विरचित 'समयसार नाटक' पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का सङ्कलन '**समयसार नाटक प्रवचन' भाग-2** के रूप में प्रकाशित करते हुए कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अति भक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

इस 'समयसार नाटक' के प्रवचनकार परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी शुद्धात्मदृष्टिवन्त, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव-गुरु-धर्म के परम भक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के पारगामी, स्वानुभवरचंदी भावश्रुतलब्धि के धनी, सततज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासह सम्यक्‌अनेकान्तरूप अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम प्रवचनकार और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युगसृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्ययेता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूपसन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग-भक्ति के रंग से रंगा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्‌भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्म नवनीत पूर्ण इस 'समयसार नाटक' के प्रत्येक छन्द को एवं कलश को सर्व ओर से छानकर, विराट अर्थों को इन प्रवचनों में खोला है। अतिशय सचोट, पर सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और प्रकृत विषयसंगत अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा पूज्य गुरुदेव ने 'समयसार नाटक' के अर्थ गम्भीर सूक्ष्म भावों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाये हैं। जीव को कैसे भाव सहज रहें, तब जीव पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन समझा कहा जाए; कैसे भाव रहें, तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा गिना जाए; भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुव तत्त्व का (अनेकान्त सुसंगत) कैसा आश्रय हो तो द्रव्यदृष्टि यथार्थ परिणमी मानी जाए; कैसे-कैसे भाव रहें, तब स्वावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, तप, वीर्यादि की प्राप्ति हुई कहलाये - इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषयों को मनुष्य जीवन में बनते अनेक प्रसङ्गों के सचोट दृष्टान्तों से ऐसे स्पष्ट किये हैं कि आत्मार्थी को उस-उस विषय का स्पष्ट भाव भासन होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं और वह शुभभावरूप बन्धमार्ग में मोक्षमार्ग की मिथ्या कल्पना छोड़कर शुद्धभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक् पुरुषार्थ में जुड़ता है। इस प्रकार 'समयसार नाटक' के स्वानुभूति दायक गम्भीर भाव हृदय में सीधे उतर जाएँ - ऐसी असरकारक भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाकर गुरुदेव ने आत्मार्थी जगत् पर अनहद उपकार किया है। 'समयसार नाटक' में छिपे हुए अनमोल तत्त्वरत्नों का मूल्य स्वानुभव विभूषित कहान गुरुदेव ने जगत् विदित किया है।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पन्थ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षु जीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं - ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार 'समयसार नाटक' शास्त्र में निहित अध्यात्म तत्त्वविज्ञान के गहन रहस्य अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्म-रुचि जागृत करके पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी खड़ी करानेवाले ये प्रवचन, जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष सत्समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षुओं को अनन्य आधारभूत है। निरावलम्बन पुरुषार्थ समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ 'समयसार नाटक' के सर्वाङ्ग स्पष्टीकरणरूप इन प्रवचनों में समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानों श्रुतामृत का सुख सिन्धु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्मतत्त्व की रुचि उत्पन्न करके पर के प्रति रुचि नष्ट करनेवाली परम औषध है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटि के सभी आत्मार्थियों

का अत्यन्त उपकारक है। पूज्य गुरुदेवश्री ने यह अमृतसागर समान प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदन के लिये अमोघ शस्त्र है; जो डाली और पत्रों को छुए बिना ही मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायु मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत है।

इस प्रवचन ग्रन्थ में समयसार नाटक के पुण्य-पाप एकत्व द्वार, आस्रव द्वार, संवर द्वार, निर्जरा द्वार, बन्ध द्वार, और मोक्ष द्वार तक के प्रवचन सङ्कलित हैं।

इस प्रसङ्ग पर मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है, उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवन्दन करके भावना भाते हैं कि मुमुक्षुजन अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत् परमानन्द को पायें।

इस प्रवचन ग्रन्थ के प्रकाशन प्रसंग पर आत्मधर्म के लिए समयसार नाटक पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध करनेवाले सम्पादक के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद व सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन, बिजौलियाँ, राजस्थान ने किया है। लेजर टाइप सेटिंग का कार्य विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ एवं मुद्रण कार्य दिनेश जैन शास्त्री, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर द्वारा सम्पन्न हुआ है; अतः उक्त सभी के आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्षु निज कल्याण साधें - ऐसी भावना हैं।

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

दो शब्द

अध्यात्मरसिक पण्डित प्रवर बनारसीदासजी द्वारा रचित नाटक समयसार पर हुए आध्यात्मिक सन्त अनन्त उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन 'समयसार नाटक प्रवचन' भाग-2 समस्त तत्त्व प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

यह तो सर्वविदित है कि परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के जीवन परिवर्तन में समयसार परमागम का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विक्रम संवत् 1978 में जब पूज्यश्री के हाथ में यह परमागम आया तो उन्होंने उसमें गहन अवगाहन करके पाया कि **अहो! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।** तत्पश्चात् तो उन्होंने प्रभुता तुल्य प्रतिष्ठा का तृणवत् परित्याग करके आजीवन इस परमागम में गोते लगाते हुए सम्पूर्ण जगत् को समयसारमय बना दिया। इसी ग्रन्थ पर सभा में उन्नीस बार किये गये प्रवचन इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

इस परमागम के रचयिता आचार्य भगवत् कुन्दकुन्द और टीकाकार अमृतचन्द्र के प्रति आपका हृदय भक्ति से उछल पड़ता था।

इस परमागम की आत्मख्याति टीका में समागत कलशों पर पण्डित राजमलजी पाण्डे की टीका के आधार से पण्डित बनारसीदासजी ने इस नाटक समयसार की रचना की है। उनके पुण्य-पाप एकत्व द्वार, आस्रव द्वार, संवर द्वार, निर्जरा द्वार, बन्ध द्वार, और मोक्ष द्वार तक के प्रवचनों का संकलन प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशित किया जा रहा है।

परम पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में निज भगवान आत्मा के वैभव का निज अनुभवरस झरती वाणी में प्रतिपादन कर मुमुक्षु समाज पर अविस्मरणीय अनन्त उपकार किया है। इस उपकार के लिए पूज्यश्री के चरणयुगल में अपनी अनन्त विनयांजली समर्पित करता हूँ। इस अनुवाद के प्रेरक अपने विद्यागुरु पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़ के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनुवाद को अधिकार रूप रखा है जबकि गुजराती में प्रवचन क्रमांक के अनुसार रखा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है।

इन प्रवचनों का अनुवाद व सम्पादन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित किये हुए तत्त्वज्ञान के गम्भीर रहस्यों को समझाने का जो अवसर प्राप्त हुआ, वह मेरी अमूल्य निधि है - ऐसा मैं मानता हूँ।

इन प्रवचनों के अनुवाद व सम्पादन का अवसर प्रदान करने हेतु प्रकाशक परिवार का भी आभारी हूँ और बारम्बार ऐसे सुअवसर प्रदान होंगे - ऐसी भावना भाता हूँ।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन गंगा में स्नान कर भवताप का शमन करें - यही भावना है।

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

अनुक्रमणिका

क्रम	अध्याय	पृष्ठ
4	पुण्य–पाप एकत्व द्वार	1
5	आस्त्रव द्वार	63
6	संवर द्वार	100
7	निर्जरा द्वार	140
8	बन्ध द्वार	290
9	मोक्ष द्वार	438

थोड़ा सहन करना सीख

भाई! यह तेरे नरकादि दु:खों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है; वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है, परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दु:ख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशम रस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये? कोई पानी क्यों नहीं देता?' परन्तु भाई! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया। *- पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११*

ॐ

परमात्मने नमः

समयसार नाटक प्रवचन

भाग - 2

४ पुण्य-पाप एकत्व द्वार

अब, पुण्य-पाप एकत्व द्वार कहते हैं। इस अधिकार में यह कहेंगे कि पुण्य-पाप दोनों की एक जाति है।

करता किरिया करमकौ, प्रगट बखान्यौ मूल।
अब बरनौं अधिकार यह, पाप पुन्न समतूल॥ १॥

अर्थ - कर्त्ता, क्रिया और कर्म का स्पष्ट रहस्य वर्णन किया। अब, पाप-पुण्य की समानता का अधिकार कहते हैं।

काव्य - १ पर प्रवचन

कर्ता-कर्म और क्रिया के रहस्य का स्पष्टरूप से वर्णन करके, अब पुण्य-पाप की समानता का अधिकार कहता हूँ।

पुण्य-पाप दोनों बन्ध के कारण हैं। शुभभाव सोने की बेड़ी है और अशुभभाव लोहे की बेड़ी है - दोनों बेड़ी ही हैं।

www.vitragvani.com

मङ्गलाचरण

जाके उदै होत घट-अंतर,
बिनसै मोह-महातम-रोक।
सुभ अरु असुभ करम की दुविधा,
मिटै सहज दीसै इक थोक॥
जाकी कला होत संपूरन,
प्रतिभासै सब लोक अलोक।
सो प्रबोध-ससि निरखि बनारसि,
सीस नवाइ देत पग धोक॥ २॥

अर्थ – जिसके उदय होने पर हृदय से मोहरूपी महा अन्धकार नष्ट हो जाता है और शुभकर्म अच्छा है व अशुभकर्म बुरा है, यह भेद मिटकर दोनों एक से भासने लगते हैं, जिसकी पूर्ण कला के प्रकाश में लोक-अलोक सब झलकने लगते हैं; उस केवलज्ञानरूप चन्द्रमा का अवलोकन करके पण्डित बनारसीदासजी मस्तक नवाकर वन्दना करते हैं।

काव्य - २ पर प्रवचन

देखो, यह बनारसीदास! आचार्यदेव ने कलश में जो भाव कहा है, उसी भाव को स्वयं पद्य में कहते हैं।

'**जाके उदै होत घट अंतर।**' शुभ और अशुभभाव दोनों बन्ध के ही कारण हैं – ऐसा जानकर, जहाँ उनसे भिन्न पड़कर अन्दर में चैतन्यभाव प्रगट होता है कि 'मैं तो शुद्ध चैतन्य हूँ' ऐसी अन्तर्वृत्ति होने पर हृदय में से मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है।

निज चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा को पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके, स्वरूप में एकाग्र होने पर महामोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है। जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार चला जाता है; उसी प्रकार चैतन्यसूर्य का उदय होते ही मोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है अर्थात् मिथ्यात्व मिट जाता है। अनादि से शुभाशुभ विकल्पों का उदय होता था, उनमें शुद्ध चैतन्य के प्रकाश का अनादर होता था। अब, जहाँ अन्तर्मुख होकर भगवान आत्मा

www.vitragvani.com

की शुद्धता को देखता है / स्पर्शता है अर्थात् आदर करता है, वहाँ सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट होती है।

'**सुभ अरु असुभ करम की दुविधा मिटै, सहज दीसै इक थोक।**' पहले शुभ और अशुभ इन दो भावोंरूप अपने को देखता था। अब, जहाँ इन दोनों भावों को मेलरूप जाना, वहाँ इनसे भिन्न पड़कर एकरूप ज्ञायकमूर्ति को देखता है, तो सम्यग्ज्ञान चन्द्रमा और केवलज्ञान चन्द्रमा का उदय होता है। ज्ञायकमूर्ति का अनुभव सम्यग्ज्ञान है और आगे बढ़कर उसमें से ही केवलज्ञान होता है।

'**जाकी कला होत संपूरन....**' जैसे चन्द्रमा में पहले दूज उगती है, पश्चात् उसकी कला बढ़कर पूर्ण चन्द्रमा होता है; उसी प्रकार प्रथम तो शुभाशुभ राग से भिन्न पड़कर अन्तर्मुख दृष्टि करने से सम्यग्ज्ञान की कला उगती है और वह कला शुभाशुभ दोनों के भेदों को तोड़ती हुई, एकरूप स्वभाव में एकाग्र होती हुई, साधकदशा बढ़कर पूर्ण होती है। उस पूर्णकला-केवलज्ञान में लोक और अलोक जैसा है, वैसा प्रतिभासित होता है। उस '**प्रबोध-ससि निरखि**' — केवलज्ञान चन्द्रमा को देखकर बनारसीदासजी उसे मस्तक झुकाकर वन्दन करते हैं।

ये तो बहुत ऊँचे कवि / अध्यात्म कवि हैं। पहले तो शृंगाररस के रसिक थे, उसकी पुस्तक बनायी, महान कवि थे। फिर जब सत्य वस्तु का परिज्ञान हुआ तो शृंगाररस की पुस्तक गोमती नदी में बहा दी। अहो! चैतन्य भगवान की प्राप्ति करने का मार्ग तो कोई अलग है। पुण्य और पाप के दोनों विकल्पों को छोड़कर, दृष्टि में एक चिदानन्द आत्मा को लेकर, उसमें एकाग्र होना ही ज्ञानकला है।

पुण्यपरिणाम में एकत्व होना तो व्यभिचार है। कारण कि सहजानन्द मूर्ति आत्मा सुखस्वरूप है और राग तो दु:खरूप है - इन दोनों को एक मानना व्यभिचार है। सुख और दु:ख एक कैसे हो सकते हैं?

अरे! धर्म के नाम पर कोई तो क्रिया में उतर पड़े, कोई यात्रा में उतर पड़े, कोई भक्ति में उतर पड़े... परन्तु आत्मा तो इन समस्त क्रियाओं के विकल्पों से पार रहता है, उसकी अनुभूति ही धर्म है।

www.vitragvani.com

यहाँ चन्द्रमा का दृष्टान्त क्यों लिया ? क्योंकि पुण्य-पाप के विकल्प में आकुलता है - अशान्त है - आताप है; जिसने उनसे हटकर चैतन्य का आश्रय लिया; उसको शीतलता-शान्ति प्राप्त हुई; इसलिए चैतन्य को चन्द्रमा की उपमा दी है। चैतन्यचन्द्र का उदय होने पर मोह का महा अन्धकार नष्ट हो जाता है और शुभकर्म अच्छा है अथवा अशुभकर्म बुरा है — यह भेद मिटकर दोनों एक समान भासित होने लगते हैं। पुण्य-पाप का भेद मिट जाता है, दोनों बन्ध के कारण हैं — ऐसा भासित होता है। इस चैतन्यचन्द्र की कला बढ़कर पूर्ण होने पर केवलज्ञान में लोकालोक झलकने लगता है। उस केवलज्ञानरूप चन्द्रमा का अवलोकन करके पण्डित बनारसीदासजी वन्दन करते हैं।

इस प्रकार यह पहला कलश हुआ।

अब, दूसरे कलश के पद्य में दृष्टान्तपूर्वक पुण्य-पाप की समानता को समझाते हैं —

पुण्य-पाप की समानता

जैसैं काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयौ बांभनकै एक घर राख्यौ है।
बांभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है॥
तैसैं एक वेदनी करमके जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहूं मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
यातैं ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यौ है॥ ३॥

अर्थ - जैसे किसी चाण्डालनी के दो पुत्र हुए, उनमें से उसने एक पुत्र ब्राह्मण को दिया और एक अपने घर में रखा। जो ब्राह्मण को दिया, वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य-माँस का त्यागी हुआ, पर जो घर में रहा वह चाण्डाल कहलाया और मद्य-माँसभक्षी हुआ। उसी प्रकार एक वेदनीयकर्म के पाप और पुण्य भिन्न-भिन्न नामवाले दो पुत्र हैं, सो दोनों में संसार की भटकना है और दोनों बन्ध परम्परा को बढ़ाते हैं; इससे ज्ञानी लोग दोनों ही की अभिलाषा नहीं करते।

www.vitragvani.com

काव्य - ३ पर प्रवचन

पुण्य और पाप दोनों विभाव है। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान की मूर्ति है। ये दोनों (पुण्य-पाप) भगवान आत्मा से विरुद्ध विभावपरिणति के पुत्र हैं, इसलिए इन दोनों में से कोई भी आत्मा का स्वभावरूप नहीं है। शुभभाव हो या अशुभभाव हो, ये दोनों संसार के कारण हैं - संसार में परिभ्रमण करानेवाले हैं। दोनों कर्मबन्धन करानेवाले हैं। दोनों के नाम भिन्न-भिन्न होने पर भी पुण्य और पाप दोनों विभाव के ही पुत्र हैं।

'दुहू मोहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप' — पुण्य-पाप दोनों भाव संसार में परिभ्रमण करानेवाले हैं, कर्म का बन्ध करानेवाले हैं। धर्मी जीव इन दोनों भावों में से किसी भी भाव की अभिलाषा नहीं करता। धर्मी को इनमें से किसी भाव में अपनापन नहीं होता। शुभ-अशुभभाव की जाति एक है और इनसे बँधनेवाले पुण्य-पाप कर्म के फल में संयोग मिलते हैं, वे कोई आत्मा को हितकर नहीं है, संसार में भटकानेवाले हैं।

पाप के उदय में शरीर में कीट पडें, निर्धनता आवें, लोग अपमान करें - ऐसे संयोग बनते हैं और पुण्य के उदय में निरोगी शरीर मिलता है, धन के ढेर होते हैं, जगत के लोग खम्मा... खम्मा... करते हैं, पधारो... पधारो कहते हैं — ऐसे संयोग मिलते हैं, परन्तु ज्ञानी किसी की अभिलाषा नहीं करते हैं। ज्ञानी जानते हैं कि यह दोनों भाव विभावरूपी चाण्डालनी के पुत्र हैं। बाहर के संयोग आत्मा को लाभ-हानिरूप नहीं होते; इसलिए धर्मी शुभ-अशुभभाव को, उससे होवेवाले कर्मबन्धन को तथा उसके फल में प्राप्त संयोग को बिलकुल नहीं चाहते।

खाने में खाजा (विशिष्ट पकवान) मिलते हों, लाखों रुपयों की कार में घूमने को मिलता हो... इससे क्या! आत्मा अपने स्वक्षेत्र को छोड़कर कहीं जाता ही नहीं; इसलिए मोटर में भी आत्मा तो अपने क्षेत्र में ही बैठता है, मोटर में नहीं बैठता। सोने की कुर्सी पर बैठकर, सोने-चाँदी के थाल में, भाँति-भाँति का भोजन जीमने के लिए मिलता हो तो अज्ञानी खुश... खुश हो जाता है, परन्तु यह नहीं देखता कि इसमें से मेरे आत्मा में क्या आया? इसी प्रकार पाप के उदय में निर्धनता का संयोग हो, काला शरीर हो, एक आँख से दिखता न हो, कान से सुनाई न देता हो, घर में स्त्री न हो... इससे आत्मा में क्या कम

www.vitragvani.com

हुआ ? आत्मा में तो कोई संयोग नहीं है। ये सब मात्र जाननेयोग्य है, इसके बदले यह ठीक और यह अठीक – ऐसी अज्ञानी की मान्यता ही दु:खरूप है।

जड़ की महानता से आत्मा की महानता माननेवाला जड़ है।

प्रश्न – जड़ है या जड़बुद्धि है ?

उत्तर – वह जड़ ही है। जब पर तरफ उपयोग जाता है, वह भी जड़ है; तो पर में प्रेम करनेवाला तो जड़ ही होगा न! वह अचेतन है – पागल है – मरा हुआ है / मुर्दा है। मुझे निर्धनता ठीक नहीं है और सधनता से मेरी शोभा है... यह सब मूढ़ता है। तू तो चैतन्य महाप्रभु है न! तेरे वैभव के समक्ष तो निर्मलपर्याय भी एक अंश है, इसलिए वारदान है, ऐसा जाननेवाले ज्ञानी को पुण्य-पाप की तो कुछ गिनती ही नहीं होती।

ज्ञानी छह खण्ड के राज्य में हो, चाहे सातवें नरक में हो परन्तु ज्ञानी को उसका हर्ष-शोक नहीं है। इस नरक की वेदना की अपेक्षा कुछ अनुकूलता होती तो ठीक था – ऐसा ज्ञानी को नहीं होता। समकिती के इन्द्र का अवतार हो, करोड़ों देवियाँ खम्मा... खम्मा करती हों, बड़ा देव हाथी का रूप धारण करता है, उस पर इन्द्र बैठता है, तथापि मुझको यह सब ठीक है, अच्छा है — ऐसा समकिती नहीं मानता।

जयपुर में रथयात्रा निकाली थी, उसमें १८ हाथी, १८ ऊँट और अन्य रथ तथा २५-३० हजार लोग... लोगों को ऐसा लगा कि यह क्या है ? ... (भाई!) यह सब पुण्य का ठाठ है, इसमें आत्मा नहीं है, इसमें आत्मा की शोभा नहीं है। आनन्द का नाथ आत्मा आनन्द की कला से खिले, इसी में उसकी शोभा है। बाहर की शोभा या अशोभा के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(अज्ञानी) मखमल के गद्दों पर रेशमी वस्त्र पहिनकर मान से बैठा हो, परन्तु आत्मा का भान नहीं है तो उसको क्या सुख है ? और सातवें नरक में बैठा हो, परन्तु आत्मा का भान है तो तू वहाँ भी सुखी है। बाहर की तीव्र वेदना होने पर भी ज्ञानी उसको अठीक नहीं मानते, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है — ऐसा मानते हैं।

धर्मी जीव को कोई पहिचाने तो उसकी कीमत (महिमा) होती है और नहीं

www.vitragvani.com

पहिचाने तो कीमत नहीं होती — ऐसी नहीं होता। बाहर में लोग मुझे कुछ महत्त्व दें, बड़ा मानें — ऐसी अपेक्षा धर्मी को नहीं होती। अज्ञानी को तो थोड़ा कुछ आता हो तो वह अधिक दिखाना चाहता है और कोई हीनदशा हो तो उसे ढँकता है। शरीर काला हो और आँख कानी हो तो स्त्रियाँ साड़ी से ढँककर रखती हैं कि किसी को दिखे नहीं — अरे प्रभु! यह तुझे क्या हुआ है? तू तो सत्चिदानन्द अनन्त आनन्द का नाथ है, यह शरीर कहाँ तेरा है कि इसे छुपाना पड़े।

धर्मी को ऐसे समस्त प्रसङ्गों में समाधान ही वर्तता है कि मैं तो आनन्द और ज्ञान हूँ, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग तो जड़ ही लीला है, उसमें मेरा कुछ नहीं है। ज्ञान की मूर्ति और आनन्द के सागर को पुण्य-पाप के राग से भिन्न पाड़कर स्वभाव में एकाग्र होने से जो ज्ञानानन्द की कला जगती है, वह धर्म है और उसका धारक धर्मी है। मात्र सामायिक, प्रतिक्रमण आदि के पाठ पढ़ ले और मान्यता सारी की सारी विपरीत होवे तो वह कोई धर्मी नहीं है। धर्मी तो पुण्य या पाप दोनों में से किसी को नहीं चाहता।

जीव में अनुकूल अथवा प्रतिकूल संयोग की तो नास्ति है। आचार्यदेव कहते हैं कि हमको तो तुझे प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्था से भी पृथक् चैतन्यदेव बताना है, तो तू इन संयोगों में कहाँ रुक गया है? तेरे ध्रुव में कोई पर्याय ही नहीं है। जिसकी दृष्टि और अनुभव में ऐसे ध्रुवस्वभाव की अधिकता आई है, वह किसी संयोग में विशेषता नहीं मानता। हीन या अधिक किसी संयोग को अपना नहीं मानता।

इस प्रकार शुभ और अशुभ दोनों भाव भटकने के मार्ग हैं, इनसे संसार का अभाव नहीं होता। मैं शुभ-अशुभ दोनों भावों से भिन्न हूँ, इनसे बँधनेवाले पुण्य-पापरूप कर्मबन्धन से भी मैं भिन्न हूँ और उसके फल में प्राप्त अनुकूल अथवा प्रतिकूल संयोगों से भी मैं पृथक् हूँ। इस प्रकार इन सबसे भेदज्ञान करके, आत्मा को पृथक् कर लेना ही माङ्गलिक कार्य है — धर्म है; इसी में जीव की शोभा है। पञ्चों में मान्यता होने अथवा सभा में अच्छा भाषण देते आना कि जिसे सुनकर लोग प्रसन्न हो जाए, इसमें जीव की शोभा नहीं है। अच्छा बोलना आना तो जड़ की क्रिया है और बाहर को उघाड़ भी जड़ है, उससे जीव की महत्ता नहीं है।

www.vitragvani.com

पुण्य-पापभाव, कर्म और संयोग अचेतन है; इसलिए धर्मी उनको नहीं चाहता। अपने उपयोग का परसन्मुख झुकाव भी अचेतन है, दु:खदायक है; इसलिए उसको भी धर्मी नहीं चाहता। ऐसा मार्ग है बापू! ज्ञानीजन किसी की भी अभिलाषा नहीं करते और अज्ञानी तो जरा कुछ पुण्य करे अथवा कुछ जानपना हो तो अपने को चतुर मनवाने लगता है कि हमारी कुछ गिनती तो करो... भाई! तेरी गिनती संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीवों में है।

धर्मी तो जानता है कि शुभाशुभभाव, उसका बन्धन और उसके फल से मेरी वस्तु भिन्न है। मेरी वस्तु में कोई भी विकल्प नहीं होता — ऐसा तो प्रमाणज्ञान में जानता है और द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से तो मेरे में पर्याय भी नहीं है — ऐसा धर्मी जानता है। इसलिए ज्ञानी को यह इच्छा भी नहीं होती कि ऐसी पर्याय करूँ; तब पुण्य करूँ - ऐसी इच्छा तो कैसे होगी?

अज्ञानी तो धर्म के नाम पर मेरे हिंसा नहीं चलती, माँस-मदिरा मेरे नहीं चलती, परस्त्री नहीं चलती; इस प्रकार अशुभ का तो त्याग करता है, परन्तु शुभभाव को निज मानकर सेवन करता है। वस्तुत: शुभभाव भी विभाव का पुत्र है, मेरा नहीं — ऐसा वह नहीं जानता। जैसे चाण्डालनी का पुत्र ब्राह्मण के घर में रहने से ब्राह्मण नहीं हो जाता; उसी प्रकार विभाव का पुत्र, अशुभ छोड़कर शुभ में रहने से स्वभाव नहीं हो जाता। शुभ और अशुभ दोनों भाव विभाव के ही पुत्र हैं। भगवान आत्मा तो विभाव की परिणति से अत्यन्त भिन्न है। जिसको उसका भान है, वह शुभ अथवा अशुभ दोनों में से एक को भी नहीं चाहता।

भावार्थ यह है कि जिस प्रकार पापकर्म बन्धन है और संसार में भटकानेवाला है, उसी प्रकार पुण्य कर्म भी बन्धन है और उसका फल भी संसार ही है। इस कारण दोनों एक समान ही है। पुण्य सोने की बेड़ी के समान और पाप लोहे की बेड़ी के समान हैं; परन्तु हैं दोनों बन्धन ही।

जिस प्रकार हिंसा, झूठ, राग-द्वेषादि अशुभभाव बन्ध के कारण है; उसी प्रकार अहिंसा, सत्य, दया, दान, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव भी बन्ध के कारण हैं। दोनों प्रकार के भाव, जीव को संसार परिभ्रमण करानेवाले हैं। हमको विषय-कषाय के बिना नहीं

www.vitragvani.com

चलता, माँस-मदिरा के बिना नहीं चलता, व्यापारादि में होनेवाले पाप से हमें कोई तकलीफ नहीं है — ऐसा माननेवाले तो अशुभभाव में खड़े है परन्तु त्यागी नाम धराकर, श्रावक नाम धराकर, हमको विषय-कषाय नहीं चलते, माँस-मदिरा नहीं चलती, हम पाप का व्यापार नहीं करते, हमारे लिए बनाया आहार नहीं चलता — ऐसे शुभभाव में खड़े है, परन्तु यदि आत्मा की पहिचान नहीं है तो वे भी संसार में ही परिभ्रमण करनेवाले हैं। तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप बन्धन ही है; इसलिए संसार में ही परिभ्रमण करानेवाला है। 'यह नहीं चलता-वह नहीं चलता' — यह सब भी विभावभाव है परन्तु इस अज्ञानी ने इसको धर्म माना है — यही महान भूल इसको संसार का महान फल देती है।

शुभ अथवा अशुभ किसी भी विकल्प की वृत्तियाँ हैं, वे सब विभाव के पुत्र हैं - चाण्डालनी के पुत्र हैं। आत्मा तो ज्ञान और आनन्द का सागर है, उसमें यह दोनों वृत्तियाँ दु:खरूप हैं - जहर है। एक लोहे की बेड़ी है तो एक सोने की बेड़ी है; ये दोनों जीव को बाँधते हैं, संसार में भ्रमाते हैं, आत्मा की शान्ति को लूटते हैं।

भगवान आत्मा एक वस्तु है / पदार्थ है / सत् है। वह ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता आदि गुणोंरूपी सत्व से भरा हुआ तत्त्व है। उसके शुद्धपरिणाम होते हैं, वे उसके अबन्ध के कारण हैं, वे ही धर्म के परिणाम हैं। भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द का धाम है, उसमें से जो अङ्कुर फूटता है, वह ज्ञान और आनन्द देता है। बाकी मुझे यह नहीं चलता - ऐसे शुभभाव तो सब बन्ध के कारण हैं - विकारी पर्याय है; आत्मा का पुत्र नहीं है, विकार का पुत्र है।

शुभोपयोगरूप व्यवहार में मग्न रहनेवाला जीव, शुद्धभावरूप निजभाव को नहीं जानता है, कि जो शुभ और अशुभ दोनों से रहित है। जो एक सूक्ष्म राग के कण को भी निज मानकर लाभरूप मानता है, उसके संसार है; कारण कि इस मिथ्यात्व के फल में संसार ही फलता है।

मैं देव-शास्त्र-गुरु का विनय करूँ, क्योंकि विनय ही मोक्ष का कारण है; इस कारण इस विनय से ही मेरा मोक्ष हो जाएगा - ऐसा अज्ञानी मानता है परन्तु भाई! किस विनय से मोक्ष है? यह तो तू समझ! परद्रव्य के प्रति होनेवाला विनय तो विकल्प है। स्वद्रव्य का

www.vitragvani.com

विनय मोक्ष का कारण है, उसके साथ देव-शास्त्र-गुरु के विनय का विकल्प आयेगा अवश्य; परन्तु उसको दु:खरूप जानकर, स्वभाव की ओर दृष्टि देना। परद्रव्य का आश्रय लेकर जो कोई परिणाम होते हैं, वे सब बन्ध के कारण है; इसी कारण शुभभाव को भी बन्ध का कारण कहा है। तीन लोक के नाथ की वाणी सुनने का भाव भी शुभभाव होने से पुण्यबन्ध का कारण है।

बापू! तू कहाँ गुण और आनन्द से खाली है कि पर को अनुसरकर परिणाम करने जाता है? तू तो भगवान है! साक्षात् भगवान है! तू स्वयं परमात्मा है। शान्ति और ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण प्रभु है। इसकी दृष्टि बिना जितने भी पराश्रित परिणाम होते हैं, वे सब ज़हर के समान दु:खदायक है; इसलिए किसी भी शुभपरिणाम में सन्तोष मानकर अटक मत जाना। हम ब्रह्मचारी हैं, आरम्भ परिग्रह से रहित हैं; इसलिए सुखी हैं - ऐसा मानकर अटक मत जाना। भाई! अन्तर आत्मा के सुख का मार्ग कोई अलग ही है।

ऊपर से इन्द्राणी डिगाने आने पर भी डिगे नहीं - ऐसा साधुपना पालन करके नौवें ग्रैवेयक तक जाना शुभभाव का फल है, उसमें धर्म नहीं है। भगवान आत्मा तो निर्मलानन्द-सत्चिदानन्द मूर्ति है। उसके अवलम्बन के बिना तो धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होता। कितने ही उत्कृष्ट पुण्य का बन्ध हो परन्तु उसका विपाक अर्थात् फल संसार ही है।

जिस प्रकार आत्मा अविनाशी है, उसी प्रकार उसकी ज्ञान-आनन्द आदि शक्तियाँ भी अविनाशी हैं। इस अविनाशी आनन्दस्वरूप को पकड़ना और उसमें एकाकार होने का नाम धर्म है। इस प्रकार पहले श्रद्धा में धर्म के स्वरूप का पक्ष तो कर! विकल्प से निर्णय तो कर कि अन्तर स्वभाव के स्पर्श अर्थात् अनुभव से ही धर्म होने योग्य है। शुभ-अशुभभाव तो संसार का फल देनेवाले हैं। पुण्य सोने की बेड़ी के समान तो पाप लोहे की बेड़ी के समान हैं। दोनों भाव जीव को बन्ध करानेवाले हैं।

यह बात सुनकर शिष्य को पुण्य-पाप की समानता में शङ्का उत्पन्न होती है — इस कारण वह प्रश्न करता है।

शिष्य कहता है कि महाराज! पुण्य और पाप में तो बहुत अन्तर है, वे दोनों एक कैसे हो सकते है? अशुभभाववाला जीव तो दुकान पर बैठा होता है, व्यापार करता है, कारखाना

www.vitragvani.com

चलाता है वह; और शुभभाववाला त्यागी-मुनि होकर महाव्रतों का पालन करता है - इन दोनों में कितना अन्तर है; फिर भी दोनों को एक कैसे कहा जाए ?

शिष्य के प्रश्न का काव्य निम्न प्रकार है।

पाप-पुण्य की समानता में शिष्य की शङ्का

कोऊ सिष्य कहै गुरु पांहीं।
पाप पुन्न दोऊ सम नाहीं॥
कारन रस सुभाव फल न्यारे।
एक अनिष्ट लगैं इक प्यारे॥ ४॥

अर्थ - श्रीगुरु के समीप कोई शिष्य कहता है कि पाप और पुण्य दोनों समान नहीं है, क्योंकि उनके कारण, रस, स्वभाव तथा फल चारों ही जुदे-जुदे हैं। एक के (कारण, रस, स्वभाव, फल) अप्रिय और एक के प्रिय लगते हैं।

काव्य - ४ पर प्रवचन

पुण्य-पाप के बन्धन के कारण में अन्तर है। पुण्यबन्ध का कारण शुभभाव है और पापबन्ध का कारण अशुभभाव है। इसी प्रकार दोनों के रस में भी अन्तर है, स्वभाव भी दोनों का अलग है और फल भी अनुकूल और प्रतिकूल - इस प्रकार दो प्रकार का अलग-अलग लगता है। एक प्रिय लगता है तो एक अप्रिय लगता है; तब आप दोनों भावों को समान कैसे कहते हो ? एक के निर्धनता होती है, शरीर काला होता है, कान से सुनायी नहीं देता, आँख से दिखायी नहीं देता, घर में स्त्री नहीं होती, महीने में २५ रुपये कमाने की शक्ति नहीं होती और एक के घर में सब प्रकार की अनुकूलता होती है, शरीर सुन्दर और बलवान होता है, कमाई का पार नहीं होता - इस प्रकार दोनों में अन्तर होने पर भी आप दोनों को समान कैसे कहते हो ?

यह दोनों प्रकार की सामग्री बाहर में रह जाती है। यह कोई आत्मा को सुख या दुःख देनेवाली नहीं है, इससे आत्मा को कुछ लाभ या नुकसान नहीं है। अज्ञानी जीव मात्र कल्पना करता है कि मुझे यह दुःख है और मुझे यह सुख है। यह कल्पना ही उसको बन्धन का कारण है।

www.vitragvani.com

एक को खाने के लिए सूखी रोटी मिलती हो और एक को श्रीखण्ड और पुरी मिलती हो तो इन दोनों संयोगों में अन्तर है या नहीं ? – संयोग में अन्तर भले ही हो परन्तु आत्मा के लिए तो कोई संयोग सुख या दु:ख का कारण नहीं है।

शिष्य अपनी शंका को विशेष स्पष्ट करते हुए कहता है

संकलेस परिनामनिसौं पाप बंध होइ,
विसुद्ध सौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानियै।
पाप के उदै असाता जाकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानियै
पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहूंकौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै।
पापसौं कुगति होइ पुन्नसौं सुगति होइ,
ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियै॥ ५॥

अर्थ – संक्लिष्ट भावों से पाप और निर्मल भावों से पुण्यबन्ध होता है, इस प्रकार दोनों के बन्ध में **कारण-भेद** है। पाप का उदय असाता है, जिसका स्वाद कडुवा है और पुण्य का उदय साता है, जिसका स्वाद मधुर है, इस प्रकार दोनों के **स्वाद** में अन्तर है। पाप का स्वभाव तीव्र कषाय और पुण्य का स्वभाव मन्द कषाय है, इस प्रकार दोनों के **स्वभाव** में भेद है। पाप से कुगति और पुण्य से सुगति होती है, इस प्रकार दोनों में **फल-भेद** प्रत्यक्ष जान पड़ता है।

काव्य – ५ पर प्रवचन

शिष्य की शङ्का यह है कि एक तो कठोर परिणाम है और एक विशुद्ध परिणाम है – इस प्रकार पुण्य-पाप दोनों के कारणरूप भाव में स्पष्ट अन्तर है और तुम कहते हो कि दोनों एक है ?

पाप के उदय में कड़वा स्वाद आता है। स्त्री मर जाती है, निर्धनता हो जाती है, आमदनी का कोई साधन नहीं रहता, घर में पूरे दिन क्लेश-क्लेश रहा करता है और पुण्य के उदय में आज्ञाकारी स्त्री-पुत्रादि होते हैं, रुपये-पैसों की अनुकूलता होती है, मान-

www.vitragvani.com

प्रतिष्ठा होती है... पाप-पुण्य के स्वाद (फल) में इतना अन्तर होने पर भी तुम कहते हो कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

पाप का स्वभाव तीव्रकषाय-संक्लेशभाव है और पुण्य का स्वभाव मन्दकषाय-विशुद्धभाव है - इस प्रकार दोनों के स्वभाव में अन्तर होने पर भी तुम उन्हें एक कैसे कहते हो?

पाप के फल में कुगति और पुण्य के फल में सुगति मिलती है, इतना महान अन्तर प्रत्यक्ष दिखता है और तुम दोनों के फल को एक समान कहते हो - यह हमें समझ में नहीं आता।

भाई! आत्मानन्द के स्वाद के अनुभव बिना पुण्यवाले अथवा पापवाले दोनों दुःखी हैं, दोनों में से किसी को भी सच्चे सुख का पता नहीं है। इस प्रकार का समाधान करनेवाला श्रीगुरु कथित काव्य निम्न प्रकार है।

शिष्य की शंका का समाधान

पाप बंध पुन्न बंध दुहूंमैं मुकति नांहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गलकौ पेखिए।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजालमैं विसेखिए॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टि मैं न लेखिए।
दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप,
दुहूंकौ विनास मोख मारग मैं देखिए॥ ६॥

अर्थ - पापबन्ध और पुण्यबन्ध दोनों मुक्तिमार्ग में बाधक हैं, इससे दोनों ही समान हैं; इनके कटु और मिष्ट स्वाद पुद्गल के हैं, इसलिए दोनों के रस भी समान हैं; संक्लेश और विशुद्ध भाव दोनों विभाव हैं, इसलिए दोनों के भाव भी समान हैं; कुगति और सुगति दोनों संसारमय हैं, इससे दोनों का फल भी समान है। दोनों के कारण, रस, स्वभाव और फल में तुझे अज्ञान से भेद दिखता है, परन्तु ज्ञानदृष्टि से दोनों में कुछ अन्तर नहीं है - दोनों

www.vitragvani.com

आत्मस्वरूप को भूलानेवाले हैं, इसलिए महा अन्धकूप हैं और दोनों ही कर्मबन्धरूप हैं, इससे मोक्षमार्ग में इन दोनों का त्याग कहा है।

काव्य - ६ पर प्रवचन

पापबन्ध, पुण्यबन्ध दोनों मुक्ति के कारण तो है ही नहीं; अपितु दोनों मुक्ति में बाधक हैं। उनका स्वाद मधुर हो या कड़वा; परन्तु वह पुद्गल का स्वाद है; आत्मा का स्वाद दोनों में से एक में भी नहीं है। किसी को अनुकूल सामग्री मिले और किसी को प्रतिकूल सामग्री मिले; इससे आत्मा में कुछ अन्तर नहीं पड़ जाता।

आत्मा तो चैतन्य प्रकाश की मूर्ति है और संक्लेश परिणाम हों या विशुद्ध परिणाम हों, वे दोनों तो कर्म की चाल है। आत्मा का भाव नहीं; अज्ञानभाव है, उनमें चैतन्य प्रकाश व्याप्त नहीं होता। सहजरूप ही-स्वाभाविकरूप ही दोनों कर्म की चाल है, उनमें आत्मा नहीं है।

यह तो जगत को कठोर लगे ऐसी बात है।

पुण्य के फल में देवादि गति मिले अथवा पाप के फल में नरकादि कुगति मिले; परन्तु वे दोनों गतियाँ संसार की जाल है। अज्ञानी जीव कदाचित् पुण्य करके स्वर्ग में जाए; तो भी तत्पश्चात् तो अधोगतिरूप ही परिभ्रमण करनेवाला है और ज्ञानी को तो कदाचित् (पूर्व में) नरकायु बँध गई होने से नरक में जाना पड़े, तो भी उसके नरकगति खिर जाती है अर्थात् वह पुनः नरक में नहीं जाता क्योंकि वह संसार की जाल से छूट गया है। संसार जाल में फँसा हुआ जीव नरक में हो या स्वर्ग में; वह दुःखी ही है।

श्रीगुरु शिष्य से कहते हैं कि तेरी दृष्टि में मिथ्यात्व है; इस कारण तुझे पुण्य-पाप के बन्धन में, रस में, स्वभाव में और फल में अन्तर लगता है। यदि तू सत् चिदानन्द निज स्वभाव को देखेगा तो तुझको ज्ञानदृष्टि होगी, उसमें तुझको पुण्य और पाप में भेद नहीं दिखेगा। पुण्य-पाप एक ही अर्थात् अज्ञानरूप ही दिखेंगे, द्वेत अर्थात् द्विरूप नहीं दिखेंगे। आनन्द के नूर के पूर के समीप ये दोनों भाव दुःखरूप ही हैं, दोनों विकार हैं — ऐसा दिखेगा।

www.vitragvani.com

बाह्य में अनुकूलता हो या प्रतिकूलता; उसको ज्ञानी दोरूप नहीं देखता, दोनों को समान जानता है। ज्ञानदृष्टि में शुभभाव और अशुभभाव दोनों बन्ध के ही कारण हैं; इस कारण ज्ञानी दोनों को ज़हररूप जानता है। पुण्य-पाप का आश्रय अलग नहीं है, दोनों एक समान बन्धभाव है - ऐसा ज्ञानी धर्मात्मा जानता है।

पुण्य-पाप दोनों अज्ञानभाव है; अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनों संयोग है; कोई अच्छा अथवा बुरा नहीं है, मात्र ज्ञेय है। पुण्य अच्छा और पाप बुरा है - ऐसा नहीं है। दोनों की जाति एक ही होने से ज्ञानी उनमें भेद नहीं डालते।

यह बात अन्दर में बैठना चाहिए, मात्र भाषा से नहीं। '**दोऊ महा अन्धकूप**' भगवान आत्मा तो अमृत आनन्द का महासागर है और पुण्य-पाप तो अन्धेरा कुँआ है। दोनों कर्मबन्धरूप होने से मोक्षमार्ग में दोनों का विनाश है। पुण्य-पाप दोनों का निषेध होकर नाश हो, तभी मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट होता है; अतः मोक्षमार्ग में किसी का स्थान नहीं है।

लोगों को लगता है कि पहले पुण्य करके स्वर्ग में तो जाने दो, तत्पश्चात् मोक्ष में जाएँगे; पहले स्वर्ग के सुख तो भोग लें। अरे भाई! स्वर्ग में सुख है और पुण्यभाव अच्छा है - यह मान्यता ही अज्ञानी-मूढ़ की है। ऐसी मान्यता को लेकर कोई मोक्ष में नहीं जा सकता। देवलोक में अथवा सेठपने में सुख नहीं है, सुख तो आत्मा में है। जो देवलोक में से सुख प्राप्त करना चाहता है, वह मूढ है - अज्ञानी है।

पुण्य-पाप तो ऐसे हैं कि जब जीव अतीन्द्रिय आनन्द को भूलता है, तब ये होते हैं; इसलिए यदि तुझे अपना कल्याण करना होवे तो पहले अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ को पहिचानना पड़ेगा। भाई! पुण्य करने से कल्याण नहीं होगा। कोई मानो या मत मानो परन्तु यह एक ही सत्य बात है कि भगवान आत्मा को पहिचानने से ही कल्याण है, अन्य सब मान्यताएँ मिथ्या हैं। दया, दानादि के भाव से कल्याण होनेवाला नहीं है। पाप-पुण्य दोनों भाव हेय ही हैं। एक बार नहीं, लाख बार नहीं, पर अनन्तबार कहते हैं कि वे हेय हैं।

अरे! एक तो अज्ञानी को द्रव्यक्रिया की रुचि है और उपदेशक भी ऐसे ही मिलते हैं कि क्रिया करो तो धर्म होगा। अतः यह तो 'बाई रोती थी और पीहरवाले मिले' के समान

www.vitragvani.com

हुआ। एक तो अज्ञानी को पुण्य के परिणाम रुचते हैं और उपदेशक भी ऐसे ही मिलते हैं, तो फिर इसको सच्चाज्ञान होने का अवसर कहाँ है ?

'**दुहूंकौ विनास मोख मारग में देखिए।**' भगवान ने तो दोनों भावों का (सर्वथा) त्याग किया है परन्तु तुम श्रद्धा में तो दोनों का त्याग करो। चारित्र में वे दोनों भाव भले हों परन्तु श्रद्धा में से तो छोड़ ही दो और अरागी निर्दोषस्वभावी भगवान आत्मा का आदर करो! इसके अतिरिक्त कभी धर्म नहीं होगा। इसलिए अब कहते हैं कि मोक्षमार्ग में शुद्धोपयोग ही उपादेय है, कारण कि शुद्ध आचरण ही मोक्ष का मार्ग है। जहाँ अन्तर में आनन्द का उल्लास आता है – ऐसी छठवें-सातवें गुणस्थान की मुनिदशा में शुद्धोपयोग का ही आदर है।

कोई ऐसा मानता हो कि 'जितना अशुभ मिटता है, शुभभाव में इतनी शुद्धता है' तो यह बात मिथ्या है। जीव ने शुभभाव तो अनन्त बार किया है और उसके फल में नौवें ग्रैवेयक तक जा आया है परन्तु शुद्धता प्रगट नहीं हुई, कारण कि शुभभाव में शुद्धता का कोई अंश नहीं है।

कर्म सर्वमपि सर्वविदोयद् बंधसाधन मुशन्त्य विशेषात्।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धे ज्ञानमेव विहितं शिव हेतु॥ ४॥

जिनवाणी का मर्म यह, बन्ध करे सब कर्म।
मुक्ति हेतु बस एक ही, आत्मज्ञानमय धर्म॥

गुरु कहते हैं कि जिन्होंने तीन काल-तीन लोक को जाना है, वे सर्वज्ञ परमेश्वर तो ऐसा कहते हैं कि शुभ-अशुभ दोनों भाव, बन्ध की परम्परा है, एक शुद्धोपयोग ही मोक्षमार्ग में उपादेय है, वही परमपद प्रदाता है।

मोक्षमार्ग में शुद्धोपयोग ही उपादेय

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभरूप कोऊ अशुभ स्वरूप मूल,
वस्तुके विचारत दुविध कर्मरोग है॥

www.vitragvani.com

ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आतम धरममैं करम त्याग-जोग है।
भौ-जल-तरैया राग-द्वेषकौ हरैया महा,
मोखको करैया एक सुद्ध उपयोग है॥ ७॥

अर्थ – ब्रह्मचर्य, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय,विषय-भोग आदि – इनमें कोई शुभ और कोई अशुभ हैं, सो आत्म-स्वभाव विचारा जावे तो दोनों ही कर्मरूपी रोग हैं। भगवान वीतरागदेव ने दोनों को बन्ध की परिपाटी बतलाया है, आत्मस्वभाव की प्राप्ति में दोनों त्याज्य हैं। एक शुद्धोपयोग ही संसार-समुद्र से तारनेवाला, राग-द्वेष नष्ट करनेवाला और परमपद का देनेवाला है।

काव्य – ७ पर प्रवचन

यह जीव, पुण्य और पापभाव तो अनन्तकाल से करता आया है। ये तो कर्मरूपी रोग है, आत्मा का स्वभाव नहीं। 'ब्रह्मचर्य' में शरीर से ब्रह्मचर्य पालना, शुभभाव है; 'तप' में कोई एक उपवास करे, दो करे, इससे अधिक करे, उनोदर करे परन्तु यह सब रागभाव हैं, निर्जरा नहीं। अन्तर में / अतीन्द्रिय आनन्द में रमना ही वास्तविक तप है जो कि निर्जरा का कारण है।

मन और पञ्चेन्द्रियों का दमन करना और छह काय के जीवों की दया पालना संयम है, वह भी शुभरागरूप संयम है। पाँच पापों का त्याग करना, वह व्रत है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का त्याग व्रत है और उनक अत्याग अव्रत है परन्तु ये दोनों भाव, बन्ध के कारण हैं। वास्तविक अहिंसा तो भगवान आत्मा में अरागी शान्ति की उत्पत्ति होना ही है — ऐसी अहिंसा के पालन को भगवान दया कहते हैं। पर की दया का भाव तो मात्र विकल्प है। पर को मारने का भाव पाप और बचाने का भाव पुण्य है; ये दोनों भाव बन्ध के कारण हैं, निर्जरा के कारण नहीं।

दान और पूजा के भाव भी शुभभाव है, उनसे पुण्यबन्ध होता है। असंयम, विषय, कषाय, भोग, हिंसादि अव्रत — ये सब पाप परिणाम है। इस प्रकार इन समस्त परिणामों

www.vitragvani.com

में कोई शुभ है तो कोई अशुभ है — ये दोनों कर्मरूपी रोग हैं। आत्मस्वरूप का विचार करने पर दोनों में से कोई भी भाव आत्मा को हितरूप नहीं है।

वीतराग परमेश्वर का मार्ग वीतरागभाव से उत्पन्न होता है; राग से वीतराग के मार्ग की उत्पत्ति नहीं होती। चिदानन्द भगवान के पास किसी भी राग का विकल्प अर्थात् कर्मरूपी रोग ही है। फिर भले ही वह अणुव्रत का हो या महाव्रत का विकल्प हो; रोग है। उसमें आत्मा की निरोगता नहीं है।

अरे! ऐसा मनुष्य अवतार चला जा रहा है, उसमें स्वयं यह बात नहीं समझे और वाद-विवाद करे तो वह संसार में परिभ्रमण करेगा।

भगवान वीतराग देव ने शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के राग को बन्ध की परिपाटी के रूप में बताया है। सम्यग्दर्शन के बिना अणुव्रत पालन करो या महाव्रत पालन करो, इससे आत्मा में कुछ भी लाभ नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना मार्ग का प्रारम्भ ही नहीं होता, कारण कि अपने स्वरूप की दृष्टि हुए बिना मार्ग का प्रारम्भ किस प्रकार हो सकता है? यहाँ ज्ञानी होने के बाद भी व्रत के विकल्प को बन्ध का कारण कहा है, तो अज्ञानदशा में तो वह बन्ध ही है।

ज्ञानी तो राग से विरक्त ही है, तथापि अस्थिरतावश राग आता है, उसको बन्ध का कारण जानता है। अबन्धस्वरूप की दृष्टि में पुण्य और पाप दोनों त्यागनेयोग्य है। शुभराग आवे... होवे... परन्तु वह आदरणीय नहीं है, त्याज्य है - हेय है। तो फिर आदरणीय क्या है? शुद्धोपयोग एक ही आदरणीय है।

'भौ-जल-तरैया राग-द्वेष को हरैया महा, मौख को करैया एक सुद्ध उपयोग है-'

एक शुद्धोपयोग ही जीव को संसारसमुद्र से तारनेवाला है, राग-द्वेष का नाश करनेवाला है। शुभराग से शुद्धोपयोग नहीं होता। शुद्धोपयोग से तो शुभराग का भी अभाव होता है। परमपदरूप मोक्षपद को भी शुद्धोपयोग ही देता है; इसलिए उसको 'मोखकौ करैया' कहा है। तात्पर्य यह है कि एक शुद्धोपयोग ही परमपदरूप मोक्ष को देनेवाला है।

www.vitragvani.com

इस श्लोक पर पण्डित बनारसीदासजी द्वारा रचित ८ वाँ पद है, इसमें गुरु-शिष्य के प्रश्नोत्तररूप कथन है।

शिष्य-गुरु का प्रश्नोत्तर

सिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी है निषेध मेरे संसै मन मांही है।
मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है॥
कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास,
ऐसौ अवलंब उनहीकौ उन पांही है।
निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप,
और दौर धूप पुदगल परछांही है॥ ८॥

अर्थ - शिष्य कहता है कि हे स्वामी! आपने शुभ-अशुभ क्रिया का निषेध किया, सो मेरे मन में सन्देह है, क्योंकि मोक्षमार्गी ज्ञानी, अणुव्रती श्रावक या महाव्रती मुनि तो निरावलम्ब नहीं होते अर्थात् दान, समिति, संयम आदि शुभक्रिया करते ही हैं। इस पर श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि कर्म-निर्जरा अनुभव के अभ्यास से हैं, सो वे अपने ही ज्ञान में स्वात्मानुभव करते हैं, राग-द्वेष-मोह रहित निर्विकल्प आत्मध्यान ही मोक्षरूप है, इसके बिना और सब भटकना पुद्गल जनित है।

काव्य - ८ पर प्रवचन

बात बहुत सूक्ष्म है। अनन्तकाल से जो जानने में नहीं आयी और अभी तो बहुत विपरीत प्ररूपणा चलती है।

पूर्व के काव्य में ब्रह्मचर्य, आठ-आठ दिनों के उपवास, इन्द्रियों का दमन, व्रत, दान, पूजा आदि समस्त शुभक्रियाओं तथा असंयम, विषय-भोग, कषायादि अशुभक्रियाओं को कर्मरूपी रोग कहकर आचार्यदेव ने उनका निषेध करते हुए कहा है कि भगवान वीतरागदेव ने दोनों भावों को बन्ध की परिपाटी में गिना है। दोनों में से एक भी भाव, धर्म का कारण नहीं है; दोनों भाव विकल्प है-राग है-बन्ध के कारण हैं; इसलिए आत्मस्वभाव

www.vitragvani.com

की प्राप्ति में दोनों त्याज्य हैं। इस प्रकार शुभ और अशुभ दोनों क्रियाओं का निषेध सुनकर शिष्य को प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि ऐसा है तो फिर मुनियों को किसकी शरण है?

'मोखके सधैया ग्याता देसविरती मुनीस...' अणुव्रती श्रावक और महाव्रती मुनि, जो कि मोक्ष के साधक हैं, मोक्षमार्गी हैं – ज्ञानी हैं; उनको अत्यन्त निरालम्बीपना नहीं होता। वे दान, समिति, संयम आदि शुभक्रियाएँ तो करते ही हैं, आप उनको धर्म नहीं कहते तो साधक को धर्म के लिए किसका आधार रहा? अशुभक्रिया तो धर्म है ही नहीं, तब जाना कहाँ? — ऐसा शिष्य को सन्देह उत्पन्न होता है, वह पूछता है कि फिर धर्म का साधन क्या है?

ज्ञानी, मुनि व्रत-तप आदि शुभक्रियाएँ तो करते हैं परन्तु आप उनको धर्म की क्रिया नहीं कहते हो तो धर्म का क्या साधन करना? दान, व्रत, तप, संयम आदि में परद्रव्य के प्रति लक्ष्य जाता है – इस कारण राग होता है, वह वृत्ति का उत्थान है। कर्म का रोग है, वह कोई आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसलिए उस क्रिया से संवर-निर्जरा नहीं होती – ऐसा आप कहते हो तो मुनियों को किसका अवलम्बन रहा? – ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

उसको उत्तर देते हुए श्रीगुरु कहते हैं कि मुनिजन निरालम्ब नहीं है। ज्ञानी-मुनि आदि मोक्ष के साधकों को अपनी आत्मा का आलम्बन है।

'कहै गुरु करमकी नाश अनुभौ अभ्यास, ऐसो अवलम्ब उनही कौ उन पांही है' – गुरु, शिष्य से कहते हैं कि भाई! तुझे कर्म के नाश के उपाय का पता नहीं है। कर्म की निर्जरा अनुभव के अभ्यास से होती है। आत्मा अकेले ज्ञान और आनन्द का पुञ्ज है – ऐसे ज्ञान और आनन्द का अनुभव करते हुए साधकों को धर्म होता है और तब कर्म की निर्जरा होती है।

बेचारे लोगों को यह सत्य बात सुनने को भी नहीं मिलती। जहाँ शरीर ठीक होता है तो वे सामायिक, प्रौषध, प्रतिक्रमण और तपादि करके धर्म हो गया मानते हैं और शरीर ठीक न हो किन्तु पैसा हो तो दानादि करके धर्म हो गया मानते हैं परन्तु भाई! यदि इनमें राग की मन्दता की होवे तो पुण्य बँधता है, धर्म तो होता ही नहीं।

www.vitragvani.com

अन्य प्राणियों को नहीं मारने का भाव करना अहिंसा है, सत्य बोलना, परिग्रह का ग्रहण नहीं करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, लाखों रुपये दान में देना – यह सब तो शुभभाव है, इससे पुण्यबन्ध होता है परन्तु धर्म नहीं होता। शुभभाव से तीन काल-तीन लोक में कभी धर्म नहीं होता।

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थङ्करदेव ने आत्मा को अनन्तगुणों का पिण्ड कहा है। अन्यमत में कथित आत्मा का स्वरूप सत्य नहीं है। सर्वज्ञ द्वारा कथित आत्मा पुण्य-पाप की क्रिया से पृथक् है – ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले को धर्म होता है। शुभाशुभक्रिया के राग का लक्ष्य छोड़कर, अखण्ड आनन्दस्वरूप ध्रुव भगवान आत्मा में एकाग्र होकर, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करनेवाले को धर्म होता है। इसके बिना कुछ भी करे – सामायिक, प्रौषधादि क्रिया करे, तो उससे कर्मों को निर्जरा नहीं होती। अज्ञानी मानता है कि अष्टमी को एक उपवास करने से कर्मों की बहुत निर्जरा होती है। भाई! धूल भी निर्जरा नहीं होती। वह तो लंघन है। भगवान ने नव तत्त्वों में जीवतत्त्व को शुभाशुभभाव से रहित देखा है क्योंकि वह भाव, जीव का स्वरूप नहीं है।

शुद्ध आत्मा के अनुभव के अभ्यास से ही कर्मों की निर्जरा होती है; इस कारण (ज्ञानी-मुनि) अपने ही ज्ञान में स्वात्मानुभव करते हैं। भाई! भगवान आत्मा चैतन्य प्रकाश के नूर का पूर और आनन्द सागर है – ऐसे आनन्द के सागर में लीनता करके, दृष्टि करके आनन्द का अनुभव करनेवाले साधक को संवर और निर्जरा है। इस कारण सम्यग्दृष्टि, श्रावक व मुनि आदि ही उस अनुभव से होनेवाले आनन्द को जान सकते हैं। '**ऐसो अवलंब उनहीकौं उन पांही है**' अर्थात् वे अपने ज्ञान में ही स्वानुभव करते हैं।

शरीर , मन, वाणी, आदि तो जड़ अस्तित्वमय है, वे कोई आत्मा की वस्तु नहीं है। वे जीव के होकर नहीं रहते हैं। मूढ़ जीव व्यर्थ ही उन्हें अपना मानते हैं। दो-चार करोड़ रुपये पास में हो तो भी वे जड़ हैं; वे अपने नहीं होते। अरे! राग की क्रिया भी जीव की नहीं होती तो अन्य कौन-सी वस्तु जीव की हो सकती है ? जीव के पास तो एक उसका अनुभव है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का विकल्प तो जीव से दूर है परन्तु अनुभव तो उसके समीप ही है, दूर नहीं। उसी से अर्थात् अनुभव से ही कर्मों की निर्जरा होती है।

www.vitragvani.com

सम्यग्दृष्टि श्रावक हों, श्राविका हों, सच्चे साधु हों अथवा आर्यिका हों; वे सब अपने चैतन्यदेव की निर्विकल्प अनुभूति करते हैं और उससे संवर-निर्जरा होती है। ऐसी निर्विकल्प अनुभूति, राग से भिन्न अभेदरूप चैतन्य के अवलम्बन से ही होती है और उस समय कर्मों की निर्जरा होती है। लंघन आदि करने से तो नये कर्म बँधते हैं।

यह वीतराग का मार्ग है, इससे अन्य प्रकार माननेवाले को वीतराग की श्रद्धा नहीं है; वह श्रद्धा से भ्रष्ट है। संवत् १९८० के साल में अर्थात् शुरुआत में लोगों को यह अनुभव की बात सुनकर नयापन लगता था कि यह अनुभव... अनुभव क्या करते हैं ? अपने धर्म में तो सामायिक, प्रौषधादि होते हैं, यह सुना है, 'अनुभव' तो सुना नहीं।

भाई! मिथ्यात्वसहित तेरे सामायिक, प्रौषध आदि सब 'रण में शौर मचाने' के समान है। देह की क्रिया आत्मा से भिन्न है। अन्दर में होनेवाला राग भी आत्मा का स्वरूप नहीं है; आत्मा का ज्ञानस्वरूप कोई अलग ही है। आत्मभानरहित क्रिया से कर्मों की निर्जरा नहीं होती; कर्मों की निर्जरा तो अनुभव के अभ्यास से ही होती है।

जैसे शक्कर मिठासस्वरूप है; उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यप्रकाश का पूर है। उस ज्ञान में अर्थात् अन्तर स्वरूप में एकाग्र होकर, ज्ञान का अनुभव करनेवाले जीव को कर्मों की निर्जरा होती है – ऐसा वीतरागदेव ने कहा है। भगवान का भजन करो – भगवान का भजन करो – ऐसा करने से कर्मों की निर्जरा नहीं होती। नमस्कार मन्त्र का जाप जपना भी राग है, धर्म नहीं है। अरे! इसमें धर्म मानकर जिन्दगी चली जा रही है। यह जीव आत्मा के भावना बिना लट, चींटी आदि की तरह मरकर चौरासी के अवतार में चला जाएगा, कहीं कोई शरण नहीं मिलेगी।

भाई! तेरा शरण तो अन्दर में आत्मा है। तुझे विश्वास नहीं है परन्तु तुझमें ठसाठस अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। उस स्वभाव के सन्मुख होकर अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का झरना झरने को भगवान निर्जरा कहते हैं।

जो आत्मा का और धर्म का स्वरूप समझे बिना शरीर को सूखाने बैठे हैं, वे सब मूढ़ हैं। यह शरीर तो हाड़ और माँस का पिण्ड है, यह कोई जीव के अस्तित्त्व में नहीं है और आत्मा तो आनन्द की खान है, वह कोई राग की अथवा जड़ की खान नहीं है।

www.vitragvani.com

भगवान त्रिलोकीनाथ परमात्मा सौ इन्द्रों की उपस्थिति में ऐसा कहते थे, वही यह बात है। दया, दानादि का भाव तो पुण्यबन्ध का कारण है, वह कोई निर्जरा का कारण नहीं है। चैतन्य के आश्रय से जो अनुभव होता है, उससे ही निर्जरा होती है। पुण्य-पाप के विकल्प की क्रिया तो कर्म का रोग है। एक से पुण्य बँधता है और एक से पाप बँधता है – इस कारण ये दोनों सोने और लोहे की बेड़ी के समान बन्धन ही है। दोनों भाव संसार परिभ्रमण के कारण हैं।

'निरुपाधि आतम समाधि सोई सिवरूप।' भगवान आत्मा विकल्प की उपाधि से रहित है। आत्मा की अस्ति चैतन्यस्वरूप है, उसमें शरीर नहीं है, वाणी नहीं है, कर्म नहीं है और दया-दान के विकल्प भी उसके स्वरूप में नहीं है। – ऐसा निरुपाधि है और आत्मसमाधि स्वरूप होने से शान्त... शान्त है। समाधि माने क्या? कि आधि अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प; व्याधि अर्थात् शरीर के रोग; और उपाधि अर्थात् बाह्य संयोग – इन तीनों से रहित शान्तभाव ही समाधि है। जो इस समाधि को भाते हैं – ऐसे श्रावक और मुनियों को धर्म अर्थात् निर्जरा होती है।

पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे तो कर्मरूपी रोग है, जहर है। उनसे रहित आत्मा के आनन्द की परिणतिरूप ध्यान ही शिवरूप है। अन्तर के अवलम्बन से प्रगट होनेवाली दशा शिवरूप है, वही मोक्ष का कारण भी है और मोक्षस्वरूप भी है। जो कोई सिद्ध हुए हैं, वे सिद्धदशा कहाँ से लाए हैं? अन्तर में है, उसमें से लाए हैं। इस प्रकार प्रत्येक ही आत्मा सिद्धसमान है परन्तु अपना स्वरूप क्या है, कैसा है और कैसे प्राप्त हो? – इसका पता अज्ञानी को नहीं है।

बाह्य विकल्पों को समेटकर अन्तर में विद्यमान पूर्णानन्द में दृष्टि लगाकर, उसको ज्ञेय बनाकर, उसका ध्यान लगाकर, उसका अनुभव करने का नाम समाधि है। उस समाधि से कर्मों की निर्जरा होती है। यहाँ पर पुण्य-पाप की वृत्तियों को समेटकर अन्तर में शुद्धोपयोग की दशा होने को आत्मसमाधि कहा गया है। यह समाधि मोक्ष का कारण अथवा मोक्षस्वरूप है।

जैसे चिरायता की थैली पर शक्कर नाम लिख देने से चिरायता शक्कर नहीं बन

www.vitragvani.com

जाता; उसी प्रकार धुरन्धर आचार्य, मुनि आदि नाम दे देने से अन्तर में मुनि की दशा नहीं आ जाती। जो पुण्य-पाप की वृत्तियों का लक्ष्य छोड़कर, अन्तरसन्मुखभाव से शुद्धोपयोग को साधता है, उसको समाधि है और वह समाधि जिसको प्रगट हुई है उसको मुनि कहा जाता है। उसके कर्मों की निर्जरा होती है।

हम (पूज्य गुरुदेवश्री) समझ में आया! - ऐसा कहते हैं न, उसका भाव यह है कि कुछ समझे तो ठीक है; अधिक समझे तब तो निहाल हो जाए।

दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव अर्थात् शुभभाव भी निश्चय से अधर्म है और हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापभाव तो अधर्म है ही। इन दोनों भावों से रहित अन्तर में चैतन्य का अवलम्बन करके होनेवाली वीतरागीदशा, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, उसको यहाँ कर्मों की निर्जरा का कारण कहा है।

प्रश्न - उसके लिये पहले कोई दूसरा साधन होता है या नहीं?

उत्तर - व्रत, तप आदि करें, कषाय की मन्दता करें तो फिर धर्म होता है - ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। यह मान्यता तो लहसुन खाकर कस्तूरी की डकार की अपेक्षा रखने के समान है। राग की क्रिया के फल में धर्म प्रगट नहीं होता। '**और दौर-धूप पुद्गल परछांही है।**' व्रत, तपादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे संसार परिभ्रमण करानेवाले हैं। वे पुद्गल की छाया है, आत्मा की छाया नहीं।

ईर्यासमितिपूर्वक देखकर चलना, भाषासमिति पालना - इत्यादि सब समिति, व्रत, तप आदि समस्त भाव, आस्रव है, उनसे श्रावक अथवा साधु को कर्मों की निर्जरा नहीं होती; निर्जरा तो आत्मानुभव से ही होती है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि अपने ज्ञानानन्दस्वभाव में जितनी वीतरागी एकाग्रता होती है, उतने अंश में राग और बन्धन का अभाव होता है और जितना राग का भाव रहता है, वह बन्धन का कारण है।

व्रतादि का विकल्प बन्ध का कारण और आत्मा के आनन्द का अनुभव निर्जरा का कारण है। यह जैन परमेश्वर वीतराग तीर्थङ्करदेव के मार्ग की बात हैं। बन्धन से मुक्ति का

www.vitragvani.com

इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। जिसको अन्तर में शुद्ध चैतन्यस्वरूप के आश्रय से आनन्द का झरना बहता है, उसके अशुद्धता टलती है और शुद्धता वृद्धिगत होती है – इसी का नाम निर्जरा है।

अब, आगामी काव्य में यह कहते हैं कि भगवान ने तो आत्मा के अनुभव को ही धर्म कहा है; उसकी विधि अन्तर में है, बाहर के सब विधि-विधान तो रागरूप है।

मुनि-श्रावक की दशा में बन्ध और मोक्ष दोनों हैं

मोख सरूप सदा चिनमूरति,
बंधमई करतूति कही है।
जावतकाल बसै जहां चेतन,
तावत सो रस रीति गही है
आतमकौ अनुभौ जबलौं,
तबलौं सिवरूप दसा निबही है।
अंध भयौ करनी जब ठानत,
बंध विथा तब फैल रही है॥ ९॥

अर्थ – आत्मा सदैव शुद्ध अर्थात् अबन्ध है और क्रिया बन्धमय कही है, सो जितने समय तक जीव जिसमें (स्वरूप या क्रिया में) रहता है, उतने समय तक उसका स्वाद लेता है अर्थात् जब तक आत्म-अनुभव रहता है, तब तक अबन्धदशा रहती है, परन्तु जब स्वरूप से चिगकर क्रिया में लगता है, तब बन्ध का प्रपञ्च बढ़ता है।

काव्य – ९ पर प्रवचन

इस काव्य में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि मुनि और श्रावक की दशा में बन्ध और मोक्ष दोनों हैं।

'मोखसरूप सदा चिनमूरति...' – आत्मा सदा मुक्तस्वरूप है। जो राग के विकल्प से भिन्न और अबन्धस्वभावी है, उसको ही भगवान आत्मा कहा जाता है। ज्ञानप्रकाशी-ज्ञानमूर्ति आत्मा सदा मोक्षस्वरूप है। इस कारण उसकी क्रिया भी मोक्षस्वरूप है। ज्ञान और आनन्द का परिणमन होना आत्मा की क्रिया है।

www.vitragvani.com

भगवान कहते हैं कि आत्मा के आनन्द का अनुभव करना धर्म है और राग करना बन्ध है। इन दो भावों में से तुझे जो भाव चाहिए हो वह भाव ले ले। फिर नहीं कहना कि अरे! हम तो व्रत, तपादि पालते थे और तुम धर्म नहीं होता – ऐसा कहते हो।

धीरे से, थोड़ा, परन्तु सत्य समझना चाहिए। बहुत चोपड़ा (शास्त्र) पढ़कर भी सत्य नहीं निकाले तो क्या काम का? फिर ऐसा अवसर मिलना कठिन है। अनन्त काल में मनुष्यपना प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है। सो भाई! यह मनुष्यपना तो प्राप्त हुआ है, यदि इसमें भगवान-कथित मार्ग को नहीं समझा तो तुझे कोई शरण नहीं है। देह का तो क्षणमात्र का भी भरोसा नहीं है। देखो न! एक भाई गुजर गये। प्रातःकाल तो प्रवचन किया, भोजन किया, अपने हाथ से वस्त्र धोये और जब दोपहर में १२ बजे सामायिक करने बैठे तो एकाएक हार्टफेल हो गया। इस प्रकार किसी की देह का भरोसा नहीं है। करनेयोग्य कार्य नहीं करे और नहीं करनेयोग्य कार्य करके चला जाएगा। पैसेवालों को लगता है कि हम धन खर्च करके विदेश से डॉक्टर बुलवा लेंगे और स्वजन को बचा लेंगे परन्तु भाई! डॉक्टर तो क्या, ऊपर से इन्द्र उतरकर आवे तो भी तुझे बचा नहीं सकेगा! देह की स्थिति पूर्ण होते ही वह तो छूटेगी ही और फिर तुझे यह समझने का अवसर नहीं मिलेगा। यदि तूने सुई में समझरूपी डोरा पिरोया होगा तो सुई खोयेगी नहीं परन्तु यदि सच्ची समझ नहीं की तो तू चौरासी के अवतार में कहीं खो जाएगा। सच्ची समझ की होगी तो जन्म-मरण के चक्र से बाहर निकल जाएगा।

जावतकाल बसै जहाँ चेतन... जितने काल आत्मा में बसता है, उतने काल आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है। श्रावक और मुनि जितने काल आत्मा में एकाकार होकर बसते हैं, उतने काल **इस रीति गही है** – अर्थात् आत्मा के आनन्द का अनुभव करते हैं। जो आत्मस्वभाव में बसता है, वही वस्तुतः चेतन है। राग में बसता है, वह चेतन नहीं है और मकान में, स्त्री-पुत्रादि के संग में तो आत्मा कभी बसता ही नहीं है; व्यर्थ ही सबको निज मानकर बैठा हे। जो तेरा हो, वह तुझसे पृथक् कैसे पड़ेगा?

पूर्व में चण्डालिनी के जुगल पुत्र की चर्चा आई थी न! एक पुत्र ब्राह्मण के घर बड़ा हुआ, वह कहता है कि मुझे यह चलता है, यह नहीं चलता; इसी प्रकार अज्ञानी, शुभभाव

www.vitragvani.com

में 'मुझे यह नहीं चलता और ऐसा ही चाहिए....' – ऐसा करता है परन्तु तेरा भाव स्वयं ही विभाव है – उसका क्या? ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो विकल्प ही नहीं खपते (चलते), फिर भले ही वह शुभविकल्प हो... वह आत्मा को मुफ्त में भी नहीं चलता।

पुण्य-पाप के विकल्प का आश्रय छोड़कर, जितने काल भगवान आत्मा के आश्रय में रहता है; वहाँ तक जीव की दशा शिवरूप रहती है। उतने काल अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा पर्याय में भी अबन्ध हो जाता है परन्तु जब स्वरूप से छूटकर क्रिया में आता है, तब बन्ध का विस्तार बढ़ता है। यद्यपि ज्ञानी को विकल्प तो आता है परन्तु वह अस्थिरता के कारण आता है। अज्ञानी को तो स्वरूप से परिच्युत होकर विकल्प आता है – इस कारण वह बन्ध का विस्तार बढ़ाता है परन्तु ज्ञानी को स्वरूप के भानपूर्वक शुभविकल्प आता है, वह पुण्यबन्ध का कारण होता है।

मोक्ष की प्राप्ति अन्तर्दृष्टि से है

अन्तर-दृष्टि-लखाउ, निज सरूपकौ आचरन।
ए परमातम भाउ, सिव कारन येई सदा॥ १०॥

अर्थ – अन्तरङ्ग ज्ञानदृष्टि और आत्मस्वरूप में स्थिरता – यह परमात्मा का स्वभाव है और यही मोक्ष का उपाय है।

काव्य – १० पर प्रवचन

इस काव्य में पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति अन्तर्दृष्टि से होती है।

शुद्ध आनन्दघन की दृष्टि और उसका लक्ष्य करना मोक्ष का उपाय है। दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव तो शुभराग है, वे धर्म का कारण नहीं होते। निज स्वरूप में स्थिरता चारित्र है। अन्तर (स्वभाव) की दृष्टि, ज्ञान और अन्तर में स्थिरता ही परमात्मा होने का उपाय है।

पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह जीव का अन्तरस्वभाव नहीं है; वह तो पुद्गल स्वभाव है – पुद्गल के साथ सम्बन्धवाले भाव हैं। वस्तुतः वे भाव चैतन्य की जाति के

www.vitragvani.com

नहीं है। तत्त्व की बात सुनना, पढ़ना या कहना, सो भी विकल्प है, चैतन्य का स्वरूप नहीं है। चैतन्य के स्वभाव में पुण्य-पाप के विकल्प की गन्ध भी नहीं है - ऐसे आत्मस्वभाव की अन्तर्दृष्टि-ज्ञान और रमणता ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है।

आत्मा सत्, शाश्वत् ज्ञान और आनन्दादि गुणों का पिण्ड है। ऐसे निज परमात्मस्वभाव की अन्तर्दृष्टि और अन्तर्लक्षपूर्वक अन्तर में स्थिरता करते-करते सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हों, वह स्वद्रव्य का स्वभाव है अर्थात् परमेश्वर आत्मा का स्वभाव है। उसका नाम धर्म है - वह मोक्ष का कारण है। स्वभाव में से होनेवाली व्यक्तता, वह एक द्रव्य का स्वभाव है। वह पूर्णानन्दरूप मुक्ति का कारण है।

ए परमातम भाउ.... परमस्वरूपी ऐसा अपना स्वभाव, जो सदा है, उसकी अन्तर्दृष्टि करने, उसमें लक्ष्य करने और उसमें स्थिरता करने पर जो दशा प्रगट होती है, वह निजप्रभु का स्वभाव है। निज परमेश्वर का यह स्वभाव ही मुक्ति का कारण है। बाकी दया, दान, व्रतादि के विकल्प आते हैं, वे सब बन्ध का कारण हैं, मुक्ति का कारण नहीं।

आशय यह है कि सम्यक्त्वसहित ज्ञान और चारित्र, परमेश्वर का स्वभाव है और यही परमेश्वर होने का उपाय है।

एकरूप अखण्ड अभेद निज स्वभाव की दृष्टिसहित, उसका ज्ञान और चारित्र ही पूर्णानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष का उपाय है। उपवास करना, रात्रि में नहीं खाना, गरम पानी पीना - यह कोई धर्म की क्रिया नहीं है; यह तो राग की-विकल्प की क्रिया है।

यह बात ऐसी है कि पूर्वाग्रहवाले को चोट लग जाती है। त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय लेकर जो प्रतीति होती है, अनुभव होता है और रमणता होती है - उसको यहाँ मोक्ष का मार्ग कहा जाता है।

अब, कलश ८ वें में कहते हैं कि बाह्यदृष्टि से मोक्ष नहीं होता। इस कलश के पद्य में पण्डित बनारसीदासजी इस प्रकार कहते हैं।

करम सुभासुभ दोइ, पुदगलपिंड विभाव मल।
इनसौं मुकति न होइ, नहिं केवल पद पाइए॥ ११॥

www.vitragvani.com

अर्थ – शुभ और अशुभ ये दोनों कर्ममल हैं, पुद्गलपिण्ड हैं, आत्मा के विभाव हैं; इनसे मोक्ष नहीं होता और केवलज्ञान भी नहीं पा सकता है।

काव्य – ११ पर प्रवचन

नित्य प्रगट प्रसिद्ध भगवान आत्मा की पहिचान बिना, उसकी अन्तर्दृष्टि बिना, धर्म तीन काल में भी नहीं होता।

बहुत से लोग यह मानते हैं कि अपन तो गुरु को मानो – उनकी श्रद्धा करो तो अवश्य मुक्ति होगी... तो यहाँ भगवान कहते हैं कि ऐसे मुक्ति नहीं होती। साक्षात् तीन लोक के नाथ को मानना भी वह राग है, विकल्प है, कर्म का मेल है।

प्रश्न – भगवान का तो नामस्मरण भी भला है – ऐसा कहा है न?

उत्तर – भगवान का नामस्मरण भी भला तब कहलाता है, जब स्वरूप के लक्ष्यपूर्वक भगवान का नामस्मरण करता है, तब उस स्मरण को व्यवहार से भला कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में पाँच गाथाओं में भगवान का नामस्मरण किया है। स्वरूप के लक्ष्यसहित प्रमाणज्ञान में व्यवहार भी साथ ही आता है। व्यवहार से व्यवहार भला है परन्तु यहाँ तो निश्चय स्वभाव की दृष्टि में वह भी कर्मलता है, वृत्ति का उत्थान है, आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसलिए यहाँ उस राग को भी पुद्गल का अर्थात् कर्म का भाव कह दिया है।

यहाँ राग को कर्म का भाव कहा, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कर्म के कारण राग होता है। रागादिभाव कर्म का मेल है, आत्मा का निर्मल स्वभाव नहीं – इतना ही समझाना है।

निर्विकल्प आनन्दधाम के स्पर्श और अनुभव बिना कितने ही ऊँचे शुभभाव आवें... उनसे धर्म नहीं है, मात्र पुण्यबन्ध होता है। अबद्धस्वरूप में नहीं गया – इस कारण बँधा है। वस्तु की स्थिति ऐसी है। पचाना कठिन पड़ता है।

करम शुभाशुभ दोइ, पुद्गलपिंड विभाव मल अर्थात् शुभाशुभ दोनों भाव, कर्म का मेल है, पुद्गल का पिण्ड है। एक तरफ भगवान आत्मा राम है और दूसरी तरफ

www.vitragvani.com

पुद्गलपिण्ड है – वह परद्रव्य है। शुभाशुभभाव जीव का स्वभाव नहीं है; इसलिए पुद्गल पिण्ड है, परद्रव्य है – ऐसा कहा जाता है। व्यवहार से जिसको धर्म का साधन कहा जाता है, उसको ही यहाँ पुद्गल कह दिया है।

आत्मा स्वयं निर्मलानन्द पूर्णानन्द प्रभु है परन्तु उसकी दशा में भूल है। यदि भूल नहीं हो तो उसकी दशा में आनन्द होना चाहिए। उस भूल के अभाव का उपाय अन्तर्मुख दृष्टि, ज्ञान और रमणता है। रागादिभाव तो आत्मा का स्वभाव नहीं है, न स्वभाव का साधन है; कर्म का कार्य है, कर्म का मेल है विभावभाव है; इसलिए रागादिभाव, पुद्गल पिण्ड है। रागादिभावों से न तो मुक्ति होती है और न केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। अणुव्रत का भाव हो या पञ्च महाव्रत का भाव हो; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नामस्मरण का भाव हो – **इनसों मुक्ति न होय** – इनसे मुक्ति नहीं होती।

प्रश्न – तो मुक्ति किससे होती है ?

उत्तर – 'आतम भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे' – परन्तु आत्मा किसको कहते हैं, भावना किसको कहते हैं और केवलज्ञान किसको कहते हैं ? – यह समझना चाहिए। समझे बिना सारे दिन शास्त्र वाँचन करे तो भी क्या ?

शुभाशुभभाव तो आत्मा के स्वभाव से विपरीत होने से 'विभाव' है। पुण्य-पापभाव पुद्गल पिण्ड है, इसलिए आत्मा से भिन्न है। उनसे केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता।

अब, इस सम्बन्ध में शिष्य प्रश्न करता है और श्रीगुरु उसका समाधान करते हैं।

इस पर गुरु शिष्य का प्रश्नोत्तर

कोऊ शिष्य कहै स्वामी! असुभक्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यौं न वरनी।
गुरु कहै जबलौं क्रिया के परिनाम रहैं,
तबलौं चपल उपयोग जोग धरनी॥
थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होइ,
यातैं दोऊ क्रिया मोख-पंथकी कतरनी।

www.vitragvani.com

बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ,
बाधक विचारि मैं निसिद्ध कीनी करनी॥ 12॥

अर्थ – कोई शिष्य पूछता है कि हे स्वामी! आपने अशुभ क्रिया को अशुद्ध और शुभ क्रिया को शुद्ध क्यों न कहा? इस पर श्रीगुरु कहते हैं कि, जब तक शुभ-अशुभ क्रिया के परिणाम रहते हैं, तब तक ज्ञान-दर्शन-उपयोग और मन-वचन-काय के योग चञ्चल रहते हैं तथा जब तक ये स्थिर न होवें, तब तक शुद्ध अनुभव नहीं होता। इससे दोनों ही क्रियाएँ मोक्षमार्ग में बाधक हैं, दोनों ही बन्ध उपजानेवाली हैं, दोनों में से कोई अच्छी नहीं है। दोनों मोक्षमार्ग में बाधक हैं, ऐसा विचार कर मैंने क्रिया का निषेध किया है।

काव्य — १२ पर प्रवचन

वीतराग के आड़तिया सन्तों ने एक-एक लाइन में वीतरागी वाणी बरसाई है।

यहाँ शिष्य कहता है कि स्वामी! आपने अशुद्ध क्रिया को अशुभ कहा वह तो ठीक है परन्तु शुभक्रिया को शुद्ध क्यों नहीं कहा?

इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रीगुरु कहते हैं कि जब तक शुभ-अशुभ क्रिया के परिणाम रहते हैं, तब तक ज्ञान-दर्शन उपयोग और मन-वचन-काय का योग चञ्चल रहता है। आत्मा में स्थिरता नहीं होती और स्थिरता नहीं हो वहाँ तक शुद्ध अनुभव नहीं होता – इस कारण दोनों ही क्रियाएँ मोक्षमार्ग में बाधक है। दोनों ही बन्ध उत्पन्न करनेवाली हैं, दोनों में से कोई भी अच्छी नहीं है। दोनों मोक्षमार्ग में बाधक है – ऐसा विचार करके मैंने क्रियाओं का निषेध किया है।

जहाँ तक विकल्प आता है कि मैं व्रत पालूँ, तप करुँ, दान करुँ, दया पालूँ... वहाँ तक आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता। पठन, पाठन, स्मरण – इन सभी क्रियाओं में भी विकल्प की चञ्चलता है, स्थिरता नहीं। विकल्प की जाल में से छूटे बिना स्थिरता नहीं आती। मन-वचन-काय का योग और ज्ञान-दर्शन उपयोग – ये दोनों जब तक चञ्चल है; तब तक स्थिरता नहीं होती। ऐसे अस्थिर शुभभाव में शुद्धात्मा का अनुभव कैसे होगा?

थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभव न होइ – स्थिरता न हो, वहाँ तक शुद्ध

www.vitragvani.com

अनुभव नहीं होता; इसलिए कहा है कि शुभ और अशुभ दोनों क्रिया मोक्षपन्थ की कतरनी – काटनेवाली है। स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट होनेवाला सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षपन्थ है – उसको काटनेवाली है। शुभराग भी मोक्षमार्ग को काटता है।

शुभराग की चपलता मोक्षमार्ग में बाधक है। अनन्तशान्ति का सागर आत्मा आनन्द से पूर्ण है। उसमें स्थिरता करने में शुभराग भी विघ्नरूप होता है।

बंध को करैया दोऊ दुहु में न भलो कोऊ अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों क्रिया बन्ध को करनेवाली है; इसलिए दोनों में से एक भी भली नहीं है। इसमें किसी को लगता है कि तब फिर मन्दिरादि का क्या प्रयोजन है? परन्तु भाई! मन्दिरादि उसके कारण होते हैं और शुभविकल्प के काल में उधर लक्ष्य जाता है परन्तु वह मोक्षमार्ग में बाधक है। तो भी जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक बीच में बाधकभाव आए बिना नहीं रहता। साधक है, वहाँ तक बाधकभाव आता ही है परन्तु वह धर्म का अथवा मोक्ष का कारण नहीं है।

वीतराग परमात्मा और परमार्थ का प्रतिपादन करनेवाले सन्तों ने शुभ और अशुभ दोनों भावों का मोक्षमार्ग में बाधक जानकर निषेध किया है। पूर्व में आ गया है कि दोनों भावों में दौड़-धूप है, भटकना है। यहाँ कहा है कि मोक्षमार्ग में बाधक होने से उनका निषेध किया है।

अब दसवें कलश के पद्य में कहते हैं कि मात्र ज्ञान ही मोक्षमार्ग है। अहा....! ज्ञानस्वरूप चैतन्यधन **धायति** अर्थात् दौड़ता है। प्रज्ञाब्रह्म आत्मा पुण्य-पाप के विकल्पों की रुचि छोड़कर निजस्वरूप में दौड़ता है – परिणति करता है। ज्ञान, स्वरूप में दौड़ता है – इसी का नाम मोक्षमार्ग है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग है

मुकतिके साधककौं बाधक करम सब,
आतमा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महा मूढ़ मोख मारगसौं चुक्यौ है॥

www.vitragvani.com

सम्यक सुभाउ लिये हियेमैं प्रगट्यौ ग्यान,
ऊरध उमंगि चल्यौ काहूपै न रुक्यौ है।
आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु,
कारन सरूप ह्वैकै कारजकौं ढुक्यौ है॥ १३॥

अर्थ - मुक्ति के साधक आत्मा को सब कर्म बाधक हैं, आत्मा अनादिकाल से कर्मों में छुपा हुआ है, इतने पर भी जो पाप को बुरा और पुण्य को भला कहता है, वही महामूर्ख मोक्षमार्ग से विमुख है। जब जीव को सम्यग्दर्शनसहित ज्ञान प्रगट होता है, तब वह अनिवार्य उन्नति करता है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि वह ज्ञान, दर्पण के समान उज्ज्वल स्वयं कारणस्वरूप होकर कार्य में परिणत होता है अर्थात् सिद्धपद प्राप्त करता है।

काव्य - १३ पर प्रवचन

मुकतिके साधक को बाधक करम सब - मोक्ष की प्राप्ति में कारण ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में समस्त कर्म बाधकरूप है। व्रत के परिणाम हो या अव्रत के परिणाम हो; वे सब विघ्न करनेवाले हैं।

कहीं व्यवहाररत्नत्रय को मोक्षमार्ग में बाधक कहा है, कहीं साधक कहा है। 'छहढाला' में व्यवहार को निश्चय का हेतु अर्थात् कारण कहा है - वह कथन निमित्त का ज्ञान कराने के लिए है। व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम निश्चयपरिणमन में निमित्त होने से, उपचार से उनको निश्चय का हेतु कहा है।

स्वरूप का साधन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। उसको प्रगट करने में दया, दानादि के परिणाम तो विघ्न करनेवाले हैं। उनको साधन कैसे कहा जाए? पञ्चास्तिकाय में मूल गाथा में आचार्यदेव ने व्यवहार को निश्चय का साधन कहा है और निश्चय को साध्य कहा है। इस कथन में, उस भूमिका में विकल्प की क्या मर्यादा होती है - यह ज्ञान कराया है। वरना जो बाधकभाव है, वह कहीं वास्तव में साधन नहीं हो सकता। स्वरूप के साधन में विकल्पमात्र बाधक है।

'करम' अर्थात् क्रिया; पुण्य-पाप दोनों क्रिया मुक्ति के साधक को बाधकरूप है।

www.vitragvani.com

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि शुभराग और हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह आदि अशुभराग – ये दोनों प्रकार के राग मोक्षमार्ग में बाधक है। आत्मा अनादि से इन पुण्य-पाप के भावों में ढँक गया है। उसे स्वयं को अपने स्वरूप का पता नहीं है। निजस्वरूप तो रागरहित है। उसकी पहिचान किये बिना व्रत पालना, तप करना, उपवास करना आदि शुभ अथवा अशुभ विकल्पों में स्वयं ढँक गया है। फिर भी जो यह कहता है कि पाप खराब है और पुण्य तो भला है, तो वह महामूर्ख है, मोक्षमार्ग से विमुख है अर्थात् वह जैनधर्म को नहीं जानता है – वीतराग की वाणी को नहीं समझता है। वह महामूढ़ मोक्षमार्ग से अलग पड़ गया है।

मोक्षमार्ग तो आत्मा में एकाग्र होना है; क्रियाकाण्ड के विकल्प उत्पन्न होने में मोक्षमार्ग माननेवाला तो महामूढ़ है।

सम्यक् सुभाउ लिये हिये मैं प्रगट्यौ ग्यान – अब, सीधी बात करते हैं कि जिसको सम्यग्दर्शनसहित ज्ञान प्रगट हुआ, उसका उन्नतिक्रम प्रारम्भ हो गया, उसकी वृद्धि अनिवार्यरूप से होगी। पूर्णानन्द प्रभु अनन्त ज्ञानस्वरूप है, जिसने उसको विकल्प से दूर होकर अनुभव में लिया, उसको ज्ञानस्वभाव में से ज्ञान प्रगट हुआ। पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न होते थे, वे तो बन्ध के कारण थे, ज़हर थे, दु:खरूप थे। उनसे छूटकर जिसको अन्तर में ज्ञान प्रगट हुआ कि अरे! मैं तो आत्मा हूँ, मेरी चीज तो पुण्य-पापरूप विकल्प के क्रियाकाण्ड से भिन्न हैं। मैं तो शुद्ध आनन्दमूर्ति हूँ; इस प्रकार हृदय में जहाँ ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, तो वह उत्साहपूर्वक स्वरूप में उन्नति करता है – आगे-आगे बढ़ता जाता है।

पहले पुण्यभाव में धर्म मानकर नीचे-नीचे दुर्गति में जाता था, वह अब निज स्वरूप का ज्ञान प्रगट करके उर्ध्व-उर्ध्व जाने लगा, उन्नति के पन्थ में चढ़ गया। जिसने द्रव्यस्वभाव को पकड़ा, उसको अब शक्ति में विद्यमान केवलज्ञानादि गुण प्रगट हुए बिना नहीं रहेंगे।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि उत्साह से आगे बढ़! दया, दान, व्रतादि की दृष्टि छोड़कर, आनन्दस्वरूप चैतन्य भगवान की दृष्टि कर! तू ऊर्ध्वगामी होगा! अमृत

www.vitragvani.com

स्वरूप में रमता हुआ आगे बढ़ जाएगा; दु:खी नहीं होना पड़ेगा।

भजन में आता है न!

हम तो कब हूँ न निज घर आये...
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये...
पर पद निजपद मान मगन ह्वै, परपरिणति लिपटाये... हम तो

पुण्य-पाप के विकल्प तो परपरिणति है। जीव उसमें ठगाया गया है अर्थात् परपद को निजपद मानकर उसमें मग्न हो रहा है। इसने अपने शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन - ऐसे मनोहरपद को कभी नहीं भाया है। व्यभिचारी होकर परघर में भ्रमा है। यह सब बातें उक्त भजन में आती हैं।

उरध उमंगि चल्यौ काहू पै न रुक्यौ है - उमङ्ग से आगे बढ़ने लगा, उसको अब कोई कर्म रोक नहीं सकता। चैतन्यस्वरूप आत्मा की दृष्टि और रमणतारूप निर्मलता प्रगट होकर, उसकी स्वच्छ दर्पणवत् दशा ही उसके मोक्ष का कारण होगी। पुण्य-पाप की दशा तो मलिन थी, वह नाश हुई और स्वभाव को निर्मलदशा प्रगट हुई - वही कारणरूप होकर मोक्ष के पूर्ण निर्मल कार्य को लाएगी। जिसको कारण प्रगट हुआ, उसको कार्य अनिवार्यरूप से प्रगट होगा... वह अवश्य सिद्ध पद प्राप्त करेगा।

यह नाटक समयसार का पुण्य-पाप एकत्व अधिकार चल रहा है। इस अधिकार में यह समझाया जा रहा है कि आत्मा में होनेवाले शुभाशुभ दोनों भावों की एक ही जाति है, दोनों बन्ध के ही कारण हैं।

अब ११ वें कलश का १४ वाँ पद्य इस प्रकार है —

ज्ञान और शुभाशुभ कर्मों का ब्यौरा

जौलौं अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा,
तौलौं अंतरातमामैं धारा दोइ बरनी।
एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दुहूंकी प्रकृति न्यारी न्यारी-न्यारी धरनी॥

www.vitragvani.com

इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी।
ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार,
दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी॥ १४॥

अर्थ - जब तक आठों कर्म बिलकुल नष्ट नहीं होते, तब तक सम्यग्दृष्टि में ज्ञानधारा और शुभाशुभ कर्मधारा दोनों वर्तती हैं। दोनों धाराओं का जुदा जुदा स्वभाव और जुदी जुदी सत्ता है। विशेष भेद इतना है कि कर्मधारा बन्धरूप है, आत्मशक्ति को पराधीन करती है तथा अनेक प्रकार बन्ध बढ़ाती है; और ज्ञानाधारा मोक्षस्वरूप है, मोक्ष की दाता है, दोषों को हटाती है, तथा संसार-सागर से तारने के लिये नौका के समान है।

काव्य - १४ पर प्रवचन

धर्मी जीव को अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभवी जीव को; जिसे विभाव से विमुख होकर, स्वभाव के सन्मुख होकर अखण्ड और अभेद आत्मा की अनुभवदशा प्रगट हुई है; उसको जब तक आठ कर्मों का सम्पूर्णरूप से अभाव नहीं हो, तब तक उसकी दशा कैसी होती है - यह वर्णन यहाँ करते हैं।

आत्मा शुद्धोपयोग स्वभावी है। उसमें पुण्य-पाप नहीं है। जिसने ऐसे आत्मा का शुद्धोपयोग द्वारा अनुभव किया है - ऐसे अन्तरात्मा धर्मी जीव को भी जब तक राग का सम्पूर्णरूप से अभाव नहीं होता, तब तक उसकी परिणति में दो प्रकार की धारा बहती है - ऐसा भगवान ने कहा है। वे दो धाराएँ कौनसी हैं? एक तो ज्ञानधारा और दूसरी शुभाशुभ कर्मधारा। इस प्रकार उसको दो धाराएँ वर्तती हैं।

शुद्ध अखण्ड अन्तःतत्त्व का भान, प्रतीति और अन्तररमणता प्रगट हुई है, वह धर्मी की ज्ञानधारा है। आत्मस्वभाव में एकाग्रता की धारा ज्ञानधारा है, उसका नाम ही आत्मधारा है। उसके साथ रागधारा भी वर्तती है परन्तु वह धर्मी का स्वरूप नहीं है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के भाव आते हैं, वे बन्ध का कारण है और धर्मात्मा को तो अबन्धस्वभावी आत्मा का भान हुआ है; इस कारण वह बन्धभावों को अपना नहीं मानता तो भी शुभाशुभराग आता है। जितना शुद्धात्मा का शरण लिया है, उतनी तो ज्ञानधारा

www.vitragvani.com

वर्तती है – विशुद्ध / शुद्ध निर्मलपरिणति वर्तती है, वह तो धर्मी की अपनी चीज है परन्तु उसके साथ एक शुभाशुभ विकल्प की धारा बहती है। दया, दान, व्रत, भक्तिरूप शुभोपयोग और काम-क्रोधादिरूप अशुभोपयोग – ये दोनों वृत्तियाँ कर्मधारा है। यद्यपि धर्मी शुभाशुभभाव का कर्त्ता नहीं है परन्तु उसकी दशा में ऐसे भाव होते हैं। जब तक आठों ही कर्मों का अभाव नहीं होता, तब तक उसकी भूमिका में शुभाशुभ विकारीभाव होते हैं। यहाँ उनको कर्मधारा अर्थात् विकारीभावरूपी कार्यधारा कहा गया है।

इस ज्ञानधारा और कर्मधारा – इन दोनों का स्वभाव भिन्न है। आत्मा पुण्य-पापरूप कर्मधारा से भिन्न है। जिसने ऐसे स्व-आत्मा को ज्ञेय बनाकर, अन्तर में ज्ञान प्रगट किया; उसके निर्मल ज्ञानधारा कहलाती है। शुभाशुभभाव की प्रकृति मैलरूप है और शुद्धात्मा की परिणति निर्मल है। दोनों के स्वभाव ही अलग है। **न्यारी... न्यारी धरनी...** धरणी अर्थात् 'होनापना।' दोनों धाराओं का होनापना (अस्ति) अलग-अलग है।

धर्म की बातें महँगी और मूल्यवान है। भाई! जगत में उसके मूल्य समान कोई मूल्यवान वस्तु नहीं है – यह ऐसी चीज़ है। इसको समझने के लिए अन्तर-सन्मुखता का अनन्त... अनन्त... अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। यह कोई दया, दान, व्रत, भक्ति या पूजा करने से मिल जाए – आत्मा का स्वभाव ऐसा है ही नहीं।

आत्मा के चैतन्यस्वभाव की धारा पवित्र है और उसकी सत्ता भी कर्मधारा से पृथक् है। पुण्य-पाप के विकल्प की भूमि अलग है। यह बात तो कोई अलग ही है। इसको (जीव को) अपनी महिमा का पता नहीं है। प्रभु! क्रियाकाण्ड करके धर्म मनानेवाला मिथ्यात्व का पोषण करता है। यहाँ तो भगवान कहते हैं कि पुण्य-पाप की सत्ता आत्मा से अलग है। महा पवित्र भगवान आत्मा ने पुण्य-पाप के राग का स्पर्श भी नहीं किया है।

जैसे अजीव की सत्ता से जीव की सत्ता अलग है, वैसे ही पुण्य-पापरूप चारगति की सत्ता जीव की निर्मल सत्ता से अलग है।

धरणी अर्थात् सत्ता। आत्मा पुण्य-पापरूप विकल्प की सत्ता को नहीं धरता। जो अन्तरस्वरूप का आश्रय लेकर अन्तरात्मा हुआ है, उसको ज्ञानधारा और दया, दान, व्रत, भक्ति आदिरूप कर्मधारा – ये दोनों धाराएँ हैं – ऐसा सिद्ध करके, फिर कहते हैं कि उन

www.vitragvani.com

दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है और सत्ता भी भिन्न-भिन्न है। जब तब आठ कर्म नष्ट न हो, तब तक शुद्धता और अशुद्धता दोनों धाराओं का अस्तित्त्व है परन्तु उनका स्वभाव और सत्ता भिन्न-भिन्न है। जीव का स्वभाव शुद्ध है और अशुद्धता तो आस्रव का स्वभाव है।

मूल श्लोक में **विहितस्तावन्ना काचित्क्षतिः** है अर्थात् ज्ञानधारा और कर्मधारा के साथ रहने में विरोध नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उन दोनों स्वभाव एक जाति का है। स्वभाव तो विरुद्ध है परन्तु साथ रहने में विरोध नहीं है। जैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व साथ नहीं रह सकते, उस प्रकार कर्मधारा और ज्ञानधारा साथ नहीं रह सकें - ऐसा नहीं है। शुभभाव और शुद्धभाव की जाति एक नहीं होने पर भी वे साथ रह सकते हैं।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि पञ्च महाव्रतादि की यति की क्रिया धर्म है परन्तु ऐसा नहीं है। शुभ क्रिया भले ही सम्यग्दृष्टि की हो या मिथ्यादृष्टि की हो परन्तु वह धर्म नहीं है।

यह तो धीरज का व्यापार है बापा! शान्ति के सागर में जाना है, उसमें बीच में अशान्ति का भाव आता है; वह कोई अविरोध नहीं, विरुद्ध ही है परन्तु उस भूमिका में वैसा राग आवे ही नहीं - ऐसा नहीं है। राग आया, इसलिए श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति न हो - ऐसा नहीं है। स्वभाव और विभाव - दोनों विरुद्धभाव होने पर भी, उनके साथ रहने में विरोध नहीं है अर्थात् ज्ञानी की भूमिका में वे दोनों भाव साथ होते हैं। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के तो साथ रहने में भी विरोध है। जहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वहाँ मिथ्यादर्शन नहीं रह सकता।

अनादिकाल से जीव यह मानता था कि मैं रोटी, दाल, भात, पैसा, स्त्री, धन आदि को स्पर्शता हूँ और अनुभवता हूँ परन्तु (पर का) स्पर्श या अनुभव जीव को होता ही नहीं था। जीव को तो मात्र शुभ या अशुभभाव का स्पर्श या अनुभव होता था। वह अब जहाँ धर्मी हुआ, तब उसने किसका अनुभव किया? शुभ-अशुभ विकल्प से जिसकी जाति भिन्न है - ऐसी निज वस्तु का स्पर्श किया, वहाँ उसकी पर्याय में शान्ति और आनन्द की धारा बहने लगी, उसका उसने अनुभव किया। अब शुद्धपरिणति की धारा बहती है, उसके साथ

www.vitragvani.com

शुभाशुभ कर्मधारा भी बहती है परन्तु उन दोनों के साथ रहने में विरोध नहीं है। इस कारण राग आता है, वहाँ शुद्धपरिणति चली नहीं जाती।

सम्यग्दृष्टि जीव को भी जितने शुभाशुभभाव होते हैं, वह बन्धरूप है। एक ओर कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि को बन्ध ही नहीं है, सम्यग्दृष्टि मुक्त है। वह भी अपेक्षा से सत्य है परन्तु उसकी पर्याय में पुरुषार्थ की कमज़ोरी के कारण होनेवाले शुभाशुभभाव बन्ध का ही कारण है। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि और ज्ञान, बन्ध का कारण नहीं है परन्तु राग तो बन्ध का ही कारण है।

धर्मी जीव को शुद्धस्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता हुई है, वह बन्धरूप नहीं है और जो बन्धरूप है – ऐसी कर्मचेतना का वह स्वामी नहीं है, तथापि वह धारा होती है अर्थात् शुभ और अशुभपरिणाम की धारा होती है, वह बन्धरूप है। सम्यग्दृष्टि को व्यवहार से मुक्त कहा है, वहाँ उसको बन्ध कहाँ रहा? क्योंकि उसकी दृष्टि और निर्मलधारा में बन्ध नहीं है। जैसे वस्तु अबन्ध है; वैसे ही उसके आश्रय से होनेवाले निर्मलपरिणाम भी अबन्ध ही है। वही सम्यग्दृष्टि का होनापना है और उसमें ही उसका स्वामीपना है। बाकी विभावधारा उसको नहीं रुचती, तो भी वह आती है। इस प्रकार धर्म की ज्ञानधारा और कर्मधारा – विभावधारा में महान अन्तर-विरोध है।

यह कोई पक्ष अथवा बाड़ा (-सम्प्रदाय) की बात नहीं है। धर्म वस्तु के स्वभावरूप है। वस्तु, जो आत्मा है, वह महाप्रभु है, पूर्णानन्द है, कृतकृत्यस्वभावी है। उसके स्वभाव में 'करना' ऐसा कुछ है ही नहीं। स्वयं परिणमनस्वभावी होने से परिणमन को भी करना नहीं पड़ता; परिणमन होता है। वस्तु स्वभाव की दृष्टि होने पर 'मोक्षमार्ग के परिणाम को करूँ' – यह भी नहीं रहता, तो फिर दया, दान के विकल्प को करूँ यह तो कहाँ रहेगा? भाई! परिणाम आते हैं – होते हैं, करनापना नहीं रहता।

ऐसा मार्ग है बापा! यह कहीं किसी का मार्ग नहीं है। तेरी जात का मार्ग है। तू समझ, तो तुझे तेरा मार्ग है – ऐसा समझ में आयेगा।

जहाँ तक अधूरीदशा है, वहाँ तक विकार की धारा रहती है। वह न तो कर्म के अस्तित्त्व में है, न कर्म से है। ज्ञानी की पर्याय में है परन्तु अपना स्वरूप नहीं है, इसलिए

www.vitragvani.com

ज्ञानी उसके स्वामी नहीं है, परन्तु शास्त्र में तो जीव को समझाने के लिए ऐसी कथनशैली आती है कि धर्मी को पुण्य-पाप के विकल्प आते हैं, दया-दान का भाव आता है। दूसरी ओर यह भी आता है कि धर्मी व्यवहार से अलग पड़ गया है अर्थात् धर्मी को राग नहीं होता, धर्मी को तो निर्मलधारा होती हे। वह निर्मलधारा भी होती है, करनी नहीं पड़ती। दृष्टि की दिशा बदलने से परिणमन की दिशा भी बदल गयी है। पहले पर्याय में रमता था, वह अब द्रव्य में रमने लगा।

एक ही जीव की एक ही पर्याय में आंशिक निर्मलता है और आंशिक मलिनता-विकार है। उसमें निर्मलता ही वास्तव में जीव की है; विभाव को तो जीव का मात्र कहा जाता है। उसमें तो चैतन्य का अंश भी नहीं है। रागधारा कहो, कर्मधारा कहो या अचेतनधारा कहो; सब एक ही है। रागधारा है, वह चैतन्यधारा नहीं है। जागृत ऐसा भगवान आत्मा अजागृतभावरूप किस प्रकार हो? इसीलिए तो समयसार की छठवीं गाथा में कहा है कि ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्तरूप नहीं है। ज्ञायकभाव शुभाशुभरूप नहीं परिणमता अर्थात् ज्ञायक जड़ नहीं होता - यह स्पष्टीकरण कोष्टक में किया है सो सत्य है, क्योंकि आत्मा तो अकेला ज्ञानप्रकाश का पूर है। वह, जिसमें ज्ञायक का अंश भी नहीं है - ऐसे पुण्य-पाप के विकल्परूप कैसे होगा?

लोगों को तो कोई विशाल यात्रा निकाले, तम्बू लगावे, साथ में भगवान की प्रतिमा रखे, लाखों रुपये खर्च करे तो धर्म किया दिखता है परन्तु भाई! बाहर में भटकने में धर्म कहाँ था? धर्म तो अन्दर में गहरे उतरने पर प्रगट हो - ऐसा सूक्ष्मभाव है।

यहाँ कहते हैं कि **कर्मधारा बंधरूप, पराधीन...** कर्मधारा तो बन्धरूप है और पराधीन है, स्वाधीन नहीं। परद्रव्य इस जीव को आधीन नहीं कराता, परन्तु स्वयं राग के आधीन होकर पराधीन होता है।

श्रोता - यह बात ठीक से समझ में नहीं आई!

पूज्य गुरुदेवश्री - पुण्य-पाप के विकल्प स्व के आश्रय से नहीं होते और पर उनको नहीं कराता परन्तु स्वयं निमित्त के आधीन होकर पराधीनदशा उत्पन्न करता है।

विकार, निमित्त की अपेक्षा बिना अपने षट कारक से स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न होता

www.vitragvani.com

है परन्तु यहाँ यह सिद्ध नहीं करना है। यहाँ तो वह पराधीनभाव है - ऐसा सिद्ध करना है। पर के आश्रय से होता है, इसलिए पराधीन है।

यहाँ तो कहते हैं कि प्रतिक्रमण का विकल्प भी कर्मधारा है, आत्मधारा नहीं।

जीव अनन्तकाल में अनन्तबार नौवें ग्रैवेयक तक जा आया परन्तु स्वभाव में कभी नहीं आया। एक समय की पर्याय में ही रमा है। पर्याय के पीछे वस्तु कौन है ? यह देखने को इसने दरकार भी नहीं की। बारह-बारह महीने के उपवास किये परन्तु वस्तु कौन है ? - यह देखने के लिए नज़र भी नहीं की। चैतन्य निधान की नज़र बिना इसकी समस्त क्रिया और भाव अधर्म है।

तब **प्रश्न** होता है कि अज्ञानी का पुण्य आत्मा का हित नहीं करता, परन्तु धर्मी का पुण्यपरिणाम तो आत्मा को लाभरूप है या नहीं ? दया, दान, व्रत, भक्ति, वाँचन-श्रवण, पाँच-पाँच घण्टे तक पुस्तक (शास्त्र) हाथ में से छूटे नहीं - इतनी स्वाध्याय करे, मनन करे, उससे धर्म होता है या नहीं ?...

समाधान यह है कि नहीं... पुण्य परिणाम से किसी को धर्म नहीं होता।

पुण्य परिणाम मेरा है और वह मेरा कर्त्तव्य है - ऐसा माननेवाले अज्ञानी तो फेल हो गये हैं। इसमें फेल होने का तो उसको पता भी नहीं है और शरीर में हार्टफेल हो वहाँ अहाहा...! हो जाता है। चैतन्य को विकल्परूप माननेवाले ने चैतन्य को मुर्दा माना है। विकल्प तो चेतना से रहित मुर्दा है। सच्चिदानन्दप्रभु आत्मा विकल्प से निराला है। उसके अनुभवी ज्ञानियों को एक समय की पर्याय किञ्चित् पराधीनरूप से काम करती है - उसका यहाँ मात्र ज्ञान कराया है।

धर्मी को अपने द्रव्य का पूर्ण आश्रय नहीं है, इसलिए उसको पर का आश्रय आ जाता है, उतनी कर्मधारा है और वह समकिती को भी बन्धरूप है। क्षायिक समकित हो और मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञान का धारक हो, उसको भी कर्मधारा तो बन्धरूप ही है।

यह कोई झगड़ा या वाद-विवाद से पार पड़नेवाली बात नहीं है; इसमें तो मौन हो जाने की बात है।

www.vitragvani.com

द्रव्यदृष्टि के ज़ोर से सम्यग्दृष्टि को राग और बन्धरहित कहा है परन्तु उसकी पर्याय में कमज़ोरीवश राग होता है, इससे बन्ध भी है – ऐसी पर्यायदृष्टि की बात भी बतला दी है। भाई! राग की क्रिया का रास्ता जीव का नहीं है। अनेक प्रकार का राग आ जाता है, उससे अनेक प्रकार का बन्ध होता है।

ग्यानधारा मोखरूपी मोखको करनहार... धर्मी की ज्ञानधारा अर्थात् आत्मधारा मोक्षरूप है। यहाँ ज्ञान की प्रधानता से कथन किया होने से ज्ञानधारा कहा है परन्तु इससे एकान्त: जानपने की ही बात नहीं है। एकान्त ज्ञान और एकान्त क्रिया तो मिथ्यात्व का ज़हर है – यह बात आगे कहेंगे। यहाँ तो ज्ञानधारा अर्थात् आत्मधारा मोक्षरूप है और मोक्ष को करनेवाली है।

राग, बन्धरूप है तो ज्ञान, मोक्षरूप है। त्रिकाली शुद्धस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ ज्ञान और शान्ति आदि की निर्मलदशा मोक्षप्रदायक है।

जो मोक्षरूप हो, वह मोक्ष का कारण होता है। जो स्वयं बन्धरूप हो, वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है? वह तो बन्ध का कारण होता है।

अभी जिनकी परलक्ष्यी समझ भी सही नही है, वे सब तो भटकनेवाले है।

वस्तु स्वयं तो त्रिकाल शक्तिरूप मुक्तस्वभाव है। इस कारण उसको भानेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय को मोक्षरूप कह दिया है। ज्ञानधारा मोक्षरूप है और मोक्ष को करनेवाली है। अबद्धस्पृष्ट भगवान आत्मा, राग और कर्म के सम्बन्ध से रहित है अर्थात् मुक्त है और उसका अनुभव करनेवाली ज्ञानधारा मोक्ष को करनेवाली तथा दोष को हरनेवाली है। राग-द्वेषादि दोष को रखनेवाली नहीं, अपितु टालनेवाली है। जहाँ जीव, स्वभावसन्मुख होता है, वहाँ दोष टालने नहीं पड़ते, टल जाते हैं।

भगवान आत्मा की अभ्यन्तर श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूप ज्ञानधारा मोक्षरूप है, मोक्ष को करनेवाली है, दोष को हरनेवाली है और भवसमुद्र से तारनेवाली है। चौरासी के अवतार से जीव को तारनेवाली यह ज्ञानधारा है। दोष पर दृष्टि रखकर दोष का अभाव नहीं होता। वस्तुत: तो स्वभाव का आश्रय लेने पर दोष की उत्पत्ति न होने का नाम ही दोष की

www.vitragvani.com

टालनेवाली ज्ञानधारा कहा जाता है। जहाँ ज्ञान का उत्पाद होता है, वहाँ राग का क्षय हो जाता है।

ज्ञानधारा संसार समुद्र से तारने के लिए नौका के समान है; इसलिए उसको **भो-समुद्र तरनी** कहा गया है।

अब, १५ वें पद्य में कहते हैं 'यथायोग्य कर्म और ज्ञान से मोक्ष है।' **ये कुर्वन्ति न कर्म आतु न वशं यान्ति प्रमादस्य च।** जो कर्म को नहीं करता और प्रमाद के वश नहीं होता, वह मोक्ष को पाता है। कथन में ऐसा आता है कि यथायोग्य कर्म करता है अर्थात् उस भूमिका में उसके योग्य विकल्प आते हैं – ऐसे कथन समझने के लिए आते हैं परन्तु उनको पकड़नेयोग्य नहीं है। उनका आशय पकड़ना चाहिए, शब्द नहीं। इसके लिए एक सरस दृष्टान्त आता है कि एक अंग्रेज-गोरा मनुष्य कहता है कि मैं सब गुजराती जानता हूँ। तब उसके मिथ्या बड़प्पन को तोड़ने के लिए एक गुजराती मनुष्य बालक को बुलाकर कुछ पूछता है, उसका उत्तर बालक दे देता है, तो पहला गुजराती कहता है कि अब जाना... जाना – तब बालक तो समझ गया कि मैंने नहीं जाना ऐसा यह कहता है। दो बार जाना... जाना कहा इसलिए बहुत जानना हुआ — ऐसा नहीं है, परन्तु जाना ही नहीं – ऐसा अर्थ पहला अंग्रेज नहीं जानता था। इसी प्रकार आत्मदेश की भाषा परदेशवाले विवेक करके समझे तो ही समझ सकते हैं।

धर्मी को आत्मा में विकल्प हो जाता है – ऐसा कहने में भी एकत्व हो जाता है। विकल्प आता है – उसका धर्मी जाननेवाला रहता है, कर्ता नहीं होता। ऐसा वस्तुस्वभाव है।

यथायोग्य कर्म और ज्ञान से मोक्ष है

समुझैं न ग्यान कहैं करम कियेसौं मोख,
ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमैं।
ग्यान पच्छ गहैं कहैं आतमा अबंध सदा,
बरतैं सुछंद तेऊ बूड़े हैं चहलमैं॥
जथा जोग करम करैं पैं ममता न धरैं,
रहैं सावधान ग्यान ध्यानकी टहलमैं।

www.vitragvani.com

तेई भव सागर के ऊपर ह्वै तरैं जीव,
जिन्हिकौ निवास स्यादवादके महलमैं॥ १५॥

अर्थ – जो ज्ञान में नहीं समझते और कर्म से ही मोक्ष मानते हैं – ऐसे क्रियावादी जीव, मिथ्यात्व के झकोरों से बेचैन रहते हैं और सांख्यवादी जो सिर्फ ज्ञान का पक्ष पकड़ के आत्मा को सदा अबन्ध कहते हैं तथा मनमाने वर्तते हैं, वे भी संसार की कीचड़ में फँसते हैं। पर जो स्याद्वाद-मन्दिर के निवासी हैं, वे अपने पदस्थ के अनुसार कर्म करते हैं और ज्ञान-ध्यान की सेवा में सावधान रहते हैं, वे ही संसार-सागर से तरते हैं।

काव्य - १५ पर प्रवचन

समुझैं न ज्ञान कहै करम कियेसौं मोख.... जो आत्मा के स्वभाव को तो नहीं जानता और कर्म अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति आदि की क्रिया से हमारा मोक्ष होगा – ऐसा मानता है, वह जीव मिथ्यात्व की गहल में है अर्थात् पागल है, मिथ्यात्व के झपट्टे से बेचैन है। दया, दानादि का भाव शुभ है और हिंसा, झूठादि भाव अशुभ है परन्तु उन दोनों की जाति आत्मस्वरूप से विरुद्ध होने से एक ही है। दोनों में से एक में भी धर्म नहीं है। दोनों भावकर्म है, आत्मधर्म नहीं परन्तु जिनको आत्मा के धर्म का पता नहीं है, वे प्रसन्नतापूर्वक शुभभाव की क्रिया करते हैं।

यह तो मिथ्यात्व के ज़ोर में पुण्य की क्रिया में धर्म मान बैठे हुए क्रियाकाण्डियों की बात की। अब शुष्कज्ञानी की बात करते हैं।

ग्यान पच्छ गहै कहैं आत्मा अबंध सदा... आत्मा तो सदा ही अबन्ध है, फिर उसमें अशुद्धता कैसी ? – ऐसा करके स्वच्छन्दता का सेवन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञान में आत्मा का अनुभव करना चाहिए, वह तो करता नहीं और अकेला ज्ञान (जानपना) इकट्ठा करके अपने को अबन्ध और शुद्ध मानता है। हम तो सिद्ध समान शुद्ध हैं, जो कुछ राग की वृत्तियाँ होती हैं, वह पुद्गल है – ऐसा मानकर स्वच्छन्दता का सेवन करता है।

श्रोता – शास्त्र में ऐसा कहा है कि राग तो पुद्गल का परिणाम है, ज्ञानी को बन्ध नहीं है ?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री – वह किसके लिए कहा है ? – जिसको आत्मा का खज़ाना खुल गया है, दृष्टि आत्मा पर पड़ी है; दया-दानादि की वृत्तियों से एकत्वबुद्धि टूट गई है और जो स्वभाव के साथ हो गया है, जिसे स्वभाव सन्मुखतारूप घोलन चलता है; उसको फिर जो विकल्प आता है, वह पुद्गल का है और स्वयं तो ज्ञाता-दृष्टा है – ऐसा कहा जाता है। जिसको आत्मा का भान नहीं है, स्वभावसन्मुख दृष्टि नहीं है, स्वभावसन्मुखता का प्रयत्न नहीं है और स्वभावसन्मुख आचरण नहीं है; अकेला पापाचरण करता है और हमको बन्ध नहीं है – ऐसा करके स्वच्छन्दता का सेवन करता है, वह भवसमुद्र में डूबता है, क्योंकि उसने ज्ञान के पक्ष का ग्रहण किया है, ज्ञानमय वस्तु का तो ग्रहण नहीं किया।

मैं अनन्त ज्ञानस्वरूप चैतन्य हूँ, राग-द्वेषादि मेरे भाव नहीं है – ऐसा अनुभव करनेवाला, उसमें सावधान रहनेवाला, प्रयत्न करनेवाला स्वच्छन्दी नहीं है परन्तु जो अपने को सिद्ध समान शुद्ध मानता हुआ, स्वच्छन्दरूप से विषय-वासना और भोगों का सेवन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

श्रीमद्जी ने भी कहा है कि –

कोई क्रिया जड़ हो रहे, शुष्कज्ञान में कोई;
माने मारग मोक्ष का, करुणा उपजे जोई॥

(आत्मसिद्धि - गाथा - २)

यही बात यहाँ की है कि क्रियाजड़ और शुष्कज्ञानी दोनों के प्रकार अलग-अलग है परन्तु दोनों मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के भान बिना भक्ति करो, व्रत करो, तप करो अथवा यात्रा करो – ऐसा करके शुभभाव का सेवन करता है और साथ ही अशुभभाव का भी सेवन करता है, जिसे स्वभाव की कोई दरकार नहीं है, वह स्वच्छन्दी ही है।

जो-जो वृत्ति उठती है, उसमें प्रेम है, भोग की वासना है; और कहता है कि आत्मा अबन्ध है, इसलिए हमको कुछ दोष नहीं है – वह जीव चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करेगा... मर जाएगा।

जो ज्ञानपक्ष को ग्रहण करता है किन्तु ज्ञान का अनुभव नहीं करता, वह शुभभाव

www.vitragvani.com

करता हो तो भी स्वच्छन्दी ही है। अपने को ठीक लगे वैसा वर्तन करता है और वस्तुस्वरूप का अनुभव नहीं करता; वह अशुभभाव करता हो या शुभभाव करता हो; स्वच्छन्दी ही है। वस्तु का अनुभव तो नहीं हुआ हो, परन्तु उस तरफ का प्रयत्न और पुरुषार्थ भी नहीं करता; और मात्र आत्मा अबन्ध है व शुद्ध है – ऐसा करता है, वह स्वच्छन्दी-मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु कहे हैं, इसलिए हमको भोग भोगने में कोई बाधा नहीं है – ऐसा करेगा तो मर जाएगा। जिसको आत्मा का आनन्द आया है और किसी विकल्प का स्वामीपना नहीं है, आनन्द में अधिकपना वर्तता है, उसके भोग को निर्जरा का हेतु कहा है, क्योंकि उसको राग आया है, परन्तु वह राग का सेवन नहीं करता।

आत्मा अबन्ध है – यह बात सत्य है परन्तु किसको ? जो ऐसी दृष्टि और अनुभव करता है, उसको आत्मा अबन्ध है। दृष्टि और अनुभव के बिना मात्र बात करे कि आत्मा अबन्ध है, सिद्ध समान निर्लेप है... उसको समकिती नहीं कहा है।

श्रोता – क्या उसका आत्मा अबन्ध नहीं है ?

पूज्य गुरुदेवश्री – आत्मा तो प्रत्येक का अबन्ध है। अभव्य का आत्मा भी अबन्ध है, मुक्तस्वरूप ही है। वस्तुरूप से तो प्रत्येक आत्मा अबन्ध मुक्तस्वरूप ही है, पर्याय में कर्म के निमित्त का सम्बन्ध है। द्रव्य-गुण के साथ निमित्त का कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रोता – तो फिर शुष्कज्ञानी ने क्या भूल की है ?

पूज्य गुरुदेवश्री – उसने भूल यह की है कि अबन्धस्वभाव की दृष्टि तो की नहीं, राग पर दृष्टि रखी और आत्मा को अबन्ध मानकर स्वच्छन्दता का सेवन किया। उसके लिए बनारसीदासजी कहते हैं कि **वरतैं सुछंद तेऊ बूढ़े हैं चहलमैं।** धर्मी तो राग को करता नहीं है, आता है, उसको भिन्न रहकर जानता है। कोई राग में मिलकर राग को नहीं जान सकता।

जीव दृष्टि बदले तो एक समय में मुक्त हो सकता है। छह माह राह देखना पड़े – ऐसा नहीं है परन्तु दृष्टि को स्वभाव में नहीं रखकर, जहाँ स्वयं नहीं है वहाँ दृष्टि लगा रखी

www.vitragvani.com

है। विद्यमान को अविद्यमान किया है और अविद्यमान ऐसे रागादि को प्रसिद्ध किया है; इस कारण मुक्तस्वभाव आत्मा अनुभव में नहीं आता।

जथा जोग करम करे - ऐसा शब्द है, उसका अर्थ यह है कि जब धर्मी शुद्धस्वभाव में एकाग्र नहीं रह सकता, तब उसको (भूमिकानुसार) शुभभाव आता है परन्तु उसमें कर्तृत्त्वबुद्धि नहीं है। शुभभाव आता है, वह ठीक है - ऐसा नहीं है। शुभपरिणमन स्वयं का होने पर भी, उसको भला नहीं जानता। राग का विकल्प आता है, वह मेरा है - धर्मी ऐसा अनुभव नहीं करता।

सम्यग्दर्शन, आत्मा की धर्मदशा है और उसका ध्येय ध्रुव है - ऐसा जहाँ पकड़ा, वहाँ तो उसका परिणमन ही जीव का कर्त्तव्य है। राग, जीव का कर्त्तव्य नहीं है। धर्मी को दया, दान, व्रत, तपस्या का विकल्प आता है परन्तु वह उपादेय नहीं है। धर्मी राग को करता है - ऐसा कहना भी व्यवहार है और धर्मी को राग होता है - ऐसी स्थापना भी एक व्यवहार है। धर्मी को राग आता है, उसको धर्मी जानता है परन्तु स्वच्छन्दता करके सेवन नहीं करता।

रहै सावधान ग्यान ध्यान की रहल में - धर्मी जीव राग के काल में भी सावधान है। राग होने के पश्चात् उसको अभाव योग्य जानकर अभाव करे - ऐसा नहीं; अपितु राग के काल में भी, धर्मी स्वरूप की सावधानी में है। ऐसा धर्म गृहस्थदशा में रहकर भी होता है। कोई नग्न मुनि (द्रव्यलिङ्गी-मिथ्यादृष्टि) होकर भी अधर्म का सेवन करता है और धर्मी गृहस्थदशा में भी धर्म का सेवन करता है।

जिसको सहजात्ममूर्ति चैतन्य भगवान की दृष्टि नहीं है, अनुभव नहीं है, आश्रय नहीं है और अकेले क्रियाकाण्ड करके धर्म मानता है, वह तो मिथ्यात्व में पागल है। दुनिया भले ही उसको चतुर कहे - साधु मानें परन्तु वह संसार में ही डूबा हुआ है और जिसको राग की एकता टूटकर, स्वभाव में एकता हुई है, उसको स्वरूप में सावधानी है। उसको राग आता है तो भी एकत्वबुद्धि नहीं होती।

वह धर्मी जीव, ज्ञान और ध्यान की सेवा में रहता है। उसको राग की सेवा नहीं,

www.vitragvani.com

राग से तो पृथक्पना है। ज्ञान और ध्यान दोनों में सावधानी कही है अर्थात् ज्ञान अपेक्षा से सावधान है और चारित्र अपेक्षा से भी स्वरूप में लीनतारूप सावधानी है।

समयसार, जीव अधिकार में गाथा १६ में आ गया है कि ज्ञान को तो आत्मा सेवन करता ही है, ज्ञान और आत्मा कहीं अलग नहीं है; तब तुम ज्ञान का सेवन करो... ज्ञान का सेवन करो – ऐसा क्यों कहते हो ? भाई ! ज्ञान और आत्मा तद्रूप होने पर भी, जो ज्ञान के सन्मुख होकर उसमें लीनता नहीं करता, उसने ज्ञान की सेवा कभी की ही नहीं। जो राग में एकमेक होकर पड़ा है, उसको ज्ञान और आत्मा एक है – ऐसी दृष्टि ही नहीं है। वह तो राग और आत्मा को एक मानता है। उसने ज्ञान की सेवा कभी नहीं की और पर की सेवा भी कभी नहीं की, (क्योंकि पर की सेवा कर ही नहीं सकता)। उसने तो अनादि से मात्र रागादिविकल्प की सेवा की है। वह सेवा छोड़कर, त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर जिसको स्वभाव सम्पन्न आत्मा कहते हैं, उसमें एकाग्रता करके, जो आत्मा का सेवन करता है, उसने आत्मा की अर्थात् ज्ञान की सेवा की कही जाती है। ऐसी सेवा, वह निर्जरा है।

ज्ञान की सेवा के बिना मात्र ज्ञान की बातें करने से धर्म नहीं होता। आत्मा अबन्ध है, शुद्ध है, राग से भिन्न है – ऐसे भान बिना जो अपने को अबद्ध मानता है और राग का सेवन करता है, वह राग के बन्ध में पड़ा है और अपने को अबन्ध मानता है; वह स्वच्छन्दी भवसमुद्र में डूबता है। ज्ञान का ज्ञान करके, ज्ञान में एकाग्र होने का नाम ध्यान है। ऐसे ज्ञान को सेवन करनेवाला जीव, भवसमुद्र से तिर जाता है।

तेई भवसागर के उपर ह्वै तरै जीव, जिन्हिकौ निवास स्याद्वाद के महलमैं अर्थात् जो जीव स्याद्वाद के अनुसार वस्तुस्वरूप को ज्यों का त्यों जानता है कि वस्तुदृष्टि से मैं अबन्ध हूँ और पर्याय में अशुद्धता है तथा बन्ध भी होता है – इस प्रकार जो स्याद्वाद से सब जानता है, वह संसार समुद्र से तिरने में समर्थ है।

जिसको परमानन्द प्राप्त करना हो, उसको द्रव्य की शुद्धता के साथ पर्याय की अशुद्धि का ज्ञान भी करना पड़ेगा। राग का परिणमन मेरे में मेरे कारण से होता है। परद्रव्य मुझे राग नहीं कराता।

श्रोता – राग को तो पुद्गल का कहा है न ?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री – वस्तु की अनुभूति करने पर, अनुभूति में राग साथ नहीं आता – इस अपेक्षा से राग को पुद्गल का कह दिया गया है। शुद्ध ज्ञानघन के सन्मुख होकर अनुभव करे, वहाँ राग, शरीर, कर्मादि कुछ नहीं होते। राग जीव का स्वभाव नहीं है, इसलिए पुद्गल का है। राग जीव में से निकल जाता है, इसलिए जीव का नहीं है। जब जीव स्वभाव को भूलकर पर का लक्ष्य करता है, तब राग होता है; इसलिए जिसके लक्ष्य से हुआ उसका कह दिया है परन्तु राग कहीं परमाणु नहीं है, राग में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण नहीं है।

समयसार की ५० से ५५ वीं गाथा में चौदहवाँ गुणस्थान भी पुद्गल का है, जीव नहीं – ऐसा कह दिया है... वह किस अपेक्षा से ? अभेद चैतन्य की अनुभूति होने पर कोई भी परलक्ष्यी भाव अन्तर अनुभूति में नहीं आता – इस कारण सभी भावों को अजीव कह दिया है। राग स्वयं की अपेक्षा से वस्तु होने पर भी, जीव की अपेक्षा से अवस्तु है। जीव अर्थात् त्रिकाली चैतन्य की अपेक्षा से राग कोई वस्तु ही नहीं है। प्रमाणज्ञान करना होवे तो राग का कर्तृत्त्व और भोक्तृत्त्व है – ऐसा जानना चाहिए। इसीलिए ४७ नयों में राग का कर्तापना और भोक्तापना भी लिया है।

राग अपने अस्तित्त्व में है, पर अस्तित्त्व के कारण राग नहीं होता – ज्ञान में ऐसा जानना चाहिए। ज्ञान का स्वभाव तो जानना है। वह विकल्प को जानता है और पर्याय को भी जानता है; इसीलिए ज्ञान को सविकल्प कहा है। विशेष प्रकार से – भेद से जानना ही ज्ञान का सविकल्पपना है। अनुभूति की पर्याय प्रगट हुई, उसमें त्रिकाली के ज्ञान के साथ राग का अभाव है – ऐसा ज्ञान भी आ जाता है।

रागवाली भक्ति से अथवा छह काय के जीवों की रक्षा से पुण्य बँधता है, धर्म नहीं होता। धर्मी को ऐसा शुभभाव होता है परन्तु उसकी मर्यादा पुण्य बँधने तक ही है। धर्म तो अन्तर में एकाग्रतारूप भक्ति से होता है।

ज्ञानी का निवास स्याद्वाद के महल में है। त्रिकाल ज्ञायकभाव, वह ध्रुव है। वही निश्चयनय का विषय है, वही आश्रय करनेयोग्य है; और पर्याय में अशुद्धता है – उसको जानना व्यवहारनय का विषय है। व्यवहारनय के विषय को मेचक और निश्चयनय के

www.vitragvani.com

विषय को अमेचक कहा जाता है। इस प्रकार जो निश्चय-व्यवहार से वस्तु के स्वरूप को ज्यों का त्यों समझता है, उसको आत्मा अनुभव में आता है। आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में ही बसता है, अन्यत्र कहीं आत्मा नहीं बसता; इसलिए आत्मा को पहिचानने के लिए उसके द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप समझना चाहिए।

अब आगामी काव्य में मूढ़क्रिया और विचक्षणक्रिया का वर्णन करते हैं।

मूढ़क्रिया और विचक्षणक्रिया का वर्णन

जैसैं मतवारौ कोऊ कहै और करै और,
तैसैं मूढ़ प्रानी विपरीतता धरतु है।
असुभ करम बंध कारन बखानै मानै,
मुकतिके हेतु सुभ-रीति आचरतु है॥
अंतर सुदृष्टि भई मूढ़ता बिसर गई,
ग्यानकौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है।
करनीसौं भिन्न रहै आतम-सुरूप गहै,
अनुभौ अरंभि रस कौतुक करतु है॥ १६॥

अर्थ - जैसे कोई पागल मनुष्य, कहता कुछ और करता कुछ है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव में विपरीतभाव रहता है, वह अशुभकर्म को बन्ध का कारण समझता है और मुक्ति के लिए शुभ आचरण करता है। पर सच्चा श्रद्धान होने पर, अज्ञान नष्ट होने से ज्ञान का प्रकाश मिथ्या-अन्धकार को दूर करता है और क्रिया से विरक्त होकर आत्मस्वरूप को ग्रहण करके अनुभव धारण कर परमरस में आनन्द करता है।

काव्य - १६ पर प्रवचन

मिथ्यादृष्टि जीव, विपरीत श्रद्धा धारण करता है और अपने को ज्ञानी मानता है; वह पागल मनुष्य जैसा है। उसकी मिथ्यामान्यता क्या है ? यह अशुभक्रिया को तो वह बन्ध का कारण जानता है परन्तु शुभक्रिया को मुक्ति का कारण जानकर सेवन करता है - यह उसकी मूढ़ता है, अज्ञान है। उसको वीतराग मार्ग का कुछ पता नहीं है।

हम संवत् १९९५ में जूनागढ़ यात्रा करने गये थे, वहाँ चर्चा हुई थी तो कहा था कि

www.vitragvani.com

यह यात्रा, भक्ति, पूजादि तो शुभराग है। तब वे लोग कहने लगे कि हम तो यह सब मुक्ति के लिए करते हैं। विचार करो कि 'मुक्ति अर्थात् वीतरागता' – तो राग से वीतरागता कैसे प्राप्त होगी? परन्तु इसको भक्ति, पूजा आदि राग है – यह भी पता नहीं है। भगवान के सन्मुख देखकर स्तुति करने बैठना भी राग है। अज्ञानी ने तो स्त्री-पुत्रादि के समीप बैठने या दुकान की गद्दी पर बैठने को राग माना है; मन्दिर में बैठने को तो उसने राग माना ही नहीं है। अपना भगवान अपने पास है, इसका तो उसे पता ही नहीं है। अपने भगवान के भानपूर्वक, मन्दिर में विराजमान भगवान की भक्ति का राग आता है, वह मात्र जाननेयोग्य है। धर्मी, राग को आदरणीय नहीं मानता। शास्त्र वाँचन, श्रवण भी शुभराग है।

लोगों को ऐसा लगता है कि ये शास्त्र वाँचन, श्रवण को शुभराग भी कहते जाते हैं और फिर शास्त्र प्रवचन भी करते जाते हैं। भाई! शास्त्र वाँचन, श्रवण, मनन आदि का ऐसा भाव आना अलग बात है परन्तु उसको आदरणीय नहीं मानते।

अंतर सुदृष्टि भई मूढ़ता विसर गई – अन्तर्मुख दृष्टि होने पर राग और विकल्प मेरा है – ऐसी मूढ़ता विसर जाती है। चैतन्य का स्मरण और राग का विस्मरण साथ ही होता है। **ग्यान कौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है** अर्थात् ज्ञान का प्रकाश होता है, वह अज्ञानरूपी तिमिर अर्थात् भ्रमरूपी अन्धकार का नाश करता है। कोई क्रियाकाण्ड, मिथ्यात्व और अज्ञानरूपी भ्रम का नाश नहीं कर सकता। ज्ञान की क्रिया ही अज्ञान का अभाव करती है।

क्रिया अनेक प्रकार की है – (१) जड़ की क्रिया, (२) विभाविक क्रिया और (३) स्वाभाविक क्रिया। शरीर की जो चलने, बोलने, स्थिर होने की क्रिया है, वह जड़ की क्रिया है। आत्मा में काम, क्रोधादि अथवा व्रत, तपश्चरणादि के भाव की क्रिया होती है, वह विभाविक क्रिया है और उससे भिन्न पड़कर आत्मा में एकाकार होना स्वाभाविक क्रिया है।

धर्मी जीव ही उसको कहते हैं कि जिसको 'करनी' के परिणाम आते हैं परन्तु उनसे वह भिन्न रहता है। मैं हूँ वहाँ जड़ और राग की क्रिया नहीं है और वह क्रिया है, उसमें मैं नहीं हूँ। इस प्रकार उससे भिन्न पड़कर, आत्मा के शुद्धस्वरूप को ग्रहण करनेवाला ही धर्मी है। पण्डित बनारसीदासजी तो कवि है न! इसलिए भाषा भी कैसी प्रयोग की है –

www.vitragvani.com

आतम-सुरूप गहै, करनी सौं भिन्न रहै... अनुभौ अरंभि रस कौतुक करतु है। अर्थात् धर्मी जीव अनुभव धारण करके परमरस का आनन्द लेता है। धर्मी का कर्त्तव्य-कार्य-क्रिया ही यह है। धर्मी कहो या ज्ञानी कहो - एक ही है। ज्ञान बहुत हो वह धर्मी है - ऐसा नहीं है। क्रिया बहुत करता है, इसलिए वह धर्मी है - ऐसा भी नहीं है। जिसने आनन्दमूर्ति चैतन्यस्वरूप को प्राप्त किया है, वह धर्मी है। राग में रक्तपना छोड़कर, अन्दर में रक्त होनेवाला धर्मी है और अज्ञानी राग में रक्त होने से अधर्मी है।

धर्मी, राग को करता नहीं, भोगता नहीं; अपितु राग से विरक्त रहता है क्योंकि वह तो राग से भिन्न है - इस कारण राग को कर्त्ता-भोक्ता नहीं है। धर्मी तो आनन्द रस को करता और भोगता है।

अध्यात्मदृष्टि की शैली में थोड़ा राग करे और थोड़ा ज्ञान करे - ऐसा नहीं होता। अध्यात्मदृष्टि से धर्मी आनन्द को ही करता है और भोगता है; राग को करता-भोगता नहीं है। परिणमन में किञ्चित् राग और उसका वेदन है; उसकी बात पूर्व में आ गई हे, वह जानने योग्य है। जब तक आठों ही कर्मों का अभाव नहीं होता, तब तक ज्ञानी को दो धाराएँ होती हैं। उनमें एक रागधारा है - उसका मात्र ज्ञान करना।

इस प्रकार पुण्य-पाप एकत्वद्वार पूर्ण हुआ। अब, उसका सार कहा जाता है।

चौथे अधिकार का सार *

जिसका बन्ध विशुद्धभावों से होता है, वह पुण्य और जिसका बन्ध संक्लिष्टभावों से होता है, वह पाप है। प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कलुषतारहित भाव, अरहन्त आदि पञ्च परमेष्ठी की भक्ति, व्रत, संयम, शील, दान, मन्दकषाय आदि विशुद्धभाव पुण्यबन्ध के कारण हैं और साता, शुभआयु, ऊँच गोत्र, देवगति शुभ नाम आदि पुण्यकर्म हैं। प्रमादसहित प्रवृत्ति, चित्त की कलुषता, विषयों की लोलुपता, दूसरों को संताप देना, दूसरों का अपवाद करना; आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, चारों संज्ञा; तीनों कुज्ञान, आर्त-रौद्र ध्यान; मिथ्यात्व; अप्रशस्त राग, द्वेष, अव्रत, असंयम, बहुत आरम्भ, दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, योगवक्रता,

* समयसार नाटक प्रवचन क्रमाङ्क ६० अनुपलब्ध होने से इस सार के प्रवचन का कुछ अंश तथा आस्रव अधिकार के ४ काव्यों पर गुरुदेवश्री के प्रवचन नहीं दिये जा सके हैं। - *सम्पादक*

www.vitragvani.com

आत्मप्रशंसा, मूढ़ता, अनायतन, तीव्र कषाय आदि संक्लिष्ट भाव, पाप-बन्ध के कारण हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, असाता, मोहनीय, नरक आयु, पशु गति, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अन्तराय आदि पापकर्म हैं।

अशुभपरिणति और शुभपरिणति दोनों आत्मा के विभाव हैं, दोनों ही आस्रव-बन्धरूप हैं, संवर-निर्जरा के कारण नहीं हैं, इसलिए दोनों ही मुक्तिमार्ग में घातक होने से पाप और पुण्य दोनों एक ही हैं। यद्यपि दोनों के कारण, रस, स्वभाव, फल में अन्तर है तथा पुण्य प्रिय और पाप अप्रिय लगता है, तो भी सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी के समान दोनों ही जीव को संसार में संसरण करानेवाले हैं। एक शुभोपयोग और दूसरा अशुभोपयोग है; शुद्धोपयोग कोई भी नहीं है, इससे मोक्षमार्ग में दोनों की सराहना नहीं है। दोनों ही हेय हैं, दोनों आत्मा के विभावभाव हैं, स्वभाव नहीं हैं, दोनों पुद्गलजनित हैं, आत्मजनित नहीं हैं, इनसे मुक्ति नहीं हो सकती और न केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मा में स्वभाव, विभाव दो प्रकार की परिणति होती है। स्वभावपरिणति तो वीतरागभाव है और विभावपरिणति राग-द्वेषरूप है। इन राग और द्वेष में से द्वेष तो सर्वथा पापरूप हैं, परन्तु राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है, सो प्रशस्त राग पुण्य है और अप्रशस्त राग पाप है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने के पहले स्वभाव का उदय ही नहीं होता; अत: मिथ्यात्व की दशा में जीव की शुभ या अशुभरूप विभावपरिणति ही रहती है, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुए पीछे कर्म का सर्वथा अभाव होने तक स्वभाव और विभाव दोनों परिणति रहती है, सो स्वभावपरिणति संवर-निर्जरा और मोक्ष की जननी रहती है और विभावपरिणति बन्ध ही को उत्पन्न करती है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि ''जावत शुद्धोपयोग पावत नहीं मनोग, तावत ही ग्रहण जोग कही पुन्न करनी'' की रीति से सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि, पापपरिणति से बचकर शुभोपयोग का अवलम्बन लेते हैं और शुभपरिणति उन्हें आस्रव ही उपजाती है। उन्हें जो गुणश्रेणिरूप निर्जरा होती है, वह शुद्धोपयोग के बल से होती है, शुभोपयोग तो आस्रव ही करता है। भाव यह है कि जितने अंश राग है उतने अंश बन्ध है और जितने अंश ज्ञान और निश्चयचारित्र है, उतने अंश बन्ध नहीं है; इसलिए पुण्य को भी पाप के समान हेय जानकर शुद्धोपयोग की शरण लेना चाहिए।

www.vitragvani.com

चौथे अधिकार के सार पर प्रवचन

विशुद्धभाव, अनुकम्पावाले और कलुषतारहित प्रशस्तरागरूप होते हैं। जीवों के प्रति अनुकम्पा शुभराग है, धर्म नहीं। एक ओर अनुकम्पा को समकित का लक्षण कहा है। उसका कारण यह है कि आत्मा का अकषायभाव ही अनुकम्पा है। दूसरे जीवों के प्रति होनेवाला करुणा का भाव तो विकल्प है, वह पुण्यबन्ध का कारण है। उससे संसार परीत नहीं हुआ जाता। परीत अर्थात् अल्प। समकिती को अल्प संसार होता है और मिथ्यादृष्टि को अपरीत अर्थात् अनन्त संसार होता है।

अरिहन्तादि पञ्च परमेष्ठी की भक्ति विशुद्धभाव है, उससे पुण्य बँधता है। व्रत भी शुभभाव है, उससे धर्म नहीं होता। व्रतादि से धर्म माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। अभी तो व्रत, तप ही महाधर्म हो गये हैं। यह सब विपरीत मार्ग है। सम्मेदशिखर, शत्रुञ्जय आदि की यात्रा भी शुभराग है। संयम और शील पालन भी शुभराग है। पाँच-पचास हजार का दान देना भी धर्म नहीं, पुण्य है।

प्रश्न – ऐसा कहोगे तो कोई दान नहीं देगा।

उत्तर – दान कौन दे सकता है ? पैसे के रजकण जहाँ जाना हो, जाते हैं; उनको बदलने का जीव का अधिकार ही नहीं है। दान देने की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह पुण्यबन्ध का कारण है।

आत्मा में शुभ-अशुभभाव होते हैं, उन दोनों की जाति एक है। वे आत्मा के स्वभाव की जाति के नहीं है – ऐसा इस अधिकार में बतलाना है।

प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कलुषतारहित भाव, अरहन्त आदि पञ्च परमेष्ठी की भक्ति, व्रत, संयम, शील, दान मन्दकषाय आदि विशुद्धभाव पुण्यबन्ध का कारण है। उसके निमित्त से साता, शुभ आयु, उच्चगोत्र, देवगति, शुभ नाम आदि पुण्यकर्म बँधता है।

प्रमादसहितप्रवृत्ति, चित्त की कलुषता, विषयों की लोलुपता, दूसरों को सन्ताप देना, दूसरों का अपवाद करना, आहार, परिग्रह, भय, मैथुन – चारों संज्ञा, तीन कुज्ञान, आर्त्त और रौद्रध्यान, मिथ्यात्व, अप्रशस्त राग-द्वेष, अव्रत, असंयम, बहुआरम्भ, दु:ख,

www.vitragvani.com

शोक, ताप, आक्रंदन, योगों की वक्रता, आत्मप्रशंसा, मूढता, अनायतन, तीव्र कषाय आदि संक्लेशभाव है – पापभाव है। वे पापबन्ध का कारण है और उसके निमित्त से बँधनेवाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, असाता वेदनीय, मोहनीय, नरकायु, पशुगति, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अन्तराय आदि कर्म पापकर्म हैं।

चार संज्ञा में आहारसंज्ञा भी पापभाव है। मुनिराज को आहार होता है परन्तु आहारसंज्ञा नहीं होती। भोजन में गृद्धिभाव होना आहारसंज्ञा है, वह मुनिराज के नहीं है; इसलिए मुनिराज को पाप नहीं है। मुनि अनाहारी नहीं हुए हैं परन्तु उनको आहारसंज्ञा नहीं है। यह प्रश्न भी पहले बहुचर्चित हो गया है।

परिग्रह में भी कोई वस्तु परिग्रह नहीं है; वस्तु के प्रति अपनी ममता का भाव परिग्रह है। पैसा आदि को अपना मानना तो मिथ्यात्व नामक महापरिग्रह है, परन्तु पैसे आदि में आसक्ति भी पापभाव ही है।

भय संज्ञा अर्थात् भय पाना – डर लगना, वह भयसंज्ञा हे। जो नि:शङ्क होता है, वह निर्भय होता है। मैं अखण्ड आनन्दमूर्ति अनादि-अनन्त हूँ – इस प्रकार जो अपने स्वरूप में नि:शङ्क होता है, उसको किसका भय होगा? शाश्वत् वस्तु को मरण कैसा है? रोग कैसा? शोक कैसा? वस्तु नि:शङ्क और निर्भय है। उसके विषय में शङ्का या भय करना पाप है। दुष्काल पड़े, शरीर में रोग आवे, जंगल में अकेला पड़ जाए, दश-दश गाँवों के अन्दर कोई दिखता न हो – ऐसे में भय लगे कि अरे! इसमें से अब क्या होगा? कहाँ जाऊँगा? ऐसा अनेक प्रकार का भय लगना पापभाव है।

मैथुन संज्ञा अर्थात् विषय-वासना, यह तो पाप है ही।

कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान भी पाप है। आर्त्त और रौद्रध्यान भी पाप है। शरीर में रोग आवे, लक्ष्मी चली जाए, प्रतिष्ठा न रहे, चिन्ता होवे कि अरे! अब क्या होगा? यह सब कैसे मिटेगा? – ऐसे भाव होना आर्त्तध्यान है। हिंसा में आनन्द मानना, हिंसानन्दी रौद्रध्यान है; चोरी करके आनन्द मानना, चौर्यानन्दी रौद्रध्यान है। इस प्रकार अनेक प्रकार का पापरूप रौद्रध्यान जीव के परिणाम में होता है, वह पापबन्ध का कारण है।

'मिथ्यात्व' तो मूल पाप है – महापाप है। पर्याय जितना ही अपने को मानना, राग

www.vitragvani.com

से धर्म मानना मिथ्यात्व का महापाप है। अप्रशस्त राग भी पाप है और द्वेष भी पाप है। अव्रत के परिणाम अर्थात् राग का अत्याग भी पाप है। बहुत आरम्भ करना भी पाप है। अन्दर में दु:ख और शोक हो, वह भी पाप है। ताप अर्थात् आकुलता करना और आक्रंदन अर्थात् रोना भी पाप है। योगों की वक्रता अर्थात् मन-वचन-काया की कुटिलता भी पाप है।

आत्मप्रशंसा अर्थात् स्वयं ही अपनी प्रशंसा करना कि मैं अच्छा हूँ, मेरे में ये गुण है, इत्यादि... भाव भी पाप है।

प्रश्न - अपने में गुण हो और कहे - इसमें क्या बाधा है ?

उत्तर - अपने में गुण होवे तो दूसरों से कहने से क्या काम है ? प्रसिद्धि में पड़कर अन्य को बताने का भाव पाप ही है। स्वयं धर्मी हो तो भी दूसरों को कहने से क्या काम है ? दुनिया के मानने से अपने को क्या लाभ है ?

मूढ़ता भी पाप है। अनायतन अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु, जो कि आयतन हैं, उनसे विरुद्ध कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा अथवा उनकी प्रशंसा का भाव, वह अनायतन है - पाप है।

इस प्रकार, ऐसे समस्त तीव्र कषाय के परिणाम अर्थात् संक्लेशभाव हैं, वे पापभाव हैं। उनसे पापकर्म का बन्ध होता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय - ये सब पापभाव के फल में बँधे हुए पापकर्म हैं। मोहनीय भी पापकर्म है। असाता, नरकायु, पशु आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र और अन्तराय - ये सब पापकर्म हैं। इसलिए ये कोई आत्मा का स्वभाव नहीं है, अत: छोड़ने योग्य है।

अशुभपरिणति और शुभपरिणति - दोनों आत्मा का विभाव है, अज्ञान है अर्थात् आत्मा का ज्ञानस्वभाव नहीं है। तीर्थङ्करनामकर्म के बँधनेयोग्य उत्कृष्ट शुभभाव भी विभाव है, स्वभाव नहीं। जिसमें विकल्प की गन्ध नहीं है - ज्ञानस्वभाव ऐसा गहरा अलौकिक है। उसकी दृष्टि हुए बिना धर्म नहीं है - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

स्वभाव की कोई अचिन्त्यता होती है। नारियल का स्वभाव देखो न ! नारियल के

www.vitragvani.com

मूल/जड़ में गन्दा पानी डालने पर भी पचास हाथ ऊपर रहे हुए नारियल में निर्मल और मीठा पानी निकलता है, वह भी ऊपर छाल, काचली और टोपरा होने पर भी अन्दर में से मीठा पानी मिलता है – यह उसका कोई अचिन्त्य स्वभाव है। इसी प्रकार भगवान आत्मा ऐसी कोई अचिन्त्य स्वभाव की शान्ति का रसकन्द है कि उसका आश्रय लेनेवाले को अनन्तज्ञान, आनन्द और शान्ति प्राप्त होते हैं। स्वभाव में तर्क का अभाव है।

हाथी में जठर का ऐसा स्वभाव है कि हाथी बड़े-बड़े काशीफल गटक गया हो, उनमें से सब रस चूस लेता है और काशीफल का पूरा खोखा विष्ठा में बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य-पाप के विकल्परहित आत्मा का आनन्द रस लेकर, उसका अनुभव करता है। स्वभाव की बात ही कोई अचिन्त्य है। उसमें कितना और कैसा – यह प्रश्न ही नहीं है। स्वभाव की बेहद / अपरिमित शक्ति में पुण्य-पाप के विकल्प की गन्ध ही नहीं है। शरीर तो उससे अत्यन्त भिन्न वस्तु है, इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शरीर प्रमाण रहे हुए छोटे से आत्मा में ऐसी बेहद शक्ति कैसे हो सकती है ?

अरे ! राई जितने आलू के एक कण में असंख्य निगोद शरीर और एक शरीर में निगोद के अनन्त जीव रहते हैं। उनमें भी ऐसी अपरिमित सामर्थ्य विद्यमान है। वे प्रत्येक जीव भी अनन्त आनन्द और शान्ति प्राप्त कर सकने की सामर्थ्यवाले हैं। इसलिए स्वभाव का विश्वास लाओ !! विश्वास लाओ !! प्रत्येक आत्मा में अनन्त-अनन्त आनन्द स्वभाव विद्यमान है। यद्यपि वह विकल्प में रुकता है परन्तु वह उसका स्वभाव नहीं है। स्वभाव से विपरीत शुभ और अशुभ दोनों परिणतियाँ विभाव हैं।

अरे ! विचार तो कर ! निगोद के एक शरीर में स्थित अनन्त जीवों में से किसी जीव को ऐसी शुभपरिणति होती है कि वहाँ से निकलकर मनुष्य होता है और किसी जीव की ऐसी सामान्य शुभपरिणति होती है कि फिर वहीं का वहीं जन्मता है। जीव अलग-अलग हैं, उनके परिणाम अलग-अलग हैं। परिणाम के अनुसार फल – यह सब वस्तु का स्वभाव है।

जीव वस्तु का त्रिकाल स्वभाव ज्ञान और आनन्द है तथा शुभाशुभपरिणति तो स्वभाव से विपरीत परिणति है। उससे आत्मा को लाभ कैसे हो सकता है ? शुभभाव से

www.vitragvani.com

धर्म होने की मान्यता तो महाशल्य है। वस्तुतः तो स्वभाव को शुभभाव की अपेक्षा भी नहीं है – ऐसा जीव का स्वभाव है। शुभराग हो तो शुद्धता हो – ऐसा जीव का स्वभाव नहीं है। शास्त्र में भी आता है कि धर्मी जीव सविकल्प द्वारा निर्विकल्प होता है – इस कथन का अर्थ यह है कि पहले वैसा शुभविकल्प आता है परन्तु वह विकल्प, निर्विकल्पता का कारण नहीं है। राग को भूलकर स्वभाव का अनुभव होता है, उसको राग की अपेक्षा कैसे हो सकती है ? न तो वर्तमान में राग की अपेक्षा है और न ऐसा है कि पूर्व में राग था, इस कारण वीतरागता हुई है।

भाई ! शरीर अच्छा हो, आजीविका अच्छी हो तो धर्म होता है – तेरी यह बात ही मिथ्या है, तू तत्त्व को समझता ही नहीं है। तेरा स्वभाव पर से अत्यन्त निरपेक्ष है। शुभ और अशुभ दोनों परिणति आस्रव और बन्धरूप है। व्रत के परिणाम करते-करते धर्म हो जाएगा – तेरी यह मान्यता मिथ्या है। व्रतादि बन्ध के कारण हैं, वे शुद्धि के कारण कैसे हो सकते हैं ? पुण्य-पापभाव रोग है, बन्ध का कारण है, भावबन्ध है; वे किञ्चित् भी संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। अशुद्धभाव बढ़ने से तो अशुद्धता बढ़ती है, उससे शुद्धता कैसे आ सकती है ?

पण्डित बनारसीदासजी ने परमार्थ वचनिका में 'शुभभाव में शुद्धता अंश है' – ऐसा कहा है, वहाँ दूसरी अपेक्षा है। अकेला अशुद्धभाव हो, वह बढ़े तो अशुद्धता ही बढ़ती है; शुद्धता का अंश हो तभी शुद्धता बढ़ती है – यह वहाँ सिद्ध करना है। जैसे ज्ञान बढ़कर केवलज्ञान होता है; वैसे ही चारित्र में अशुद्धता बढ़कर तो शुद्धता नहीं होती; इसलिए शुभभाव के साथ शुद्धता का अंश है, वह बढ़कर यथाख्यातचारित्र होता है – ऐसा वहाँ सिद्ध करना है। यथाख्यातचारित्र का बीज अज्ञानी के शुभभाव में भी पड़ा है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर स्वभावसन्मुख जाता है। यह बात शास्त्र में कहीं नहीं आती; परन्तु पण्डित बनारसीदासजी के अन्तरङ्ग से बात आई है, इसलिए वह भी यथार्थ है। आचार्य कहें तो ही मानना, विद्वान की नहीं मानना – ऐसा नहीं है।

शुभाशुभ दोनों भाव, मुक्ति के मार्ग में घातक होने से पाप और पुण्य दोनों एक ही है। स्वभाव से विरुद्ध होने से दोनों विभाव है। फिर भले ही पञ्च महाव्रत का परिणाम हो

www.vitragvani.com

तो भी विकल्प है, विकृति है, अधर्म है। जिस स्वभाव में संसार की अथवा उदय की गन्ध नहीं है और जिसमें अनन्त-अनन्त ज्ञान और आनन्द विद्यमान है – ऐसे स्वभाव के अवलम्बन बिना धर्म का प्रारम्भ भी नहीं होता। जैसे नारियल वृक्ष के मूल / जड़ में पानी डालें तो ऊपर चढ़ता है, ऊपर पानी डाले तो अन्दर नहीं जाता। इसी प्रकार आत्मस्वभाव के मूल को ग्रहण करने से धर्म होता है, ऊपरी शुभाशुभभावों से धर्म नहीं होता।

भाई! किसी को एकान्त लगे, अच्छा लगे या न लगे परन्तु सत्य तो यह है। अज्ञानभाव तो ज्ञान का घातक है, वह साधक कैसे हो सकता है? शुभभाव, शुद्धि का कारण बिल्कुल नहीं हो सकता। राग तो आत्मा का घातक है – नुकसान करनेवाला है, आत्मा को बन्ध का कारण है; इसलिए शुभ अथवा अशुभ दोनों प्रकार का राग विभाव है, मुक्ति का कारण नहीं।

स्वयं बड़ा आफिसर हो, आफिस में बैठा हो, स्वयं के आधीन कितने ही नौकर काम करते हों – ऐसा पुण्य का फल जीव को प्रिय लगता है कि इसमें मेरा बड़प्पन है, इसमें मुझे बहुत पैसा मिलेगा, मेरी प्रतिष्ठा बढ़ेगी... यह सब रुचता है और इससे उल्टे पाप का फल जीव को नहीं रुचता। असाता बुरी और साता अच्छी लगती है परन्तु उसे यह पता नहीं है कि ये दोनों भाव मुझे संसार में ही परिभ्रमण करानेवाले हैं, इनमें से एक भी भाव मुझे संसार से नहीं छुड़ा सकता। शुभ-उपयोग हो या अशुभ-उपयोग हो – दोनों की एक ही जाति है, दोनों अशुद्ध हैं। दोनों में से एक भी शुद्ध नहीं है, दोनों चाण्डालिनी के पुत्र समान अशुद्ध हैं; इस कारण मोक्षमार्ग में एक की भी प्रशंसा नहीं है, दोनों ही हेय हैं।

शुभ-अशुभ दोनों विभावभाव हैं, आत्मा का स्वभाव नहीं; दोनों पुद्गलजनित हैं, आत्माजनित नहीं; इन भावों से मोक्ष अथवा केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आत्मा के स्वभाव और विभाव दो प्रकार की परिणति होती है। उनमें एक निर्मल और एक विकारी है। स्वभावपरिणति तो वीतरागभाव है और विभावपरिणति राग-द्वेषरूप है। धर्मी को भी विभावपरिणति है। देव-गुरु के प्रति राग है और कोई सिंह-बाघ, देव-गुरु पर उपसर्ग करता हो तो उसके प्रति द्वेष भी आ जाता है, वे दोनों भाव विभाव है, स्वभाव नहीं और वे विभाव, स्वभाव में प्रविष्ठ भी नहीं हो सकते। श्रीरामचन्द्रजी जैसे

www.vitragvani.com

धर्मात्मा जब राज्य करते थे, तब उनको कितने प्रकार के राग-द्वेष के भाव होते थे ? रावण को मारने का भाव हुआ और क्रिया भी हुई; फिर भी वे उस भाव को उपादेय नहीं मानते थे। धर्मी ऐसा कभी नहीं मानता कि यह राग-द्वेष-मोहभाव करनेयोग्य हैं।

यदि कोई सिंह किसी मुनिराज को मारने जा रहा हो तो साधक जीव, सिंह को मार देता है, फिर भी उसे शुभभाव है और कोई भले ही क्रिया नहीं करे परन्तु ऐसे मुनि जगत में न हों - ऐसा भाव करता है तो वह अशुभभाव है, वह उसके फल में नरक-निगोद में जाएगा और सिंह को मारनेवाला उक्त साधक स्वर्ग में जाएगा।

भाई ! शुद्धता और उसके साथ होनेवाले शुभ-अशुभभाव की मर्यादा कैसी और कितनी होती है, इसका तुझे पता नहीं है।

राग और द्वेष - इन दोनों में से द्वेष तो पापरूप है परन्तु राग प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाला राग प्रशस्त है, इसलिए पुण्यबन्ध का कारण है और अन्य राग अप्रशस्त होने से पापबन्ध का कारण है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व स्वभावभाव का तो उदय ही नहीं होता, इसलिए जीव को मिथ्यात्वदशा में शुभ अथवा अशुभरूप विभावपरिणति ही रहती है, कारण कि उसे, उस पापपरिणाम में तो आनन्द लगता है और पुण्यपरिणाम को वह धर्म मानता है; इस कारण वह तो विभाव को ही स्वभाव मानकर वर्तता होने से, उस मिथ्यात्वदशा में अकेली विभावपरिणति ही होती है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात्, जब तक कर्म का सर्वथा अभाव न हो, तब तक स्वभाव और विभाव दोनों धाराएँ वर्तती हैं।

धर्मी जीव को आत्मा का भान होने पर भी, जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक स्वभाव और विभाव दोनों धाराएँ होती हैं। विभाव है, इसलिए स्वभावधारा होती ही नहीं - ऐसा नहीं है और स्वभावधारा है तो साथ में विभाव नहीं है - ऐसा भी नहीं है और स्वभावधारा के साथ विभाव है, इसलिए वह धर्म है - ऐसा भी नहीं है।

भाई ! यह तो गज़ब की बातें हैं ! जिसे जन्म-मरण का अन्त करना हो, उसके लिए यह बात है। यदि राग में कहीं भी मिठास रह गयी हो तो जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता। साधकदशा में राग तो होता है परन्तु राग में मिठास नहीं होती अर्थात् राग की रुचि

www.vitragvani.com

नहीं होती। साधकदशा के साथ बाधकभाव तो होता ही है; बाधकपना हो वहाँ साधकपना न हो – ऐसा नहीं है। साधकपना और बाधकपना एकसाथ हो सकता है, उनके साथ रहने में विरोध नहीं है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन तो साथ नहीं रह सकते परन्तु साधकदशा और बाधकदशा साथ रह सकती हैं।

साधकदशा में जो स्वभावपरिणति है, वह संवर-निर्जरा और मोक्ष को उत्पन्न करती है और विभावपरिणति है, वह तो बन्ध को ही उत्पन्न करती है। भरत और बाहुबली सम्यग्दृष्टि साधक थे, उन दोनों में युद्ध हुआ, वह उनकी विभावपरिणति थी। किसी को प्रश्न हो सकता है कि क्या ऐसा भी होता है? ज्ञानी भी ऐसे लड़ते हैं? हाँ भाई! साधकदशा है, इसलिए वैसा बाधकभाव भी उनको आया है परन्तु वे उस भाव से रहित हैं। धर्मी विभावपरिणति के भाव से मुक्त है, फिर भी ऐसा भाव हो सकता है। लोग धर्मी को विभाव से मुक्त नहीं जान सकते हैं, वे तो विभाव से सहित हैं – ऐसा जान सकते हैं क्योंकि लोकवृत्ति बाह्य छिलके को देखती है, अन्दर रहे हुए कणदार चावल को नहीं देख सकती।

चौथे, पाँचवे, छठवें आदि गुणस्थानों में जितना स्वभाव प्रगट हुआ है, वह मुक्ति का कारण है और जितना विभाव है, वह बन्ध का कारण है।

भजन में आता है न –

जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग,
तावत ही करन योग्य कहीं पुन्न करनी....

अर्थात् जब तक पूर्णता न हो, तब तक पुण्य करनी ग्रहण करने योग्य है। तात्पर्य यह है कि जब तक साधकदशा है, तब तक उसके योग्य शुभभाव आये बिना नहीं रहता। वस्तुतः तो शुभभाव ग्रहण करने योग्य नहीं है, तथापि व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि अशुभ से बचने के लिए शुभराग ग्रहण करनेयोग्य है। ज्ञानी को भी ऐसा विकल्प आता है कि मुझे अशुभराग न हो, इसलिए कहा जाता है कि अशुभ से बचने के लिए शुभ को ग्रहण करते हैं परन्तु वास्तविकता तो यह है कि साधक को उस काल में वैसा शुभभाव आता ही है।

www.vitragvani.com

सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि, पापपरिणति से बचकर शुभोपयोग का आलम्बन लेते हैं और वह शुभपरिणति उन्हें आस्रव ही उत्पन्न करती है। उन्हें जो गुणश्रेणीरूप निर्जरा होती है, वह तो शुद्धोपयोग के बल से ही होती है, शुभभाव से निर्जरा नहीं होती; शुभभाव तो आस्रव ही करता है।

भाव यह है कि जितने अंश में राग है, उतने अंश में बन्ध है और जितने अंश में ज्ञान और निश्चयचारित्र है, उतने अंश में बन्ध नहीं है। इस कारण पुण्य को भी पाप के समान हेय जानकर, शुद्धोपयोग की शरण लेना चाहिए। समकिती, श्रावक अथवा मुनि को होनेवाले अणुव्रत और महाव्रत के परिणाम भी बन्ध का ही कारण हैं और अन्तरङ्ग में रागरहित आत्मद्रव्य की दृष्टि और रमणता है, उतनी संवर-निर्जरा है। आत्मा के भान बिना अकेले पञ्च महाव्रत का पालन करनेवाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि तो अकेले बन्धन में ही है। इसलिए पुण्य और पाप दोनों को हेय जानकर, शुद्धोपयोग की शरण लेना चाहिए अर्थात् शुद्धोपयोग प्रगट करना चाहिए। वस्तुतः शरण तो द्रव्य की लेना है। द्रव्य की शरण लेना ही मङ्गल है, उत्तम है और शरण है; उसी से मुक्ति होती है। पुण्य-पाप भाव से मुक्ति नहीं होती।

पुत्री को कुएँ में मत डालो....

कल 'सागार धर्मामृत' में पढ़ने में आया था कि कन्या को अपने साधर्मी को देने में पुण्य का लाभ है। अन्य धर्म में कन्या को देना तो उसको कुएँ में डालने के समान है। अन्य धर्म में पुत्री देनेवाले को धर्म की कीमत नहीं है। अपने घर में जो बालक १५-२० वर्ष रही, उसको धर्म के संस्कार दिये हों वह भी अन्य धर्म में जाने पर चौपट हो जाएँगे। पहले तो मन्दिर जाने की छूट है - ऐसा कहते हैं और फिर वे ही विरोध करने लगते हैं। शास्त्र ही लाओ न! यह बात निकली है तो पढ़कर ही बतावें। पण्डित आशाधरजी कृत सागार धर्मामृत में ५९ वाँ श्लोक है - साधर्मी को सत्कन्या देना वह पुण्यलाभ है क्योंकि विद्वान् लोग स्त्री को ही गृह कहते हैं। घर की चार दीवारें घर नहीं हैं। साधर्मी, साधर्मी को कन्या दे तो धर्म के संस्कार टिके रहते हैं।

यह शुभराग की बात है, कोई धर्म की बात नहीं है परन्तु साधर्मी में ऐसा शुभभाव होता है। पैसा, फैक्ट्री, परदेश आदि देखें, पर धर्म को नहीं देखे - उसको तो प्रतिष्ठा की पड़ी है। जो धर्म को देखे बिना कन्या देता है वह उसको पाप में डालकर स्वयं भी पाप बाँधता है। थोड़े-बहुत संस्कार पड़े होंगे वे तो ठहरेंगे नहीं, उल्टे मिथ्यात्व के पक्के घड़े हो जायेंगे। दो-पाँच वर्ष में धूल-धाणी हो जायेंगे और साधर्मी को कन्या देने से धर्म, अर्थ, काम सब टिका रहेगा।

५ आस्रव द्वार

पाप पुन्नकी एकता, वरनी अगम अनूप।
अब आस्रव अधिकार कछु, कहौं अध्यातम रूप॥ १॥

अर्थ – पाप-पुण्य की एकता का गहन और अनुपम अधिकार वर्णन किया, अब आस्रव अधिकार का आध्यात्मिक रीति से कुछ वर्णन करता हूँ।

काव्य १ पर प्रवचन

यहाँ आस्रव द्वार में यह बात समझायी जा रही है कि ज्ञानी निरास्रव कैसे है ?

जिसको आत्मा का ज्ञान हुआ है, वह जीव निरास्रव है – इस कथन का क्या आशय है ? यही कि शुभाशुभभाव होते हैं, वह विकल्प है; उनसे मेरा स्वरूप भिन्न है। मैं पूर्ण शुद्ध आनन्दस्वभावी हूँ – ऐसा अनुभव होने पर वह जीव ज्ञानी हो जाता है। उसको आस्रव नहीं होता और बन्ध भी नहीं होता क्योंकि उसको राग में एकत्व नहीं है; इस कारण उसको राग का बन्धन नहीं होता।

ज्ञानी जीव वर्तमान काल के अशुद्धपरिणामों में आत्मबुद्धि नहीं करता, भूत काल में हुए रागादिपरिणामों को अपना नहीं मानता अथवा आगामी काल में होनेवाले विभाव मेरे नहीं है – ऐसा श्रद्धान होने से ज्ञानी जीव सदा निरास्रव रहता है।

धर्मीजीव को शुद्धस्वभाव में स्वामीपना हो गया है और वर्तमान में शुभाशुभपरिणाम होते हैं, वे तो अशुद्ध हैं; इसलिए धर्मी जीव को 'शुभाशुभपरिणाम मेरे हैं' – ऐसी बुद्धि नहीं होती। उसका परिणमन तो राग से पृथक् होकर अन्तर्मुख हुआ है; इस कारण उसको राग

www.vitragvani.com

में अपनापन / आत्मबुद्धि / स्वामित्व नहीं होता। जहाँ धर्मी को राग का स्वामीपना भी नहीं होता तो इन पुत्र, परिवार, धन, मकान, शरीरादि में तो स्वामीपना होगा ही कैसे ? सबके बीच रहने पर भी उनमें धर्मी का स्वामीपना नहीं होता।

दुनिया देखती है कि धर्मी संयोग में बैठे हैं परन्तु वस्तुत: तो वे अपने स्वभाव में ही बैठे हैं। राग में, कर्म में अथवा शरीरादि में धर्मी नहीं हैं; इस कारण धर्मी को उन किसी में आत्मबुद्धि नहीं है। धर्मी का स्वामित्वपना तो एकमात्र निज स्वभाव में ही है – इसी का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

भूतकाल में शुभभाव हुआ, इसलिए पुण्य बँधा और उसके फल में मुझे ये अनुकूल संयोग प्राप्त हुए, धर्म की बात सुनने को मिली; इसीलिए शुभभाव अच्छा है – ऐसा धर्मी नहीं मानते। उनकी दृष्टि अपने आत्मा पर होने से वे वर्तमान में होनेवाले रागादि को तो अपना मानते ही नहीं, उन्हें भूतकाल में हो गये परिणामों का एकत्व भी नहीं होता और भविष्य में होनेवाले शुभाशुभभावों में भी ममत्व नहीं होता।

मैं तो शुद्धचैतन्य परिपूर्ण आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसी श्रद्धा होने के कारण धर्मी, भूत-वर्तमान और भविष्य के राग से रहित है। अस्थिरता के कारण राग तो धर्मी को भी आता है, परन्तु एकत्वबुद्धि नहीं होती; इस कारण धर्मी को निरास्रव गिना जाता है। धर्मी को देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का राग, विषय-कषाय का राग – ऐसा शुभ-अशुभ दोनों प्रकार का राग तो आता है परन्तु उसमें स्वपना नहीं है, एकदम भिन्न पड़ गया है, इस कारण उसको किञ्चित् भी अपना नहीं मानता। जैसे वर्तमान में अशुभपरिणाम मेरे नहीं हैं, भूतकाल में भी मेरे नहीं थे और भविष्य में भी जो होंगे, वे मेरे नहीं हैं – ऐसी श्रद्धा उन्हें वर्तती है।

सम्यग्ज्ञान को नमस्कार (सवैया इकतीसा)

जेते जगवासी जीव थावर जंगमरूप,
तेते निज बस करि राखे बल तोरिकैं।
महा अभिमानी ऐसौ आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रन-थंभ ठाड़ौ भयौ मूछ मोरिकैं॥

www.vitragvani.com

आयौ तिहि थानक अचानक परम धाम,
ग्यान नाम सुभट सवायौ बल फोरिकैं।
आस्रव पछारयौ रन-थंभ तोरि डारयौ ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरिकैं॥ २॥

अर्थ – जिसने संसार के सब त्रस-स्थावर जीवों को बलहीन करके अपने आधीन किया है, ऐसा बड़ा अभिमानी आस्रवरूप महायोद्धा मूछ मरोड़कर लड़ाई का झण्डा स्थापित करके खड़ा हुआ। इतने में वहाँ अचानक ही ज्ञान नाम का महायोद्धा सवाया बल स्फुरित करके आया तो उसने आस्रव को पछाड़ डाला और रणथंभ को तोड़ डाला। ऐसे ज्ञानरूपी योद्धा को देखकर पण्डित बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

द्रव्यास्रव, भावास्रव और सम्यग्ज्ञान का लक्षण (सवैया इकतीसा)

दर्वित आस्रव सो कहिए जहं,
पुग्गल जीवप्रदेस गरासै।
भावित आस्रव सो कहिए जहं,
राग विरोध विमोह विकासै॥
सम्यक पद्धति सो कहिए जहं,
दर्वित भावित आस्रव नासै।
ग्यान कला प्रगटै तिहि थानक,
अंतर बाहिर और न भासै॥ ३॥

अर्थ – आत्मप्रदेशों पर पुद्गल का आगमन, सो द्रव्यास्रव है; जीव के राग-द्वेष-मोहरूप परिणाम, भावास्रव है; द्रव्यास्रव और भावास्रव का अभाव आत्मा का सम्यक् स्वरूप है। जहाँ ज्ञानकला प्रगट होती है, वहाँ अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में ज्ञान के सिवाय और कुछ नहीं दिखता है।

ज्ञाता निरास्रवी (चौपाई)

जो दरवास्रव रूप न होई।
जहं भावास्रव भाव न कोई॥

www.vitragvani.com

जाकी दसा ग्यानमय लहिए।
सो ग्यातार निरास्त्रव कहिए॥ ४॥

अर्थ – जो द्रव्यास्त्रवरूप नहीं होता और जहाँ भावास्त्रव भाव भी नहीं है और जिसकी अवस्था ज्ञानमय है, वही ज्ञानी आस्त्रव रहित कहाता है।

सम्यग्ज्ञानी निरास्त्रवी रहता है (सवैया इकतीसा)

जेते मनगोचर प्रगट-बुद्धि-पूरवक,
तिह परिनामकी ममता हरतु है।
मनसौं अगोचर अबुद्धि-पूरवक भाव,
तिनके विनासिवेकौं उद्दिम धरतु है॥
याही भांति पर परनतिकौ पतन करै,
मोखकौ जतन करै भौ-जल तरतु है।
ऐसे ग्यानवंत ते निरास्त्रव कहावैं सदा,
जिन्हिकौ सुजस सुविचच्छन करतु है॥ ५॥

अर्थ – जिन्हें मन जान सके ऐसे बुद्धिग्राही अशुद्धपरिणामों में आत्मबुद्धि नहीं करता और मन के अगोचर अर्थात् बुद्धि के अग्राह्य अशुद्धभाव नहीं होने देने में सावधान रहता है, इस प्रकार परपरिणति नष्ट करके और मोक्षमार्ग में प्रयत्न करके जो संसार-सागर से तरता है, वह सम्यग्ज्ञानी निरास्त्रवी कहलाता है, उसकी विद्वान् लोग सदा प्रशंसा करते हैं।

भावार्थ – वर्तमान काल के अशुद्ध परिणामों में आत्मबुद्धि नहीं करता और भूतकाल में हुए रागादि परिणामों को अपने नहीं मानता व आगामी काल में होनेवाले विभाव मेरे नहीं हैं ऐसा श्रद्धान होने से ज्ञानी जीव सदा निरास्त्रवी रहते हैं।

शिष्य का प्रश्न (सवैया इकतीसा)

ज्यौं जगमैं विचरै मतिमंद,
सुछंद सदा वरतै बुध तैसो।
चंचल चित्त असंजित वैन,
सरीर-सनेह जथावत जैसो॥

www.vitragvani.com

भौग संजोग परिग्रह संग्रह,
मोह विलास करै जहं ऐसो।
पूछत सिष्य आचारजसौं यह,
सम्यकवंत निरास्रव कैसो॥ ६॥

अर्थ – शिष्य, गुरु से प्रश्न करता है कि हे स्वामी! संसार में जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव स्वतन्त्र वर्तता है, वैसी ही तो सम्यग्दृष्टि जीव की हमेशा प्रवृत्ति रहती है अर्थात् दोनों के चित्त की चञ्चलता, असंयत वचन, शरीर का स्नेह, भोग का संयोग, परिग्रह का सञ्चय और मोह का विकास एक-सा होता है, फिर सम्यग्दृष्टि जीव किस कारण से आस्रवरहित है?

काव्य ६ पर प्रवचन

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि कर्म जीवन्त होने पर भी ज्ञानी निरास्रव कैसे है? मिथ्यादृष्टि जीव जैसे व्यापार-धन्धा करता है, लड़ाई करता है, खाता-पीता है; वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी व्यापार-धन्धा, लड़ाई, खाना-पीना आदि समस्त प्रवृत्ति करता है। अरे, कदाचित् उससे विशेष पुण्योदय को भोगता है। करोड़ो, अरबों रुपयों का हीरा-माणिक आदि का व्यापार करता दिखता है और मिथ्यादृष्टि छोटी-सी दुकान चला कर सौ-सौ रुपये कमाता हो.... इस प्रकार प्रवृत्ति तो ज्ञानी भी मिथ्यादृष्टि जैसी ही करते होते हैं, फिर उनको निरास्रव कैसे कहा? क्या उन्हें आस्रव नहीं है? सब कुछ करे, भोगे, फिर भी निराले हैं?

चंचल चित्त... अर्थात् कभी खाने का, कभी सोने का, कभी यह परिणाम तो फिर पलट कर दूसरा परिणाम... ऐसी चञ्चलता तो धर्मी को भी होती है। यदि आत्मा में चित्त लीन हो गया हो तो ऐसी चञ्चलता देखने को नहीं मिलती। धर्मी तो असंयत वचन भी बोलता है। इस कन्या का विवाह करो, उसमें ऐसा करो... ऐसे अनेक प्रकार के कथन भी करता है, उसका सारा वर्तन मिथ्यादृष्टि के समान ही होने पर भी वह निरास्रव किस प्रकार है?

एक बार भरत चक्रवर्ती के समय में आठ दिन तक लगातार मूसलाधार वर्षा हुई, तब भरतजी ने दीवान से कहा – 'प्राकृतिक वर्षा ऐसी नहीं होती, मूसलाधार होने पर भी

www.vitragvani.com

उसमें अन्तर पड़ता है परन्तु यह किसी देव का कार्य लगता है, इसलिए जाओ और पता करो... ?' – ऐसे वचन बोलने पर भी निरास्रव ?

धर्मी को शरीर में राग भी होता है, वह कहता है – 'रोटी बनाकर मत रख देना, गर्म-गर्म बनाना, ठण्डी नहीं खाऊँगा' – इतना अधिक राग होने पर भी आप उसे निरास्रव कहते हो ? **जथावत सो** अर्थात् मिथ्यादृष्टि जैसी ही सब प्रवृत्ति दिखने पर भी धर्मी निरास्रव कैसे है ?

धर्मी को भोग और संयोग भी है। चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि होने पर भी, उसके छियानवें हजार रानियाँ होती हैं। समकिती इन्द्र के करोड़ों देवियाँ होती हैं, संयोगों का भी पार नहीं है।

धर्मी, परिग्रह का संग्रह भी करता है। समाज सुधारक तो कहते हैं कि परिग्रह का संग्रह कम करो, तो सबको एक समान मिलेगा, किसी को सामग्री की कमी नहीं पड़ेगी; पैसेवाले बहुत-बहुत इकट्ठा कर लेते हैं, इस कारण गरीबों को नहीं मिलता – उनके ऐसे व्याख्यान सबको रुचिकर लगते हैं परन्तु उन्हें कहाँ पता है कि पुण्य के बिना कुछ नहीं मिलता। पैसेवालों को पुण्योदय के कारण मिला है और गरीब को पुण्य न होने से नहीं मिला है – इस सिद्धान्त का तो उन्हें पता ही नहीं है। संग्रह किया हुआ भी, पुण्योदय हो तो टिकता है, नहीं हो तो चला जाता है और कोई गरीब को देना चाहता हो, परन्तु उसका पुण्य न हो तो नहीं मिलता। धर्मी को पुण्योदयानुसार परिग्रह का संग्रह भी होता है।

मोह विलास करै जहँ एसो – सोने की साँकलवाले झूले में झूला भी झूलता हो... ऐसा अनेक प्रकार से मोह विलास करता दिखने पर भी तुम धर्मी को निरास्रव कैसे कहते हो ? – शिष्य यह प्रश्न गुरु से करता है। **सम्यक्वन्त निरास्रव कैसो ?** समकिती को आस्रव अर्थात् परिणाम विकार और बन्ध होता ही नहीं – ऐसा तुम किस आधार से कहते हो ?

इस शङ्का के समाधानरूप सातवाँ काव्य इस प्रकार है –

शिष्य की शङ्का का समाधान (सवैया इकतीसा)

पूरव अवस्था जे करम-बंध कीने अब,
तेई उदै आइ नाना भांति रस देत हैं।

www.vitragvani.com

केई सुभ साता केई असुभ असातारूप,
दुहूंसौं न राग न विरोध समचेत हैं॥
जथाजोग क्रिया करैं फलकी न इच्छा धरैं,
जीवन-मुकतिकौ बिरद गहि लेत हैं।
यातें ग्यानवंतकौं न आस्रव कहत कोऊ,
मुद्धतासौं न्यारे भए सुद्धता समेत हैं॥ ७॥

अर्थ – पूर्वकाल में अज्ञान अवस्था में जो कर्मबन्ध किये थे, वे अब उदय में आकर फल देते हैं, उनमें अनेक तो शुभ हैं जो सुखदायक हैं और अनेक अशुभ हैं जो दु:खदायक हैं, सो सम्यग्दृष्टि जीव इन दोनों भाँति के कर्मोदय में हर्ष-विषाद नहीं करते – समताभाव रखते हैं; वे अपने पद के योग्य क्रिया करते हैं, पर उसके फल की आशा नहीं करते, संसारी होते हुए भी मुक्त कहलाते हैं, क्योंकि सिद्धों के समान देह आदि से अलिप्त हैं, वे मिथ्यात्व से रहित, अनुभवसहित हैं, इससे ज्ञानियों को कोई आस्रवसहित नहीं कहता है।

काव्य ८ पर प्रवचन

गुरु इस काव्य में शिष्य की शङ्का का समाधान करते हैं। अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्मा, जगत से निराली वस्तु जिसके अनुभव में आई, उस धर्मी को अब कहाँ ममत्व हो सकता है ?

अहाहा... ! जगत को सम्यग्दृष्टि के माहात्म्य का पता नहीं है। धर्मी की दृष्टि बहुत उत्कृष्ट है। उसे राग से भिन्न भगवान आत्मा का अनुभव हुआ है, इसलिए उसकी दृष्टि अलग ही कार्य करती है, तथापि पूर्वबद्ध कर्म तो उदय में आये बिना नहीं रहते। किसी को साता के उदय से बहुत अनुकूलता उदय में आयी हो और किसी को असाता का उदय हो तो प्रतिकूलता भी बहुत हो परन्तु धर्मी तो इन दोनों में से किसी को भी निज नहीं मानता। भले ही साता के उदय की करोड़ सामग्रियाँ हों परन्तु वह मेरे स्वरूप में नहीं है, इसी तरह असाता के उदय से शरीर में अग्नि से तप्त सुईयाँ चुभती हों, उन्हें भी धर्मी अपनी मानकर दु:खी नहीं होता। वस्तुत: धर्मी तो राग और राग के फल से भिन्न पड़ गया है।

www.vitragvani.com

'मेरा स्वरूप तो आनन्दमय है' – ऐसा जानते हुए धर्मी को आनन्द के वेदन के समक्ष साता अथवा असाता की सामग्री में सुख-दुःख नहीं होता। उसे साता के लाखों, करोड़ों, अरबों संयोगों में भी प्रीति उत्पन्न नहीं होती और असाता के उदयवश सातवें नरक की करोड़ों बिच्छु एकसाथ डंक मारें – ऐसी शारीरिक वेदना में भी धर्मी अप्रीति नहीं करते। वे यह समझते हैं कि साता-असाता तो संयोग में है, मुझमें नहीं।

धर्मी तो एक क्षण भी स्वरूप से नहीं हटते, कैसी भी प्रतिकूलता आने पर भी, उससे विचलित नहीं होते। अरे! मुझे ऐसी वेदना कब तक? – ऐसे वेदन को अपना मानकर विचलित नहीं हो जाते। स्वरूप की शान्ति के वेदन के समक्ष साता-असाता के समस्त प्रसङ्ग ज्ञान में होते हैं अर्थात् बाहर में सब दिखता है परन्तु अन्दर में अभिप्राय में कहीं फेर नहीं पड़ता। पूर्व कर्मोदय के कारण संयोग में तो सब होता है, इसलिए तो शिष्य को प्रश्न उत्पन्न हुआ है परन्तु धर्मी के अन्तर-अभिप्राय में इन किसी संयोग का प्रवेश नहीं है।

बाह्य में मिथ्यादृष्टि की तरह ही वर्तता होने पर भी, धर्मी अन्तर से न्यारा है। जिसका एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक नहीं पचा सकें – ऐसा तो चक्रवर्ती का भोजन होता है, अन्य सामग्री का पार नहीं होता; तथापि 'यह सामग्री मेरी है और मैं इसका हूँ' – ऐसा अभिप्राय नहीं होने से धर्मी निराला है। अनुकूलता की तरह ऐसी ही तीव्र प्रतिकूलता हो तो भी उसमें धर्मी को स्वामीपन नहीं है, आत्मबुद्धि नहीं है, ममकार नहीं है; इसलिए धर्मी निरास्रव है।

यहाँ तो मिथ्यात्व के आस्रव की प्रधानता से कथन है। इस अपेक्षा से ज्ञानी निरास्रव है।

आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा के प्रेम में पड़े हुए ज्ञानी को साता के किसी संयोग में प्रेम उत्पन्न नहीं होता। अतीन्द्रिय आनन्द की चूसनी चूसनेवाले को अतीन्द्रिय आनन्द आता है। जैसे आईसक्रीम/कुल्फी चूसनेवाले को अन्दर से ठण्डक आती है,उष्णता नहीं आती; इसी तरह अतीन्द्रिय आनन्द को चूसनेवाले को आनन्द ही आता है; उसे साता-असाता के अनुकूल-प्रतिकूल वेदन में प्रेम अथवा अप्रेम नहीं होता।

www.vitragvani.com

समकिती के सिर पर बिजली गिरने अथवा वज्र गिरने जैसे भयङ्कर प्रतिकूलता में भी, वह अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं होता। बाहर से हट जाए, गाँव छोड़कर चला जाए परन्तु ऐसा अभिप्राय नहीं होता कि यहाँ से हट जाने से मुझे सुख है।

जिसने चैतन्यमूर्ति आनन्द का धाम भगवान आत्महीरा पहिना है, उसे अब कौन-सी सामग्री प्रीति-अप्रीति करेगी? उसके लिए यह सब तुच्छ है। चैतन्य हीरा के अनुभव का नाम ही धर्म है और उसे धारण करनेवाला धर्मी है। वरना पूजा करने से अथवा दान देने से धर्म नहीं हो जाता। अनन्त गुण के धारक आत्मा का अनुभव करने पर अनन्त गुणों की प्रगट पर्याय वेदन में आई, उस वेदन के कारण बाह्य सामग्री में कहीं राग अथवा विरोध / द्वेष नहीं होता, समभाव वर्तता है – समताभाव रहता है।

जथाजोग क्रिया करैं फल की न इच्छा धरैं – धर्मी जीव अपने पद के योग्य क्रिया करता है अर्थात् उसे भूमिकानुसार रागादि होते हैं और तदनुसार देह की क्रिया भी होती है परन्तु धर्मी जीव उसके फल की आशा नहीं रखता।

बहुत से लोग कहते हैं – 'अनासक्ति से कार्य करना...' दुनियादारी के काम करना, ब्याज-बट्टा का, हीरा का, बर्तन का काम करना, दया-दान का काम करना परन्तु फल की इच्छा नहीं रखना। वस्तुतः इस बात में बहुत फेर /विपरीतता है। मैं वह सब पर के कार्य कर सकता हूँ – ऐसा मानकर करता है और फल को चाहता नहीं। जबकि धर्मी तो पर के कार्य मैं कर ही नहीं सकता – ऐसे अभिप्रायपूर्वक, भूमिकानुसार प्रवृत्ति में जुड़ता है। एक हीरा को ऐसा-वैसा करना मेरा कार्य ही नहीं है – ज्ञानी की अन्तर्हृदय में पर से भिन्नता का ऐसा भान हो गया है; इस कारण वह किसी फल की अशा नहीं करता। इसीलिए संसारी होने पर भी ज्ञानी को चौथे गुणस्थान से ही मुक्त कहा जाता है।

ज्ञानी-धर्मी को देह और संयोग में तो 'मैं पना' है ही नहीं परन्तु एक विकल्पमात्र में भी 'मैं पना' नहीं है और जहाँ 'मैं पना' है, वहाँ विकल्प नहीं है।

भाई! वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक है। किसी क्रिया अथवा विकल्प से वीतरागता की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्पूर्ण अभिप्राय ही बदल जाना चाहिए। धर्मी ने अभिप्राय में ऐसी गुलाँट खायी है कि उसे अनन्त... अनन्त गुणवन्त निधान हाथ में आया है –

www.vitragvani.com

चैतन्यहीरा हाथ में / अनुभव में आया है। उसे राग की अथवा संयोग के कङ्कर की महिमा कैसे आ सकती है ?

इस प्रकार धर्मी जीव, सिद्धों की तरह देहादि से अलिप्त है; मिथ्यात्व से रहित और अनुभव से सहित है; इसी कारण ज्ञानियों को कोई आस्रवसहित नहीं कहता। ज्ञानी, आस्रव को अपना नहीं मानता, इस कारण ज्ञानी को आस्रव है – ऐसा कोई नहीं कहता।

जब व्यापार का सीजन हो, तब धन का ढेर होता है, तब तो इसे धर्म करने का समय ही नहीं होता। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मुझे तो इस सीजन में मजा है, जबकि ज्ञानी तो व्यापार-धन्धा और धन को अपना मानते ही नहीं हैं। धर्मी का तो पर के प्रति ममत्व ही छूट गया है, इसलिए ऐसा कोई अभिप्राय ही नहीं रहा है; कदाचित कोई विकल्प आ भी जाए तो धर्मी यह नहीं मानता कि यह मैंने किया है, मेरा है अथवा मुझे इससे लाभ है।

यति ग्यानवन्त को न आस्रव कहत कोऊ – केवली भगवान, मुनि अथवा कोई भी, ज्ञानी के आस्रव है – ऐसा नहीं कहते क्योंकि ज्ञानी, मिथ्यात्व से रहित हो गये हैं और स्वानुभव को प्राप्त हुए हैं, इसलिए उन्हें आस्रव में ममत्व होता ही नहीं है – ऐसा सब कोई जानते हैं। धर्मी तो पवित्रता से सहित हैं, अपवित्रता से रहित हैं। आस्रव तो अपवित्र है, इस कारण धर्मी उससे रहित हैं। जैसे सिद्ध को देह नहीं है, वैसे समकिती को देह है परन्तु देह मेरी है – ऐसी मान्यता नहीं है।

आत्मा अकेली पवित्रता का धाम है, शुद्धता का पिण्ड है। उसका अनुभव करनेवाला ज्ञानी जीव पवित्रता को / शुद्धता को प्राप्त होता है, राग को प्राप्त नहीं होता। वह राग और पर से तो रहित है। इस कारण ऐसे ज्ञानी को आस्रव नहीं होता।

राग-द्वेष-मोह और ज्ञान का लक्षण (दोहा)

जो हितभाव सु राग है, अनहितभाव विरोध।
भ्रामिक भाव विमोह है, निरमल भाव सुबोध॥ ८॥

अर्थ – प्रेम का भाव राग; घृणा का भाव द्वेष; परद्रव्य में अहंबुद्धि का भाव मोह और तीनों से रहित निर्विकारभाव सम्यग्ज्ञान है।

www.vitragvani.com

काव्य ८ पर प्रवचन

अब, राग-द्वेष-मोह का लक्षण कहते हैं -

किसी भी विकल्प अथवा पर में प्रेम का भाव होना, राग है। वह राग ज्ञानी को नहीं होता। सर्व द्रव्यों के मध्य में पड़ा होने पर भी ज्ञानी निराला है और सर्व द्रव्यों के मध्य में पड़ा अज्ञानी उनमें अपनापन करता होने से रागी है।

परद्रव्य के प्रति घृणा का भाव होना, द्वेष है। ज्ञानी को वैसा घृणाभाव नहीं होता, इसलिए उनको द्वेष नहीं है।

परद्रव्य में आत्मबुद्धि होना, विमोह अर्थात् मिथ्यात्व है। शरीर, पुण्यादि में अहम् अर्थात् गहरे-गहरे उनमें अपनापना मानना भ्रम है - अज्ञान है।

इस प्रकार ज्ञानी इन तीनों - राग-द्वेष-मोहभाव से रहित होते हैं। राग-द्वेष-मोह से रहित निर्मलभाव को ही सुबोध कहा जाता है। धर्मी ने आत्मा को पवित्र माना है, जाना है और अनुभव किया है; इसलिए धर्मी, राग-द्वेष-मोहादि... विकारों भावों से रहित निर्मल सुबोध में वर्तता है।

समकिती की क्रिया चारित्र की अपेक्षा से गजस्नानवत् गिनी जाती है। जैसे हाथी स्नान करके तुरन्त ही गन्दा होता है; वैसे ही समकिती की निर्जरा भी ऐसी ही है परन्तु श्रद्धा की अपेक्षा से तो उसमें जरा भी मलिनता नहीं आती, इसलिए समकिती निर्मल ही है। यद्यपि मुनिराज के चारित्र की अपेक्षा से समकिती की निर्मलता कुछ नहीं गिनी जाती, क्योंकि मुनिराज को तो वीतरागता और निर्मलता बहुत होती है परन्तु दर्शन की अपेक्षा से तो समकिती निर्मल ही है।

सुदृष्टि तरङ्गिणी में छह द्रव्य समझाने के लिए मुनियों का दृष्टान्त दिया है कि एक गुफा में छह मुनिराज ध्यान में बैठे हों, उन्हें एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है; इसी प्रकार जगत में छह द्रव्य हैं, वे सभी अपना-अपना कार्य करते हैं, किसी को किसी की अपेक्षा नहीं है। जगत में अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य कालद्रव्य हैं। वे सभी स्वयं से, स्वयं में रहते हैं। अपना कार्य करने के लिए उन्हें अन्य

www.vitragvani.com

द्रव्य की राह नहीं देखना पड़ती। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जगत में रहने पर भी, उसे किसी की कुछ भी अपेक्षा नहीं है।

इस प्रकार राग-द्वेष-मोह से रहित भाव को ही निर्मलज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द आया हो, अनन्त गुणों को निर्मलता प्रगट हुई हो, उस ज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं। अकेले उघाड़ ज्ञान को / क्षयोपशम ज्ञान को निर्मलज्ञान नहीं कहते। जिसने राग-द्वेष-मोहरहित निर्मल स्व-संवेदन ज्ञान प्राप्त किया है, वही ज्ञानी है।

राग-द्वेष-मोह ही आस्त्रव हैं (दोहा)

राग विरोध विमोह मल, एई आस्त्रवमूल।
एई करम बढ़ाईकैं, करैं धरमकी भूल॥ ९॥

अर्थ - राग-द्वेष-मोह ये तीनों आत्मा के विकार हैं, आस्त्रव के कारण हैं और कर्मबन्ध करके आत्मा के स्वरूप को भुलानेवाले हैं।

काव्य ९ पर प्रवचन

अब, इस काव्य में कहते हैं कि राग-द्वेष-मोह ही आस्त्रव है।

आत्मा के अतिरिक्त राग में प्रेम करना अथवा अनुकूल वस्तु देखकर राग करना - यह ज्ञानी का कार्य नहीं है। ज्ञानी को विरोध अर्थात् द्वेष भी नहीं होता और आस्त्रव की मूल भ्रान्ति का भी ज्ञानी के अभाव हो गया है। वस्तुतः राग-द्वेष-मोह से ही कर्म का आस्त्रव और बन्ध है। वह मूल ही ज्ञानी के अभावरूप हो गया होने से ज्ञानी के आस्त्रव नहीं है। अज्ञानी को ये राग-द्वेष-मोह ही कर्म बढ़ाते हैं और धर्म को भुलाते हैं। मैं व्रती हूँ, मैंने पुण्य के बड़े-बड़े कार्य किये हैं, मैंने बहुत भक्ति की है - इस प्रकार शुभभाव के प्रेम में फँसकर अज्ञानी, आत्मा को भूल जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव निरास्त्रव है (दोहा)

जहाँ न रागादिक दसा, सो सम्यक परिनाम।
यातें सम्यकवंतकौ, कह्यो निरास्त्रव नाम॥ १०॥

अर्थ - जहाँ राग-द्वेष-मोह नहीं हैं, वह सम्यक्त्वभाव है, इसी से सम्यग्दृष्टि को आस्त्रवरहित कहा है।

www.vitragvani.com

काव्य १० पर प्रवचन

इस पद में पण्डित बनारसीदासजी यह कहते हैं कि ज्ञानी, निरास्रव है।

सम्यग्दृष्टि के भाव में राग-द्वेष-मोह नहीं हैं। द्रव्य-गुण में तो राग-द्वेष-मोह है ही नहीं, परन्तु सम्यग्दृष्टि को तो पर्याय में भी राग-द्वेष-मोह नहीं है।

कदाचित् अज्ञानी जीव बाहर का सबकुछ त्याग कर बैठा हो, तो भी अभिप्राय में रागसहित है। उसे तो 'ये महाव्रत के विकल्प मेरे हैं, मैं महाव्रत का पालन करता हूँ' - इस प्रकार विकल्प में ममकारबुद्धि है, वही मोह है। वह साधु होने पर भी राग-द्वेष को निज मानता है, इसलिए मोही है और धर्मी गृहस्थाश्रम में होने पर भी रागादि में अहंबुद्धि के अभाव के कारण सम्यक्त्वी है। इस प्रकार गृहस्थदशा में होने पर भी धर्मात्मा जीव, मोक्षमार्गी है और नग्न मुनि होने पर भी मोही जीव, मिथ्यादृष्टि-संसारमार्गी है। जो मुनि होकर पद्मावती और क्षेत्रपाल को देव मानता है, उसे धर्म का पता ही नहीं है। यहाँ तो परमात्मा (निज आत्मा) देव का देव है। देवाधिदेव सर्वज्ञ परमात्मा और आत्मदेव को पहिचाननेवाला स्वयं देव है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को दृष्टि के विषय में और ज्ञानी को पर्याय में राग-द्वेष-मोह नहीं होने से उसे निरास्रव कहा गया है।

निरास्रवी जीवों का आनन्द (सवैया इकतीसा)

जे केई निकटभव्यरासी जगवासी जीव,
मिथ्यामत भेदि ग्यान भाव परिनए हैं।
जिन्हिकी सुदृष्टिमैं न राग द्वेष मोह कहूं,
विमल विलोकनिमैं तीनौं जीति लए हैं॥
तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग,
सुद्ध उपयोगकी दसामैं मिलि गए हैं।
तेई बंधपद्धति विदारि परसंग डारि,
आपमैं मगन ह्वैकै आपरूप भए हैं॥ ११॥

www.vitragvani.com

अर्थ – जो कोई निकट भव्यराशि संसारी जीव, मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्भाव ग्रहण करते हैं, जिन्होंने निर्मल श्रद्धान से राग-द्वेष-मोह तीनों को जीत लिया है और जो प्रमाद को हटाकर, चित्त को शुद्ध करके, योगों का निग्रह कर शुद्ध-उपयोग में लीन हो जाते हैं, वे ही बन्ध-परम्परा को नष्ट करके परवस्तु का सम्बन्ध छोड़कर, अपने रूप में मग्न होकर निज-स्वरूप को प्राप्त होते हैं अर्थात् सिद्ध होते हैं।

काव्य ११ पर प्रवचन

अब, आचार्य अमृतचन्द्रदेव, आस्रव अधिकार के ८वें कलश में कहते हैं कि धर्मी बन्ध से विधुर है। आत्मा, राग और राग के परिणामरूप बन्ध से विधुर है। ऐसे आत्मा के अनुभवी-निरास्रवी ज्ञानीजनों का आनन्द कोई अलग ही होता है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के समक्ष, उन्हें समस्त बाह्य वैभव तृणवत् भासित होता है।

इस मूल बात को नहीं समझनेवाले जीव, राग की क्रिया के स्वामी होकर निगोदगामी होते हैं परन्तु अज्ञान में वे क्या कर रहे हैं – यह भी उन्हें पता नहीं होता। अज्ञान के कारण उन्हें लगता है कि यह बात सुनकर लोगों का कल्याण रुक जाएगा। भाई! राग की अर्थात् दया, दानादि की क्रिया मेरी है, उससे मेरा कल्याण है – ऐसा मानकर, मनवाकर तुम मिथ्यात्व का पोषण करते हो और मिथ्यात्व के फल में तो निगोद का निवास होता है। जबकि अपने को राग से भिन्न माननेवाले सिद्धालय में निवास करते हैं क्योंकि उन्हें आस्रव ही नहीं है, इस कारण संसार फलित नहीं होता, वे तो सिद्धालय में वास करेंगे।

जिसकी दृष्टि में पुण्य-पाप के विकल्प अथवा भ्रान्ति आदि कुछ नहीं है, जिसने निर्मल श्रद्धान से राग-द्वेष-मोह इन तीनों को जीत लिया है, उसकी दृष्टि में तो एक पूर्ण आनन्दकन्द आत्मा विराजमान है – इस कारण उसे ज्ञान और आनन्द का परिणमन होता है। **विमल विलोकनिमैं तीनौं जीति लए हैं** – ज्ञानियों ने विमल अर्थात् निर्मल आत्म-अवलोकन द्वारा राग-द्वेष-मोह – इन तीनों को जीत लिया है। निर्मल वस्तु-स्वरूप के अवलोकन में अर्थात् श्रद्धा में, अनुभव में राग-द्वेष-मोह तीनों जीत लिये जाते हैं। उसकी दृष्टि में राग-द्वेष-मोह है ही नहीं।

www.vitragvani.com

तजि परमाद, घट सोधि जे निरोधि जोग.... जो प्रमाद को दूर करके, चित्त को शुद्ध करके योगों का निग्रह करके शुद्धोपयोग में लीन हो जाता है, वही बन्ध-परम्परा का नाश करके, परवस्तु का सम्बन्ध छोड़कर, अपने रूप में मग्न होकर निजस्वरूप को प्राप्त करता है अर्थात् सिद्ध होता है।

जिसने अशुद्धि को रोककर शुद्धोपयोग प्रगट किया है, वह मोक्षगामी जीव, मोक्ष के समीप हो गया है; उसने राग के अनुभवरूपी उत्पाद का नाश किया है और ज्ञान के अनुभव का उत्पाद किया है अर्थात् ज्ञानानन्दमय निज चैतन्य का वेदन किया है। जब तक मिथ्यात्व था, तब तक राग-द्वेष का विकारी वेदन था। वह वेदन अब स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान के वेदन द्वारा नष्ट हुआ है, अर्थात् राग-द्वेष-मोह का वेदन उत्पन्न ही नहीं होता, इस कारण उसे जीत लिया कहा जाता है।

ज्ञानी ने प्रमाद को छोड़कर, अन्तर के आनन्द को शोधकर, मन-वचन-काया के योगों का निरोध किया है और आस्रव को रोककर शुद्ध उपयोग की दशा में लीन हो गये हैं। जिसका उपयोग आत्मा के अनाकुल आनन्द के शुद्ध व्यापार में परिणमित हो गया है - ऐसा जीव, मोक्ष अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति के अत्यन्त समीप आ गया है। ऐसे शुद्धोपयोगी जीव ही बन्धपद्धति का, अर्थात् बन्ध की परम्परा का अभाव करके, परवस्तुओं का सम्बन्ध छोड़कर, निजरूप में मग्न होकर निजरूप हुए हैं, वे सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार यहाँ सिद्ध होने की प्रारम्भ से अन्त तक की रीति बतला दी है। प्रथम तो स्वरूप के अनुभव द्वारा राग-द्वेष-मोह के प्रति एकताबुद्धि का अभाव होता है; तत्पश्चात् वह जीव प्रमाद छोड़कर, योगों का निरोध करके, उग्ररूप से शुद्धोपयोग में परिणमित हो जाता है और बन्ध की परम्परा को छेद करके / नष्ट करके निजरूप, अर्थात् सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होने की विधि है।

मैं कौन हूँ - इसका पता लगे बिना मार्ग की रीति हस्तगत नहीं होती। मैं पूर्णानन्द का नाथ ज्ञानसागर आत्मा ही हूँ - ऐसा पता लगे बिना सब व्यर्थ है। मुझमें रागादि होने पर भी, वे मेरा स्वरूप नहीं है; मेरी सत्ता एक अलग ही तत्त्व है। मेरी अपेक्षा से तो रागादि कोई वस्तु ही नहीं है - ऐसा जानकर जो आत्मा का अनुभव करता है, उसने राग-द्वेष-मोह को

www.vitragvani.com

जीत लिया है। इस निर्मल अनुभव का ही नाम 'धर्म' है। यह जैन संस्कृति है। जैन, अर्थात् राग-द्वेष-मोह को जीतनेवाला। राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति नहीं होने देना ही उनका जीतना है।

जिसे अपना माने, उसे अपने से भिन्न कैसे करे? अज्ञानी जीव तो पञ्च महाव्रत, तप, दान, भक्ति इत्यादि क्रिया को अपनी मानता है, वह उसे पृथक् कैसे कर सकता है? रागादि लाभदायक है, उनके अस्तित्व से ही मेरा अस्तित्व है - ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव, राग से भिन्न नहीं पड़ सकता। जबकि ज्ञानी को रागरहित स्वभाव की अस्ति के स्वीकार में राग की उत्पत्ति ही नहीं होती।

गृहस्थदशा में रहकर ऐसा धर्म किस प्रकार करना? इसका उत्तर पूर्व में आ चुका है कि आत्मा का धर्म पर से निरपेक्ष है।

जब तक जीव का शुभाशुभभावों अथवा संयोग में उत्साहित वीर्य है, तब तक वह मिथ्यात्वभावरूप परिणमित होता है। स्वरूप का अवलोकन, भान और वेदन करने से आनन्द, ज्ञान और शान्ति का अनुभव होता है, यही अपनी अस्तिरूप भाव है। रागादि तो दुःखरूप भाव हैं। जहाँ दोनों में इतना अन्तर पड़ता है, अर्थात् दोनों का भेदज्ञान करता है, तो सभी संयोग होने पर भी उनसे एकत्व छूट जाता है।

इस प्रकार ८ वें कलश एवं उसके पद्यरूप ११वें काव्य में निरास्रवी जीव की बात की गयी है।

उपशम तथा क्षयोपशमभावों की अस्थिरता (सवैया इकतीसा)

जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी,
तिन्हकी अवस्था ज्यौं लुहारकी संडासी है।
खिन आगमांहि खिन पानीमांहि तैसैं एऊ,
खिनमैं मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है॥
जौलौं ग्यान रहै तौलौं सिथिल चरनमोह,
जैसैं कीले नागकी सकति गति नासी है।
आवत मिथ्यात तब नानारूप बंध करै,
ज्यौं उकीले नाग की सकति परगासी॥ १२॥

www.vitragvani.com

अर्थ – जिस प्रकार लुहार की संडासी कभी अग्नि में तप्त और कभी पानी में शीतल होती है; उसी प्रकार क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीवों की दशा है, अर्थात् कभी मिथ्यात्वभाव प्रगट होता है और कभी ज्ञान की ज्योति जगमगाती है। जब तक ज्ञान रहता है, तब तक चारित्रमोहनीय की शक्ति और गति कीले हुए सर्प के समान शिथिल रहती है और जब मिथ्यात्व रस देता है, तब वह उकीले हुए सर्प की प्रगट हुई शक्ति और गति के समान अनन्त कर्मों का बन्ध बढ़ाता है।

काव्य १२ पर प्रवचन

अब, नौवें कलश (पद्यरूप १२ वें काव्य) में दृष्टान्तपूर्वक उपशम और क्षयोपशमभाव की अस्थिरता बतलाते हैं।

यहाँ समकिती को ही पण्डित कहा गया है। जिसने राग के विकल्प से भी भिन्न आत्मा का अनुभव किया है, उसे समकिती और पण्डित कहा जाता है। उघाड़रूप ज्ञान कम हो अथवा अधिक, उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसने दृष्टि में से राग के विकल्प का ध्येय छोड़कर, स्वभाव के ध्येय से स्वानुभूति प्रगट की है, वह पण्डित है।

अनन्तानुबन्धी की चार और दर्शनमोहनीय की तीन – इन सात प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है। उसका उत्कृष्ट और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है, जिसे वह होता है, वह उपशम सम्यग्दृष्टि है।

जिसे अनन्तानुबन्धी की चार और मिथ्यात्व तथा मिश्र – इन छह प्रकृतियों का अनुदय और सम्यक्प्रकृति का उदय रहता है, उसे क्षयोपशमसमकित होता है। उसका उत्कृष्ट काल छियासठ सागर और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है, वह क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि है।

यहाँ उपशम और क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि की बात नहीं है, किन्तु जो उससे गिर जाता है, उसकी दशा कैसी होती है – यह बात है। उपशमसम्यक्त्व का काल तो अत्यन्त अल्प है परन्तु क्षयोपशमसम्यग्दर्शन में तो अधिकतम छियासठ सागर तक रहने की मर्यादा है। जो जीव उससे गिर जाता है, उसकी दशा लुहार की संडासी जैसी है। सम्यक्त्व से गिरता है, फिर सम्यक्त्व में आ जाता है, फिर गिरता है, आता है – ऐसा होता है। क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि कभी मिथ्यात्व में आता है और कभी सम्यक्त्व में आता है – ऐसा

www.vitragvani.com

नहीं है। यहाँ तो वह क्षयोपशमसम्यक्त्व से गिर जाए, तत्पश्चात् उसे कभी राग का रस हो जाता है और कभी आनन्द का रस आता है – ऐसी दशा हो जाती है – उसकी बात है। जो जीव क्षयोपशमसम्यक्त्व से नहीं गिरता, उसकी बात यहाँ नहीं है।

किसी जीव के क्षयोपशमसम्यक्त्व हो, उसने मुनिपना ले रखा हो परन्तु अन्दर में भ्रम हो जाए और उस समय आयु बँध गयी हो तो भवनवासी आदि असुर में भी जाता है। वरना नियम तो यह है कि सम्यग्दृष्टि मरकर असुर में नहीं जाता। क्षयोपशमसम्यग्दर्शन में गिरने का अवकाश / अवसर है, इसलिए यदि गिरे तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यह बात आचार्यदेव ने करने के लिए नहीं, अपितु चेताने के लिए कही है। मैं गिर जाऊँगा तो! गिर जाऊँगा तो! – इस प्रकार डरने की बात नहीं है। (अर्थात् यह कथन सुनकर स्वरूप के पुरुषार्थ में हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है।)

यहाँ तो जब तक आत्मज्ञान और आत्मदृष्टि है, तब तक वह जीव आस्रववाला नहीं, शुद्धतावाला है, निरास्रवी है – यह सिद्ध करना है। जब कोई ज्ञानी जीव, शुद्धता के भाव से भ्रष्ट होता है और अशुद्धता के अनुभव में आ जाता है, तब वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है; इसलिए सावधान रहना आवश्यक है। क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि नियम से गिरता ही है – ऐसा नहीं है परन्तु जो गिरता है, यहाँ तो उसकी बात की है। श्रीमद्जी ने भी गिरनेवालों की बात की है परन्तु सभी क्षयोपशम में से गिरते ही हैं – ऐसा नहीं है। जिन्हें क्षयोपशम में से क्षायिकसम्यक्त्व हो जाता है, वे नहीं गिरते हैं।

यहाँ जो क्षण में सम्यक्त्व और क्षण में मिथ्यात्व की बात लिखी है, वह सभी क्षयोपशमसम्यग्दृष्टियों को लागू नहीं पड़ती; क्षयोपशमसम्यग्दर्शन में से गिरनेवाले को ही लागू पड़ती है। क्षयोपशम से नहीं गिरनेवाला तो छियासठ सागर क्षयोपशमसमकित में रहकर, क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

जो लौं ज्ञान रहै तौलौं सिथिल चरनमोह... जब तक आत्मा का भान और आनन्द का अनुभव रहता है, तब तक चारित्रमोह शिथिल हो जाता है; उसका बन्धन उस ज्ञानी को नहीं होता और अल्प होता भी है तो उसकी गिनती नहीं की जाती है। भले ही उपयोग विकल्प में रुका हो, परन्तु लब्ध में आत्मा का भान है, तब

www.vitragvani.com

तक चारित्रमोह का बन्धन ढीला / शिथिल पड़ जाता है। जैसे सर्प पर शीतल जल छिड़कने से सर्प की शक्ति शिथिल पड़ जाती है; वैसे ही (ज्ञानी के) चारित्रमोह शिथिल पड़ जाता है।

आवत मिथ्यात्व तब नानारूप बंध करे..... जब वही क्षयोपशम समकिती जीव, आत्मभान से भ्रष्ट होकर, राग की क्रिया को अपनी मानने लगता है, उससे मुझे लाभ है – ऐसा मानने लगता है, तब उस मिथ्या अभिप्राय के अनुसार अनेक प्रकार का बन्ध करता है। वह रागादि के साथ एकत्व हो जाने के कारण मिथ्यादृष्टि ही हो गया है, इस कारण उसे आस्रव और बन्ध होता है; इसलिए वह सास्रवी है। भले ही वह जीव मुनि हो और महाव्रतादि का पालन करता हो परन्तु उनमें एकत्व हुआ हो तो वह उसी समय मिथ्यादृष्टि हो गया, निरास्रवी नहीं रहा।

जिसे राग का राग हुआ, उसे स्वभाव का राग (दृष्टि) नहीं रहा, छूट गया। मुनि होने पर भी उसने राग में एकता की होने से, संसार का बन्ध बाँधने लगा और समकिती गृहस्थाश्रम में होने पर भी, राग में एकता नहीं करता होने से वह निरास्रवी है, स्वभाव की एकता में होने से अबन्ध है। वह चारित्रमोह से भिन्न पड़ गया होने से उसे उसका बन्ध नहीं है।

विशेष – उपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व का उत्कृष्ट काल छियासठ सागर और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। ये दोनों ही सम्यक्त्व नियम से नष्ट होते हैं, अर्थात् क्षयोपशम भी कायम नहीं रहता। इसलिए जब तक सम्यक्त्वभाव रहता है, तब तक आत्मा एक विलक्षण शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है। वह राग से भिन्न पड़ा है, इसलिए जगत से अलग जाति की शान्ति और आनन्द का अनुभव करता है और जब सम्यक्त्वभाव नष्ट होकर मिथ्यात्व का उदय होता है, तब आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर कर्म-परम्परा को बढ़ाता है।

अब, आचार्यदेव इस शास्त्र का सार श्लोक/कलश द्वारा कहते हैं –

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागद बन्ध एव हि॥ १०॥

अर्थात् अशुद्धनय से बन्ध और शुद्धनय से मोक्ष है।

इसी कलश का पण्डित बनारसीदासजी कृत पद्यानुवाद इस प्रकार है –

www.vitragvani.com

अशुद्धनय से बन्ध और शुद्धनय से मुक्ति है (दोहा)

यह निचोर या ग्रंथकौ, यहै परम रसपोख।
तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख॥ १३॥

अर्थ – इस शास्त्र में सार बात यही है और यही परम तत्त्व की पोषक है कि शुद्धनय की रीति छोड़ने से बन्ध और शुद्धनय की रीति ग्रहण करने से मोक्ष होता है।

काव्य १३ पर प्रवचन

शुद्धनय की रीति परमतत्त्व की पोषक है और राग की रीति बन्ध की पोषक है; इसलिए शुद्धनय को ग्रहण करने से मोक्ष होता है और शुद्धनय को छोड़ने से बन्ध होता है। राग का अनुभव करने से बन्ध होता है और राग से भिन्न पड़कर आत्मा का अनुभव करने से मोक्ष होता है।

भले ही दया, दान, व्रतादि के परिणाम हों परन्तु उन परिणामों का अनुभव करनेवाला शुद्धनय से भ्रष्ट है और सम्पूर्ण राग से रहित शुद्धस्वभाव का अनुभव शुद्धनय है। वह शुद्धनय, तत्त्व का पोषक है, उसमें आत्मा के आनन्द का अनुभव है; इसलिए शुद्धनय छोड़ने योग्य नहीं है – यह सम्पूर्ण समयसार का सार है।

देखो, इसमें त्याग और अत्याग / ग्रहण की व्याख्या है। शुद्धनय के त्याग से बन्ध है और शुद्धनय के अत्याग से मोक्ष है। शुद्धस्वरूप के अनुभव का त्याग नहीं है, तब तक बन्ध नहीं है। यह जैनदर्शन का– समयसार का मक्खन है। शुद्धस्वरूप का अनुभव–दृष्टि–एकता और राग की पृथक्ता शुद्धनय है और उसके त्याग से बन्ध है। राग के साथ एकताबुद्धि और स्वभाव के अनुभव का त्याग, वह बन्ध का कारण है और शुद्धस्वरूप के अनुभव का अत्याग और राग का त्याग, वह मोक्ष का कारण है।

जीव की बाह्य तथा अन्तरङ्ग अवस्था (सवैया इकतीसा)

करमके चक्रमैं फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यौ बहिरमुख व्यापत विषमता।
अंतर सुमति आई विमल बड़ाई पाई,
पुद्गलसौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता॥

www.vitragvani.com

सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ,
भ्रमभाव छांड़ि दीनौ भीनौ चित्त समता।
अनादि अनंत अविकलप अचल ऐसौ,
पद अवलंबि अवलोकै राम रमता॥ १४॥

अर्थ – संसारी जीव, कर्म के चक्कर में भटकता हुआ मिथ्यात्वी हो रहा है और उसे अशुद्धता ने घेर रखा है। जब अन्तरङ्ग में ज्ञान उपजा, निर्मल प्रभुता प्राप्त हुई, शरीर आदि से स्नेह हटा, राग-द्वेष-मोह छूटा, समतारस का स्वाद मिला, शुद्धनय का सहारा लिया, अनुभव का अभ्यास हुआ, पर्याय में अहंबुद्धि नष्ट हुई, तब अपने आत्मा का अनादि, अनन्त, निर्विकल्प, नित्यपद अवलम्बन करके आत्मस्वरूप को देखता है।

काव्य १४ पर प्रवचन

यह आस्रव अधिकार के ११वें कलश का पद्य है, इसमें जीव की बाह्य और अन्तरङ्ग अवस्था का वर्णन है।

यह आस्रव अधिकार है न! हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि अशुभास्रव है और अहिंसा, सत्य, व्रत, शील, संयमादि शुभास्रव है। जगत के जीव निज शुद्धस्वरूप के अनुभव के बिना इन शुभाशुभभावरूप कर्म के चक्कर में भ्रमते हैं। शुभाशुभभाव के निमित्त से पुण्य-पाप कर्म बँधते हैं।

आत्मा का स्वरूप तो ज्ञान और आनन्दमय है। उसे अनादि काल से भूला हुआ जीव, शुभाशुभ कर्म के चक्कर में भटक रहा है। मुझे हिंसा, झूठ, चोरी आदि करने पड़ते हैं और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि करना तो मेरा कर्तव्य है – ऐसा मानकर जगतवासी जीव, उन भावों में ही फिरा करते हैं। इन भावों को चक्र, अर्थात् घण्टी का उपमा क्यों दी? क्योंकि जैसे घण्टी में दो पड़ हैं, इसी प्रकार इनमें पुण्य-पापरूप दो चक्र हैं, इनमें आत्मा की शान्ति पिस जाती है, इसलिए इन्हें चक्र की उपमा दी गयी है। इनमें शुभभाव ठीक है और अशुभभाव अठीक है – ऐसे दो भेद नहीं कहे गये हैं, क्योंकि दोनों ही भावों में आत्मा की शान्ति तो पिसती ही है।

www.vitragvani.com

यद्यपि ज्ञानी को भी ये दोनों भाव होते हैं परन्तु वे दु:खरूप ही हैं; दोनों भाव आस्रव है, कर्मचक्र है। छहढाला में आता है कि –

यह राग आग दहै सदा, तातें समामृत सेईये....

अर्थात् राग है, वह आग है; भले ही शुभराग हो या अशुभ राग हो; दोनों दाहक हैं। उनकी जाति, अपने शान्त अविकारी अकषायस्वभाव से विरुद्ध है। अज्ञानी जीव की रुचि अनादि से राग में ही पड़ी है। अज्ञानी जीव अपनी अन्तर्मुख दृष्टि बिना, बहिर्मुख दृष्टि करके पुण्य-पापरूप कर्म के चक्र में फँसा है। पुण्य-पापरूप कर्म तो जड़ है; परन्तु उनके कारण ऐसे शुभाशुभ कर्म के चक्कर में जीव फँस गये हैं। उसमें भी अशुभ छोड़कर शुभभाव में आने पर, जीव को ऐसा लगता है कि मैं धर्म में आ गया हूँ.... परन्तु भाई! वह धर्म नहीं है, कर्मचक्र है; आत्मा को अहितकर है, आत्मा के शान्तस्वभाव से रहित बहिर्मुखभाव है।

परोपकार करना, दया पालना, यात्रा करना, पूजा करना – ये सभी भाव बहिर्मुखभाव है, विकल्प है। यह बात लोगों को कठोर लगती है। उन्हें लगता है कि दुकान पर बैठे हों तो पाप होता है, परन्तु उपाश्रय अथवा मन्दिर में बैठने से पाप नहीं होता.... परन्तु भाई! मिथ्यात्व का पाप तो चालू ही है। परलक्ष्य से जो कोई भी भाव होते हैं, वह कर्मचक्र की जाति है; आत्मा की जाति नहीं।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है। उससे भिन्न समस्त इन्द्रियजन्य विकल्प बहिर्मुख है। दया पालने का भाव, उपवास करने का भाव, रात्रि में चतुर्विध आहार न करने का भाव – ये सभी भाव बहिर्मुख है। जीव, पापचक्र में से निकलकर पुण्यचक्र में आया परन्तु यह कोई धर्म की जाति नहीं है।

यह जीव अनन्त बार भगवान के समवसरण में जाकर आया है और वहाँ दिव्यध्वनि का श्रवण भी किया है परन्तु उसमें आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि वह तो मात्र शुभराग था। साक्षात् त्रिलोकनाथ से भेंट करने पर भी निज भगवान से भेंट नहीं करनेवाले को भगवान की भेंट भी सच्ची नहीं हुई है।

आचार्य योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश में कहा है कि इस जीव ने भव-भव में

www.vitragvani.com

जिनवर की पूजा की है, मणि-रत्न के दीपक से उनकी आरती उतारी है, कल्पवृक्ष के पुष्पों से भगवान की पूजा की हे - इत्यादि सब किया है परन्तु वह सब शुभभाव है - बहिर्मुखभाव है; उससे आत्मा का अन्तर्मुखभाव नहीं होता।

जीव ने भगवान की वाणी सुनी है। उस वाणी में भी यही आया है कि इस वाणी सुनने के के राग से तेरा कल्याण नहीं होगा।

व्याप्त विषमता.... शुभ और अशुभ - दोनों भाव विषम हैं। शान्तस्वभाव भगवान आत्मा में से बाहर आकर उत्पन्न होनेवाली समस्त वृत्तियाँ कषाय-अग्नि हैं। साक्षात् भगवान भी इस आत्मा से पर होने के कारण, उनके प्रति जितना लक्ष्य जाता है, वह विषमता है; समता से विरुद्ध भाव है, उसमें से समता नहीं आती।

आत्मा का स्वरूप तो सिद्ध समान है। यदि सिद्ध में राग-द्वेष हों तो आत्मा में राग-द्वेष हों। सिद्ध में राग-द्वेष नहीं है, क्योंकि राग-द्वेष विषमभाव है। आत्मा में भी इन विषम भावों का अभाव है। शुभ-अशुभ दोनों विषमभाव है - अशुद्धभाव है - कर्मचक्र है।

अंतर सुमति आई विमल बढ़ाई पाई - मैं पुण्य-पाप के भावों से भिन्न चैतन्य - चमत्कारमूर्ति आत्मा हूँ - जहाँ अन्तर में ऐसी सुमति जागृत हुई, वहाँ अशुद्धता को अपनी माननेरूप मान्यता पलटकर 'शुद्ध है, वही मैं हूँ' - ऐसा मानने लगा और अपने को शुद्धरूप अनुभव करने लगा। अहो! यह परमात्मा तो निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति है - ऐसा अन्तर्मुख होकर भान होना 'धर्म' कहलाता है। परद्रव्य की ओर लक्ष्य रहना तो अशुद्धता है - विषमता है; उसमें समता का अभाव है। मेरी प्रभुता इस पुण्य-पाप के चक्र से भिन्न है। वह प्रभुता, स्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होती है। मेरा बड़प्पन / महत्ता निर्मलदशा में ही है।

पुद्गल सौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता - जीव से भिन्न ऐसे पुद्गल से उसकी प्रीति टूट जाती है। ये सब मेरी वस्तुएँ हैं और मैं इनका हूँ - ऐसी जो माया और ममता अज्ञानदशा में थी, वह छूट गयी। 'मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ', त्रिकाल एक ज्ञायकभाव ही रहा हूँ; मैं कभी शुभ अथवा अशुभभावरूप हुआ ही नहीं। पर्याय में शुभाशुभभाव हुए थे, परन्तु मैं उनमें नहीं था।

www.vitragvani.com

बहिर्मुख दृष्टि छूटी, अर्थात् शुद्धनय में निवास किया। अनादि से पुण्य-पाप में निवास था, वह निवास छोड़कर अब शुद्धनय में निवास किया। अनास्त्रवी चीज़ / चैतन्य, राग के आश्रय से अत्यन्त भिन्न है; उसमें दृष्टि स्थापित की और उसका स्वाद लिया - अनुभव किया। जो अनादि से कर्म का अनुसरण करके पुण्य-पाप के चक्र का सेवन कर रहा था, वह अब अखण्डानन्द भगवान आत्मा का अनुभव कर रहने लगा, अर्थात् उसमें इसका निवास हुआ और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया। अब, राग का स्वाद छूट गया, भ्रमण छूट गया। राग और विकल्प में जो एकताबुद्धि थी, वह छूट गयी और...

भीनौं चित्त समता... उसका चित्त आत्मा की शान्ति में भीग गया... जो अनादि से राग में / विकार में / बहिर्मुखभाव में रङ्ग गया था; अब, अन्तर्मुखदृष्टि करने से उसे आत्मा के आनन्द का रङ्ग चढ़ गया।

अनादि अनंत अचल अविकल्प एसौ.... अज्ञानी अनादि से राग का अवलम्बन करके, राग से घिर गया था, वह अब अनादि, अनन्त, निर्विकल्प, नित्य ध्रुव... ध्रुव भगवान आत्मा का अवलम्बन करके, अतीन्द्रिय आनन्द में रमनेवाला हो गया। अनादि से चली आनेवाली राग की परम्परा को तोड़कर, आत्मा के आनन्द की परम्परा में आ गया। जब वह राग में रमता था तो अनात्माराम था, वही अब आत्मा में रमता आत्माराम हो गया।

अहा! इसमें व्यवहार का तो मुक्का उड़ा दिया है। लोग विवाद करते हैं न कि व्यवहार साधन है, हेतु है; उसे कैसे उड़ाते हो? परन्तु प्रभु! तू किसके साथ विवाद करता है? तुझे तेरा भाव ही नहीं रुचता, इसलिए तू विवाद करता है; राग की रुचि करता है परन्तु अन्तर्मुख होने का प्रयत्न नहीं करता।

शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन है (सवैया इकतीसा)

जाके परगासमैं न दीसैं राग द्वेष मोह,
आस्त्रव मिटत नहिं बंधकौ तरस है।
तिहूं काल जामैं प्रतिबिंबित अनंतरूप,
आपहूं अनंत सत्ता नंततैं सरस है॥

www.vitragvani.com

भावश्रुत ग्यान परवान जो विचारि वस्तु,
अनुभौ करै न जहाँ वानीकौ परस है।
अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम,
चिदानंद नाम ऐसौ सम्यक दरस है॥ १५॥

अर्थ – जिसके उजाले में राग-द्वेष-मोह नहीं रहते, आस्रव का अभाव होता है, बन्ध का त्रास मिट जाता है; जिसमें समस्त पदार्थों के त्रैकाल्यवर्ती अनन्त गुण-पर्याय प्रतिबिम्बित होते हैं और जो आप स्वयं अनन्तानन्त गुण-पर्यायों की सत्तासहित है – ऐसा अनुपम, अखण्ड, अचल, नित्य, ज्ञान का निधान चिदानन्द ही सम्यग्दर्शन है। भावश्रुतज्ञान प्रमाण से पदार्थ विचारा जावे तो वह अनुभवगम्य है और द्रव्यश्रुत, अर्थात् शब्द-शास्त्र से विचारा जावे तो वचन से कहा नहीं जा सकता।

काव्य १५ पर प्रवचन

अब, १२ वें कलश के पद्यानुवादरूप १५ वें काव्य में कहते हैं कि शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन है।

भगवान आत्मा के चैतन्य प्रकाश के पूर में जहाँ नज़र पड़ी, वहाँ राग-द्वेष-मोह तो दिखते ही नहीं। ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की शरण प्राप्त होने पर, पुण्य-पाप और मोहभाव नहीं होता; इसलिए आस्रव मर जाता है और आस्रव मर जाने से बन्ध का त्रास भी मर जाता है। तात्पर्य यह है कि जिनसे नवीन कर्म आते हैं, वे भाव ही नहीं होते; इसलिए कर्म नहीं आते और बन्ध नहीं होता। अहा! धर्मी हुआ, वहाँ बन्ध नहीं होता।

जब तक राग के अन्धकार में खड़ा था, तब तक बन्ध का त्रास था। अब जहाँ भगवान आत्मा के बेहद ज्ञान, दर्शन, वीर्य, आनन्द स्वभाव में एकमेक हुआ, वहाँ उसे आस्रव और बन्ध का त्रास मिट गया, अब उसे बन्ध नहीं होता। आत्मा, स्वरूप से ही अबन्धस्वभाव है। आत्मा में शुभाशुभभाव / विकल्प नहीं है और पुण्य-पाप कर्म भी आत्मा में नहीं है। जो ऐसे अबन्धस्वभावी आत्मा को देखता है, वह समयसार गाथा १५ के कथनानुसार सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है।

भावश्रुतज्ञान में अर्थात् छद्मस्थदशा की निचलीदशा में भी ऐसा भासित होने लगता

www.vitragvani.com

है कि मैं राग और कर्म के बन्धन से रहित हूँ और तीन काल – तीन लोकवर्ती समस्त पदार्थों का जानने-देखनेवाला हूँ परन्तु किसी भी पदार्थ को अपना करके अर्थात् निजरूप करके, अपने में रखूँ – ऐसा मैं नहीं हूँ। राग को साथ रखकर रागमय हो जाऊँ – ऐसा मेरा स्वभाव ही नहीं है। मैं तो राग को और सम्पूर्ण दुनिया को मात्र जानने-देखनेवाला हूँ। शुभाशुभराग को करनेवाला अथवा उसरूप परिणमित होनेवाला मैं नहीं हूँ।

यह बात लोगों को एकान्त सी लगती है परन्तु सम्यक् निश्चय ही एकान्त धर्म है। ज्ञान है, वह ज्ञान को करेगा या राग को करेगा? ज्ञान तो ज्ञान को ही करेगा न! ज्ञान में लोकालोक प्रतिबिम्बित होते हैं अर्थात् लोकालोक का ज्ञान होता है। ज्ञान में तीन लोक के अनन्तानन्त पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं और ज्ञायक आत्मा स्वयं भी अनन्त गुण से सहित है।

आत्मा रागरहित है परन्तु अनन्त ज्ञानादि गुणों से तो सहित है। चैतन्यसत्ता खाली नहीं है तथा मात्र तीन काल-तीन लोक को जाननेवाली ही नहीं है, वह तो अनन्त गुण से भरपूर है। जो आस्रव से छूटता है, वह अनन्त गुण से सहित निज सत्ता का अनुभव करता है।

भाव श्रुतग्यान परवान जो विचारि वस्तु – जिसने अन्तर्मुख होकर आत्मा का अनुभव किया, उसने भावश्रुतज्ञान द्वारा सम्पूर्ण जैनशासन को देख लिया। भावश्रुत अर्थात् वाणी नहीं, किन्तु ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण आत्मा को ज्ञेय बनाया – उस ज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहा जाता है। आत्मा, द्रव्यश्रुत से प्राप्त नहीं होता; भावश्रुत से ही आत्मा प्राप्त होता है। द्रव्यश्रुत अर्थात् जिनवाणी, आत्मा के एक-एक गुण को क्रम से कहती है परन्तु उसमें आत्मा के पूर्णस्वरूप को कहने की सामर्थ्य नहीं है। इसीलिए कहा है कि वचन द्वारा आत्मा का पार नहीं पाया जा सकता। अनुभव के द्वारा ही आत्मा का स्वाद लिया जा सकता है, पार पाया जा सकता है।

जैसे शूकर मल को चाटता है, वैसे ही अज्ञानी जीव, राग-द्वेष को चाटता है। जो निकाल देने योग्य चीज है, उसे वह चाटता है। ज्ञानी तो निज आनन्द को चाटता है। आत्मा अनुभवगम्य है, उसे वाणी के द्वारा नहीं जाना जा सकता, विकल्प के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता। वाणी अथवा विकल्प, वचनातीत और विकल्पातीत वस्तु का स्पर्श ही नहीं

www.vitragvani.com

कर सकते। इसीलिए प्रश्न होता है कि आत्मा के अनुभव के लिए साधन क्या है? – इसका समाधान यह है कि अन्तर में आत्मा को समझना ही साधन है, रागादिभाव साधन नहीं है। जो आस्रव है, वह साधन कैसे हो सकता है?

बहुत से लोग तो ऐसा ही मानते हैं कि उपादान में योग्यता तो अनेक प्रकार की है, परन्तु जैसा निमित्त प्राप्त होता है, वैसा कार्य होता है। भाई! यदि ऐसा हो, तब तो निमित्त से ही कार्य होना माना जायेगा, उसमें जीव ने क्या किया? परन्तु ऐसा नहीं है। भाई! **वस्तु में एक समय की पर्याय में एक ही प्रकार की योग्यता होती है और तद्नुसार ही कार्य होता है; निमित्त से कुछ नहीं होता।**

अतुल अखंड अविचल अविनासी धाम – अतुल अर्थात् जिसकी कोई तुलना नहीं हो सकती, जिसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती – ऐसा अतुल आत्मा, राग से भिन्न एक अखण्ड वस्तु है। वह कभी अपने ध्रुवभाव से चलित नहीं होता – ऐसा 'अविचल' है। अनादि-अनन्त ध्रुव प्रभु कभी पर्याय में नहीं आता, त्रिकाल नित्य रहता है।

अज्ञानदशा में जीव को ऐसा लगता है कि मैं पर में जाता हूँ, दुकान पर जाता हूँ, दो चार घण्टे दुकान सँभालता हूँ, इससे अच्छी आमदनी होती है – ऐसा मानकर अज्ञानी जीव हर्षित होता है..... परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि तू कहीं जाता ही नहीं। तू तो आस्रव के – विकल्प के सम्बन्धरहित है; तब मुझे किससे सम्बन्धवाला कहना?

यह मोक्ष के लिए धर्म का दरवाजा खोलने की कला अत्यन्त सूक्ष्म है, अन्तर्मुख दृष्टि किये बिना यह कला हाथ नहीं आती।

चिदानन्द नाम ऐसौ सम्यक्दरस है – ज्ञान और आनन्दस्वरूप अखण्ड आत्मा के अनुभवपूर्वक की प्रतीति, वह सम्यग्दर्शन है।

इस सम्यग्दर्शन प्रमाण आत्मा है। प्रतीति सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त है, इसलिए तत्प्रमाण आत्मा है – ऐसा कहा है। आत्मा, राग अथवा विकल्प जितना नहीं है, अपितु आत्मा सम्यग्दर्शन प्रमाण है, क्योंकि पूर्ण को प्रतीति में लेनेवाली प्रतीति भी पूर्णस्वरूप है।

कलश में **ज्ञानमुन्मग्नमतेत्** शब्द है न! ज्ञान उन्मग्न होता है – बाहर आता है। जब

www.vitragvani.com

चक्रवर्ती छह खण्ड साधने जाता है, तो बीच में वैताढय पर्वत में से दो नदियाँ आती है, उनमें से एक नदी का पानी ऐसा है कि उसमें जो भी वस्तु गिरती है, वह नीचे बैठ जाती है – डूब जाती है – उस नदी का नाम निमग्ना है और दूसरी नदी के पानी का ऐसा स्वभाव है कि उसमें गिरनेवाली वस्तु ऊपर आ जाती है – उस नदी का नाम उन्मग्ना है। इसी प्रकार आत्मा अज्ञान में डूब जाता है और ज्ञान होने पर ऊपर आ जाता है अर्थात् संसार समुद्र से तिर जाता है। आत्मा का भान होने पर, पर्याय में आनन्द और ज्ञान का उछाल आता है। भक्ति में भी आत्मा है न। – 'प्रवचनसमुद्र बिन्दु में, उल्लसित आवे ऐम.....'

इस प्रकार यहाँ पाँचवाँ आस्रव अधिकार पूर्ण हुआ। अब, इस अधिकार का सार कहते हैं।

पाँचवे अधिकार का सार

राग–द्वेष–मोह तो भाव आस्रव हैं, और अशुद्ध आत्मा के द्वारा कार्माण–वर्गणारूप पुद्गल प्रदेशों का आकर्षित होना द्रव्य–आस्रव है तथा इन द्रव्य–आस्रव और भाव–आस्रव से रहित सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन का उदय होते ही जीव का मौजूदा ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस सम्यग्ज्ञान की दशा में आस्रव का अभाव है। सम्यग्ज्ञानी अव्रती भी क्यों न हों, तो भी उन्हें आस्रव नहीं होता, इसका कारण यह है कि अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन का उदय होने से वे शरीर आदि में अहंबुद्धि नहीं रखते और विषय आदि में तल्लीन नहीं होते। यद्यपि बाह्यदृष्टि से लोगों के देखने में मिथ्यादृष्टि जीवों और अव्रती सम्यग्दृष्टियों के विषय–भोग परिग्रह–संग्रह आदि की प्रवृत्ति एक–सी दिखती है परन्तु दोनों के परिणामों में बड़ा अन्तर होता है। अज्ञानियों की शुभ–अशुभ क्रिया, फल की अभिलाषासहित होती है और ज्ञानी जीवों की शुभाशुभ क्रिया, फल की अलिभाषा से शून्य रहती है; इसीलिए अज्ञानियों की क्रिया आस्रव के लिए और ज्ञानियों की क्रिया निर्जरा के लिए होती है। ज्ञान–वैराग्य की ऐसी ही महिमा है। जिस प्रकार रोगी अभिरुचि नहीं रहते हुए भी औषधि सेवन करता है और बहुत से लोग शौक के लिए शर्बत मुरब्बे आदि चखते हैं, इसी प्रकार ज्ञानियों के उदय की वरजोरी में आसक्तारहित भोगे हुए भोगों में और मौज के लिए गृद्धतासहित अज्ञानियों के भोगों में बड़ा अन्तर है।

www.vitragvani.com

आस्रव की दौड़ तेरहवें गुणस्थान तक योगों की प्रवृत्ति होने से रहती है और चौथे गुणस्थान में तो सत्तर प्रकृतियों का बन्ध कहा है, फिर सम्यग्दृष्टि जीवों को अव्रत की दशा में जो निरास्रव कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है और उसके साथ अनुबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का उदय सम्यक्त्व की दशा में नहीं रहता, इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीजनित इकतालीस प्रकृतियों का तो संवर ही रहता है, शेष प्रकृतियों का बहुत ही कम अनुभाग वा स्थिति में बन्ध होता है और गुणश्रेणि निर्जरा शुरू होती है; इसलिए अज्ञानी के सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण और तीव्रतम अनुभाग के समक्ष ज्ञानी का यह बन्ध किसी गिनती में नहीं है, इसलिए ज्ञानियों को निरास्रव कहा है। वास्तव में मिथ्यात्व ही आस्रव है और वह सम्यक्त्व के उदय में नहीं रहता। आस्रव विभाव-परिणति है, पुद्गलमय है, पुद्गल-जनित है, आत्मा का निज-स्वभाव नहीं है - ऐसा जानकर ज्ञानी लोग अपने स्वरूप में विश्राम लेते हैं और अतुल, अखण्ड, अविचल, अविनाशी, चिदानन्दरूप सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं।

सार पर प्रवचन

राग-द्वेष-मोह तो भावास्रव है और अशुद्ध आत्मा द्वारा कर्मणवर्गणारूप पुद्गल प्रदेशों का आकर्षित होना द्रव्यास्रव है। शुभाशुभ दोनों मलिन परिणाम, भावास्रव है और उनके निमित्त से आनेवाले कर्म, द्रव्यास्रव कहलाते हैं। आत्मा का ज्ञान तो इन द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के आस्रवों से भिन्न है। आत्मा दोनों प्रकार के आस्रव से रहित है, इसलिए उसका ज्ञान भी आस्रव से रहित है। सम्यग्दर्शन होते ही जीव में वर्तते ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

इस प्रकार जीव वस्तु के द्रव्य और गुण में तो शुभाशुभ आस्रव का अभाव है और उस जीव का भान होने पर जीव की पर्याय में से भी आस्रव का अभाव होता है - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। धर्मी जीव कदाचित् अव्रती हो तो भी उसे आस्रव नहीं होता। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि जीव देव हो, राजा हो, चक्रवर्ती हो, नारकी हो, मेढ़क हो; अरे! छिपकली सम्यग्दृष्टि हो तो उसे पर्याय में आत्मा का भान हुआ होने से आस्रव का अभाव है; इसका कारण यह है कि अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन का उद्यम होने से वे कोई शरीरादि में

www.vitragvani.com

अहमबुद्धि नहीं करते और विषयादि में तल्लीन नहीं होते। उनका अपनापन तो एक शुद्ध ज्ञानानन्द में ही है – इस कारण अव्रती को भी आस्रव नहीं है। पाँचवें गुणस्थान में व्रत है, वह भी रागभाव है। मूल में तो अन्दर की शुद्धि से ही आस्रव का निरोध होता है।

शुद्ध आनन्दकन्द से विपरीत जो कोई अज्ञान, कषाय, शुभ और अशुभपरिणाम हैं, वे सब आस्रव हैं। अज्ञानी को अनादि से निरन्तर ऐसे परिणाम हुआ करते हैं। यह आस्रव ही जीव को नवीन बन्ध का कारण होता है।

ज्ञानी को तो निज स्वभाव का ज्ञान होने से कषाय में एकत्व नहीं होता, इस कारण उनको तो आस्रव होते ही नहीं, परन्तु अज्ञानी को निज शुद्ध अस्तित्व का भान नहीं है और शरीर, राग-द्वेषादि के अस्तित्व को ही अपना स्वरूप मानता है, इसलिए उसे मिथ्यात्वभाव के द्वारा बहुत आवरण होता है।

यहाँ पाँचवें आस्रव अधिकार के सार में, धर्मी को आस्रव नहीं होता – ऐसा कहा गया है। सम्यग्ज्ञानी अव्रती हो तो भी उसे आस्रव नहीं होता। इसका कारण यह है कि अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन का उदय होने से वह शरीरादि में अहंबुद्धि नहीं रखता और विषयादि में तल्लीन नहीं होता।

धर्मी को हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना आदि का त्याग नहीं होता। यद्यपि श्रद्धा में तो त्याग होता है, परन्तु स्थिरता / चारित्र में उनका त्याग नहीं होता, तो भी उसे आस्रव नहीं है – ऐसा कहा गया है।

प्रश्न – आस्रव नहीं है या आस्रव नहीं है – ऐसा कहा गया है ?

उत्तर – आस्रव नहीं है – ऐसा कहा गया है, क्योंकि धर्मी को अकेला शुद्धपरिणमन नहीं है, अशुद्धपरिणमन भी है परन्तु दृष्टि के जोर में, शुद्धपरिणमनवाले को अशुद्धपरिणमन नहीं है – ऐसा कहा जाता है। इसका कारण यह है कि उसे दृष्टि में अव्रत के परिणामों से विरक्तता वर्तती है। मेरा आनन्द तो मुझमें है; शरीर में, परिवार में अथवा धनादि में मेरा आनन्द नहीं है। मेरा सुख भी मुझमे हैं, बाह्य में कहीं मेरा सुख नहीं है। अरे ! मेरा सम्पूर्ण सुख तो एक समय की पर्याय में भी नहीं है। मैं तो पूर्ण सुखसागर आत्मा हूँ।

www.vitragvani.com

सम्यग्दृष्टि हुआ, वह भले ही आठ वर्ष का बालक हो, स्त्री हो, मेढ़क हो परन्तु उसके चैतन्य सूर्य में जागृत दशा हो गयी है, इसलिए वह शुभाशुभभावों से भिन्न पड़कर स्वभाव का अनुभव करता है। बाहर में धर्मी जीव राजा हो तो हजारों रानियों के समूह में बैठा हुआ भी दिखता है परन्तु अन्दर में वह किसी को भी 'निज' नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि को वस्तु तत्त्व का अनुभव हुआ है, इसलिए वह स्वभाव के अलावा कहीं भी ममत्व नहीं करता और विषय-वासना का विकल्प आने पर भी उसमें तल्लीन नहीं होता क्योंकि उसने आत्मा के आनन्द का अनुभव किया है, इस कारण अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं आता।

मैं आत्मा, आनन्द की मूर्ति हूँ - ऐसा भान होने से धर्मी को शरीरादि में अहम् नहीं हैं और विषयादि में लीनता नहीं है - यह धर्मी का रूप है। बाह्य में कुछ भी त्याग नहीं, परन्तु अन्तरङ्ग में किसी वस्तु में ममत्व नहीं है। विकल्प उत्पन्न होता है, उसमें भी धर्मी एकमेक नहीं है। विकल्प में एकता नहीं होती और स्वरूप में एकता नहीं टूटती - इसी का नाम धर्म है।

यद्यपि बाह्यदृष्टि से देखने पर लोगों को मिथ्यादृष्टि जीवों और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के विषय-भोग, परिग्रह-संग्रह आदि की प्रवृत्ति एक-सरीखी दिखती है, परन्तु दोनों के परिणामों में महान अन्तर है। धर्मी राजा राजपाट में बैठा हो, सबके साथ खाता-पीता हो, सभी क्रियाएँ मिथ्यादृष्टि जैसी करता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि मैं वहाँ अन्तर पड़ता है कि सम्यग्दृष्टि आत्मा के सिवाय कहीं आनन्द नहीं मानता; जबकि मिथ्यादृष्टि जीव शरीर में, मान-प्रतिष्ठा में, धन में, अनुकूलता में आनन्द मान लेता है। जैसे बिल्ली चूहे को पकड़ती है और अपने बच्चे को भी पकड़ती है परन्तु पकड़-पकड़ में अन्तर है; इसी प्रकार बाहर से अज्ञानी और ज्ञानी की क्रिया एक समान दिखने पर भी, परिणाम में महान अन्तर है। अज्ञानी के परिणाम जहाँ-तहाँ व्यामोहित होते है परन्तु धर्मी जीव कहीं भी व्यामोहित नहीं होते।

इन्द्राणी का विषय और सुख की सामग्री होने पर भी, धर्मी जीव उनमें फँसते नहीं हैं। यह नहीं... यह नहीं.... यह तो ज़हर की वासना का निमित्त है, सुख का कारण नहीं... नहीं... इस तरह उनसे अलग रहता है।

www.vitragvani.com

प्रश्न – यदि ऐसा है तो धर्मी राग किसलिए करता है ?

उत्तर – धर्मी राग नहीं करता। कर्म के उदयवश जुड़ान होता है, अन्दर से मिठास/रुचि उड़ गयी है। जुड़े बिना समाधान नहीं होता, इसलिए वैसे राग के परिणाम आते हैं; परन्तु धर्मी उनमें तल्लीन नहीं है।

बोटाद में पचास वर्ष पहले यह चर्चा चली थी, तब कहा था कि शास्त्र में भी आता है कि निचले गुणस्थानवर्ती धर्मी ऊपर की भावना भाता है कि मैं कब समस्त परिग्रह का परित्याग करके, मुनि होकर आत्मा की वीतरागीदशा की साधना साधूँगा ? भले ही उस धर्मी के पास वर्तमान में अरबों रुपये, स्त्री, पुत्र-पुत्री, मकान आदि सब परिग्रह हैं परन्तु भावना ऐसी भाता है तो क्या उसकी भावना खोटी है ? क्या वह मूर्ख है ? क्या वह अभी ही सभी छोड़ दे, तब उसकी भावना सच्ची कहलाये ? – भाई ! ऐसा नहीं है। बापू ! धर्मी का माय बाहर से नहीं होता। पकड़-पकड़ में अन्तर है।

भगवान ! तेरी जाति तो अनादि-अनन्त सत् चिदानन्द की जाति है, जिसे उसका विश्वास आया और एक क्षण अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, उसे सम्यग्दृष्टि-धर्मी कहते हैं; फिर भले ही उसकी क्रियाएँ मिथ्यादृष्टि जैसी हो, परन्तु उसे अन्तरङ्ग से कहीं एकत्व नहीं है। कदाचित् मिथ्यादृष्टि जीव बाहर से सब त्याग दे परन्तु अन्तर में राग की एकता का त्याग नहीं है तो वह त्यागी नहीं, पूरा अत्यागी है।

एक सम्यग्दृष्टि और एक मिथ्यादृष्टि, दोनों भाई हों तो दोनों एक ही दुकान पर भी काम करते हैं, दोनों एक थाली में जीमते हैं परन्तु दोनों की अन्तरङ्ग श्रद्धा में बड़ा अन्तर है। जैसे कोई व्यक्ति अपनी माता को देखता है और स्त्री को भी देखता है परन्तु देखने-देखने में बहुत अन्तर होता है। यह तो मेरी माता है, इसके गर्भ में मैं सवा नौ महीने रहा हूँ.... इस प्रकार माता को निर्दोष परिणाम से देखता है और स्त्री को, उसके अङ्ग-उपाङ्ग को अलग ही परिणाम से देखता है – इस प्रकार परिणाम में महान अन्तर होता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के परिणाम में महान अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि जो भी शुभाशुभ क्रिया करता है, उसमें फल की अभिलाषा होती है, परिणाम में एकत्वबुद्धि होती है, वह मानता है कि इस क्रिया के फल में मुझे ठीक रहेगा। जबकि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी,

www.vitragvani.com

क्रिया तो करता है, परन्तु उसके फल की अभिलाषा से शून्य होता है। जब शुभ-अशुभ परिणाम ही मेरी वस्तु नहीं है तो उसके फल में प्राप्त संयोग मेरे कैसे हो सकते हैं? न उससे मुझे लाभ होता है।

ज्ञानी तो शुभाशुभ क्रिया अथवा उसके फल का अभिलाषी नहीं है, ज्ञानी तो ज्ञाता-दृष्टा है। जिस वस्तु को वह अपनी नहीं मानता, वह चीज़ बढ़े अथवा टिके - ऐसी भावना उसे कैसे होगी? धर्मी को तो आत्मा का प्रेम होने से, ऐसी भावना होती है कि आत्मा में परिणाम बढ़े और टिकें। धर्मी को संयोग की भावना नहीं होती। ऐसा होने से अज्ञानी की शुभाशुभ क्रिया, आस्रव का कारण है और ज्ञानी की शुभाशुभ क्रिया, निर्जरा का कारण है। अज्ञानी शुभाशुभभाव और क्रिया को अपना स्वरूप मानता होने से, उसे नवीन आवरण आते हैं। जबकि ज्ञानी तो जानता है कि मैं तो ज्ञानसूर्य हूँ, मुझमें रागादि होते ही नहीं; इसलिए ज्ञानी को नवीन आवरण नहीं आता अर्थात् नवीन कर्म बन्धन नहीं होता; शुभाशुभ विकल्प आकर खिर जाता है। उसे विकल्प एकत्व नहीं, पृथक्ता रखकर होता है, इसलिए नये कर्म बँधे बिना ही पुराने कर्म खिर जाते हैं।

जोआखली में घटित हुए अत्याचार के दृष्टान्त से धर्मी की एकताबुद्धि से रहित क्रिया समझी जा सकती है। माता और पुत्र को, भाई और बहिन को नग्न करके, इकट्ठा करके इकट्ठे करने पर... शरीर मिले हुए दिखते हैं; परन्तु परिणाम में तो ऐसा है कि धरती रास्ता दे अर्थात् फट जाए तो उसमें समा जाएँ। इसी प्रकार धर्मी जीव, अज्ञानी जैसी सभी क्रियाएँ करते हुए दिखता है परन्तु कहीं एकत्वबुद्धि अथवा मिठास अर्थात् रसबुद्धि नहीं है।

मेरे चैतन्य भगवान के आनन्द के समक्ष यह राग तो ज़हर है - ऐसा धर्मी को लगता है। अरे! शुभराग भी ज़हर जैसा लगता है। शान्त अविकारी स्वभाव में से बाहर आकर जो कोई वृत्ति उत्पन्न होती है, वह सब ज्वाला है। जिसे अविकारी स्वभाव का अनुभव हुआ, उसे उस अनुभव की अपेक्षा से यह राग भी ज्वाला जैसा लगता है। जिसे आत्मा का अनुभव नहीं है, उसे ज्वाला कैसे लग सकता है? उसे तो 'यह भाव ही मैं हूँ' - ऐसा लगता है, इसलिए उसमें एकत्व वर्तता है।

www.vitragvani.com

ज्ञानियों की क्रिया निर्जरा का हेतु क्यों है ? क्योंकि जो परिणाम आता है, उसमें ज्ञानी को एकता नहीं है, रस नहीं है, रुचि नहीं है, प्रेम नहीं है; इसलिए वह परिणाम चला जाता है – खिर जाता है। विकल्प में एकत्व की गाँठ टूट गयी है, उस गाँठ को कौन जोड़े ? मेरी वस्तु में, राग की वृत्ति तीन काल में थी नहीं, है नहीं और होनी नहीं है; उसे मैं 'निज कैसे मानूँ ?'

अज्ञानी ने कभी निजघर नहीं देखा है, इसलिए उसे पुण्य-पाप में एकत्व हुए बिना नहीं रहता। जहाँ एकत्व माना है, वहाँ प्रेम हुए बिना नहीं रहता।

स्वरूप का भान और राग से उदासीनतारूप ज्ञान और वैराग्य की महिमा ऐसी है कि उसे परिणाम होने पर भी आस्रव नहीं होता। अखण्ड, अभेद, निज वस्तु की अस्ति की प्रतीति, वह ज्ञान है और राग की नास्ति, वह वैराग्य है। दूसरा कोई वैराग्य नहीं है। पुण्य-पाप के विकल्प के अभावरूप परिणमन, वह वैराग्य है।

जिस प्रकार रोगी व्यक्ति, अभिरुचि न होने पर भी औषधि का सेवन करता है; कड़वी-कड़वी ज़हर जैसी औषधि भी पानी की तरह पी जाता है। पीलिया रोग की औषधि तो अत्यन्त दुर्गन्धित होती है, तो भी पीता है। वहाँ यद्यपि रुचि तो ज़रा भी नहीं है, परन्तु रोग होने से पीनी पड़ती है; पीने का भाव ज़रा भी नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानियों को उदय की बलजोरीवश शुभाशुभ परिणामों में जुड़ना पड़ता है, परन्तु प्रेम ज़रा भी नहीं है। भाई ! यह तो अन्दर की बातें हैं। अन्दर में आत्मा के अलावा कहीं चैन नहीं पड़ता, परन्तु परिणाम ऐसे आते हैं कि किसी प्रकार समाधान हो, तदर्थ जुड़ता है – ऐसा भी कहा जाता है परन्तु वास्तव में रुचि नहीं होने से जुड़ता ही नहीं है, कमजोरी के कारण परिणाम आते हैं, उसका नाम कर्म में जुड़ान हुआ कहा जाता है। उनमें रस नहीं है, मज़ा नहीं है; फिर भी भोगते दिखता है, इसलिए कहा जाता है कि धर्मी भोग भोगता है।

उदय की बलजोरी अर्थात् अपने पुरुषार्थ की कमजोरी है और राग का पुरुषार्थ बढ़ गया है परन्तु राग का रस किञ्चित् भी नहीं है। रोम-रोम में राग का रस उड़ गया है, फिर भी राग आता है, इसलिए धर्मी भोग भोगते हुए दिखते हैं परन्तु अन्दर में महान अन्तर है। बहुत शौक से / रुचि से शरबत, मुरब्बा आदि चखनेवाले में और दवा खानेवाले रोगी के

www.vitragvani.com

रस में कितना अन्तर होता है ? वैसा ही अन्तर धर्मी और अधर्मी के परिणाम में है। अज्ञानी मौज के लिए गृद्धिपूर्वक भोग भोगता है और ज्ञानी उदय की बलजोरीवश, बिना रुचि के भोग भोगता है।

तेरहवें गुणस्थान तक योगों की प्रवृत्ति होने से आस्रव का होना रहता है। सर्वज्ञ होने पर भी थोड़ा आस्रव रहता है और चौथे गुणस्थान में तो सत्तर प्रकृतियों का बन्ध कहा जाता है। आत्मा का ज्ञान हो, आत्मा के आनन्द का अनुभव हो तो भी सत्तर प्रकृतियाँ तो बँधती हैं; फिर भी यहाँ ज्ञानी को निरास्रव कहने का अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्व की दशा में अनन्त संसार का मूल कारण मिथ्यात्व और उसके साथ अनुबन्ध करनेवाली अननतानुबन्धी की चौकड़ी का उदय नहीं रहता; इसलिए उस सम्बन्धी कर्म का बन्ध नहीं होता – इसकी मुख्यता से ज्ञानी को निरास्रव कहा है।

राग की एकताबुद्धि, महामिथ्यात्व और महापाप है। यह बात इसी अधिकार के नौवें कलश में आ गई है – **रागादियोगमुपयान्ति विमुक्त बोधाः।** जिसे आत्मा का भान हुआ है, उसे राग का योग होने पर भी, राग के साथ एकता नहीं है और अज्ञानी को बाह्य त्याग होने पर भी, राग के साथ एकता है। राग में एकता माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और राग से एकत्वबुद्धि तोड़नेवाला सम्यग्दृष्टि है।

अनन्त संसार का मूलकारण मिथ्यात्व है। चारित्र का दोष अनन्त संसार का कारण नहीं है, वह मूल संसार भी नहीं है। मिथ्यात्व ही मूल संसार है। पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा का स्वीकार नहीं है और शुभाशुभ भावों में ही 'मैं पना' का स्वीकार है, वह वस्तुतः संसार है। स्त्री-पुत्र, परिवार – यह संसार नहीं है; परन्तु उनमें राग की एकता करते है, वह संसार है। एक पुत्र हो या छह पुत्र हो; परन्तु जो उनमें राग की एकता करके बैठा है, वह एकता ही मिथ्यात्वरूप संसार है। संयोग को छोड़ने से मिथ्यात्व नहीं छूटता; क्योंकि संयोग कहीं अपने अन्दर घुस नहीं गया है। वास्तव में तो उसमें एकता की है, वह एकताबुद्धि ही छोड़ने योग्य है।

जो मिथ्यात्व के छोड़ने का तो उपदेश नहीं देता और घर-बार छोड़ दो, उनके प्रति द्वेष करो – ऐसा उपदेश देता है, वह अज्ञानी है। कोई बाहर का सबकुछ छोड़ दे परन्तु

www.vitragvani.com

मिथ्यात्व लेकर बैठा है, तो वह महासंसार लेकर बैठा है।

मुझमें बाह्य वस्तु तो है ही नहीं, उदयभाव भी मुझमें नहीं है – इस प्रकार उनसे पृथक् पड़ने पर मिथ्यात्व छूटा कहा जाता है। उदयभाव संसार है, उसे छोड़े बिना संसार नहीं छूटता। बाहर से तो अनन्तबार बाबा हुआ हे, साधु हुआ है, नग्न दिगम्बर मुनि हुआ है; एक लँगोटी भी नहीं रखी, परन्तु अन्दर में उदयभाव के प्रति एकताबुद्धि का अभाव नहीं किया तो उसे संसार खड़ा ही रहा है। जिससे पृथक् होना है, उससे तो पृथक् होता नहीं और अन्य से तो पृथक् ही है; उनसे (पृथक्रूप पदार्थों से) पृथक् होने की मान्यता ही मिथ्यात्व है।

अन्दर में जो शरीरादि में 'मैं पना', स्त्री-पुत्र, मकान, धनादि में 'मेरापना' और रागादिभावों में रस – ऐसा मिथ्यात्वभाव है – विपरीत श्रद्धान है, वह मूल संसार है। जिसने उस मिथ्याश्रद्धानरूप संसार का अभाव कर दिया है, उसे मिथ्यात्व के साथ अनुबन्ध करनेवाली अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रवृत्ति का आस्रव नहीं होता, संवर रहता है। धर्मी को सब कुल मिलाकर इकतालीस प्रकृतियों का संवर रहता है। धर्मी का स्वज्ञेय आत्मा है; रागादि, ज्ञानी का स्वज्ञेय नहीं है क्योंकि धर्मी की दृष्टि राग से हटकर, आनन्द पर पड़ी है। इसीलिए धर्मी की क्रिया अज्ञानी जैसी दिखने पर भी, उसे मिथ्यात्व सम्बन्धी इकतालीस प्रकृतियों का संवर है – इस कारण धर्मी को बन्ध नहीं होता।

धर्मी कदाचित् युद्ध में खड़ा हो, तब भी इकतालीस प्रकृतियों का संवर है और अज्ञानी ध्यान में बैठा हो तो भी उसे विकल्प के साथ एकता होने से सभी प्रकृतियों का आस्रव और बन्ध होता है। वह संयोग छोड़कर वन में चला गया होवे तो भी संयोगी भाव में एकताबुद्धि के कारण धर्म का त्यागी है और राग का भोगी है। जबकि धर्मी को राग होने पर भी, राग का त्याग है – ऐसे परिणाम के कारण उसे इकतालीस प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता तथा शेष प्रकृतियों का बन्ध भी बहुत ही अल्प अनुभाग और स्थितिवाला पड़ता है।

कर्म आठ प्रकार के हैं, उनकी एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ है – उत्तर भेद हैं। उनमें से समकिती को जितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है वह बन्ध अत्यन्त अल्प स्थिति और अल्प अनुभागवाला होता है और फिर (पाँचवें-छठवें गुणस्थान से तो) गुणश्रेणी

www.vitragvani.com

निर्जरा आरम्भ हो जाती है। गुणश्रेणी अर्थात् शुद्धपरिणति की धारा आरम्भ हो गयी है। जैसे पर्वत से झरना झरता है, वैसे ही द्रव्य में से शुद्धता झरती है, वह शुद्धता किसी समय बन्द नहीं रहती; इसीलिए अज्ञानी के सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण और तीव्रतम अनुभाग के सामने ज्ञानी का यह बन्ध कुछ भी गिनती में नहीं है; इस कारण ज्ञानी को निरास्रव कहा है।

भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु है, उसके साथ राग के छोटे से छोटे अंश का भी एकत्व माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि को अधिकतम ७० कोड़ाकोड़ी सागर फल प्रदायक दीर्घ स्थितिवाला कर्म बँधता है। उसके समक्ष ज्ञानी के अल्प स्थिति-अल्प अनुभागवाले कर्मबन्धन की कोई कीमत नहीं है - ऐसा मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का माहात्म्य है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का भेद समझे बिना इसे समझना कठिन है।

प्रश्न - यह वकालत आदि का धन्धा छोड़कर यहाँ बैठे है - इसकी कुछ कीमत नहीं है ? सब पानी में गया ?

उत्तर - इसने कभी धन्धा किया ही नहीं था। मानता था कि मैं धन्धा करता हूँ। स्वभाव के आश्रय बिना कर्ताबुद्धि का त्याग नहीं हो सकता।

लोगों को यह एकान्त जैसा लगता है परन्तु एक स्वभाव का आश्रय ही धर्म है - यह एकान्त है, वह सच्चा / सम्यक् है। अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा, राग से बँधा हुआ ही नहीं होने पर भी, उसे राग से बँधा हुआ मानता है, इस कारण मिथ्यादृष्टि को सत्तर कोड़ाकोड़ी जितनी दीर्घ स्थिति का बन्ध पड़ता है और जिसे राग की दृष्टि छोड़कर, स्वभाव की दृष्टि हुई, वहाँ राग का अभाव होकर परिणमन हुआ, उसे अल्प रागादि होते हैं, उनका अल्पस्थिति-अनुभागवाला कर्म का बन्ध पड़ता है, उसकी कुछ गिनती नहीं है।

६ संवर द्वार

प्रतिज्ञा (दोहा)

आस्त्रवकौ अधिकार यह, कह्यौ जथावत जेम।
अब संवर वरनन करौं, सुनहु भविक धरि प्रेम॥ १॥

अर्थ – आस्त्रव का अधिकार यथार्थ वर्णन किया, अब संवर का स्वरूप कहता हूँ, सो हे भव्यो! तुम प्रेमपूर्वक सुनो।

काव्य १ पर प्रवचन

आत्मभ्रान्ति, शुभाशुभभावों में सुखबुद्धि, पर के प्रति प्रेम... यह सब आस्त्रवभाव है, दु:खदायकभाव है। सुखदायक स्वभाव को छोड़कर जो कोई भाव होते हैं, वे सब आस्त्रवभाव हैं – अज्ञानभाव हैं – मिथ्याभाव हैं। यहाँ उनका ज्यों का त्यों वर्णन किया गया। अब, विकारी की उत्पत्ति को रोककर, स्वभावदृष्टिपूर्वक श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति का परिणमन होनेरूप से 'संवर' तत्त्व है, उसका कथन करते हैं। हे भव्यों! तुम उसे प्रेम से सुनो।

पण्डित बनारसीदासजी महाज्ञानी और कवि हो गये हैं। उन्होंने अमृतचन्द्राचार्य द्वारा रचित समयसार कलश पर पद्य में सवैया टीका की रचना की है। उसमें प्रथम ज्ञानरूप संवर को नमस्कार करते हैं।

ज्ञानरूप संवर को नमस्कार (सवैया इकतीसा)

आतमकौ अहित अध्यातमरहित ऐसौ,
आस्त्रव महातम अखंड अंडवत है।
ताकौ विसतार गिलिबेकौ परगट भयौ,
ब्रहमंडकौ विकासी ब्रहमंडवत है॥

www.vitragvani.com

जामैं सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ पै,
सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत है।
सोहै ग्यानभान सुद्ध संवरकौ भेष धरै,
ताकी रुचि-रेखकौं हमारी दंडवत है॥ २॥

अर्थ – जो आत्मा का घातक है और आत्म-अनुभव से रहित है – ऐसा आस्रवरूप महा अन्धकार अखण्ड अण्डा के समान जगत के सब जीवों को घेरे हुए है। उनको नष्ट करने के लिये त्रिजगत् विकासी सूर्य के समान जिसका प्रकाश है और जिसमें सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तथा आप उन सब पदार्थ के आकाररूप होता है, तो भी आकाश के प्रदेश के समान उनसे अलिप्त रहता है, वह ज्ञानरूपी सूर्य शुद्ध संवर के भेष में है, उसकी प्रभा को हमारा प्रणाम है।

काव्य २ पर प्रवचन

इस मङ्गलाचरण में धर्म और अधर्म का स्वरूप बतलाया गया है।

जो मिथ्यात्व और शुभाशुभभाव हैं, वे आत्मा का अहित करनेवाले हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय भोग-वासना – ये अशुभास्रव हैं और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, शास्त्र-वाँचन, श्रवण इत्यादि के भाव शुभास्रव हैं। जिस भाव से नया आवरण आता है, उस भाव को आस्रव कहा जाता है। आस्रवभाव, आत्मा के अनुभव से रहित हैं।

आत्मद्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध आनन्दघन चैतन्य है, उसमें तो विकार नहीं है परन्तु यहाँ तो उसकी पर्याय की बात चलती है।

अज्ञानी जीव को पर्याय में आत्मानुभव का अभाव है और विकार का सद्भाव है, जो कि आत्मा का अहित करनेवाला है। यह अज्ञानरूपी अन्धकार सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। उसका नाश करने के लिए संवर, सूर्य के समान है।

शुभ और अशुभभाव ज्ञानप्रकाश से विरुद्ध है। वे अज्ञानी जीव की पर्याय में अनादिकाल से अखण्डरूप से वर्त रहे हैं। अज्ञानी के अज्ञान में कभी खण्ड नहीं पड़ा है। जैसे अण्डा अखण्ड होता है, वैसे ही अज्ञान अखण्ड है।

www.vitragvani.com

चैतन्य ज्योति भगवान आत्मा तो शाश्वत् अनाकुल आनन्द से छलाछल भरा तत्त्व है परन्तु वर्तमान पर्याय में जो मिथ्यात्व और शुभाशुभभावरूप अज्ञान है, वह अनादि से अखण्डरूप से वर्त रहा है। अज्ञान में कभी दरार नहीं पड़ी है। अज्ञान कभी मन्द हुआ, तो भी दरार नहीं पड़ी है, वह अखण्डरूप से वर्त रहा है।

अज्ञानी जीव, जैन मुनि होकर नौवें ग्रैवेयक तक गया, तो भी आत्मज्ञान नहीं हुआ, वहाँ तक इसके अज्ञान में खण्ड नहीं पड़ता, वह तो अखण्ड है। देवलोक से इन्द्राणी डिगाने आवे, तो भी चलित न हो – ऐसा ब्रह्मचर्य का शुभभाव हो परन्तु उसमें एकत्वबुद्धि है। दया, दनादि सर्वभावों में एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है, उसके अज्ञान में खण्ड नहीं पड़ा है। उसको यह पता नहीं है कि मेरा द्रव्यस्वभाव कैसा है ? पर्याय में क्या है ? – इसलिए मात्र राग की मन्दता होने से अज्ञान का अभाव नहीं होता, वह तो अखण्डरूप से वर्तता है।

ताको विसतार गिलिबेकौं परगट भयौ – संवर क्यों प्रगट हुआ है ? – अज्ञान के विस्तार को गला देने के लिए संवर प्रगट हुआ है। आस्रव ने सम्पूर्ण जगत के सभी जीवों को अपने जाल में फँसा रखा है। कोई जङ्गल में जाकर साधु हुआ है, महाव्रत पालन करता है, तपस्या करता है – उसे भी आस्रव नहीं छोड़ता है। जब तक शुभाशुभभावों में एकत्व है, तब तक अज्ञानरूप आस्रव अखण्डरूप से वर्तता है। अखण्ड संसार पड़ा है, उसके विस्तार को गलाने के लिए / आस्रव का अभाव करने के लिए संवररूपी सूर्य प्रगट होता है, जो कि तीन लोक में प्रकाश फैलाता है। ये रागादि कोई भी भाव मैं नहीं हूँ, मैं तो चैतन्यसूर्य हूँ – ऐसे स्वभाव में एकत्व करता हुआ संवर सूर्य प्रगट होता है। वह (संवर सूर्य) आस्रव अन्धकार का नाश करता है और अलिप्त रहकर तीन काल–तीन लोक को प्रकाशित करता है। यह संवर ही धर्म है।

वस्तु तो त्रिजग प्रकाशक शक्ति लेकर बैठी ही है परन्तु पर्याय में जब राग से भिन्नता हुई – भेदज्ञान हुआ, तब वह ज्ञान सबको प्रकाशित करने लगा। वह ज्ञान राग को भी जानता है परन्तु अपना नहीं मानता। उस ज्ञान में तीन काल–तीन लोक को जानने की शक्ति का विकास हो जाता है। वस्तु तो त्रिकाल अखण्ड आनन्दस्वरूप ध्रुव प्रभु है और

www.vitragvani.com

उसकी पर्याय में जो ज्ञान का विकास हुआ है, वह भी तीन लोक को प्रकाशित करने की शक्तिवाला है। जहाँ सम्यक्त्व प्रगट होता है, वहाँ श्रुतज्ञान में तीन लोक को जानने की शक्ति प्रगट हो जाती है। अपने में रहकर अपना ज्ञान करने पर उसमें पर का ज्ञान आ जाता है।

मैं जानन-देखनहार वस्तु हूँ, इसलिए मेरा कार्य जानना-देखना है, शुभाशुभभावों में रमना मेरा कार्य नहीं है। जैसे अजगर, बकरा को निगल जाता है, उसी प्रकार चैतन्य सूर्य, राग को निगल जाता है - नष्ट कर देता है। मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द हूँ, शुभाशुभराग का अनुभव करनेवाला मैं नहीं हूँ।

जामैं सब रूप जो सब मैं सबरूप सौ पै - ऐसा ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ है कि उसमें जगत के सभी पदार्थों का रूप प्रकाशित होने लगा अर्थात् अपना ज्ञान, सर्वज्ञेयों के आकाररूप हुआ परन्तु ज्ञान किसी ज्ञेयरूप नहीं हुआ। ज्ञान में शरीर और रागादि ज्ञात होने लगे परन्तु ज्ञान (कभी) शरीर अथवा रागादिरूप नहीं होता।

यह बात तो जैनदर्शन का मक्खन है! धर्म कोई साधारण चीज नहीं है!!

ज्ञान प्रकाश होने पर ज्ञान में राग का ज्ञान होता है परन्तु ज्ञान, रागरूप नहीं होता तथा ज्ञान में सबको जानने की शक्ति प्रगट हो गई है परन्तु ज्ञान किसी चीजरूप नहीं होता। यह बात अभी किसी को जँचे या नहीं जँचे, परन्तु धर्म का स्वरूप तो ऐसा है। धर्म कहो, संवरदशा कहो, अनास्रवीदशा कहो, मोक्षमार्ग कहो - ये सब एकार्थवाची हैं।

जो भेदज्ञानरूपी प्रकाश प्रगट हुआ है, वह अपना रूप छोड़कर राग, व्यवहाररूप नहीं होता। धर्मी को राग, दया-दानरूप व्यवहार होता है - ऐसा कहना भी व्यवहार है।

प्रगट ज्ञान सर्व को जानता है, परन्तु सर्वरूप नहीं होता है।

भाई! यह तो प्रभु के पक्ष में चढ़ने की बात है। अनादि से राग के पक्ष का सेवन किया है, उसे छोड़कर अब प्रभु के पक्ष में आ। उसी में तेरा कल्याण है। अनादि से अखण्ड आस्रव है, उसका खण्ड नहीं, अपितु नाश करने की बात है। आत्मसन्मुखता के बिना आस्रव का नाश नहीं हो सकता। अखण्डस्वरूप आत्मप्रभु के आश्रय से ही आस्रव

www.vitragvani.com

का मूल में से नाश होता है; इसीलिए सोगानीजी ने कहा है कि 'चक्रवर्ती छह खण्ड को नहीं, अखण्ड को साधता है।' यह उसी अखण्ड चैतन्य प्रकाश की बात चल रही है।

जीव को विश्वास नहीं आता कि अरे! मैं इतना बड़ा! यह संवर तो एक अंश है, वेष है, सम्पूर्ण वस्तु नहीं।

श्रुतज्ञान में भी ज्ञान की ऐसी शक्ति प्रगट हो गयी है कि सर्व को जानती है, परन्तु सर्वरूप नहीं होती, तो वस्तु की ताकत कितनी!!

सबनिसौं अलिप्त आकास-खंडवत है - आकाश में कितने ही चित्राम करो, उनसे आकाश में कोई लेप नहीं लगता। आकाश तो सर्वव्यापक है, उसमें कितने ही बादल आदि हो, उनसे अमूर्तिक आकाश में क्या अन्तर पड़ेगा? चौदह ब्रह्माण्डरूप लोक के बाहर अनन्त... अनन्त भाग खाली आकाश है। अनन्त... अनन्त आकाश के मध्य में लोक तो एक परमाणु के समान है। उस लोक में कितना ही धुआँ करो अथवा कोई भी चित्राम करो परन्तु वे आकाश का स्पर्श नहीं करते, आकाश तो अलिप्त अर्थात् लेपरहित ही है। इसी प्रकार आत्मा अनन्त को जानने पर भी, उसमें किसी का लेप नहीं लगता, वह तो अलिप्त ही रहता है।

लोक में अनन्त वस्तुएँ हैं, उनसे अनन्तगुनी वस्तुएँ हो तो भी यह ज्ञान जानने की शक्ति रखता है। जब छद्मस्थ के श्रुतज्ञान में इतनी ताकत है, तो स्वभाव की महिमा का तो क्या कहना?

ज्ञान 'सबरूप' होता है अर्थात् 'ज्ञेयाकाररूप' होता है परन्तु ज्ञेयरूप नहीं होता। आलोक में खाली भाग (आकाश) के अतिरिक्त कोई चीज़ नहीं है परन्तु लोक में तो बड़े-बड़े कारखाने, पर्वत, नदियाँ इत्यादि कितनी विचित्र चीज़ें हैं परन्तु उनसे आकाश में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैसे आकाश निर्लेप हैं; वैसे ही जीव प्रत्येक वस्तु को जानता होने पर भी, उसमें किञ्चित् भी लेप नहीं लगता अर्थात् ज्ञान निर्लेप है। जैसे आकाश प्रत्येक वसतु को अवगाहन देता है, परन्तु आकाश को किसी का भार नहीं लगता; वैसे ही ज्ञान सर्व को जानता होने पर भी, ज्ञान में बोझा / भार नहीं होता। ज्ञान की पर्याय अनेक विचित्रताओं को जानने पर भी रागरूप नहीं होता - इसका नाम संवर है, इसका नाम धर्म है।

www.vitragvani.com

सोहै ग्यानभान सुद्ध संवर को भेष धरै – 'संवर' – यह पर्याय है, इसलिए वेष है। ज्ञानभानु ने संवर का वेष धारण किया है। इस संवर पर्याय का वेष शाश्वत् रहनेवाला नहीं है, संवर का अभाव होकर केवलज्ञान और मोक्ष हो जायेगा। यह केवलज्ञान और मोक्ष भी त्रिकाली द्रव्य के लिए तो एक वेष है।

पहले 'राग मेरा है, राग से मेरा कल्याण है, पुण्य से मुझे लाभ होता है' – ऐसा मानता था, वह आस्रव का वेष था। उसका अभाव करके ज्ञानभानु ने संवर का वेष धारण किया है – उसकी प्रभा को हमारा नमस्कार हो। **ताकी रुचि-रेख कौ हमारी दंडवत है** – सम्यग्दर्शनरूप रुचि और उसमें ज्ञान की रेखा को हम नमन करते हैं, हम रागादि अथवा पुण्यादि को नमन नहीं करते हैं।

वस्तुस्वभाव-पूर्णानन्द के नाथ भगवान आत्मा की ओर झुकाव होना ही संवर है। राग का सङ्ग छोड़कर भगवान आत्मा शुद्धता में आया, वहाँ जो संवर प्रगट हुआ, उसने राग का झण्डा तोड़ दिया है। संवर की विजय हुई है, उसने राग की सेना का नाश कर दिया है। मैं आत्मा अमर हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित हूँ और राग का लेप नहीं – ऐसी अलिप्त वस्तु हूँ।

प्रश्न – यह किस देश की बात है?

उत्तर – यह आत्मा के देश की बात है।

हम परदेशी पंछी साधु, इस देश के माँही रे,
आत्मअनुभव करके हम जाशु स्वरूप स्वदेश रे।...

हम इस राग और भरतक्षेत्र के नहीं है, हम तो पूर्णानन्द के नाथ के देश में बसनेवाले हैं। अहा! रचनाकार ने पद्य भी कैसा (अद्भुत) रचा है!

व्यावृत पररूपतो – पररूप से रहित हूँ, ज्ञेयाकार होते हुए भी ज्ञेयरूप नहीं होता हुआ मैं संवरस्वरूप हूँ। **ज्योति चिन्मय...** ज्ञान के तेज का भार प्रगट हुआ है, उस भार को राग सहन नहीं कर सकता, ज्ञान ही सहन कर सकता है।

यहाँ तो कहते हैं कि तीन काल-तीन लोक को जाननेवाले भगवान भी, मेरा भगवान नहीं है; मेरा भगवान तो मेरे पास ही विराजमान है। स्वयं ही अपना तारणहार और

www.vitragvani.com

तरणहार 'तारक' है। मेरी गुणदशा को ही मेरा नमस्कार है। बाह्य वेष अथवा पञ्च महाव्रतादि को मेरा नमस्कार नहीं है।

इस प्रकार यह पद्य हुआ।

भेदविज्ञान का महत्त्व (सवैया तेईसा)

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित,
भेद-विग्यान सुतीछन आरा।
अंतरभेद सुभाव विभाऊ,
करै जड़-चेतनरूप दुफारा॥
सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ,
न रुचै तिन्हकौं परसंग-सहारा।
आतमको अनुभौ करि ते,
हरखैं परखैं परमातम-धारा॥ ३॥

अर्थ - शुद्ध, स्वतन्त्र, एकरूप, निराबाध, भेदविज्ञानरूप तीक्ष्ण करौंत भीतर प्रवेश करके स्वभाव-विभाव और जड़-चेतन को जुदे-जुदे कर देता है। वह भेदविज्ञान जिनके हृदय में उपजा है, उन्हें शरीर आदि पर वस्तु का आश्रय नहीं सुहाता, वे आत्म-अनुभव करके प्रसन्न होते हैं और परमात्मा का स्वरूप पहचानते हैं।

भावार्थ - ज्ञान, परभाव से रहित है इसलिए शुद्ध है, निज-पर का स्वरूप बतलाता है इसलिए स्वच्छन्द है, इसमें कोई पर वस्तु का मेल नहीं है इसलिए एक है, नय - प्रमाण की इसमें बाधा नहीं है इसलिए अबाधित है। सो इस भेदविाान की पैनी करौंत जब अन्तर में प्रवेश करती है, तब स्वभाव-विभाव का पृथक्करण कर देती है और जड़-चेतन का भेद बतलाती है। इसमें भेदविज्ञानियों की रुचि परद्रव्य से हट जाती है। वे धन परिग्रह आदि में रहें तो भी बड़े हर्ष से परम तत्त्व की परीक्षा करके आत्मिकरस का आनन्द लेते हैं।

काव्य ३ पर प्रवचन

अब, दूसरे श्लोक के पद्यानुवादरूप इस पद्य में भेदविज्ञान का महत्व बतलाते हैं -

www.vitragvani.com

सुद्ध सुछंद अभेद अबाधित – शुभाशुभराग से भिन्न पड़नेवाला भेदज्ञान स्वयं पर्याय है, अवस्था है; त्रिकाली की अपेक्षा से तो अंश है, परन्तु शुद्ध है। सम्मेदशिखर की यात्रा करने का भाव शुभ है, उससे कदाचित् नरक और पशु गति का भव न भी हो, परन्तु भव का अभाव नहीं होता, क्योंकि वह शुद्धभाव नहीं है – धर्म नहीं है। सम्मेदशिखर से अनन्त जीव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। वे जिस भाव से मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, यहाँ उसी भेदज्ञान की बात चल रही है।

भेदविज्ञान कैसा है ? राग से भिन्न पड़कर आत्मा का आश्रय लेनेवाला भेदज्ञान कैसा है ? शुद्ध है और स्वच्छन्द है अर्थात् स्वतन्त्र है। ज्ञान के आश्रय से ज्ञान परिणमित होता है, उसे पर का आश्रय नहीं है। भेदज्ञान संवरस्वरूप है, इसलिए वह राग की मलिनता को उत्पन्न नहीं होने देता। ज्ञान की पर्याय किसी को गिनती नहीं। जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म का बँधता है, उस भाव को भी नहीं गिनती है, क्योंकि वह तो आस्रवभाव है। लोग तो तीर्थङ्कर नामकर्म के भाव से अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं कि अहो... ! उसके फल में तो भगवान को समवसरण की रचना होगी, तो इन्द्र प्रभु को पूजेंगे... ।

भाई ! लौकिक में से निकलने के लिए अलौकिक भाव होना चाहिए न ! यहाँ अलौकिक ऐसे भेदज्ञान की महिमा है। भेदविज्ञान शुद्ध, स्वच्छन्दी और स्वतन्त्र है। शुद्धात्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाले संवर में राग अथवा निमित्त की कोई अपेक्षा नहीं है।

तथा भेदविज्ञान अभेद है – इसका अर्थ यह है कि एकरूप है। ध्रुवस्वभाव का आश्रय लेने से एकरूप शुद्धदशा प्रगट होती है। शुद्धता के अंश भले ही बढ़ें परन्तु शुद्धता की दशा एकरूप रहती है। उसमें विकल्प की अनेकरूपता नहीं आती। राग में तो भेद पड़ता था, अब संवररूप शुद्धदशा में एकरूपता है, खण्ड नहीं पड़ता।

भेदविज्ञान 'अबाधित' है – दुनिया में कोई वस्तु भेदविज्ञान को विघ्न करनेवाली नहीं है। भले ही कैसा भी कर्मोदय आवे, वह भेदविज्ञान में प्रवेश नहीं कर सकता। मुझमें तो आनन्द और ज्ञान है, उसमें कर्म के उदय का प्रवेश नहीं है। 'मैं हूँ', 'कर्म नहीं' – ऐसा भेदज्ञान का ज़ोर है।

कर्म और विकल्प ने जीव को नहीं पकड़ा है। अज्ञानी जीव ने ऐसा मान लिया है

www.vitragvani.com

कि मुझे विकल्प ने पकड़ा हुआ है। जैसे तोता नलिनी पर बैठ गया और नलिनी उलटी हो गई, इससे तोता उड़ जाए तो नलिनी ने उसे पकड़ा नहीं है, परन्तु उसे स्वयं को लगता है कि नलिनी ने मुझे पकड़ रखा है, इसलिए स्वयं नहीं उड़ता। इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं विकल्प को पकड़कर पराधीन हो रहा है।

भेदविज्ञान शुद्ध है अर्थात् जिसे शरीर, वाणी, मन इत्यादि जड़ पदार्थों से भिन्न और शुभाशुभराग से भी पृथक् चैतन्यस्वभाव का ज्ञान हुआ है, वह ज्ञान शुद्ध है। जड़ तो चेतन से भिन्न है ही, परन्तु चैतन्य में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकार भी अपराध होने से, चैतन्य का स्वभाव नहीं है; उस राग से भिन्न पड़ा हुआ ज्ञान 'शुद्ध' है। इस शुद्ध भेदज्ञान से ही धर्म की शुरुआत होती है।

भेदविज्ञान स्वतन्त्र है। वह किसी निमित्त अथवा राग का सहारा नहीं लेता, इसलिए भेदज्ञान स्वच्छन्द अर्थात् स्वाधीन है तथा भेदज्ञान भेदरहित है – अभेद है – एकरूप है। विकल्प तो अनेक थे, उनसे भिन्न पड़कर प्रगट हुआ भेदज्ञान एकरूप है, उसमें अनेकता अथवा विविधता नहीं, अपितु एकरूपता है।

भले ही धर्म अर्थात् शान्ति के पन्थ में चढ़ता हुआ, पूर्ण शुद्ध मुक्ति के पन्थ में गमनशील भेदविज्ञानी – धर्मी जीव गृहस्थदशा में राजपाट में दिखायी दे, तथापि उसकी शुद्धस्वरूप में एकाकार दृष्टि है, उसमें भङ्ग नहीं पड़ता और न उसे कोई बाधा पहुँचा सकता है। जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो शुद्ध चैतन्य के ध्यान में धर्मी को विघ्न कर सके। इस प्रकार यह भेदविज्ञान अबाधित होता है।

जैसे गन्ने के रस और छिलके को भिन्न करके रस पिया जाता है, इसी प्रकार चेतन को शुभाशुभ राग और जड़ से भिन्न करने पर, उसका स्वाद आता है। मूल (संस्कृत) श्लोक में **चिद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं...** का यह अर्थ है। भाई! बात सूक्ष्म है! लोग मानते हैं, वैसा धर्म का रूप नहीं है। भगवान की भक्ति करना, पूजा करना, व्रत करना, दान देना – इत्यादि कोई धर्म नहीं है; यह सब तो शुभभाव है, राग है।

प्रश्न – ये धर्म नहीं है, परन्तु धर्म का कारण तो होते हैं न?

उत्तर – राग, धर्म का कारण कैसे हो सकता है; भेदज्ञान की तीक्ष्ण धारा के द्वारा

www.vitragvani.com

चैतन्यरूप और राग को भिन्न कर देने पर धर्म होता है। जैसे करौत चलाने पर वह लकड़ी के दो भाग कर देती है; वैसे ही भेदज्ञानरूपी करौत को चलाने पर ज्ञानानन्दस्वभावी चैतन्य और पुण्य-पापरूपी राग भिन्न पड़ जाते हैं। भेदज्ञानी जीव को राग की वृत्ति तो उत्पन्न होती है परन्तु चैतन्यस्वभाव, राग से भिन्न भासित होता है और चैतन्यस्वभाव से राग भिन्न भासित होता है – ऐसा भेदज्ञान वर्तता है, उसे ही धर्म अर्थात् सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

अंतरभेद सुभाव विभाऊ, करे जड़-चेतनरूप दुफारा दुफारा अर्थात् दो टुकड़े / भाग कर देता है। एक ज्ञानानन्द का भाग और दूसरा राग-विकल्प का भाग, दोनों को भिन्न कर देता है। जीव को अनादि से संसारदशा में राग तो है ही, राग नहीं हो तब तो परिभ्रमण करना ही नहीं रहे। (भेदज्ञानी जीव) उस राग को अपने स्वभाव से भिन्न जानता हे। जैसे कोई चूरमा खा रहा हो और कङ्कर मुँह में आ जावे, तो तुरन्त ही कङ्कर को अलग कर देता है और माल खा जाता है; इसी प्रकार धर्मी जीव, राग के कङ्कर को भिन्न कर देता है और अकेले ज्ञानानन्द के स्वाद का अनुभव करता है।

किसी को ऐसा लगता है कि इन लोगों को कुछ करन-धरना है तो नहीं और आनन्द लेना चाहते हैं – ऐसा कहकर मज़ाक करता है.... परन्तु भाई! यहाँ तो 'करना सो तो मरना है।' सत् चिदानन्द प्रभु आत्मा स्वयं परमात्मा है, उसे पहचानना ही 'करना' है। चिदानन्द प्रभु को विभाव से भिन्न अनुभव करना और जड़ से पृथक् पड़ जाना बस, यही करना है, इसके फल में आनन्द... आनन्द... आनन्द है।

सो जिन्हके उरमैं उपज्यौ, न रुचे तिन्हकौं परसंग सहारा – जिसे विकल्प और निर्विकल्प तत्त्व के बीच भेद उत्पन्न हुआ है, उसे किसी परद्रव्य का सहारा अथवा विकल्प का सङ्ग नहीं रुचता है। उसे शुभाशुभराग का परिचय नहीं रुचता हे। अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव की रुचि हुई है, उसके समक्ष तो राग ज़हर के समान लगता है – रुचता नहीं है।

आतम को अनुभौ करि ते, हरखै परखैं परमातम-धारा – धर्मी जीव निज आत्मा का अनुभव करके, आनन्द का वेदन करता है और मेरा शुद्ध ध्रुव चैतन्यस्वरूप ही परमात्म स्वरूप है – ऐसा परख लेता है।

www.vitragvani.com

भगवान त्रिलोकनाथ हो या प्रतिमा हो, उनके प्रति होनेवाला भक्ति का भाव राग है – शुभभाव है; आत्मा का स्वभाव नहीं है। धर्मी को प्रसन्नता तो आत्मा के आनन्द की है परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि उसे भगवान के प्रति भक्ति आदि का शुभराग उत्पन्न ही नहीं होता। वस्तुत: उसे राग उत्पन्न तो होता है परन्तु उसमें धर्मबुद्धि नहीं है।

धर्मी परीक्षा करके शुद्धस्वभाव को परख लेता है कि 'यही परमात्मा है।' उसका लक्ष्य ध्रुव पर जाता है तो उसकी परख होकर आनन्द का स्वाद आता है। 'पर्याय को ध्रुव में झुकाना' – इस कथन का आशय पर्याय का लक्ष्य ध्रुव पर जाता है, वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। यद्यपि उपयोग सदा ही ध्रुव पर नहीं होता परन्तु लब्ध में आनन्द तो सदा होता है। आत्मा में ही आनन्द भरा है – ऐसा भान निरन्तर रहता है, उसकी दृष्टि तो चौबीसों घण्टे ध्रुव पर ही पड़ी है, राग पर उसकी दृष्टि नहीं है। धर्मी राग को जानता है – ऐसा कहना भी व्यवहार है क्योंकि राग को जानने का लक्ष्य नहीं है, राग जानने में आ जाता है। इसका कारण यह है कि अपना स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है। मैं राग को जानूँ – ऐसा भाव नहीं है।

ज्ञान के अस्तित्व में स्व और पर का ज्ञान रहता है। ज्ञान, द्रव्य के साथ अभेद हुआ, इसलिए द्रव्य जैसा शुद्ध है, वैसी शुद्धता पर्याय में प्रगट होती है – ऐसा होने पर भी ध्रुव और पर्याय एक नहीं हो जाते। भाई! वस्तुस्थिति बहुत सूक्ष्म है।

यहाँ तो कहते हैं कि अनुभव रस का वेदन करने पर, यह आत्मा है सो ही परमात्मा है – ऐसी परख हो जाती है। आत्मा ही परमात्मा है – ऐसा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, परन्तु परख हो जाती है। पर्याय का झुकाव / सन्मुखता पूर्ण शुद्ध ध्रुवस्वरूप की ओर है, इसलिए मैं ही परमात्मा हूँ – ऐसा अनुभव में आता है – इस कारण दूसरा कोई परमात्मा है और उसने जगत को बनाया है, इसलिए मेरा कर्त्ता ईश्वर है – इस भ्रान्ति का अभाव हो जाता है। यह सब चौथे गुणस्थान की बात है, इसमें ऐसा अनुभव होता है। श्रावक की दशा तो इससे भी उत्कृष्ट है और मुनिदशा तो अत्यन्त उत्कृष्ट है; परन्तु दृष्टि तो चौथे गुणस्थान से ही ध्रुव पर है।

आत्मवस्तु अत्यन्त निराली है। शरीर और कर्म से तो आत्मवस्तु भिन्न है ही, परन्तु

www.vitragvani.com

राग से भी भिन्न पड़े, तब उसका निराला अनुभव होता है। यह बात सम्प्रदाय में – बाड़ा में कहीं नहीं है। बाड़ा में तो छिलके होते हैं, सांठा / गन्ना / रस नहीं होता। आनन्द अमृत का गन्ना तो वस्तु के अनुभव में ही प्राप्त होता है।

इसमें कहीं पैसों से बड़ा होने की बात नहीं है। पैसा तो विशाल कत्लखाना चलानेवाले के पास भी बहुत होता है। अमेरिका में डेड माईल के विस्तार में जिसका कत्लखाना है, उसके पास कितने पैसे होंगे? एक वैश्या के पास भी करोड़ रुपये हों, तो उससे क्या है? जीव का बड़प्पन रुपयों से नहीं है।

एक 'पोप' विदेश से मुम्बई आया था, तो लोगों ने उसे मोटरें, पैसा और इतनी वस्तुएँ भेंट दी थी कि वह विशाल जहाज में भरकर वापस विदेश गया – इससे क्या हुआ? यह सब तो धूल-मिट्टी है। यहाँ तो यह कहते हैं कि इन वस्तुओं से जीव का बड़प्पन तो नहीं है, अपितु इन्हें अपना माननेवाले जीव 'मूढ़' हैं, जड़ हैं।

अरे! दया, दान, व्रत, भक्ति का राग उत्पन्न होता है, वह मेरा कल्याण करनेवाला है अथवा मुझे धर्म करने में सहायता करेगा – ऐसा माननेवाला भी मूढ़ है, दीन है, दुःखी है, भिखारी है, पापी है। भाई! ऐसी बात है। धनरूपी धूल में तो कुछ नहीं, परन्तु शुभराग से भी कुछ लाभ नहीं है। यह भाव न तो मेरा स्वभाव है और न तुझे इससे लाभ होनेवाला है; इसलिए इस भाव से पृथक् पड़ और पृथक् है – ऐसा ज्ञान कर, तो तू स्वतन्त्ररूप से परमात्मा को पहिचान सकेगा।

ज्ञान, परभाव से रहित है, इसलिए शुद्ध है। पुण्य-पाप के भाव से ज्ञानस्वभाव रहित है, इसलिए शुद्ध है – यह पहला बोल हुआ। ज्ञान निज-पर का स्वरूप बतलाता है, इसलिए स्वतन्त्र है। शरीर और राग है, इसलिए आत्मा को ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। ज्ञान का जानने का स्वभाव होने से, स्व-पर का जानना स्वतन्त्ररूप से ज्ञान से ही होता होने से ज्ञान स्वतन्त्र है। ज्ञान को, ज्ञेय को जानने के लिए ज्ञेय की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान स्व और पर को जानने की स्वतन्त्र सामर्थ्य रखता है, इसलिए ज्ञान को परतन्त्रता नहीं है। यह दूसरा बोल हुआ।

ज्ञान एक है, क्योंकि उसमें किसी परवस्तु का मिश्रण नहीं है। अनादि-अनन्त ज्ञान

www.vitragvani.com

एकरूप है, ज्ञान में राग के अंश का भी मिश्रण नहीं है। धर्मी ने ऐसे निराले ज्ञानस्वरूपी आत्मा को जाना है और अनुभव किया है; इसीलिए उसे भेदज्ञानी कहा जाता है।

प्रथम ज्ञान में स्वीकार तो बहुत आता है कि पर्याय में विकार था, विकार में अन्य वस्तु का लक्ष्य था, अन्य वस्तु के बिना विकार नहीं होता, विकार पर्याय होने से नवीन उत्पन्न होती है और नष्ट भी होती है; स्वभाव अनादि-अनन्त शुद्ध है, आत्मा में गुण नये उत्पन्न नहीं होते अथवा नष्ट नहीं होते; गुण तो सदा ही है... है... है... - ऐसी समझ पर्याय में हुई - वस्तुस्थिति का ख्याल आया, तभी उसका लक्ष्य आत्मा पर गया है; क्योंकि आत्मा की स्थिति का ख्याल आये बिना, आत्मा में यथार्थरूप से झुकाव / सन्मुखपना नहीं हो सकता। वस्तु सदा ही सदृशरूप है और उत्पाद-व्यय में विसदृशता है - यह सब ख्याल आने पर ही अन्तर्सम्मुखता हो सकती है।

ज्ञान 'अबाधित' है, क्योंकि उसमें नय-प्रमाण की बाधा नहीं है। निश्चयनय से ध्रुव शुद्ध है, व्यवहारनय से अशुद्ध है - ऐसा पहले विकल्प से निर्णय करता था, उसे छोड़कर (अब) स्वरूप का अनुभव करता है, उसमें ज्ञान को बाधा नहीं आती।

जब भेदविज्ञान की ऐसी तीक्ष्ण करौत अन्दर प्रवेश करती है, तब स्वभाव-विभाव का पृथक्करण कर देती है और जड़-चेतना का भेद बताती है। जैसे हंस की चोंच दूध में पड़ते ही दूध और पानी को भिन्न कर देती है; इसी प्रकार भेदज्ञान की तीक्ष्ण धार पड़ते ही आत्मा में स्वभाव और विभाव का पृथक्करण हो जाता है। तात्पर्य यह है कि तीक्ष्ण ज्ञान चैतन्य और राग को भिन्न कर देता है - यह भेदविज्ञान की 'क्रिया' है। इस क्रिया की सूझ नहीं पड़ने से लोग दूसरी क्रिया में कूद पड़े हैं।

भेदविज्ञानी ने पर को अपने से भिन्न जान लिया है, इसलिए परद्रव्य के प्रति उसकी रुचि छूट जाती है, परद्रव्य के प्रति प्रेम छूट जाता है। हजारों रानियों का संयोग दिखने पर भी अन्तरङ्ग में उनके प्रति प्रेम छूट गया है। जब से अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ, उसका प्रेम हुआ, तभी से परद्रव्यों की रुचि छूट जाती है; इसलिए ज्ञानी धन-परिग्रहादि में रहता है, तो भी अत्यन्त आनन्द से परम तत्त्व की परीक्षा करके, आत्मिकरस का आनन्द

www.vitragvani.com

लेता है। वह सबसे निराला निज प्रभु को पहिचान कर उसका आनन्द लेता है, उसे किसी बाह्य वस्तु की रुचि नहीं रहती।

इस प्रकार यह काव्य पूर्ण हुआ।

सम्यक्त्व से सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूप की प्राप्ति (सवैया तेईसा)

जो कबहूं यह जीव पदारथ,
औसर पाइ मिथ्यात मिटावै।
सम्यक धार प्रवाह बहै गुन,
ज्ञान उदै मुख ऊरध धावै॥
तो अभिअंतर दर्वित भावित,
कर्म कलेस प्रवेस न पावै।
आतम साधि अध्यातम के पथ,
पूरन ह्वै परब्रह्म कहावै॥ ४॥

अर्थ – जब कभी यह जीवपदार्थ मौका पाकर मिथ्यात्व नष्ट करता है और सम्यक्त्वरूप जल की धारा में बहकर ज्ञानगुण के प्रकाश में ऊपर को चलता है, तब उसके अन्तरङ्ग में द्रव्यकर्म और भावकर्म का दुःख कुछ असर नहीं करता। वह आत्मशुद्धि के साधन अनुभव के मार्ग में लगकर परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त होता है। उसी को परमात्मा कहते हैं।

भावार्थ – अनन्त संसार में संसरण करता हुआ जीव कभी काललब्धि, दर्शनमोहनीय का अनुदय और गुरु–उपदेश आदि का अवसर पाकर तत्त्वश्रद्धान करता है तब द्रव्यकर्म वा भावकर्मों की शक्ति शिथिल हो जाती है और अनुभव के अभ्यास से उन्नति करते–करते कर्मबन्धन से मुक्त होकर ऊर्ध्वगमन करता है अर्थात् सिद्धगति को प्राप्त होता है।

काव्य ४ पर प्रवचन

अब, इस तीसरे कलश के चौथे काव्य में सम्यक्त्व से सम्यग्ज्ञान और आत्मस्वरूप की प्राप्ति बतलाते हैं।

www.vitragvani.com

भगवान आत्मा अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। अनन्त गतियों में अनन्त-अनन्त भव करता आया है। काल की कोई आदि नहीं है, इससे अनादि से यह जीव निगोद के, नरक के, तिर्यञ्च के भव में परिभ्रमण कर रहा है। यह जीव अनन्त बार धनाढ्य भी हुआ है, गरीब हुआ है, स्वर्ग में गया है... सभी भव कर चुका है। इस प्रकार अज्ञान में अनन्तभव में किये, उसमें कहीं नवीनता अथवा विशेषता नहीं है। भगवान आत्मा के समक्ष पर की कीमत ही नहीं है।

प्रभु! तू तो सत् चिदानन्द अखण्डानन्द साहेब है। तुझमें क्या कमी है? तुझमें क्या अपूर्णता है? तू एक पूर्ण वसतु है। तेरी प्रभुता में कचाश क्या है? यह तो तेरी प्रभुता के स्वीकार करने का अवसर आ गया है। आनन्दघनजी लिखते हैं कि 'अवसर पाकर चूकना नहीं साहेब...' भाई! अनन्तबार मनुष्यपना मिला, त्यागी भी अनन्तबार हुआ, धर्म के नाम पर बहुत क्रियाएँ की, वैरागी हुआ परन्तु आत्मा क्या चीज है? इसकी खोज-खबर कभी नहीं ली।

औसर पाइ मिथ्यात्व मिटावै - यदि अवसर पाकर जीव मिथ्यात्व का अभाव करता है तो कर्म का नाश होता है। देखो, कर्म नाश होते हैं तो मिथ्यात्व का अभाव होता है - यह नहीं कहा है। जीव को रागवाला, कर्मवाला, पुण्यवाला मानना मिथ्यात्व है - भ्रम है। अब, आत्मा अपनी पहिचान करे तो 'मैं तो आनन्दमूर्ति आत्मा हूँ' - ऐसा अनुभव हो और भ्रम का अभाव हो जाए, मिथ्यात्व मिट जाए और ज्ञानधारा सम्यक् प्रकार से एकरूप धारा से बहने लगे। ज्ञान की धारा स्वभाव-सन्मुख ही जाए। मूल कलश में **कथमपि धारावाहिना बोधनेन...** शब्द है, उसका भाव यह है कि जो अनादि से राग की एकताबुद्धि की धारा बहती थी, उसे पृथक् करके ज्ञान की धारा बहने लगी। वह स्वरूप की धारा ही धर्मधारा है। वह पर्याय है - दशा है परन्तु शुद्ध और स्वतन्त्र है, पराधीन नहीं है।

अध्यात्म की बात बहुत कड़क है। शुभराग की क्रिया में तो दुनिया को कुछ दिखता भी है... यात्रा निकाले, मन्दिर बनावे तो लोग कुछ जानते हैं। भाई! यह क्रियायें राग को बतलाती है। जाननेवाला (भगवान आत्मा) तो उस काल में भी क्रिया और राग से भिन्न है।

www.vitragvani.com

उरध मुख – अनादि से अधोमुखदशा थी, अब उरधमुख दशा हुई। जीव पुण्य-पाप को निज मानकर अनुभवता था, वह उसकी अधोदशा के लक्षण थे; उससे भिन्न पड़कर ज्ञान, स्वभावसन्मुख हुआ, वहाँ उसकी परिणति शुद्ध आनन्द में बहने लगती है। राग से पृथक् पड़ी हुई इस परिणति में कर्म प्रवेश नहीं कर सकते। जिनसे स्वयं पृथक् पड़ा है, वे कर्म अब प्रवेश नहीं कर सकते और ज्ञान की धारा तो बढ़ती ही जाती है, उसमें कर्म के क्लेश का प्रवेश कैसे सम्भव है ?

शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान की धारा में द्रव्यकर्म का प्रवेश तो है ही नहीं परन्तु भावकर्म का भी प्रवेश उसमें नहीं है, वहाँ तो विकल्पमात्र का प्रवेश नहीं है। **आतम साधि अध्यात्म के पथ, पूरन है परब्रह्म कहावे** – अन्तर में आत्मा का आश्रय लेकर, राग का आश्रय छोड़कर, अन्तर्आनन्द के पन्थ में चढ़ा हुआ वह जीव अध्यात्म के पन्थ में आ गया है। वह अन्तर में आत्मा का साधन साधते-साधते पूर्ण हो जाता है। जब तक पूर्णदशा नहीं होती, तब तक स्वभाव-सन्मुखता का साधन करता ही रहता है। अन्तर में एकाग्रतारूप साधक धारा पूर्णता प्राप्त होने तक चालू ही रहती है। जैसे परमात्मा पूर्ण हैं, वैसी ही अपनी पूर्णदशा हो जाने का नाम परमब्रह्म कहलाता है अर्थात् जैसा अपना पूर्ण ध्रुव है – स्वरूप है, वैसा पर्याय में प्रगट होने को परब्रह्म कहा जाता है। वरना दूसरा कोई इस जगत का कर्त्ता-हर्त्ता-ईश्वर अथवा परब्रह्म नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की महिमा (सवैया तेईसा)

भेदि मिथ्यात सु बेदि महारस,
भेद-विज्ञान कला जिह्न पाई।
जो अपनी महिमा अवधारत,
त्याग करैं उर सौंज पराई॥
उद्धत रीति फुरी जिह्न के घट,
होत निरंतर जोति सवाई।
ते मतिमान सुवर्न समान,
लगै तिह्नकौं न सुभासुभ काई॥ ५॥

www.vitragvani.com

अर्थ – जिन्होंने मिथ्यात्व का विनाश करके और सम्यक्त्व का अमृतरस चाखकर ज्ञानज्योति प्रकट की है, अपने निजगुण-दर्शन, ज्ञान, चारित्र ग्रहण किये हैं, हृदय से परद्रव्यों की ममता छोड़ दी है और देशव्रत, महाव्रतादि ऊँची क्रियाएँ ग्रहण करके ज्ञानज्योति को सवाया बढ़ाया है, वे विद्वान् सुवर्ण के समान हैं; उन्हें शुभाशुभ कर्ममल नहीं लगता।

काव्य ५ पर प्रवचन

भेद मिथ्यात सु बेदी महारस, अनादि से अज्ञानी की मिथ्यामान्यता है कि मैं पुण्य-पापवाला हूँ, निमित्त के संगवाला हूँ, पर्याय जैसा हूँ... उस मिथ्यात्व को जिसने अपने असङ्ग पदार्थ की दृष्टि से टाला है और चैतन्य का महारस चखा है – ऐसे जीवों की बात है। उसे भी पहले मिथ्यात्व था – यह सिद्ध किया। मिथ्याश्रद्धा में मिथ्यादृष्टि, राग और द्वेष के विकल्पों की अशान्ति का वेदन करता था, उसे ही करता था और इतना ही मैं हूँ – ऐसा मानता था। अब उसने भेदविज्ञान की कला से उस मिथ्यात्व का भेदन कर दिया – अधर्म की जहरीली दशा का छेदन कर डाला... किस प्रकार? कि पूर्ण शुद्ध आनन्दकन्द निज आत्मा का आश्रय लेकर मिथ्यात्व का भेदन कर दिया है। मिथ्यात्व को छेदने (छिन्न-भिन्न करने) की यह एक ही रीति (उपाय) है। मिथ्यात्व नष्ट होते ही आत्मा का महा-आनन्दरस प्रगट होता है, उसे धर्मी वेदन करता है।

जब तक निज वस्तु का भान नहीं था, तब तक पर में सुखबुद्धि और पर में दुःखबुद्धि होती थी, जिससे काल्पनिक सुख और दुःख का वेदन होता था – वह वास्तव में ज़हर का वेदन था – अधर्मदशा थी, उसे धर्मी ने भेदकर और महारस का वेदन किया। कवि ने 'भेदि' और 'बेदि' का सुमेल किया है। पाप के परिणाम में सुखबुद्धि होना, यह तो मिथ्यात्व भाव है ही परन्तु शुभभाव में हितबुद्धि होना, वह भी मिथ्यात्व है। ऐसे मिथ्यात्व का जिसने भेदन कर दिया और आत्मा के अतीन्द्रिय महा-आनन्दरस का वेदन किया, उसे एक क्षण का अनुभव भी महाअमृत का स्वाद है। मिथ्यात्व के अनन्त काल के अनुभव में मात्र ज़हर का अनुभव हुआ था, उसे छेदन करनेवाला है।

www.vitragvani.com

ये करोड़पति और अरबोंपति गिने जाते हैं। वे सब ज़हर का अनुभव करनेवाले हैं। रुपया स्वयं ज़हर नहीं है परन्तु 'वे मेरे हैं' ऐसी अज्ञानी जीव की मान्यता स्वयं ज़हर है। इसलिए कहते हैं कि पैसेवाले ज़हर का अनुभव करते हैं। हम पैसेवाले, हम बड़े ईमानदार अधिकारी – ऐसा अनुभव है, वह ज़हर का अनुभव है। पैसा ज़हर नहीं परन्तु उसके ऊपर जो राग का रंग चढ़ा है, वह ज़हर है।

भेद-विज्ञान कला जिह्न पाई। भेदविज्ञान कहते ही दो चीज सिद्ध होती है। एक चीज में भेदज्ञान हो नहीं सकता। एक तरफ अखण्डानन्द प्रभु आत्मा है तथा दूसरी तरफ शरीर, कर्म और राग-द्वेष है परन्तु अनादि से जीव वह सब एक वस्तु के समान मानता है। अनादि से भेद तो है परन्तु भेदविज्ञान नहीं है, वह भेदविज्ञान की कला से प्रगट होता है। यह भेदविज्ञान जिसे प्रगट हुआ है उसे पुण्य-पाप परिणाम और उसके फल में प्राप्त संयोगों के ढेर की महिमा नहीं होती।

जिसने अपने शुद्धस्वभाव की महिमा का ग्रहण किया है, उसे ही धर्मी कहते हैं। पुण्य-पाप और उसके फल में प्राप्त वस्तु से जिसे अपनी अधिकाई लगती है – संयोगों से अपनी महानता भासित होती है, वह धर्मी नहीं है। अपने स्वभाव के अतिरिक्त अन्य सभी संयोगों या भावों में महिमा-अधिकता-विशेषता जानते हैं तो वह भाव स्वयं मिथ्यात्व है। धर्मी के ऐसे भाव नहीं होते। यह शुभभाव करूँगा तो मरकर स्वर्ग में जाऊँगा – ऐसी भव की या भाव की धर्मी की महिमा होती ही नहीं है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक या मुनि मरकर स्वर्ग में ही जाते हैं, व्यन्तर, भवनवासी या ज्योतिषदेव में नहीं जाते, वैमानिकदेव ही होते हैं, देवी नहीं होते... परन्तु कहते हैं कि धर्मी को भव की महिमा नहीं है, उसे तो अपने स्वरूप की महिमा है। स्वर्ग में उस देव के पास आकर देवियाँ अरबों रुपयों के हीरे के स्वस्तिक रचकर देव की महिमा करे तो भी इस धर्मी देव को उसकी महिमा नहीं आती। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती स्वयं मनुष्य है और इन्द्र उसके मित्र होकर समीप आकर सिंहासन पर बैठे परन्तु धर्मी को उसकी महिमा नहीं है। जो निज महिमा में रत है, उसे अन्य किसकी महिमा आवे!

निजमहिमरतानां भेद विज्ञानशक्त्या.... ये शब्द मूल श्लोक में है न! जिसने

www.vitragvani.com

पुण्य-पाप के राग से भिन्न करके निज चैतन्य का अनुभव किया, ऐसे सम्यग्दृष्टि को स्वयं अपने स्वरूप की महिमा ही ग्रहण होती है, अन्य किसी की महिमा नहीं आती। स्वभाव की महिमा की खबर नहीं है, वह तो पर की महिमा में रच-पच गया है। दस-बारह पुत्र हों, इतनी बहुएँ हों, प्रत्येक के अलग-अलग आभूषण, पुत्री को गौणा अच्छा किया हो, दामाद को हजारों के हीरे दिये हों, मान-प्रतिष्ठा अच्छी हो, उसकी जगत् में महिमा गिनी जाती है परन्तु इसमें धूल की महिमा नहीं है। चमड़े का शरीर, उसकी चमड़े के साथ सगाई की हो, उसमें महिमा किसकी करनी! यहाँ तो सम्यग्दृष्टि ने अनन्त आनन्द के नाथ के साथ सगाई की है, उसकी महिमा है।

आनन्दघनजी ने भजन में लिखा है : 'समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवार सु गाढ़ी' समकीति ने अनन्त गुण के नाथ के साथ सगाई की गाँठ बाँधी है। अब विवाह करके केवलज्ञान करना इतनी ही देर है। फिर सम्यग्दृष्टि सदा के लिए स्वघर चला जायेगा। ऐसे समकीति के आत्मा के आनन्द की महिमा के सामने जगत् की किसी वस्तु की महिमा नहीं है, साक्षात् तीर्थङ्कर के समवसरण और वाणी की भी स्वभाव के सामने महिमा नहीं है।

त्याग करैं उर सौंज पराई - धर्मी जीव निज महिमा में आसक्त है और राग से लेकर '**सौंज**' अर्थात् परवस्तु की महिमा का त्यागी है। यह 'त्याग' ही वास्तविक त्याग है। हृदय में पर का ममत्व रखकर बाह्य से त्याग करे, वह त्यागी नहीं है। धर्मी के पाप और पाप के फल का ही त्याग है - ऐसा नहीं है। पुण्य और पुण्य के फल की भी धर्मी को महिमा नहीं है, उसके हृदय में उन सबका त्याग है। मेरी चीज-चैतन्यदेव ही है, अन्य कुछ मेरा नहीं है। मिथ्यात्व का त्याग होते ही विकल्पादि का भी त्याग दृष्टि में से हो जाता है। रागादि का बहुमान उड़ जाता है। श्रेष्ठ में श्रेष्ठ तीर्थङ्करनामकर्म प्रकृति जिस भाव से बँधे, उसका भी धर्मी की दृष्टि में त्याग है। निज वस्तु और वस्तु की दशा के ध्येय में अन्य सर्व का दृष्टि में से त्याग है।

उद्धत रीति फुरी जिह्न के घट - राग और कर्म के निमित्त को नहीं गिनता, अपने शुद्धस्वरूप की गणना करते हुए धर्मी जीव आगे बढ़ता जाता है। अपने उन्नति क्रम में

www.vitragvani.com

स्वभाव का पर्वत चढ़ता जाता है। हृदय में से परद्रव्यों की ममता छोड़ दी है और देशव्रत, महाव्रतादि उत्तम क्रियाएँ ग्रहण करता जाता है। अन्दर में शुद्धि की वृद्धि होती जाती है, तब विकल्प में उसके अनुरूप राग की मन्दता होती जाती है। निर्मल पुरुषार्थ की उग्रता द्वारा अखण्ड ज्ञान की धारा अन्दर में बढ़ती जाती है, उसे उद्धतधारा कहा है। कर्म को गिनता नहीं, राग को गिनता नहीं – ऐसा धर्मी एक अपनी चीज को ही गिनता है। अपने स्वभाव और गुण को ही गिनता हुआ धर्मी जीव अन्य किसी को गिनती में लेता नहीं – ऐसा उद्धत हो गया है। पिता कमाकर पुत्र को देते हैं और जहाँ पुत्र कमानेवाला हो जाता है, वहाँ उसे पिता की कोई गिनती नहीं होती, एक तरफ बिठा देता है, ऐसी उद्धतता की यह बात नहीं है। यहाँ तो बाह्य अनुकूलता या प्रतिकूलता किसी को नहीं गिनता धर्मी स्वयं के स्वभाव की श्रेणी में आगे बढ़ जाता है, उसकी बात है। इसका नाम ही संवर है।

अन्तर में स्वभाव की महिमा लाकर, विकल्पमात्र की महिमा छोड़कर, स्वभाव का आश्रय लेकर आगे बढ़ता जाता है – ऐसे धर्मी को संवर है। **होत निरंतर जोति सवाई...** सवैया का सुमेल बिठाकर 'सवाई' वृद्धि कहा है, वरना निरन्तर वृद्धि होती जाती है – ऐसा कहना है। चैतन्य ज्योत भगवान, पूर्ण आनन्द-ज्ञानस्वरूप मूर्ति, निरन्तर उद्धत रीति से सवाई वृद्धि करता हुआ आगे बढ़ता जाता है।

ते मतिज्ञान सुवर्ण समान – जिसे आत्मा अनुभव में आया है, वह मतिमान है क्योंकि उसने झूठी वस्तु का त्यागकर सच्ची वस्तु का ग्रहण किया है। सम्यग्दृष्टि स्वर्ण के समान है। जैसे, स्वर्ण को जङ्ग नहीं लगता, वैसे सम्यग्दृष्टि को पुण्य-पाप के परिणाम का मैल नहीं लगता। शुद्धता में वृद्धि होती जाती है, उसमें मैल नहीं लगता। कवि ने कैसा कहा है! लोग कहते हैं कि – 'दो रोटी के टुकड़ो, उसे भगवान ढूंकड़ो....' यहाँ कहते हैं कि संवर में आनन्द का टुकड़ो, उसे भगवान ढूंकड़ो है। अनुभव रस को टुकड़ा लेता है, उसे भगवान ढूंकड़ो-समीप है। अनुभवरस धर्मी की खुराक है।

संवर अर्थात् शुद्धि की उत्पत्ति; निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि और मोक्ष अर्थात् शुद्धि की परिपूर्णता... ये किस द्वारा होती है? – भेदज्ञान से ही संवर-निर्जरा और मोक्ष होता है। यह बात अब छट्ठे पद्य में कवि कहते हैं।

www.vitragvani.com

भेदज्ञान, संवर निर्जरा और मोक्ष का कारण (अडिल्ल छन्द)

भेदग्यान संवर-निदान निरदोष है।
संवरसौं निर्जरा, अनुक्रम मोष है॥
भेदग्यान सिवमूल, जगतमहि मानिये।
जदपि हेय है तदपि, उपादेय जानिये॥ ६॥

अर्थ – लोक में भेदविज्ञान निर्दोष है, संवर का कारण है; संवर, निर्जरा का कारण है और निर्जरा, मोक्ष का कारण है। इससे उन्नति के क्रम में भेदविज्ञान की परम्परा मोक्ष का कारण है। यद्यपि वह त्याज्य है तो भी उपादेय है।

काव्य ६ पर प्रवचन

भेदविज्ञान में भगवान आत्मा का विकल्प से भिन्न करके अनुभव किया जाता है; इसलिए भेदविज्ञान निर्दोष है और संवर का कारण है अर्थात् धर्म है। शुद्धात्मा में-राग से रहित निर्विकल्प तत्त्व में – आरूढ़ होते ही संवर होता है – शुद्धि की शुरुआत होती है और वह संवर ही शुद्धि की वृद्धि का कारण है। निर्जरा में शुद्धता बढ़ती जाती है और अशुद्धि टलती जाती है। भेदविज्ञान नहीं करे और निर्जरा करने के लिए लांघन करे, उससे संवर नहीं होता। लंघन तो भगवान के सामने त्रांगा (नाटक) करने जैसा है। निर्विकल्प निराकुलस्वरूप भगवान आत्मा के सामने त्रांगा करना तो क्लेश का भाव है। संवर तो राग से भिन्न, आत्मा की निर्दोष दशा है। संवरपूर्वक आत्मा में विशेष स्थिरता हुई, वह निर्जरा है और वृद्धि होते ही पूर्णरूप से स्वरूप में स्थिर हो जाना, वह मोक्ष है। समयसार में भी आता है कि भेद अभ्यास करते-करते चारित्र आता है।

भेदग्यान सिवमूल – भेदज्ञान ही मोक्ष का मूल है क्योंकि भेदज्ञान से ही अनुक्रम से संवर-निर्जरा की वृद्धि होते-होते मोक्ष होता है। चैतन्य मूर्ति परमात्मा की भेंट अन्तर में होती है, उसे ही संवर होता है, उसे ही शुद्धता बढ़ते-बढ़ते निर्जरा होती है और उसे ही शुद्धता की पूर्णता होते ही मोक्ष होता है। इस प्रकार मोक्ष का मूल कहो या कारण कहो वह भेदज्ञान ही है।

एक विकल्प से लेकर शरीरादि सब परपदार्थ से भिन्न भगवान आत्मा अनुभव में

www.vitragvani.com

आता है – ये ही भेदज्ञान है – वह ही मोक्ष का मूल है। जगत् में मोक्ष का मूल इसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

जदपि हेय है... भेदज्ञान अधूरी दशा है, इसलिए हेय है। जैसा केवलज्ञान का पूर्ण स्वरूप है – ऐसा यह नहीं है। भेदज्ञान में शरीरादि, वह मैं नहीं हूँ, यह चैतन्य मैं हूँ – ऐसा भेद पड़ता है और अपूर्णदशा है, इसलिए हेय है, तो भी परम्परा से मोक्ष का कारण होने से उपादेय है।

मोक्ष का असली (वास्तविक) कारण तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव है परन्तु भेदविज्ञान के बिना संवर-निर्जरा नहीं होती और संवर-निर्जरा के बिना मोक्ष नहीं होता; इसलिए प्रथम अवस्था में भेदज्ञान उपादेय है, परम्परा मोक्ष का कारण है। मोक्ष होने के पश्चात् उसका कोई प्रयोजन नहीं है। कार्य होने के पश्चात् कारण की आवश्यकता नहीं होती। पूर्ण पर्याय प्रगट होने के पश्चात् अधूरी पर्याय नहीं रहती। इसलिए भेदज्ञान प्रथम अवस्था में उपादेय है, पूर्ण होने के पश्चात् हेय है अर्थात् होता ही नहीं।

देखा! भेदज्ञान अंश है और भेदरूप है; इसलिए वह उपादेय नहीं है, हेय है। अभेद पूर्णानन्द की प्राप्ति होना उपादेय है।

अब, इस छट्ठे कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि जब तक ज्ञान, ज्ञान में स्थिर न हो जाये, तब तक निरन्तर भेदज्ञान करना, बाद में किसी विकल्प का अवकाश नहीं है। इस के लिए कविवर सातवाँ पद्य लिखते हैं।

आत्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर भेदज्ञान हेय है (दोहा)

भेदग्यान तबलौं भलौ, जबलौं मुकति न होइ।
परम ज्योति परगट जहां, तहां न विकलप कोइ॥ ७॥

अर्थ – भेदविज्ञान तभी तक सराहनीय है, जब तक मोक्ष अर्थात् शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती और जहाँ ज्ञान की उत्कृष्ट ज्योति प्रकाशमान है वहाँ कोई भी विकल्प नहीं है। (भेदविज्ञान तो रहेगा ही कैसे?)।

काव्य ७ पर प्रवचन

लोगों को ऐसा होता है कि इसमें करना क्या? भाई! अन्तर्मुख होना और बहिर्मुखता

www.vitragvani.com

से भिन्न करना – ये तुम्हारे करने का है। ज्ञानी मुनि का मात्र बाह्य तपादि देखकर तप करने लग जाये परन्तु अन्तर देखकर निर्मलता प्रगट नहीं करे तो तेरा काम नहीं होगा। पूर्व में सेठानी का दृष्टान्त देते हैं न! लखपति की सेठानी हंडिया में चावल बनाती थी तो ऊपर फेना दिखता था। उसे देखकर एक गरीब स्त्री बाजार से फेना ले आई और बनाने बैठी कि सेठानी बनाती है, इसलिए उसमें से कुछ निकलेगा परन्तु कहाँ से निकलेगा! हो तो निकले न! सेठानी से पूछा तब ज्ञात हुआ कि वह तो चावल बनाती थी। वैसे ही, धर्मी जीव को महाव्रत अणुव्रतादि का पालन करते देखकर तू भी पालन करने लगे तो तेरे हाथ में कुछ नहीं आयेगा, क्योंकि धर्मी के पास अन्तर में प्रगट शुद्धता तेरे पास कहाँ है ? राग से भिन्न आनन्दकन्द का कस धर्मी के पास अन्तर में पड़ा है। उसके बिना मात्र व्रत–तपादि करने से मुक्ति नहीं होती।

ऋषभदेव भगवान को छह महीने आहार नहीं मिला परन्तु वे तो अतीन्द्रिय आनन्द में (रहते थे) लीन थे, भोजन की इच्छा की वृत्ति ही टूट गई थी। भगवान को देखकर कोई अभी बहुत वर्षी तप करता है और फिर पैसा खर्च करे और वाह वाह होती है परन्तु उसके पास आत्मा का – अन्तर का आनन्द और शान्ति कहाँ है!

यहाँ तो कहते हैं कि जब तक मुक्ति नहीं होती, तब तक पर से भिन्नता का भाव होता है। जहाँ पूर्णरूप से पर से और विभाव से भिन्न हो गया, वहाँ भेद करने का कोई विकल्प नहीं रहता।

अब सातवें कलश में कहते हैं जब तक केवलज्ञान नहीं होता, तब तक अविछिन्न धारा से भेदज्ञान निरन्तर चालू रखना, बीच में खण्ड पड़ने मत देना। बादाम में से तेल निकालना हो तो एक धारा से घोटे तभी तेल निकलता है। वैसे ही भेदज्ञान एक धारा से भाना चाहिए, उसमें विच्छेद मत पड़ने देना क्योंकि भेदज्ञान की परम्परा, मोक्ष का कारण है। जो कोई सिद्ध हुए, वे भेदज्ञान से ही हुए हैं और जो कोई (सिद्ध) नहीं हुए, वे भेदज्ञान के अभाव से नहीं हुए। निरन्तर राग से भिन्नता का अनुभव किया करे तो ही राग से सर्वथा भिन्न होकर ज्ञान, ज्ञायक में स्थिर हो जाए, ठहर जाए। इसलिए भेदज्ञान परम्परा मोक्ष का कारण है। ऐसा आठवें पद्य में कहते हैं।

www.vitragvani.com

भेदज्ञान परम्परा मोक्ष का कारण है (चौपाई)

भेदज्ञान संवर जिह्न पायौ।
सो चेतन सिवरूप कहायौ॥
भेदग्यान जिह्न के घट नांही।
ते जड़ जीव बंधैं घट मांही॥ ८॥

अर्थ – जिन जीवों ने भेदज्ञानरूप संवर प्राप्त किया है, वे मोक्षरूप ही कहलाते है और जिनके हृदय में भेदविज्ञान नहीं है, वे मूर्ख जीव, शरीर आदि से बँधते हैं॥ ८॥

काव्य ८ पर प्रवचन

भेदज्ञान संवर जिह्न पायो अर्थात् भेदविज्ञान से ही सिद्ध होता है। जिस किसी ने मुक्ति प्राप्त की, वह भेदज्ञान से ही प्राप्त की है। कोई व्यवहार क्रिया से या दया–दानादि मुक्ति प्राप्त की हो – ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं है। व्यवहार के राग से भी भिन्न होकर, स्वभाव का आश्रय लेकर प्रत्येक जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। व्यवहार को रखकर कोई जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, व्यवहार की शरण से मुक्ति नहीं होती।

जिसके अन्तर में भेदविज्ञान का अभाव है, जो राग से भिन्न नहीं हुआ, राग को एकपने मानकर अनुभव करता है, वह जीव जगत् में बँधता है।

दो कारणों से कार्य नहीं होता, उपादान से ही कार्य होता है, उसके साथ निमित्त होता है परन्तु उससे कार्य नहीं होता। राग से भिन्न होकर अन्तर में जाता है, तब मुक्ति को प्राप्त करता है। अमुक निमित्त के होने से मुक्ति प्राप्त होती है – ऐसा नहीं है। लक्ष्मी तिलक करने आये, तब मुँह धोने नहीं जाया जाता, भाई! उपादान तैयार हो, तब निमित्त की राह देखना नहीं होता! तकरार करना रहने दे बापू! जो कोई मुक्ति को पाया है, वह भेदज्ञान से ही पाया है और नहीं प्राप्त की, वह भेदज्ञान के अभाव में प्राप्त नहीं की – ऐसी बेधड़क एक ही बात है। जिस किसी को बन्धन हुआ है, वह कर्म का निमित्त था, इसलिए बन्धन हुआ – ऐसी दूसरी बात ही नहीं की। अशुद्ध उपादानवाला, राग की एकता करके बन्धन हुआ और शुद्ध उपादानवाला, राग में से एकता तोड़कर मुक्ति को प्राप्त किया। यहाँ तो यह एक बात को लिया है।

www.vitragvani.com

भेदज्ञान से आत्मा उज्ज्वल होता है (दोहा)

भेदग्यान साबू भयौ, समरस निरमल नीर।
धोबी अंतर आतमा, धोवै निजगुन चीर॥ ९॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टिरूप धोबी, भेदविज्ञानरूप साबुन और समतारूप निर्मल जल से आत्मगुणरूप वस्त्र को साफ करते हैं॥ ९॥

काव्य ९ पर प्रवचन

यह, श्री नाटक समयसार शास्त्र है। संवर द्वार के आठवें कलश में अमृतचन्द्राचार्य फरमाते हैं कि भेदज्ञान से आत्मा उज्ज्वल होता है, भेदज्ञान से धर्म होता है। यह भेदज्ञान अर्थात् क्या ? पुण्य-पाप के शुभाशुभ विकल्परूप राग से स्वयं के ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को भिन्न करके अनुभव करना, इसका नाम भेदज्ञान है। इस भेदज्ञान से ही धर्म की शुरुआत होती है।

भेदज्ञान से भिन्न आत्मा की उज्ज्वलता बताने के लिए बनारसीदासजी नौंवे पद्य में लिखते हैं।

बहुत सादी भाषा! साबुन और पानी से धोबी कपड़े धोकर साफ करते हैं, वैसे ही भेदज्ञानरूप साबुन और समतारूपी पानी से अन्तरात्मा अपने गुणरूपी वस्त्र को धोकर साफ करता है।

अन्तरात्मा कहो या समकिती कहो एक ही है। जिसने अपने शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निजात्मा को राग से भिन्न होकर अनुभव किया है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आत्मा के अनुभव से ही धर्म की शुरुआत होती है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप को छोड़कर शरीर, वाणी, मन और शुभाशुभराग पर है, विभाव है, दोषरूप भाव है, उन्हें अपना मानता है, वह तो बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव है। कदाचित् बाह्य से वह साधु हुआ हो तो भी अन्तरङ्ग में तो बहिरात्मबुद्धि से वर्तता हुआ वह मिथ्यादृष्टि ही है, वह जैन नहीं।

निज शुद्ध ध्रुव नित्यानन्द ज्ञानस्वरूप आत्मा को अपना जानकर, जो राग से अपने ज्ञान को भिन्न रखता है, उसे सम्यग्दृष्टि-धर्मी-अन्तरात्मा कहने में आता है। उसका

www.vitragvani.com

स्वरूप यहाँ धोबी की उपमा देकर समझाया है कि धर्मी, भेदज्ञानरूपी साबुन से क्रम-क्रम से राग को भिन्न करता जाता है, और समतारस से राग को निकालता जाता है। इस प्रकार धर्मी अपने ज्ञान-आनन्दगुणरूपी वस्त्र को धोता है, इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों की बात आ जाती है। धर्मी को शुभ और अशुभ दोनों भाव में समभाव है, दोनों से वैराग्य है, इसलिए समरसरूपी निर्मल नीर से धर्मी अपनी परिणति में से राग-द्वेष के मैल को निकाल देते हैं। उसका ही नाम 'भेदज्ञान' और धर्म है।

देहादि तो जड़-मिट्टी है, उसके साथ धर्मी का कोई एकत्व नहीं है। अन्दर में दया-दान, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव और विषय-कषायादि अशुभभाव उठते हैं, वे दोनों प्रकार के भाव विभाव हैं, विकार हैं, उन दोनों को भेदकर भेदज्ञानी हुआ है - ऐसा अन्तरात्मा अपने समतारस में मलिनपरिणाम को धोता है, उसका नाम संवर है। अनुवाद में लिखा है - देखो! सम्यग्दृष्टिरूप धोबी, भेदविज्ञानरूप साबुन और समतारूप निर्मल जल से आत्मगुणरूप वस्त्र को साफ करता है, वह अन्तरात्मा है।

अब, दसवें पद्य में भेदविज्ञान की क्रिया का दृष्टान्त देते हैं -

भेदविज्ञान की क्रिया के दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसे रजसोधा रज सोधिकैं दरब काढ़ै,
पावक कनक काढ़ि दाहत उपलकौं।
पंकके गरभमैं ज्यौं डारिये कतक फल,
नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकौं॥
दधिकौ मथैया मथि काढ़ै जैसे माखनकौं
राजहंस जैसैं दूध पीवै त्यागि जलकौं।
तैसैं ग्यानवंत भेदग्यानकी सकति साधि,
वेदै निज संपति उछेदै पर-दलकौं॥ १०॥

अर्थ - जैसे रजसोधा धूप शोधकर सोना-चाँदी ग्रहण कर लेता है, अग्नि धातु को गलाकर सोना निकालती है, कर्दम में निर्मली डालने से वह पानी को साफ करके मैल हटा देती है, दही का मथनेवाला दही मथकर मक्खन को निकाल लेता है, हंस दूध पी लेता

www.vitragvani.com

है और पानी छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानी लोग भेदविज्ञान के बल से आत्म-सम्पदा ग्रहण करते हैं और राग-द्वेष आदि वा पुद्गलादि परपदार्थों को त्याग देते हैं।

काव्य १० पर प्रवचन

धूल धोनेवाले मनुष्य रज, पीली कटकी, पीतल और सोना (स्वर्ण) इन सबको उनके लक्षणों से भिन्न-भिन्न पहचानते हैं, इससे धूल में से स्वर्ण को पृथक् कर लेते हैं। स्वर्ण का वजन, चिकनापन, पीलापन आदि पीतल और चूड़ी के सूक्ष्म कणों से भिन्न होता है, उसे पहचानकर धूल धोनेवाले सोने को अलग कर लेते हैं; वैसे धर्मी-ज्ञानी जीव, शरीर की क्रिया, कर्म की क्रिया, राग की क्रिया इन सबके बीच से ज्ञान की क्रिया द्वारा स्वयं को भिन्न कर लेते हैं। देह की क्रिया तो जड़ है, कर्म के उदय की क्रिया से संयोग मिले हैं और राग-द्वेष होते हैं, यह भी मेरी क्रिया नहीं है। शुभाशुभ विकल्प उठते हैं, उसमें अशुभविकल्प तो चूड़ी के छोटे टुकड़े जैसे हैं और शुभविकल्प पीतल के टुकड़े जैसे हैं, वह भी स्वर्ण की जाति नहीं। मेरे ज्ञान और आनन्द की क्रिया ही मेरी है - ऐसा धर्मी ज्ञान और आनन्दस्वभाव को राग से भिन्न करके अनुभव करते हैं।

यह तो बनारसीदासजी ने भेदज्ञानी की क्रिया को पहचानने के लिए सुन्दर दृष्टान्त दिया है। भेदज्ञानी धर्मी जीव, शरीर और राग की क्रिया से भिन्न अपने स्वरूप को पहचानकर आनन्द और ज्ञान की क्रिया का अनुभव करते हैं और रागादि क्रिया को दूर करते हैं। अज्ञानी को ऐसा भेदज्ञान करना कठिन लगता है परन्तु वह कठिन नहीं है। तुम चैतन्यप्रकाश का पूर हो प्रभु! तेरी क्रिया तुझमे ही है। ज्ञानस्वभाव तेरी चीज है, शुभाशुभ विकल्प तेरी चीज नहीं है। इसलिए धूल धोनेवालों की भाँति तुम भी शरीर की और राग की क्रिया से अपनी ज्ञान क्रिया को पृथक् पहचान कर, राग को पृथक् कर दे और ज्ञान और शान्ति का अनुभव कर!

यह तो दुनिया से भिन्न जाति की बात है!

दूसरा दृष्टान्त... जैसे अग्नि अन्य धातु को गला देती है और स्वर्ण को पृथक् कर देती है, वैसे धर्मी अपनी ज्ञानाग्नि से रागादि अशुद्धि को जला देते हैं और शुद्ध ज्ञान को

www.vitragvani.com

पृथक् कर देते हैं। इस प्रकार, धर्मी आनन्द और ज्ञानरूप निजसम्पत्ति का वेदन करते हैं और **उछेदे पर दलकौं** – पुण्य-पाप के विकल्प का उच्छेद कर देते हैं।

देखो! यह धर्मी की भेदज्ञान की क्रिया!

तीसरा दृष्टान्त... कीचड़वाले जल में जैसे फिटकरी (निर्मली) औषधि डालने से कीचड़ निकल जाता है और स्वच्छ जल हो जाता है, वैसे धर्मी जीव भले ही नारकी शरीर में हो, स्त्री हो या पुरुष हो परन्तु पर से अपने स्वरूप को भिन्न जानकर, राग को दूर करते हैं और अपने स्वरूप की साधना करते हैं। किस प्रकार? – अपने निर्मल स्वभाव की दृष्टि करके निर्मलता को अनुभव करते हैं और रागादि मलिनता को नितार देते हैं – दूर करते हैं।

चौथा दृष्टान्त... **दधि को मथैया मथि काढैं जैसे माखन कौं** – जैसे, दही का मंथन करके मथैया मक्खन निकाल लेते हैं और छाछ को दूर कर देते हैं, वैसे ही धर्मी राग से भिन्न करने की मन्थन क्रिया से अपने शुद्धस्वरूपरूप मक्खन को पृथक् कर लेते हैं और रागादिरूप छाछ को छोड़ देते हैं।

पाँचवाँ दृष्टान्त... जैसे दूध और पानी एकसाथ होने पर भी राजहंस दूध पी लेता है और पानी को छोड़ देता है, वैसे, **तैसे ज्ञानवंत भेदज्ञान की सकति साधि, वेदै निज संपति उछेदै पर-दलकौं.....** धर्मी ज्ञान का अनुभव करते हैं और राग को छोड़ देते हैं।

आज भगवान के जन्मदिवस पर पाँच तो दृष्टान्त दिये। भाई! भगवान! तुम तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप प्रभु हो। तेरी क्रिया तो राग से भिन्न ज्ञान और आनन्द, तेरी क्रिया है – ऐसा भगवान महावीर ने केवलज्ञान में जाना है और दिव्यध्वनि में कहा है।

ज्ञानी, भेदविज्ञान के बल से निज आत्मसम्पदा को ग्रहण करते हैं और राग-द्वेषादि तथा पुद्गलादि परपदार्थों को त्याग कर देते हैं। शुभाशुभविकल्प जीव का स्वभाव नहीं होने से पुद्गल है, उसे धर्मी छोड़ देते हैं। यहाँ तो आनन्दस्वरूप निज सम्पत्ति का वेदन करते हैं और अनात्मा ऐसे रागादि के अनुभव को छोड़ देते हैं, वह आत्मा है।

श्रोता : आप तो हमें सबसे भिन्न कराते हो?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न हो इसलिए भिन्न हो सकते हो। भिन्न न हो तो भिन्न नहीं हो सकते। जीव को रागादि मलिनता से भिन्न शुद्धस्वरूप का अनुभव कराने के लिए यहाँ पाँच तो दृष्टान्त दिये – धूल धोनेवालों का, अग्नि का, निर्मली औषधि का, दही के मंथन का और राजहंस का। प्रभु! तेरा चैतन्यदल, आनन्दस्वरूप है। शरीर तो जड़ होकर रहता है, पुण्य-पाप के विकल्प आस्रव होकर रहते हैं और तुम तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप होकर रहते हो! इसलिए तुम स्वरूप का अनुभव करा तो राग दूर हो जायेगा। उपदेश में कथन ऐसा आता है कि राग दूर कर! परन्तु राग दूर हो जाता है।

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकीनाथ ने आत्मा को महा महिमावन्त कहा है, उसकी महिमा समझकर उसके आनन्द का वेदन करना और राग की महिमा छोड़ देना, उसका नाम भेदज्ञान है। उससे धर्म होता है। पैसा मिलने से या दान में देने से धर्म नहीं होता।

पैसे मेरे हैं, मैं पैसा दान में देता हूँ, उससे मुझे धर्म होगा... ऐसा माननेवाला तो महामिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।

तू आत्मा हो तो तुझमें कोई शक्ति है या नहीं! राग और पुण्य-पाप में ही तेरी शक्ति है? भाई! तेरी शक्ति तो अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दमय है। उस शक्ति की सम्भाल करना और रागादि की सम्भाल छोड़ देना, उसका नाम भेदज्ञानरूपी धर्म है।

मोक्ष का मूल भेदविज्ञान है (छप्पय छन्द)

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै॥
छय करि विभाव समभाव भजि,
निरविकलप निज पद गहै।
निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर,
परम अतींद्रिय सुख लहै॥ ११॥

अर्थ – भेदविज्ञान, आत्मा के और परद्रव्यों के गुणों को स्पष्ट जानता है, परद्रव्यों

www.vitragvani.com

से आपा छोड़कर शुद्ध अनुभव में स्थिर होता है और उसका अभ्यास करके संवर को प्रगट करता है, आस्रव द्वार का निग्रह करके कर्मजनित महा-अन्धकार नष्ट करता है, राग-द्वेष आदि विभाव छोड़कर समताभाव ग्रहण करता है और विकल्परहित अपना पद पाता है तथा निर्मल, शुद्ध, अनन्त, अचल और परम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करता है।

काव्य ११ पर प्रवचन

अब, ग्यारहवें पद्य में बनारसीदासजी 'भेदविज्ञान को मोक्ष का मूल' कहते हैं –

यहाँ तो एकदम मक्खन है! जिसे शरीर, वाणी, मन, शुभ-अशुभभाव से अपनी आत्मा भिन्न है – ऐसा भेदविज्ञान प्रगट होता है, वह अपने गुण और पर के गुण को स्पष्ट जानता है। भेदविज्ञान के बिना जीव को अपने या पर के गुण जानने में नहीं आते। ज्ञानी अविरत सम्यग्दृष्टि हो तो भी यह अपने ज्ञान, आनन्द गुणरूप स्वभाव को जानते हैं और रागादि परभाव है – ऐसा जानते हैं। शरीर तो जड़ है, इसलिए परगुण है – अपना नहीं परन्तु शुभाशुभ राग भी परगुण हैं; जीव का स्वगुण-स्वभाव नहीं है। अज्ञानी को ऐसा समझना मुश्किल लगता है, क्योंकि उसकी नजर स्वगुण के ऊपर पड़ी ही नहीं और नजर पड़े बिना यह समझ में आये ऐसा है नहीं। आत्मदृष्टिवन्त, भेदविज्ञानी अपने आत्मज्ञान के बल से ऐसा जानते हैं कि मैं तो ज्ञान, दर्शन, आनन्दस्वरूप हूँ। दया-दान, व्रतादि विकल्प मेरे गुण नहीं, वे तो परगुण हैं।

यह तो निश्चय की / अध्यात्म की बात है, उसमें व्यवहार कुछ नहीं आया? – आया न! व्यवहार से मैं भिन्न हूँ – ऐसा जानकर दृष्टि में से व्यवहार को छोड़ देना और स्वभाव को ग्रहण करना, यह भेदविज्ञान है। दृष्टि में से व्यवहार को छोड़ना।

प्रगटे भेदविज्ञान आपगुन परगुन जानै – राग की मलिनता से निर्मल आनन्द प्रभु को पृथक् जानकर अनुभव करना, वह भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान होते ही अपने गुण और पर के गुण जानने में आते हैं। अपनी ज्ञान-आनन्द की परिणति, वह निजगुण है और रागादि की परिणति, वह परगुण है। ज्ञानी को परपरिणति का लक्ष्य छूटकर, निज स्वभाव का लक्ष्य हुआ है, उससे परपरिणति का त्याग हुआ है – ऐसा कहने में आता है। पुण्य-पापभाव का अनुभव तो मलिन है। उसे छोड़कर शुद्ध अनुभव में स्थिर रहे – उसमें

www.vitragvani.com

एकाकार होवे – वहाँ दृष्टि में एकाकार हुआ तो जन्म-मरण का अभाव हो, इसके बिना बातें करने से जन्म-मरण का अभाव हो – ऐसा है नहीं।

लौकिक में भी कहावत है कि बातें करने से बड़े नहीं बनते। दाल हो, तेल हो, आटा हो और बड़े को तलते हैं, तब ही बड़ा बनता है। जैसे, वह क्रिया करे तो बड़े बनते हैं, वैसे राग से भिन्न हो तो अनुभव होता है, उसमें आत्मा प्रगट हो और जन्म-मरण का अभाव हो।

राग के परदे के पीछे पवित्र सत् चिदानन्द प्रभु सिद्ध समान विराजता है परन्तु उसके ऊपर दृष्टि नहीं है। इससे उसकी महिमा नहीं आती, अधिकता नहीं समझ लगती। जो एक बार राग से भिन्न पवित्र प्रभु को दृष्टि में लेता है, वह तो फिर उसके शुद्ध अनुभव में ही स्थिर हो जाता है। रागादि का त्यागकर शुद्ध चैतन्यदल में स्थिरता करता है, इसका नाम 'अभ्यास' है। शास्त्र का अभ्यास, वह अनुभव का अभ्यास नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द के अभ्यास से स्वाभाविक धर्म-संवर प्रगट होता है; शेष व्रत करने से या यात्रा करने से, तप करने से धर्म प्रगट नहीं होता। चैतन्य के अभ्यास से ही धर्म प्रगट होता है। ये लड़के लौकिक शिक्षा की परीक्षा के लिए कितनी मेहनत करते हैं परन्तु आत्मा के अभ्यास के लिए किसी को समय नहीं मिलता... तो कब मर जायेगा, तब समय मिलेगा? माया ने चारों ओर (तरफ) घेरा डाला हुआ है!!

प्रभु! तुम ज्ञानानन्दस्वरूप चीज हो, तुम ज्ञान, आनन्द और शान्ति से खाली नहीं परन्तु वह तेरी चीज क्या है, उसमें क्या भरा है? – उसका अभ्यास अनन्त काल में कभी नहीं किया। धर्म के नाम पर बाह्य क्रिया ही की है; अनुभव का अभ्यास कभी नहीं किया। अनुभव का अभ्यास करे तो सहज संवर-स्वाभाविक धर्मदशा प्रगट होता है।

आस्त्रव द्वार निरोधि, करमघन तिमिर विनासै – पुण्य-पाप की वृत्ति उठती है, वह विकार है, आस्त्रव है और बन्ध का कारण है। ऐसे आस्त्रवद्वार का अनुभव के अभ्यास द्वारा निरोध होता हुआ कर्मजनित महाअन्धकार नष्ट हो जाता है और चैतन्यप्रकाश झलक उठता है।

ऐसे चैतन्यप्रकाश से अज्ञात हो और युवा शरीर हो, त्वचा थोड़ी सुन्दर हो, धनवान

www.vitragvani.com

हो, आमदनी अच्छी हो उसे तो मानों मैं बड़ा और गली सँकरी- इसके जैसा मिथ्या अभिमान हो जाता है। लोग ऐसा कहते हैं कि हमारे कुल में यह कर्मी पका है। हाँ, कर्म का कर्ता यह कर्मी ही है, धर्मी नहीं, अधर्म करनेवाला है।

बापू! तेरी वस्तु तो कोई पृथक् ही है, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है परन्तु इसे कहाँ खबर है? जहाँ-तहाँ सुख के लिये झपट्टे मारता है। धर्मी हो फिर उसे भी स्त्री, पुत्र, राजपाट आदि तो होता है परन्तु अन्दर में उससे अपने को भिन्नपने अनुभव करता है, बाहर से सुख नहीं मानता।

छय करि विभाव समभाव भजि निरविकल्प निज पद गहै - शुभाशुभ विकल्प का भी नाश करके, धर्मी जीव निजसमभाव को भजता है। स्वभाव में एकाग्र होकर शान्ति.... शान्ति निर्दोषभाव को सेवन करता है, वह अपने निर्विकल्प पद को प्राप्त करता है। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ स्वयं सुख से सनाथ है, दु:ख से सनाथ नहीं है। निजपद निर्विकल्प है - राग और भेद से रहित है। आठ वर्ष की बालिका भी यदि धर्म प्राप्त करे तो ऐसे निजपद को प्राप्त करती है।

निर्मल विसुद्धि सासुत सुथिर, परम अतीन्द्रिय सुख लहै - भगवान आत्मा कैसा है? संसार के विकल्पों से पार और दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प से भी पार निर्मल प्रभु है, शुद्ध है, वह धर्मी को निर्मल और शुद्धपने अनुभव में आता है। वस्तु स्वयं अनन्त अतीन्द्रियस्वरूप है, वैसे राग से भिन्न होकर उसका अनुभव करते हुए पर्याय में भी आनन्द की अनन्तता आती है। आत्मा निजस्वरूप से नहीं चलता - ऐसा अचल है, तब उसकी पर्याय में भी नहीं चलता - ऐसा अचल आनन्द प्राप्त होता है। ऐसा परम अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त हुआ, उसका नाम मुक्ति अथवा मोक्षमार्ग का फल है।

छट्ठे अधिकार का सार

पूर्व अधिकार में कह आये हैं कि मिथ्यात्व ही आस्रव है, इसलिए आस्रव का निरोध अर्थात् सम्यक्त्व, संवर है। यह संवर, निर्जरा का और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है। जब आत्मा स्वयं बुद्धि से अथवा श्रीगुरु के उपदेश आदि से आत्म-अनात्म का भेदविज्ञान अथवा स्वभाव-विभाव की पहिचान करता है, तब सम्यग्दर्शनगुण प्रगट होता

www.vitragvani.com

है। स्व को स्व और पर को पर जानना – इसी का नाम भेदविज्ञान है, इसी को स्व-पर विवेक कहते हैं। **'तासु ज्ञान कौ कारन स्व-पर विवेक बखानौ'** की उक्ति से भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है। जिस प्रकार कपड़ा साफ करने में साबुन सहायक है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में भेदविज्ञान सहायक होता है और जब कपड़े साफ हो जावें, तब साबुन का कुछ काम नहीं रहता और यदि साबुन हो तो एक बोझ ही होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन हुए पीछे जब स्व-पर के विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती, तब भेदविज्ञान हेय ही होता है। भाव यह है कि भेदज्ञान प्रथम अवस्था में उपादेय है और सम्यग्दर्शन निर्मल हुए पीछे उसका कुछ काम नहीं है, हेय है। भेदविज्ञान यद्यपि हेय है तो भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण होने से उपादेय है, इसलिए स्वगुण और परगुण की परख करके परपरिणति से विरक्त होना चाहिए और शुद्ध अनुभव का अभ्यास करके समताभाव ग्रहण करना चाहिए।

सार पर प्रवचन

यह छठवाँ 'संवर' अधिकार पूर्ण हुआ, उसका सार कहते हैं।

पूर्व अधिकार में कहते आये है कि मिथ्यात्व ही आस्रव है। शरीर की क्रिया से मुझे लाभ होता है, राग की क्रिया से धर्म होता है, पर से मुझे लाभ-नुकसान होता है – ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, वह ही अधर्म और आस्रव है और यह आस्रव ही बन्ध का कारण है। यहाँ तो मिथ्यात्व को ही आस्रव कहा है। मिथ्यात्व के जाने के पश्चात् अव्रत, प्रमाद आदि का आस्रव रहता है परन्तु उसे भिन्न अनुभव होने से वह मुख्य आस्रव नहीं है। मुख्य आस्रव तो विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व ही है। वह ही संसार में परिभ्रमण का कारण है। राग का एक अंश भी अपना मानना, वह मिथ्यात्व है – आस्रव है – बन्ध का कारण है। धर्म के नाम पर भी पुण्य की क्रिया करके धर्म मानते हैं, वह मिथ्यात्व ही है।

मिथ्यात्व ही आस्रव है – ऐसा जोर दिया है। अनन्त ज्ञानानन्दस्वभाव के भण्डार आत्मा को अल्पज्ञ मानना, रागसहित मानना, शरीरवाला और कर्मवाला मानना, वह मिथ्यात्व है। आत्मा को अपने स्वभाव से रहित और विभाव से सहित मानना, वह मिथ्यात्व का घोर पाप है। शुद्ध आनन्दकन्द निजात्मा को भूलकर, शरीर की क्रिया मैं

www.vitragvani.com

करता हूँ, शरीर-वाणी-मन मेरे हैं, शुभाशुभ भाव मेरे हैं और मुझे लाभदायक हैं – ऐसे अभिप्रायरूप मिथ्यात्वभाव में घोर पाप है।

जो मेरा नहीं है, उसे अपना मानना, वह विपरीत मान्यतारूप मिथ्यात्व का घोर अन्धकार है – महापाप है; इसलिए मिथ्यात्व को ही बड़ा आस्रव कहा है। इस आस्रव का निरोध, वह संवर है – समकित है। ज्ञान और आनन्द के धाम भगवान आत्मा को छोड़कर अन्य कहीं भी ज्ञान और आनन्द मानना, वह घोर मिथ्यात्व है; उसका निरोध करना, वह धर्म और संवर है।

विचार तो कर कि मेरा सुख तो मुझमें ही होगा है न! मेरा सुख मुझसे दूर वस्तु वस्तु में नहीं होता। अभी लोगों को पैसे में सुख लगता है, इसलिए पैसेवालों की प्रशंसा करते हैं। पैसा होगा तो धर्म शान्ति से होगा – ऐसा कहते हैं.... परन्तु भाई! प्रथम तो जीव को पैसावाला मानना ही मिथ्यात्व है। पैसा तो जड़ है। आत्मा जड़वाला हो? आत्मा तो ज्ञान-आनन्दवाला है। उसे पैसावाला मानना मिथ्यात्व-बड़ा पाप है।

अरे! लोगों को इस मूल पाप की खबर नहीं है और हिंसा, झूठ आदि को बड़ा पाप मान लिया है। अन्तर में सत् को असत् मानना महापाप है और उसे रोकना बड़ा धर्म है। विपरीत अभिप्राय छोड़कर, अविपरीत अभिप्रायरूप सम्यग्दर्शन प्रगट करना-स्वरूप की रुचि और अनुभव करना, संवर है। संवर अर्थात् अधर्म को रोकना और धर्म प्रगट करना। शेष क्रियाकाण्ड से तो धूल भी धर्म नहीं होता। पाँच लाख की पूँजी हो, उसमें से दो लाख धर्म आदि में व्यय करे तो लोग धर्मात्मा गिनकर वाह-वाह करते हैं परन्तु उससे बिलकुल धर्म नहीं होता। पैसा मेरी विचक्षणता से प्राप्त होता है – ऐसा माननेवाला तो महामूढ़ है-पापी है। पूर्व के पुण्य का उदय हो तो पैसा / रजकण आकर मिले, उसमें तेरा कोई पुरुषार्थ काम नहीं लगता और वह पैसा भी तेरा रहनेवाला नहीं है; पैसा तो जड़ है और जड़ का ही होकर रहेगा।

श्रोता : पैसेवालों के ऊपर दण्डा पड़ता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो इतना ही कहते हैं कि परवस्तु पररूप है और स्ववस्तु

www.vitragvani.com

स्वरूप है। उसमें पर को अपनेरूप मानना महामिथ्यात्व का पाप है और पर को पररूप और स्व को स्वरूप जानकर, पर का दृष्टि में से त्याग करना – संवररूप धर्म है।

पूर्व अधिकार में कहते आये हैं कि मिथ्यात्व ही आस्रव है। मुख्य आस्रव मिथ्यात्व को ही कहा है। मिथ्यात्व के नष्ट होने के पश्चात् चारित्र के दोष से जो आस्रव होता है, उसमें स्थिति और अनुभाग बहुत अल्प होता है, जिससे उसे यहाँ मुख्यपने आस्रव कहने में नहीं आता। मिथ्यात्व का परिणाम ही मुख्य बन्ध का कारण है।

यह मिथ्यात्वभाव कैसे-कैसे प्रकार के होते हैं, वह जानना चाहिए। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को मानना मिथ्यात्व है; शरीरादि की क्रिया मैं कर सकता हूँ, वह भी मिथ्यात्व है। अन्तर में पाप के भाव (परिणाम) होते हैं, उसमें मजा आता है, वह मिथ्यात्व है। पुण्य के परिणाम हितकर लगते हैं, वह भी मिथ्यात्व है। एक समय की पर्याय के ऊपर दृष्टि रखना, वह भी मिथ्यात्वभाव है। यह मिथ्यात्व ही वास्तव में पाप है।

स्वयं अनाकुल ज्ञान-आनन्दस्वरूप वस्तु है। जो कोई ऐसा नहीं जानता, विपरीत मान्यता करता है, वह सब मिथ्यात्वभाव ही हैं। किसी निमित्त के सम्बन्ध से मुझे धर्म होगा अथवा मेरे निमित्त से धर्म का लाभ होगा – ऐसी मान्यता भी मिथ्यात्व है। चैतन्यमूर्ति स्वात्मा के आश्रय के बिना अन्य कहीं से लाभ होगा ही नहीं।

सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थों से मुझे लाभ होगा या शास्त्र पढ़ने से लाभ होगा – ऐसी मान्यता भी मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। अपने स्वरूप की तो खबर नहीं है, इससे अज्ञान से जिसे वह 'मेरा' मानता है, उसके ऊपर ही उसकी दृष्टि होती है; अतः उसे मिथ्यात्व कहने में आता है। महाव्रत का परिणाम 'राग' है परन्तु उससे लाभ माने तो मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व महापाप है। दूसरे जीव को नहीं मारूँ, दूसरे का भला करूँ – ऐसे विकल्प उठते हैं, वह विकार है-शुभराग है परन्तु उसे अपना स्वभावभाव मानना मिथ्यात्व है।

यह मिथ्यात्व ही आस्रव है – ऐसा कहा, उसमें तो एकान्त हो जाता है। शास्त्र में तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – इन पाँच प्रकार के भावों को आस्रव कहा है और यहाँ एक मिथ्यात्व को आस्रव क्यों कहा – ऐसा प्रश्न होता है.... परन्तु

www.vitragvani.com

मिथ्यात्व हो, वहाँ ही अन्य अशुद्ध परिणाम होते हैं। मिथ्यात्व के अभाव में ऐसे अशुद्ध परिणाम होते ही नहीं है, इसलिए मिथ्यात्व का मूल आस्रव कहा है। एक समय की पर्याय, राग या निमित्त में ही अपने अस्तित्व का स्वीकार करना मिथ्यात्व का बड़ा दोष है – बड़ी विपरीतता है। अविरत, प्रमाद, कषाय आदि दोष तो मिथ्यात्व के साथ ही होते हैं; इसलिए मूल आस्रव मिथ्यात्व है, उसका निरोध ही समकितरूप संवर है। मिथ्यात्वदशा में निमित्त, राग और अल्पज्ञता के ऊपर दृष्टि और रुचि थी, उसे हटाकर पूर्ण स्वरूप में रुचि को प्रसारित करना (फैलाना), उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन शुद्ध है और उसका विषय भी शुद्ध है। इससे सम्यग्दृष्टि को अशुद्धता उत्पन्न ही नहीं होती – ऐसा कहते हैं। मिथ्यात्व का नाश होने के बाद अविरत, प्रमाद, कषाय, योग के परिणाम हैं, उसे समकिती (सम्यग्दृष्टि) अपना स्वभाव नहीं मानता। मेरे द्रव्य का, गुण का या पर्याय का – एक का भी स्वभाव अशुद्ध नहीं है – ऐसा जानते ही ज्ञानी को आस्रव का निरोध होता है।

इस प्रकार आस्रव का अर्थात् मिथ्यात्व का निरोध होने से सम्यक्त्व होता है, वह संवर है। संवर, आत्मा की शुद्धदशा की उत्पत्ति है, उसमें मिथ्यात्वरूप अशुद्धदशा का व्यय है और मिथ्यात्व का व्यय है, वहाँ आस्रव का व्यय है। संवरपूर्वक निर्जरा होती है। निर्जरा अर्थात् शुद्धि की वृद्धि। इस प्रकार संवर प्रगट होते ही कर्म गलते हैं, अशुद्धता टलती है और शुद्धि की वृद्धि होती है। शुद्धता की प्रतीति और अनुभव, वह संवर धर्म है और संवर ही निर्जरा और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है।

लोगों को ऐसे महान् 'सम्यग्दर्शन' की कोई खबर नहीं और व्रत एवं तपस्या की महिमा में रुक (अटक) गये हैं। जिसमें अपना लाभ हो ऐसा है, ऐसे सम्यक्त्व का मूल्य नहीं है और अलाभ हो, ऐसे विकल्प खड़े किया करते हैं। पुण्य-पाप की वृत्तियाँ उठती है, वह तो अशुद्ध हैं, उसका अनुभव नहीं करके, अखण्डानन्द शुद्ध चैतन्यघन का अनुभव करना ही संवर है और वह ही कर्मों की निर्जरा, शुद्धि की वृद्धि और शुद्धता की पूर्णतारूप मोक्ष का कारण है।

ऐसा संवर कब प्रगट होगा? – जब आत्मा स्वयं बुद्धि से अथवा श्रीगुरु के उपदेश

www.vitragvani.com

आदि से आत्मा-अनात्मा का भेदविज्ञान अथवा स्वभाव-विभाव की पहचान करता है, तब सम्यग्दर्शन संवर धर्म प्रगट होता है। आत्मा सीधे अपने स्वभाव को पकड़ ले तो निसर्ग सम्यक्त्व कहलाता है और श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त पाकर अन्तर में उतरता है और सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं।

अन्तर में उतरे बिना, श्रीगुरु के तरफ का लक्ष्य करने से सम्यक्त्व नहीं होता। श्रीगुरु अथवा शास्त्र का उपदेश यह है कि तेरा आत्मा पूर्णानन्द शुद्ध है, वह अशुद्धता-राग से भिन्न है। राग करते-करते धर्म हो जायेगा - ऐसा उपदेश ज्ञानी नहीं देते। ज्ञानी गुरु तो ऐसा ही उपदेश देते हैं कि तुम तुम्हारे में देखो! तेरे में आनन्द और शान्ति की अपरिमित सम्पदा पड़ी हुई है। जिसका जो स्वभाव है, उसमें मर्यादा कैसी!

अन्तर्मुख होने के ध्येय से चैतन्य पकड़ में आता है - ऐसा गुरु कहते हैं। गुरु ऐसा नहीं कहते कि हमारे सामने देखने से चैतन्य पकड़ में आयेगा।

श्रोता : पहले गुरु के सामने तो देखना पड़ता है न...!

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले गुरु के सामने देखने का भाव होता है परन्तु उससे अन्तर में जाया नहीं जाता। यह तो वस्तुस्थिति ही है कि बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता नहीं होती। दृष्टि बाहर रखने से अन्तर में एकाग्रता किस प्रकार होगी! गुरु का उपदेश सुनकर, स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान और स्वानुभव हो, तब गुरु के उपदेश को धर्म का निमित्त कहते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन से धर्म की शुरुआत होती है। सम्यग्दर्शन ही संवर है और संवरपूर्वक ही निर्जरा और अनुक्रम से मोक्ष होता है। इसके अतिरिक्त लाख उपाय करे तो भी व्यर्थ है।

स्व को 'स्व' और पर को 'पर' जानना, उसका नाम ही भेदविज्ञान है। स्व और पर दोनों पृथक् हैं, उनको पृथक् जानना ही भेदज्ञान है। यही वास्तविक विवेक है। बाहर में विवेक करता है, वह विवेक नहीं है। धर्म विवेक से उपजता है, यदि समझे तो होता है... ऐसा आता है। वहाँ यह भेदज्ञानरूप विवेक की बात है। 'बड़े ऐसे आत्मदेव का आदर करना और राग का आदर छोड़ना' - ऐसे स्व-पर के विवेक को 'भेदविज्ञान' कहने में आता है। यह भेदज्ञान ही सुख का पन्थ है; राग का पन्थ तो दुःख का मार्ग है। जिसे राग

www.vitragvani.com

की रुचि और राग का स्वीकार है – ऐसा मिथ्यादृष्टि दु:ख के मार्ग में है, वह भले ही धनवान हो, सुन्दर हो, लाखों की मोटरगाड़ी में बैठा हो परन्तु दु:ख के मार्ग में है क्योंकि वास्तव में तो वह अपनी मोटरगाड़ी में नहीं बैठा, अपितु मोटरगाड़ी इसकी छाती के ऊपर बैठी है। अपने दान के प्रमाण में आबरू रहे तो उसे सुख लगता है। यह तो मान की भीख हुई। मान और ऐंठ रख कर सुखी नहीं हुआ जाता।

छहढाला में आता है कि 'तासु ज्ञान को कारण, स्व–पपर विवेक बखानौ' अर्थात् स्व–पर का भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है। शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा का और पर का ज्ञान हुए बिना आत्मा की श्रद्धा किस प्रकार हो ? वस्तु ज्ञान में पकड़े बिना श्रद्धा किसकी करे ? खरगोश के सींग की श्रद्धा नहीं होती; वैसे वस्तु के ज्ञान बिना वस्तु की श्रद्धा नहीं हो सकती। इसलिए भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन का कारण है। अन्य स्थान पर ऐसा भी आता है कि सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है तो सम्यक्पने की अपेक्षा से वह बात भी सत्य है।

जिस प्रकार कपड़े को साफ करने में साबुन सहायक है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में भेदविज्ञान सहायक होता है। कपड़ा और साबुन तो दो भिन्न द्रव्य होने से कपड़ा साफ होने में साबुन मात्र निमित्त है, कपड़ा स्वयं साफ होता है। स्वर्ण स्वयं सोलह तावाला होता है, उसमें अग्नि तो मात्र निमित्त है परन्तु एक ही द्रव्य की पर्याय में उसकी पूर्व पर्याय कारण है और उत्तरपर्याय कार्य है, यह पर्याय ही उसके बाद की पर्याय का कारण है – ऐसी अनादि अनन्त (कारण–कार्य की) पर्याय की शृङ्खला चली आई है; स्वतन्त्र परिणमन है। कारण है इसलिए कार्य होता है – ऐसा नहीं है। पर्याय का प्रवाह चालू ही है। एक समय की एक पर्याय कारण भी है और कार्य भी है। पूर्व पर्याय की अपेक्षा से वह कार्य है और उत्तर पर्याय का वह कारण है।

गेहूँ बोते हैं, इसलिए उगते हैं – ऐसा नहीं। रजकण–रजकण का परिणमन स्वतन्त्र है। कोई रजकण को पर का कारण नहीं है; प्रत्येक की पर्याय का उसका ही पूर्वपर्याय कारण है, अन्य द्रव्य कारण नहीं है। पूर्व पर्याय को कारण कहना, वह भी व्यवहार है। पूर्वपर्याय वास्तव में कारण हो तो समकित की पिछली पर्याय तो मिथ्यात्व की थी, वह

www.vitragvani.com

समकित का कारण कैसे हो ? उसके व्यय को कारण कहना, वह भी व्यवहार है, क्योंकि यह पर्याय तो चली गई है। निश्चय से तो उस समय की द्रव्य की योग्यता ही इस प्रकार की है, जिसे किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं है। त्रिकाली द्रव्य जैसे सत् है, उसे किसी की अपेक्षा नहीं है, वैसे उसके प्रत्येक समय के परिणमन में भी किसी की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि यह भी सत् का अंश है न! त्रिकाली सत् को कोई हेतु नहीं है, वैसे वर्तमान में भी कोई हेतु नहीं। क्रमबद्ध परिणमन चालू ही है – ऐसा जो मानते हैं, उनकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है।

चैतन्य भगवान महाप्रभु-महाशक्ति का साहब है। उसकी दृष्टि होते ही पर्याय में सम्यक्त्व होता है, उसका कारण भेदज्ञानरूप साबुन कहा। दृष्टान्त में तो साबुन और कपड़ा भिन्न-भिन्न द्रव्य है परन्तु सिद्धान्त में सम्यक्त्व और भेदविज्ञान दोनों एक द्रव्य की निर्मल पर्याय है। भेदज्ञान को सम्यक्त्व का कारण कहना, वह भी उपचार है। सम्यक्त्व हो, वहाँ राग से भिन्न पड़ा हुआ स्व का ज्ञान होता ही है, इसलिए उसे सम्यक्त्व का कारण कहा है।

मिथ्यात्व में पड़ा है, वह जीव दु:ख में सोता है। राग में उसे ठीक लगता है, इसलिए स्वभाव की खोज नहीं करता। जो स्वभाव की खोज करके उसकी प्रतीतिसहित आनन्द का अनुभव करता है, वह सुख में सोता है। आत्मा पलङ्ग और उसमें रुई के गद्दे की शैय्या में सोनेवाला नहीं है।

श्रीकृष्ण का ऐसा पराक्रम और पुण्य का योग था कि पट्टी के स्थान पर पलङ्ग में नाग लगे हुए थे और फन लिपटे हुए – ऐसी नागशैय्या पर सोते हुए शंख बजाते... एक बार उनकी रानी को नेमिनाथ ने स्नान करके कपड़े धोने के लिए कहा, तब रानी कहती है 'हम तो नागशैय्या पर सोनेवाले श्रीकृष्ण का कार्य करती हैं, हम तुम्हारा कार्य नहीं करेंगे...।' यह सुनकर नेमिनाथ तो नागशैय्या की ओर चले गये... अभी संसारदशा में थे, राजपुत्र थे, नागशैय्या पर सोते हुए शंख बजाया (शंखनाद किया), तब तो बारह योजन चौड़ी और नव योजन लम्बी द्वारिका नगरी में खलबली मच गयी। देखो, यह संसार की विचित्रता! नेमिनाथ भगवान बननेवाले थे परन्तु अभी गृहस्थाश्रम में थे, इसलिए ऐसा

www.vitragvani.com

विकल्प उठा और सीधे धनुष-बाण लेकर टङ्कार किया - शंखनाद किया - ऐसा कि आस-पास की धारा गरज उठी। यह सुनकर श्रीकृष्ण दौड़ते हुए आकर क्षमा माँगते हैं। देखो, यह संसार की अवस्था! सम्यग्दर्शन और तीन ज्ञान लेकर आये हुए नेमिनाथ को ऐसे विकल्प आते हैं!

यहाँ कहते हैं कि जब कपड़ा साफ हो जाता है, तब साबुन का कोई काम नहीं रहता, यदि साबुन हो तो भार लगता है; वैसे ही साधकपने की साधना करके साध्य प्रगट हो गया, उसके साधकपने का अब कोई काम नहीं रहता। जब तक केवलज्ञान न हो, तब तक साधकपना रहता है; केवलज्ञान होने के पश्चता् साधनरूप साधकदशा नहीं रहती।

साध्यरूप सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् स्व-पर के विकल्प की आवश्यकता नहीं होती। मैं शुद्ध हूँ, इन रागादि अशुद्धभावों से भिन्न हूँ - ऐसे विकल्प करने का वहाँ नहीं होता। क्योंकि राग से भिन्न आत्मा का अनुभव कर लिया है। पृथक् होने के पश्चात् भिन्न करने का नहीं होता; इसलिए भेदज्ञान का विकल्प हेय है।

भाव यह है कि भेदविज्ञान प्रथम अवस्था में उपादेय है और सम्यग्दर्शन निर्मल होने के पश्चात् उसका कोई काम नहीं है, हेय है। रागरहित आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होने के पश्चात् इस विकल्प की आवश्यकता नहीं रहती। अभेद एक शुद्ध चैतन्यवस्तु के ऊपर दृष्टि पड़ी, उसका परिणमन शुद्ध हो गया, उसमें अशुद्धता का परिणमन नहीं रहता। यहाँ तो अखण्ड एक शुद्धता ही सिद्ध करनी है, साथ ही शेष अशुद्धता यहाँ सिद्ध नहीं करनी। अध्यात्म में एक भाव को दूसरे में नहीं मिलाते; मात्र शुद्धता ही है, यह भाव बतलाना है।

यद्यपि भेदविज्ञान हेय है तो भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का कारण होने से उपादेय है। इस कारण स्वगुण और परगुण की पहचान करके पर-परिणति से विरक्त होना चाहिए और शुद्ध अनुभव का अभ्यास करके समताभाव ग्रहण करना चाहिए। हीरा-माणिक की परीक्षा करते हैं न! वैसे यहाँ भी स्वगुण और पर के गुण; शुद्ध स्वभाव और विभाव की परख करके, शुद्ध अनुभव का अभ्यास करना चाहिए। वीतरागता प्रगट करके वीतरागता में ही रहना चाहिए। यह संवर अधिकार का सार है।

⑦ निर्जरा द्वार

प्रतिज्ञा (दोहा)

वरनी संवर की दसा, जथा जुगति परवांन।
मुकति वितरनी निरजरा, सुनहु भविक धरि कान॥ १॥

अर्थ – जैसा आगम में संवर का कथन है, वैसा वर्णन किया, हे भव्यो! अब मोक्षदायिनी निर्जरा का कथन कान लगाकर सुनो।

काव्य-१ पर प्रवचन

आगम में युक्तिपूर्वक जैसा संवर का स्वरूप कहा है, वैसा यहाँ संवर की दशा का भेदविज्ञानपूर्वक वर्णन किया है। अब निर्जरा, जो कि अशुद्धता का अभाव करके प्रगट करती है, पूर्ण शुद्धता मोक्ष को प्राप्त कराती है, ऐसी निर्जरा का वर्णन करना हैं। संवरपूर्वक निर्जरा हो, उसे ही निर्जरा कहने में आता है। अज्ञानी को अकामनिर्जरा होती है, वह कोई वास्तविक निर्जरा नहीं है। यह तो मुक्ति को देनेवाली निर्जरा की बात है।

निर्जरा किसे कहते हैं ? – अशुद्धता का गलना, कर्म का खिरना और शुद्धता का बढ़ना, इन तीनों को निर्जरा कहने में आता है। (१) अस्ति से शुद्धता का बढ़ना, वह निर्जरा है। (२) नास्ति से अशुद्धता का टलना, वह निर्जरा है और (३) असद्भूत उपचार से कर्म का खिरना, वह निर्जरा है।

राग की एकताबुद्धि हो तब तक तो मिथ्यात्व का बन्ध होता है। जहाँ राग की एकता टूट कर स्वभाव में एकत्व होता है, वहाँ कर्मों का संवर होता है। नवीन कर्म आना रुक जाते हैं परन्तु पुराने कर्म सत्ता में पड़े हैं, उसका क्या ? पुराने कर्मों से मुक्ति प्रदान करनेवाली 'निर्जरा' है, उसका स्वरूप का वर्णन इस अधिकार में किया है तो हे भविक (भव्य) जीवों तुम कान खोलकर सुनो! निर्जरा मोक्षदायी है, सो सुनो।

www.vitragvani.com

हे भव्यों! इस निर्जरा के स्वरूप को तुम एकाग्रपूर्वक सुनो!

मङ्गलाचरण (चौपाई)

जो संवरपद पाइ अनंदै।
सो पूरवकृत कर्म निकंदै।
जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदै।
सो निरजरा बनारसि बंदै॥ २॥

अर्थ – जो संवर की अवस्था प्राप्त करके आनन्द करता है, जो पूर्व में बाँधे हुए कर्मों को नष्ट करता है, जो कर्म के फंदे से छूटकर फिर नहीं फँसता; उस निर्जराभाव को पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

काव्य-२ पर प्रवचन

देखो! बनारसीदास निर्जरारूप शुद्धपर्याय को वन्दन करते हैं।

अहा! जो कोई राग की भिन्नता करके आत्मा के आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है, वह आनन्द में रहता है। संवर में आनन्द है। संवर में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। मिथ्यात्व में जो राग का स्वाद था, वह तो विषरूप दुःखदायक था। बड़े सेठ हों या राजा हों, परन्तु आस्रव में पड़े हुए हैं, वे ज़हर का अनुभव करते हैं। मात्र पञ्च महाव्रतादि शुभ विकल्प से लाभ माननेवाले भी विष का प्याला पीते हैं। अणुव्रत या महाव्रत या बारह व्रत के परिणाम विष का प्याला है क्योंकि वे दुःखदायक ऐसे बन्ध के भाव हैं। उनसे भिन्न होकर आत्मा के आनन्द का अनुभव करना, वह संवर है।

व्रतादि में धर्म माननेवाले ऐसा कहते हैं कि उपवास, व्रत, तप, केशलोंच करना, शीतकाल में नग्न रहना, बरसात के थपेड़े लगें, उन्हें सहन करना – ये सब करके तो देखो! यह बहुत-बहुत कठोर है। हाँ भाई! यह कष्ट सहन करने में धर्म कहाँ से होगा! आत्मा स्वभाव से ही शरीर, कपड़ा और शुभाशुभराग के बिना दिगम्बर है, उसके अनुभव के बिना कहीं आनन्द नहीं आता। अन्दर में शुभाशुभराग के कपड़े पहनकर हम धर्मी हैं – ऐसा माननेवाले विष का प्याला पीते हैं, उन्हें आनन्द कहाँ से आवे! यह तो ज़हर घोलते हैं। आत्मा के भान के बिना महाव्रत पालनेवाले ज़हर घोलकर दुःख को पीते हैं, कारण कि

www.vitragvani.com

राग की एकताबुद्धि – यह मिथ्यात्व का महान ज़हर है, उसके टूटे बिना आनन्द का अनुभव कहाँ से होगा ?

जो संवर पद प्राप्त करके आनन्द में रहता है, वह जीव पूर्व में किये हुए कर्मों को टालता है, कारण कि संवर होने से नवीन बन्धन नहीं होता और पूर्व में अज्ञान अवस्था में बँधे हुए कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। कर्म उदय में आते हैं, तब वह आत्मा तो अपने स्वरूप तरफ की स्थिति में है, जिससे नवीन कर्म बँधे बिना ही पुराने कर्म खिर जाते हैं। इस प्रकार संवरधारी ज्ञानी पूर्व कर्म का निकन्दन कर डालते हैं। कर्म की सत्ता का नाश करते हैं। संवर अधिकार के आठवें कलश में आया था कि **रागग्रामप्रलय-कारणात्कर्म्मणां** अर्थात् रागरूपी ग्राम की सत्ता का मूल से नाश कर देते हैं। वैसे ही धर्मी पूर्व कर्म का मूल में से सत्यानाश कर देते हैं।

जो अफंद ह्वै बहुरि न फंदे – जो राग के कन्द में नहीं फँसता, अफन्द रहता हुआ निज आनन्द का अनुभव करता है – ऐसी निर्जरा को बनारसीदासजी वन्दन करते हैं। देखो! अपना नाम देकर वन्दन किया है। धर्मी जीव, राग और निमित्त के फन्द में फँसते नहीं हैं; इसलिए अफन्द हैं। अज्ञानी तो राग और निमित्त के फन्द में फँस जाते हैं। धर्मी (ज्ञानी) राग के फन्द में नहीं फँसते और स्वरूप के आनन्द का अनुभव करते हैं – ऐसा अफन्द आत्मा को बनारसीदासजी ने वन्दन करके निर्जरा अधिकार का माङ्गलिक किया।

जिसने आत्मा को विकार से भिन्न जाना और अनुभव किया उसे आनन्द होता है। संवर होते ही अतीन्द्रिय आनन्द आता है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम होते थे, वे आस्रव थे, जिससे उसे दु:ख होता था। उससे भिन्न करके, आत्मा का अनुभव किया, वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द आया, सम्यक्त्व प्रगट हुआ, यह संवरदशा है।

संवर होते ही मिथ्यात्व और अमुक प्रकार के राग-द्वेष परिणाम तो होते ही नहीं हैं। जिससे उस प्रकार के कर्म नहीं बँधते और अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करके वह जीव पूर्व के कर्मों को भी खिराता है, उसका नाम निर्जरा है। उपवास करना या कष्ट उठाने से कर्म खिरते हैं – यह बात झूठी है। कष्ट लगे, यह तो अज्ञान है, स्वरूप का आश्रय कष्ट

www.vitragvani.com

नहीं लगता। वह तो पूर्व कर्म के उदयवश प्रतिकूलता हो, उसे नहीं गिनता। आनन्द का वेदन करता हुआ पूर्व कर्म का निकन्दन कर देता है।

जो अन्तरस्वभाव की शरण में आया है और राग के फंदे से छूट गया है, वह फिर से राग के फंदे में नहीं आता। आत्मा को राग से भिन्न किया है – ऐसा सम्यग्दृष्टि-संवरवाला जीव फिर से राग में नहीं आता – राग के आधीन नहीं होता, उससे पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है, अशुद्धि की हानि होती है और शुद्धि बढ़ती जाती है। इस प्रकार तीन प्रकार से निर्जरा होती है। बनारसीदासजी कहते हैं कि अहो! ऐसी स्वभाव की भावना और स्वभाव की एकता की दशा को मैं वन्दन करता हूँ। 'निर्जरा अर्थात् शुद्धभाव' उसे मैं वन्दन करता हूँ।

ज्ञानी के ज्ञान-वैराग्य के बल से शुभाशुभ क्रियाओं से भी बन्ध नहीं होता ऐसा कहते हुए तीसरे पद्य में लिखते हैं।

यह समयसार नाटक शास्त्र है। निर्जरा अधिकार प्रारम्भ होता है।

महिमा सम्यकज्ञान की, अरु विरागबल जोइ।
क्रिया करत फल भुंजतैं, करम बंध नहि होइ॥ ३॥

अर्थ – सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से और वैराग्य के बल से शुभाशुभ क्रिया करते और उसका फल भोगते हुए भी कर्मबन्ध नहीं होता है।

काव्य – ३ पर प्रवचन

धर्मी को अस्तित्व का ज्ञान और राग के अभाव की परिणति – ऐसा ज्ञान और वैराग्य दोनों भाव एकसाथ होते हैं। निर्जरा अधिकार है न! आत्मज्ञान की महिमा बताते हैं। स्वसन्मुख हुआ ज्ञान है और शुभाशुभ क्रियाओं से विरक्ति है। इससे शुभाशुभ कर्म के फल को ज्ञानी भोगता हुआ दिखता है परन्तु वास्तव में तो ज्ञानी उसे नहीं भोगता। जड़ की क्रिया होती है, उसका तो ज्ञाता है, ज्ञानी जड़ क्रिया का कर्ता नहीं होता। राग होता है परन्तु उसका स्वामी नहीं है; स्वामी तो अपने चैतन्य आनन्द का है, शरीर की या राग की क्रिया का स्वामी नहीं है, इससे ज्ञानी उसे भोगता हुआ दिखाई देने पर भी ज्ञानी को बन्ध नहीं होता।

www.vitragvani.com

ज्ञानी के भोग निर्जरा का कारण कहा है परन्तु ज्ञानी, कर्म के फल को भोगता ही नहीं। अपने आनन्द के अनुभव के सामने ज्ञानी को राग का अनुभव होता ही नहीं है। **क्रिया करत फल भुंजतै,.....** ज्ञानी कौनसी क्रिया करे! जड़ की क्रिया करे! राग की क्रिया करे! जड़ की क्रिया को भोगे! ज्ञानी, जड़ की या राग की क्रिया को करता भी नहीं है और भोगता भी नहीं है परन्तु समझाये किस प्रकार! इसलिए (शब्दों) कहने में तो ऐसा आता है कि क्रिया करते हुए और फल को भोगते हुए भी ज्ञानी को कर्म का बन्ध नहीं होता। क्यों? कि सम्यग्ज्ञान और वैराग्य का बल वर्तता है इसलिए ज्ञानी को बन्ध नहीं होता और निर्जरा होती है।

आत्मा–वस्तु परिपूर्ण है – ऐसा अन्तर्मुख होकर प्रगट हुआ 'ज्ञान' और रागादि के अभावरूप 'वैराग्य' इन दोनों के बल से राग की क्रिया और शरीर की क्रिया होने पर भी ज्ञानी को कर्म बन्धन नहीं होता।

अब, यह बात दृष्टान्त से समझाते हैं कि भोग भोगते हुए भी ज्ञानियों को कर्म कालिमा नहीं लगती।

भोग भोगते हुए भी ज्ञानियों को कर्म-कालिमा नहीं लगती (सवैया इकतीसा)

जैसैं भूप कौतुक सरूप करै नीच कर्म,
कौतुकी कहावै तासौं कौन कहै रंक है।
जैसैं विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ,
जारहीसौं प्रेम भरतासौं चित बंक है॥
जैसैं धाइ बालक चुँघाइ करै लालिपालि,
जानै ताहि औरकौ जदपि वाकै अंक है।
तैसैं ग्यानवंत नाना भांति करतूति ठानै,
किरियाकौं भिन्न मानै याते निकलंक है॥ ४॥

अर्थ – जिस प्रकार राजा खेल स्वरूप छोटा काम करे तो भी वह खिलाड़ी कहलाता है उसे कोई गरीब नहीं कहता, अथवा जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पति के पास रहे तो भी उसका चित्त यार ही में रहता है – पति से प्रेम नहीं रहता, अथवा जिस प्रकार धाय

www.vitragvani.com

बालक कावे दूध पिलाती, लालन-पालन करती और गोद में लेती है, तो भी उसे दूसरे का जानती है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव उदय की प्रेरणा से भाँति-भाँति की शुभाशुभ क्रिया करता है, परन्तु उस क्रिया को आत्मस्वभाव से भिन्न कर्मजनित मानता है, इससे सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्मकालिमा नहीं लगती।

काव्य-४ पर प्रवचन

देखो! यहाँ खुलासा आ गया। अन्तिम पंक्ति में ज्ञानी क्रिया करे और भोगे - ऐसा पूर्व में किस प्रकार कहा था? कि भिन्न मानकर ज्ञानी क्रिया करे-भोगते हैं; इसलिए ज्ञानी निष्कलंक है।

जिस प्रकार राजा कौतूहलवश गधे पर चढ़कर खेल खेले तो उसे कोई रङ्क नहीं मानता क्योंकि वह तो गधे पर बैठकर खेल खेलता है - यह तो कौतूहल है; वह कोई दरिद्री नहीं, खिलाड़ी है। वैसे ही ज्ञानी, शरीर की क्रिया करता हुआ दिखता है, फिर भी देह की क्रिया करनेवाला नहीं है, उससे भिन्न ज्ञान की क्रिया करनेवाला है। कर्ता, तथापि अकर्ता है। शरीर, रागादि की क्रिया कर्ता ज्ञानी को कहना तो नाममात्र है।

समकिती-धर्मी अपने स्वभाव में सावधान है और राग से असावधान है, इसलिए शरीर की क्रिया चाहे जो हो - मुझसे नहीं है और अन्दर में राग आता है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा जानकर उससे भिन्न रहता है, इसलिए धर्मी को निर्जरा होती है।

जैसे विभचारिनी विचारै... जैसे व्यभिचारी स्त्री, पति के पास रहे तो भी उसका चित्त यार में रहता है, पति के प्रति प्रेम नहीं होता; वैसे ही धर्मी जीव, शरीर में रहता है परन्तु प्रेम तो आत्मा में लगा हुआ है, इस कारण शरीर और राग की क्रिया होती है, उससे अपने को भिन्न जानता है अथवा जिस प्रकार धायमाता बालक को दूध पिलाती है, लालन-पालन करती है और गोद में लेती है तो भी बालक को अपना नहीं मानती, दूसरे का जानती है; उसी प्रकार ज्ञानी जीव, उदय की प्रेरणा से विविध प्रकार की शुभाशुभ क्रिया करता है, परन्तु वह क्रिया को आत्मस्वभाव से भिन्न कर्मजनित मानता है।

तैसें ग्यानवंत नाना भाँति करतूति ठानै.... राजा, व्यभिचारी और धायमाता की भाँति ज्ञानी अनेक प्रकार की देह की और राग की क्रिया को होती हुई जानता है - **ठानै**

www.vitragvani.com

अर्थात् होता है, उसे जानता है। समझने के लिए इस क्रिया को ज्ञानी करता है – ऐसा कहते हैं परन्तु धायमाता की भाँति ज्ञानी उस क्रिया को अपना नहीं मानता। आत्मा के आनन्द का रस आया है, उसके समक्ष ज्ञानी के शरीर और राग की क्रिया का रस उड़ गया है। धर्म कोई साधारण बात नहीं है। जिसे अशुद्धता टलती जाती है और कर्म गलते जाते हैं और आत्मा में शुद्धता बढ़ती जाती है, वह निर्जरा है।

शास्त्र में **तपसा निर्जरा** कहा है न! यह तो आत्मा के स्वभाव के भानपूर्वक राग घटता है और स्वभाव की क्रिया हो, तब जिससे लक्ष्य छूट गया हो, ऐसे आहार छोड़ने का भावरूप उपवास को निर्जरा का कारण व्यवहार से कह दिया है, बाकी निर्जरा तो स्वभाव के लक्ष्य से होती है। ज्ञानी जीव, उदय की प्रेरणा से शुभक्रिया करता है – ऐसा कहा इसका अर्थ भी यह है कि ज्ञानी को आनन्द की रुचि है, राग की रुचि नहीं, तो भी कर्म का उदय आवे, उसमें अपनी चारित्र की कमजोरी से जुड़ जाता है, तब कर्म की प्रेरणा से क्रिया करता है – ऐसा कहा जाता है। कमजोरी तो स्वयं की है, तथापि ज्ञानी उसे अपनी नहीं जानता हुआ स्वभाव को आगे करके उसे कर्म के उदय में डाल देता है। मेरे में राग कहाँ है!

अज्ञानी रूखा खाये तो भी उसे धर्म नहीं होता और ज्ञानी दूध-पाक, पूड़ी खाये तो भी धर्म होता है? धर्मी तीन-तीन गद्दों पर सोता हो, सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती के तो वैभव का पार नहीं होता, सभी भोग भोगने पर भी वह ज्ञानी और हम चटाई पर सोते हैं, कोई बड़ा वैभव नहीं रखते फिर भी हम ज्ञानी नहीं! उसका कारण क्या? ऐसा प्रश्न अज्ञानी को उत्पन्न होता है.... परन्तु भाई! ज्ञानी यह सब क्रिया करता होने पर भी उसमें एकता अनुभव नहीं करता और अज्ञानी को उसमें एकत्वबुद्धि है – यह बड़ा अन्तर है। अज्ञानी नग्न होकर जंगल में घूमता हो परन्तु देह और राग में से एकत्व नहीं छूटा हो तो वह ज्ञानी किस प्रकार कहलायेगा? और जिसे जड़ का तथा राग का रस टूट गया है – ऐसा धर्मी चक्रवर्ती, जिसका एक ग्रास भी कोई नहीं पचा सके, ऐसे बत्तीस ग्रास का आहार लेता हो तो भी ज्ञानी है। चैतन्य के निर्विकल्प आनन्दरस के रस में चढ़ा है, उसे अन्यत्र कहीं रस नहीं लगता। सर्वत्र श्मशान जैसा लगता है। उदास... उदास... उदास...।

www.vitragvani.com

श्रोता : उदास है तो राग क्यों करता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग को करता नहीं है, होता है, उसे जानता है। राग से उदास ही है। पाठ में ही कहा है न! शुभाशुभ क्रिया को ज्ञानी अपने स्वरूप से भिन्न मानता है, कर्मजनित मानता है – कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुआ वह रोग है, जहर है, दुःख है। अशुभभाव काला नाग लगता है, जबकि अज्ञानी तो उसमें लवलीन होता है – अज्ञानी को वही बन्ध का कारण है। इसलिए मिथ्यात्व को बन्ध का कारण कहा है।

धर्मी जीव तो चैतन्यरस का रसिक है। भगवान आत्मा के सुख का रसिक है। उसे राग का रस नहीं होता, इसलिए राग की क्रिया होती होने पर भी धर्मी को कर्मकालिमा नहीं लगती है।

श्रोता : आप ज्ञानी का पक्ष तो नहीं करते न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्ष का सवाल ही नहीं है। यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। ज्ञानी का चित्त राग में, निमित्त में या संयोग में कहीं नहीं चिपटता और जहाँ चिपटा है, वहाँ से नहीं हटता। धर्मी अतीन्द्रिय आनन्द का रसिक है। नित्यानन्दरस के रसिक को क्षणिक व्यभिचारी भावों में रस नहीं आता।

किरियाकौं भिन्न मानै याते निकलंक है.... अहो! धर्मी का अर्थात् संवर-निर्जरा का ऐसा स्वरूप है। लोग कल्पना करते हैं, वैसा उनका स्वरूप नहीं है। भगवान का मन्दिर बनाकर, पञ्च कल्याणक करके, शान्तियज्ञ कर लेने से निर्जरा नहीं होती। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को पर से और क्रिया से भिन्न दृष्टि और अनुभव में लेने से निर्जरा होती है।

स्वरूप के साधन से चार गति का नाश होता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में अरहन्तादिक के स्वरूप का सरस वर्णन आया है। जो (१) गृहस्थपना छोड़कर, (२) मुनिधर्म अङ्गीकार करके, (३) निज स्वरूप साधन द्वारा (४) चार घातिकर्मों का क्षय करके, (५) अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए हैं। वे अरहन्त हैं। इन पाँच बोल में कितना आ जाता है, विकल्प और व्यवहार साधन से चार गति का नाश नहीं होता परन्तु स्वरूप साधन से चार गति का नाश होता है और प्रगट क्या होता है ? अनन्त चतुष्टय प्रगट होता है।

www.vitragvani.com

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।
मैं रंग-राग से भिन्न भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ...

ऐसे भाव में निर्जरा होती है। शब्द बोलने से निर्जरा नहीं होती।

मैं हूँ अखण्ड चैतन्यपिण्ड निजरस में रमनेवाला हूँ
मैं ही मेरा कर्ता-धर्ता मुझमें पर का कुछ काम नहीं।
मैं मुझमें रहनेवाला हूँ पर में मेरा विश्राम नहीं।
मैं शुद्ध-बुद्ध-अविरुद्ध एक पर परिणति से अप्रभावी हूँ
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व मैं ज्ञानानन्दस्वभावी हूँ...

धर्मी निजरस में रमनेवाले हैं, निजभाव के ही कर्ता-धर्ता हैं। अपने स्वधाम में ही रहनेवाले हैं, पर में उन्हें विश्राम नहीं लगता। शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन के प्रेमी ज्ञानी, विभाव से प्रभावित नहीं होते। धर्मी जानते हैं कि मेरा स्वरूप तो स्वानुभवगम्य ही है। मैं तो ज्ञान आनन्दस्वभावी हूँ। ऐसा अन्तर में भान होवे, वह धर्मी पूर्व कर्मकृत क्रिया वर्तती है, उसे अपनी नहीं मानते; इसलिए उन्हें नये कर्मों की कालिमा नहीं लगती।

फिर से बनारसीदासजी इसी बात को स्पष्ट करते हुए पद्य लिखते हैं।

पुनः

जैसैं निसि वासर कमल रहै पंकहीमैं,
पंकज कहावै पै न वाकै ढिग पंक है।
जैसैं मंत्रवादी विषधरसौं गहावै गात,
मंत्र की सकति वाकै विना-विष डंक है॥
जैसैं जीभ गहै चिकनाई रहै रूखे अंग,
पानी मैं कनक जैसैं काईसौं अटंक है।
तैसैं ग्यानवंत नानाभाँति करतूति ठानै,
किरियाकौ भिन्न मानै यातैं निकलंक है॥ ५॥

अर्थ - जैसे कमल कीच से उत्पन्न होता है और दिन-रात कीचड़ में रहता है परन्तु

www.vitragvani.com

उस पर कीचड़ नहीं जमती, अथवा जिस प्रकार मन्त्रवादी अपने शरीर को साँप से कटवा लेता है पर मन्त्र की शक्ति से उस पर विष नहीं चढ़ता, अथवा जिस प्रकार जीभ चिकने पदार्थ खाती है परन्तु चिकनी नहीं होती, रूखी रहती है, अथवा जिस प्रकार सोना पानी में पड़ा रहे तो भी उस पर काई नहीं जमती; उसी प्रकार ज्ञानी जीव, उदय की प्रेरणा से भाँति-भाँति की शुभाशुभ क्रिया करता है परन्तु उसे आत्मस्वभाव से भिन्न कर्मजनित मानता है, इससे सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्मकालिमा नहीं लगती।

काव्य-५ पर प्रवचन

(१) जैसे, (निसि अर्थात् रात और वासर अर्थात् दिन) रात-दिन कमल, कीचड़ में रहता है परन्तु उस पर कीचड़ नहीं लगती। कमल को पंकज कहते हैं क्योंकि पंक अर्थात् कीचड़ में से वह उत्पन्न हुआ है तो भी उसे कीचड़ नहीं लगती, मानो कमल और कीचड़ को कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे कमल, कीचड़ से निर्लेप रहता है।

(२) जैसे, मन्त्रवादी, सर्प के मुँह में हाथ डाले अथवा सर्प से अपने शरीर पर डंक मरवाये तो भी मन्त्र की शक्ति के कारण उसे जहर नहीं चढ़ता। मन्त्र की शक्ति हो तब तक ही ऐसा होता है, वरना मन्त्र के नाम से भ्रमणाएँ चलती हों उसकी बात नहीं है। नमस्कार मन्त्र भी शुभभाव का निमित्त है, मन्त्र किसी का कुछ कर नहीं देते हैं।

(३) जैसे, जीभ गोंद, शक्कर, घी जैसे चिकने पदार्थ खाती है परन्तु स्वयं चिकनी नहीं होती, गोंद खाकर जीभ को साबुन से धोना नहीं पड़ता।

(४) जैसे, सोना पानी में पड़ा हो तो भी उसे जंग नहीं लगती - ऐसा ही उसका स्वभाव है।

इन सब दृष्टान्तों की तरह ज्ञानानन्दस्वभाव को प्राप्त ज्ञानी आत्मा, शुभाशुभ अनेक क्रियाएँ करता है परन्तु उस क्रिया से अपने आत्मा को अत्यन्त भिन्न जानता है। देखो, यह भेदज्ञान की महिमा है! क्रिया को भिन्न जानता हुआ ज्ञानी, कर्म कलंक को प्राप्त नहीं होता, निष्कलंक रहता है। जबकि अज्ञानी को भेदविज्ञान नहीं होने से उसकी शुभक्रिया भी संसार बन्ध का कारण होती है और भेदज्ञानी को अशुभभाव होवे तो भी निर्जरा का कारण है क्योंकि ज्ञानी को उसमें रस नहीं है, ज्ञानी उसके स्वामी नहीं है, स्वामित्वरूप से

www.vitragvani.com

अशुभभाव को करते नहीं हैं, होता है, उसे अपने आत्मा से भिन्न जानते हैं; इसलिए उन्हें कर्म की निर्जरा होती है।

लो, ऐसा निर्जरा का स्वरूप है! बहुत परीषह सहन करे तो बहुत निर्जरा होती है – ऐसा नहीं है। अपने स्वभाव के रस के ध्यान में इसके रसिकों को बाहर की क्रिया में रस नहीं है, इसलिए उन्हें निर्जरा होती है। जैसे सोना पानी में जंगरहित रहता है, उसी प्रकार धर्मात्मा को राग की क्रिया में राग का रंग नहीं लगता है; इसलिए धर्मी, राग में लिप्त नहीं होते, इसलिए सम्यग्ज्ञानी / धर्मी जीव को कर्म कालिमा नहीं लगती है।

आनन्द का स्वाद लेनेवाले धर्मी को आत्मा में ही सुख भासित होता है, बाहर में कहीं सुख भासित नहीं होता। धर्मी आत्म-आनन्द के रसिक हैं। मिथ्यात्वदशा में पर में सुख भासित होता है, वहाँ तक उसे दुःख का ही अनुभव होता है परन्तु सुख का भास होता है। जिन विषयों में धर्मी को दुःख लगता है, उन्हीं विषयों में अज्ञानी को सुख भासित होता है। इतना धर्मी और अज्ञानी में अन्तर है। पूर्व और पश्चिम जितना अन्तर है।

धर्मी को आत्मा के आनन्द के रस के समक्ष पुण्य-पाप के भाव रोग जैसे लगते हैं। शरीर में कैंसर या कुष्ठ रोग आये तो वह कैसा कठोर लगता है! उसी प्रकार धर्मी को राग, रोग के समान कठोर लगता है, पोषाता नहीं है; इसलिए पूर्व उदयवश विषयभोग भोगता होने पर भी कर्मबन्ध नहीं होता। यह बात छठवें पद्य में कहते हैं।

वैराग्यशक्ति वर्णन (सोरठा)

पूर्व उदै सनबंध, विषै भोगवै समकिती।
करै न नूतन बन्ध, महिमा ग्यान विराग की॥ ६॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वबद्ध कर्मों के उदय से विषय आदि भोगते हैं पर कर्मबन्ध नहीं होता – यह ज्ञान और वैराग्य का प्रभाव है।

काव्य-६ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि जीव अर्थात् आत्मानन्द का अनुभवी जीव, विषयादि भोगता है अर्थात् पूर्व उदयवश विषयादि के संयोग में दिखता है, राग आता है परन्तु उस राग को समकिती

www.vitragvani.com

रोग जानता है। लोगों की दृष्टि में ऐसा दिखता है कि ज्ञानी विषयों को भोगता है परन्तु समकिती ज्ञानी विषयों से उदास है। पूर्व उदय से विषयों का संयोग होने पर जरा राग तो आता है परन्तु ज्ञानी उस राग को रोग जानता है। शुभाशुभभाव में से उसे रस उड़ गया है, इसलिए शुभाशुभभावों से वह पृथक् पड़ गया है, इस कारण कर्मबन्ध नहीं होता। यह ज्ञान और वैराग्य का प्रभाव है।

तीसरे कलश में यही बात करते हैं कि **नाश्नुते विषयसेवन.....** जिसे आत्मवस्तु की सत्ता का स्वीकार आया, उसे अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ का आंशिक अनुभव हो गया है। उसे उस अतीन्द्रिय आनन्द के समक्ष विषयभोगों की महिमा नहीं होती है। पूर्व में अज्ञानदशा में कर्म बाँधे हैं, इनका उदय तो आये बिना नहीं रहता; इसलिए उदय से प्राप्त सामग्री के मध्य धर्मी खड़ा हुआ दिखता है। राग का विकल्प भी आता है परन्तु धर्मी उसे रोग जानता है। अज्ञानी भी इसी प्रकार भोग भोगता हुआ दिखता है और ज्ञानी भी उसी प्रकार ही भोगता हुआ दिखता है परन्तु अन्दर में अन्तर बहुत बड़ा है। अज्ञानी को राग का रस है, जबकि ज्ञानी को राग का रस नहीं परन्तु निजस्वभाव का रस है। इतना अन्तर है।

यही ज्ञान और वैराग्य का प्रभाव है। इससे ज्ञानी कर्म से बँधता नहीं है। ज्ञान अर्थात् 'निजभाव का अनुभव' और वैराग्य अर्थात् 'रागरहित शुद्धपरिणति'। यह ज्ञान और वैराग्य ही धर्म का लक्षण है। ज्ञान और वैराग्य के कारण धर्मी, परभाव से उदास होने से कर्म से नहीं बँधता, उसका अर्थ यह नहीं है कि धर्मी को सर्वथा बन्ध नहीं है। जितना राग है, उतना अल्पबन्ध तो धर्मी को भी है। अज्ञानी को राग के रसपूर्वक जैसा कर्मबन्धन होता है, वैसा बन्धन धर्मी को नहीं होता। धर्मी को अनन्तानुबन्धी का राग नहीं है; इसलिए उसका बन्धन धर्मी को नहीं है परन्तु जितना राग है, उतना बन्धन है; उतना दुःख है, जहर है। यह राग मुझे बन्धन का निमित्त है – ऐसा धर्मी जानता है।

धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त कहीं चैन नहीं पड़ता। चक्रवर्ती का राज्य हो या इन्द्र का इन्द्रासन हो – धर्मी को उसमें सुख नहीं लगता। सुखबुद्धि तो पर में पड़ी हो और सामायिक, प्रतिक्रमण आदि कर ले, उससे धर्मी नहीं हो

www.vitragvani.com

जाता। आत्मा का अनुभव और राग से वैराग्य हो, उसे ही धर्मीपना है। कर्म के निमित्त से दो प्रकार की सामग्री प्राप्त होती है – घातिकर्म के निमित्त से राग होता है, वह एक प्रकार; और अघातिकर्म के निमित्त से बाह्य सामग्री प्राप्त होती है, वह दूसरा प्रकार – दोनों प्रकार की सामग्री के प्रति धर्मी को वैराग्य है। जहाँ कर्म ही मेरे नहीं हैं, वहाँ उनके निमित्त से प्राप्त सामग्री मेरी कैसे हो सकती है ?

अज्ञानी कदाचित् विषयों को न भोगे, शरीर से भलीभाँति ब्रह्मचर्य पालन करे परन्तु अन्दर में गहराई में राग का कण पड़ा है, राग का रस है, मान का रस है, पर से अपना अधिकपना भासित होता है; मैं राग से भिन्न हूँ – ऐसा भासित नहीं होता है।

अब, चौथे कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि **सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्य-शक्ति...**। उस पर बनारसीदासजी सातवें पद्य में कहते हैं कि ज्ञान-वैराग्य से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञान-वैराग्य से मोक्ष की प्राप्ति है (सवैया तेईसा)

सम्यकवंत सदा उर अंतर,
ग्यान विराग उभै गुन धारै।
जासु प्रभाव लखै निज लच्छन,
जीव अजीव दसा निरवारै॥
आतमकौ अनुभौ करि ह्वै थिर,
आप तरै अर औरनि तारै।
साधि सुदर्व लहै सिव सर्म,
सु कर्म-उपाधि विथा वमि डारै॥ ७॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टि जीव सदैव अंत:करण में ज्ञान और वैराग्य दोनों गुण धारण करते हैं, जिनके प्रताप से निज-आत्मस्वरूप को देखते हैं और जीव-अजीव तत्त्वों का निर्णय करते हैं। वे आत्म-अनुभव कर निज स्वरूप में स्थिर होते हैं तथा संसार-समुद्र से आप स्वय तरते हैं वा दूसरों को तारते हैं। इस प्रकार आत्मतत्त्व को सिद्ध करके कर्मों का फंदा हटा देते हैं और मोक्ष का आनन्द प्राप्त करते हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-७ पर प्रवचन

देखो, यह धर्मी और अधर्मी की (परस्पर) उल्टी दशा!

धर्मी जीव को निरन्तर आत्मा के आनन्द का ज्ञान और अनुभव वर्तता है और राग तथा निमित्त के प्रति वैराग्य वर्तता है; राग की प्रीति नहीं है और निमित्त में अर्पित नहीं हो जाता - भिन्न रहता है। भले ही चक्रवर्तीपने का उदय हो — राज्य में बैठा हो परन्तु यह कोई मेरा नहीं है - ऐसा जानता है, क्योंकि अन्तर में अपनी अस्ति का भान है और रागादि के प्रति वैराग्य है।

ज्ञान और वैराग्य दोनों पर्याय हैं परन्तु यहाँ उन्हें गुण कहा है। अवगुण का अभाव होने से गुण कहा परन्तु (वस्तुतः वह) पर्याय है। इस ज्ञान और वैराग्य के प्रताप से धर्मी निजस्वरूप को देखता है कि 'यह चैतन्य ही मैं हूँ, रागादि मैं नहीं हूँ।' निज लक्षण अर्थात् आत्मा का स्वरूप, उसे ज्ञान-वैराग्य की शक्ति के बल से देखता है। तो क्या देखता है? धर्मी को अपने में शान्ति दिखती है, बाहर में शान्ति नहीं दिखती। संयोग में या शुभाशुभराग में शान्ति होवे तो दिखेगी न? उनमें शान्ति नहीं है, इसलिए नहीं दिखती है।

जीव अजीव दसा निरवारै — अर्थात् जीव और अजीवतत्त्वों का निर्णय करता है। शरीर और रागादि अजीव है, एक चिदानन्द भगवान मैं पूर्णानन्दस्वरूप जीव हूँ, इस प्रकार जीव और अजीव का धर्मी निर्णय करता है। पर से अपने को भिन्न और अपने से अभिन्न जानता है। छियानवे हजार रानियाँ और छियानवें करोड़ सैनिक मेरे नहीं हैं, वे मेरे लिए अजीव हैं। अजीव की चीज अजीव को धारण करके रही है, वह मेरी नहीं है, मेरे कारण नहीं है और मुझमें नहीं है। राग का विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी अजीव है। दया, दान, व्रतादि परिणाम में भी चैतन्य का अभाव है। जहाँ चैतन्य है, वहाँ उसका धर्म है। धर्म का मुँह बड़ा है, बापू! जो केवलज्ञान को प्राप्त करता है, वह धर्म है।

चौथे गुणस्थान में जो श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति और आनन्द प्रगट हुए हैं, वह धर्म है। शुभराग होता है, वह धर्म नहीं; अधर्म है। विकल्प की वृत्ति उत्पन्न होती है, उसमें आनन्द नहीं है। जहाँ आनन्द नहीं है, वहाँ धर्म नहीं है। अतीन्द्रिय आनन्द के बिना विकल्प उत्पन्न

www.vitragvani.com

होता है, वह विकार है–दु:ख है, इसलिए धर्मी अपने आनन्द को जीवस्वरूप जानता है और विकार को अजीवस्वरूप जानता है।

आतमकौ अनुभौ करि ह्वै थिर — अपने आत्मा का अनुभव करके उसमें स्थिर होता है और व्यवहार के राग से भिन्न पड़ जाता है। स्वयं अनुभव करके अपने को संसार से तारता है और ऐसा उपदेश देता है कि उसके निमित्त से दूसरे जीव भी तिरते हैं। अज्ञानी स्वयं नहीं तिरता और उसकी वाणी दूसरों को तारने में निमित्त भी नहीं होती है। धर्मी तो उपदेश ही ऐसा देता है कि भगवान पूर्णानन्दप्रभु का स्वीकार कर! राग का स्वीकार छोड़ दे! ऐसा धर्म का स्वरूप है।

साधि सुदर्व लहै सिव सर्म... धर्मी उसे कहते हैं कि जो अपने द्रव्य को साधता है। धर्मी छह खण्ड को नहीं साधता, अखण्ड आत्मा को साधता है। अन्दर में आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का छलाछल समुद्र है। आत्मा पुरुषार्थ का पिण्ड है, वीर्य की मूर्ति है। अनन्त... अनन्त बल के स्वभाव सामर्थ्य की मूर्ति है। पुरुषार्थ की पर्याय तो उसके अनन्तवें भाग है। पूर्ण पुरुषार्थ सम्पन्न निज द्रव्य पर दृष्टि पड़ी, तब से पुरुषार्थ की परिणति चलती ही है। वह नित्य शाश्वत् ऐसी वस्तु को साधती है क्योंकि पर्याय में उसका ही ध्येय है।

राग का करना, यह तो शान्ति का मरना है। यहाँ तो आत्मा में स्थिर होना और राग का मरना है। धर्मी, आत्मा में स्थिर होता है, वहाँ राग मर जाता है और शिव सर्म अर्थात् मोक्ष का आनन्द प्राप्त होता है। भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञान, आनन्द, शान्तिस्वभाव है, उसे साधने पर मोक्षरूपी परमानन्द की प्राप्ति होती है।

यह सब स्वरूप के साधन से होता है, बाह्य साधन से नहीं होता। चक्रवर्ती छह खण्ड को साधता है, जबकि धर्मी सुद्रव्य को – स्वद्रव्य को साधता है। एक समय की पर्याय में छह द्रव्य को जाने – ऐसी अनन्त पर्यायों का पिण्ड जो द्रव्य है, उसे धर्मी साधता है और कर्मों के फंद को हटा देता है। कर्म–उपाधि को वमन कर देता है। फिर उस वमन को पुन: ग्रहण नहीं करता – राग को पुन: ग्रहण नहीं करता।

अब, पाँचवें श्लोक पर आठवें पद्य में बनारसीदासजी कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान के

www.vitragvani.com

बिना सम्पूर्ण चारित्र व्यर्थ है। कितना स्पष्ट किया है! आत्मानुभव के बिना व्रत, नियम, आदि सब मिथ्या है।

श्रोता : यहाँ तो चारित्र को अलग कहा है, क्रिया नहीं कही।

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी को चारित्र कहाँ? लोग क्रियाकाण्ड को ही चारित्र मानते हैं कि यह नग्न है, व्रतधारी है, उपवासी है; इसलिए चारित्रवन्त है परन्तु आत्मा के अनुभव के बिना चारित्र तो नहीं, मात्र दुःख की क्रिया है। उसे चारित्र मानता है, इसलिए कहा कि उसका सम्पूर्ण चारित्र व्यर्थ है।

सम्यग्ज्ञान के बिना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है (सवैया तेईसा)

जो नर सम्यकवंत कहावत,
सम्यकग्यान कला नहि जागी।
आतम अंग अबंध विचारत,
धारत संग कहै हम त्यागी॥
भेष धरै मुनिराज-पटंतर,
अंतर मोह-महा-नल दागी।
सुन्न हिये करतूति करै पर,
सो सठ जीव न होय विरागी॥ ८॥

अर्थ - जिस मनुष्य के सम्यग्ज्ञान की किरण तो प्रगट हुई नहीं और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है, वह निजात्मस्वरूप को अबन्ध चिन्तवन करता है, शरीर आदि परवस्तु में ममत्व रखता है और कहता है कि हम त्यागी हैं। वह मुनिराज के समान भेष धरता है परन्तु अन्तरङ्ग में मोह की महाज्वाला धधकती है, वह शून्य-हृदय होकर (मुनिराज जैसी) क्रिया करता है परन्तु वह मूर्ख है; वास्तव में साधु नहीं है, द्रव्यलिङ्गी है।

काव्य-८ पर प्रवचन

देखो! यहाँ ऐसे जीव को 'षट्' कहा है। कुन्दकुन्द आचार्य भी अज्ञानी-एकान्ती मिथ्यादृष्टि को पशु कहते हैं, मूढ़ कहते हैं, अन्ध भी कहते हैं। आचार्य, ज्ञानी करुणा से अज्ञानी को सब कह सकते हैं।

www.vitragvani.com

जो जीव जगत् के समक्ष यह मनवाता है कि हम समकिती हैं, स्वयं समकिती मानता है और दूसरों से भी मनवाता है परन्तु राग और निमित्त से भिन्न आत्मा का ज्ञान तो हुआ नहीं, उसे समकिती कैसे माना जाये ?

हम चारित्र पालन करते हैं, वह क्या समकित बिना होगा ? भगवान ने कहा है कि समकिती को बन्ध नहीं होता, इसलिए हमें भी बन्ध नहीं है। निश्चयनय का एकान्त पक्ष ग्रहण करके अपने को अबन्ध विचारता है। सम्यग्दर्शन में तो आत्मा का अनुभव, आनन्द का स्वाद और स्वज्ञेय का यथार्थ भान होना चाहिए। वह तो स्वयं को समकिती मनवानेवाले के पास नहीं है – सम्यग्ज्ञान की एक किरण भी प्रगट नहीं है। संग में एकत्व मान रहा है और अपने को त्यागी मनवा रहा है। शरीर की क्रिया मेरी है, मैं वाणी बोलता हूँ, मेरी लिखावट मोती के दाने जैसी है, जिसे देखकर लोग प्रसन्न हो जाते हैं... इस प्रकार अनेक प्रकार से शरीरादि परद्रव्यों में ममत्व रखता है। स्वयं पुस्तक बनाने का मान रखता है, और अपने को सम्यग्दृष्टि मानता है, वह षट् है – मूर्ख है।

शरीर, वाणी, अक्षर, पुस्तक इत्यादि में ममत्व रखता है कि यह मेरे हैं, पुस्तक की रचना भी हमने की है। इस प्रकार परवस्तु के संग में ममत्व है और अपने को त्यागी कहता है। बाह्य से मुनिराज जैसा वेष – नग्नत्व, पिच्छी, कमण्डलु रखता है परन्तु अन्तर में तो मोह की महा ज्वाला सुलगती है। शरीर और राग की क्रिया मेरी है – ऐसी मिथ्यात्व की अग्नि तो जल रही है। जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी मानने से अशान्ति ही होती है– मिथ्यात्व की ज्वाला सुलगती है। धर्मी को पर में कहीं एकत्व नहीं है और स्व में एकत्व है, इसलिए शान्ति की धारा बहती है। जबकि अज्ञानी को मिथ्यात्व की, अशान्ति की धारा सुलगती है।

बाह्य से पर का सम्पूर्ण संग त्याग दिया हो, परन्तु अन्दर में सब में अज्ञानी को एकत्वबुद्धि पड़ी है, इसलिए मोह की महा ज्वाला सुलगती है। शून्य हृदय से करतूती करता है; राग के अभावरूप जो भाव होना चाहिए, वह तो अज्ञानी को नहीं है, इसलिए वह शून्य हृदय है – अन्धा है। मुनिवेष धारण करता है परन्तु वैरागी नहीं है, इसलिए वास्तव में वह साधु नहीं है।

www.vitragvani.com

अरे! नग्न हुआ है, अट्ठाईस मूलगुण पालन करता है तो भी षट् है? शून्य हृदय है? क्या उसे भाव नहीं है? भाई! वह रागभाव है। उसे मुनिपना कैसे कहा जा सकता है? राग है, वह तेरा निजभाव नहीं है। मुनिराज जैसी क्रिया करता होने पर भी वैरागी नहीं-मूर्ख है। वास्तव में मुनि नहीं परन्तु द्रव्यलिंगी है।

अब, नौंवे पद्य में इसी बात का विस्तार करते हैं कि भेदज्ञान के बिना समस्त चारित्र व्यर्थ है। चारित्र अर्थात् व्रत, तप आदि की क्रियाएँ सब निस्सार है।

भेदविज्ञान के बिना समस्त चारित्र निस्सार है (सवैया तेईसा)

ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पंथ,
लखै जग मैं विवहार सुपत्ता।
साधि संतोष अराधि निरंजन,
देह सुसीख न लेइ अदत्ता॥
नंग धरंग फिरै जति संग,
छकै सरवंग मुधारस मत्ता।
ए करतूति करै सठ पै,
समुझै न अनातम-आतम सत्ता॥ ९॥

अर्थ - वह मूर्ख, ग्रन्थ-रचना करता है; धर्म की चर्चा करता है; शुभ-अशुभ क्रिया को जानता है; योग्य व्यवहार रखता है; सन्तोष को सम्हालता है; अरहन्त भगवान की भक्ति करता है; अच्छा उपदेश देता है; बिना दिया हुआ नहीं लेता; बाह्य परिग्रह छोड़कर नग्न फिरता है; अज्ञानरस में उन्मत्त होकर बाल-तप करता है, वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ता का भेद नहीं जानता।

काव्य-९ पर प्रवचन

दूसरे के ग्रन्थ में अपना नाम डाल दे, वह तो खोटा है ही परन्तु स्वयं ग्रन्थ रचे और उसका स्वामित्व अपने को माने, वह भी मूढ़ है। हमने समयसार छपाया है, हमारी तरफ से टीका होकर छपाया है - ऐसा माने... परन्तु अरे! विकल्प भी तेरा नहीं, वहाँ ग्रन्थ तेरा कहाँ से होगा?

www.vitragvani.com

ग्रन्थ चरचै.... ग्रन्थ की चर्चा करे, वह भी शुभभाव है, धर्म नहीं। तैतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धि के देव चर्चा करते हैं परन्तु वह विकल्प है; धर्मी उसमें धर्म नहीं मानते हैं। उस विकल्प से मेरी शुद्धि बढ़ती है – ऐसा भी धर्मी नहीं मानते हैं। धवल में शास्त्र अभ्यास से असंख्यगुणी निर्जरा कही है, वह अपेक्षा अलग है। अन्तर आनन्द के लक्ष्यपूर्वक शास्त्र अभ्यास में अन्तर की विशेषता बढ़ती है। मिथ्यादृष्टि शास्त्र की चर्चा करे परन्तु अन्दर में राग की रुचि पड़ी है, आत्मा का अनुभव नहीं है; इसलिए उसकी समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं।

अज्ञानी द्रव्यलिंगी मुनि अट्ठाईस मूलगुण का व्यवहार भलीभाँति जानता है, और भलीभाँति पालन करता है, ठीक-ठीक योग्य रखता है, तो भी मिथ्यादृष्टि है। कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं अट्ठाईस मूलगुण पालन किये थे, वैसे ही हम पालते हैं, तो भी मिथ्या? – हाँ, कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं उन्हें जहर कहते हैं। राग है, इसलिए जहर है। जिसके व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं की है।

साधि संतोष अराधि निरंजन.... राग की मन्दता के परिणाम में सन्तोष रखता है वह भी बाह्य सन्तोष है, उससे अपने को लाभ मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। वह अरहन्त भगवान की भक्ति करता हो तो भी मूर्ख है। पाँचवें श्लोक में से बनारसीदासजी यह सब स्पष्ट करते हैं।

देह सुसीख.... दूसरों को उपदेश यथार्थ दे परन्तु उस उपदेश की क्रिया तो जड़ की है, उसे अपनी मान रहा है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है, उसका चारित्र व्यर्थ है। वैराग्य का उपदेश दे कि भाई! यह संसार खराब है, कोई किसी का नहीं है – ऐसा कहे परन्तु स्वयं को तो वह जँचा नहीं है। कोई तो किसी का नहीं है परन्तु राग भी तेरा नहीं है। मुक्ति चाहिए हो तो संसार छोड़ो। इस संसार में से कोई साथ आनेवाला नहीं है, इसलिए सब छोड़कर यहाँ आ जाओ! साधु हो जाओ – ऐसा उपदेश देता है परन्तु अभी तू स्वयं साधु कहाँ हुआ है, भाई!

दूसरों के दिए बिना कुछ ले नहीं – अचौर्यव्रत पालन करे, झूठ नहीं बोले, निर्दोष आहार ले, अहिंसा पालन करे, चौका बनाकर आहार न ले – ऐसा सुन्दर व्यवहार पालन

www.vitragvani.com

करे तो भी अज्ञानी है..... तो फिर उद्देशित आहार लेकर अपने को मुनि मनवानेवाला तो अज्ञानी ही है। मार्ग तो ऐसा है बापू! साक्षात् भगवान नहीं, काल हलका है, इसलिए कहीं बचाव किया जाए – ऐसा नहीं है।

नग्नपना धारण करे, समस्त परिग्रह छोड़े परन्तु आत्म आनन्द के भान बिना, वह राग के रंग में उन्मत्त होकर जो कुछ तप करता है, वह बालतप है।

पुनः (सवैया तेईसा)

ध्यान धरै करै इंद्रिय-निग्रह,
विग्रहसौं न गनै निज नत्ता।
त्यागि विभूति विभूति मढ़ै तन,
जोग गहै भवभोग-विरत्ता॥
मौन रहै लहि मंदकषाय,
सहै बध बंधन होइ न तत्ता।
ए करतूत करै सठ पै,
समुझै न अनातम-आतम-सत्ता॥ १०॥

अर्थ – आसन लगाकर ध्यान करता है; इन्द्रियों का दमन करता है; शरीर से अपने आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं गिनता; धन-सम्पत्ति का त्याग करता है; शरीर को राख से लिप्त रखता है; प्राणायाम आदि योग साधन करता है; संसार और भोगों से विरक्त रहता है; मौन धारण करता है; कषायों को मन्द करता है; वध-बन्धन सहन करके संतापित नहीं होता। वह मूर्ख ऐसी क्रियाएँ करता है परन्तु आत्मसत्ता और अनात्मसत्ता का भेद नहीं जानता।

काव्य-१० पर प्रवचन

जिसे आत्मसत्ता और अनात्मसत्ता का भान नहीं है अर्थात् मैं ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ और विकल्पमात्र अनात्मा है – ऐसा भेदज्ञान जिसे नहीं है, वह ध्यान लगाये या इन्द्रिय निग्रह करे या चाहे जितनी क्रिया करे परन्तु वह मूर्ख है, उसकी क्रिया आत्मा के लिए

www.vitragvani.com

सफल नहीं है; परिभ्रमण के लिए सफल है। व्यर्थ की मजदूरी करके ऊपर से चार गति में भटकने का फल प्राप्त करता है।

यह जीव ऐसा भी कहता है कि शरीर के साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा भी माने परन्तु अन्तर में अनाकुल आनन्दस्वरूप आत्मा का जिसे भान नहीं है, विवेक नहीं है, भेदज्ञान नहीं है, सम्यग्दर्शन नहीं है, वे सब षट् अर्थात् मूर्ख हैं। शरीर के साथ मुझे सम्बन्ध नहीं है परन्तु मैं कैसी वस्तु हूँ? मुझमें क्या है? - उसका कुछ पता नहीं है; इसलिए चाहे जितनी क्रिया करता हो तो भी ऐसा जीव मूर्ख गिना जाता है। स्वभाव की एकता का भान नहीं है और राग की एकता टूटी नहीं है, इसलिए अज्ञानी धार्मिक क्रिया करता होने पर भी मूर्ख में खपता है।

निर्लेप चैतन्यमूर्ति की दृष्टि नहीं है, अनुभव नहीं है, वे जीव प्राणायाम करें या मन्दकषाय करें या मौन धरें परन्तु वे सब मिथ्यादृष्टि-मूढ़ हैं। कदाचित् चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे... परन्तु आनन्द कहाँ से लाये? मात्र नास्ति से अस्ति नहीं आती। अस्ति-महासत्ता के भानरहित समस्त क्रिया व्यर्थ है।

यहाँ तो एक समय की पर्याय को भी परद्रव्य गिना है। ज्ञान का क्षयोपशम मूलवस्तु नहीं होने से परद्रव्य है। जिसे अज्ञानी आत्मा मानता है, वह आत्मा नहीं है। यहाँ तो सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर जिसे 'आत्मा' कहते हैं, ऐसे आत्मा की जिसे दृष्टि और अनुभव हुआ है, वही ज्ञानी है, उसके अतिरिक्त सब अज्ञानी हैं। पाँच इन्द्रियों के भोग न हो तब-बाल ब्रह्मचारी हो तो भी मूढ़ है, क्योंकि अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव बिना यह सब क्रियाकष्ट चार गति के फल को देनेवाले हैं।

कोई संसार और भोगों से विरक्त होकर नीरस रूखा खाता हो, चने-मुरमुरे खाकर काम चलाये, उससे क्या हुआ, वह तो जड़ की क्रिया हुई। उसके साथ राग की मन्दता है, वह भी अचेतन है-आत्मा नहीं। शरीर से अब्रह्मचर्य की क्रिया नहीं की, उसमें आत्मा का क्या हित आया? मैं अनन्त गुण का पिण्ड हूँ, मुझमें ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण हैं - ऐसा भेद करके विकल्प करना भी आत्मा की चीज में नहीं है तो दूसरा कौन सा राग आत्मा में हो सकता है?

www.vitragvani.com

यह जैनशासन है कि जिसमें पुण्य का-राग का-कर्म का सम्बन्ध नहीं है, सम्बन्ध मानना, वह मिथ्यात्व है। आत्मा की पहचान रहित सामायिक या प्रौषध भी बिना एक की शून्य समान है। मिथ्यादृष्टि को सच्ची सरलता या समता हो ही नहीं सकती। कषाय की मन्दता करे परन्तु उसमें ही धर्म मान ले तो उसे राग से भिन्न भगवान का भान नहीं होने से वह मूढ़ है।

शास्त्र में तो वहाँ तक कहा है कि एक समय की पर्याय को ही जो आत्मा मानता है, जिसे त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि ही नहीं है, वह भले ही वनवासी द्रव्यलिङ्गी साधु हो, अट्ठाईस मूलगुण पालन करता हो, तो भी षट् है-मूढ़ है-मिथ्यादृष्टि है। कोई उसका वध और बन्धन करे, तथापि क्रोध न करे तो भी आत्मभान के बिना वह मूढ़ है। विकल्प से पृथक् निर्विकल्प वस्तु का दर्शन और भेदविज्ञान प्रगट नहीं हुआ - ऐसा जीव ऐसी मन्दकषाय करने पर भी मिथ्यादृष्टि है। जैनदर्शन बहुत कठोर है भाई! यह तो जैन परमेश्वर की वाणी है कि ऐसी क्रिया करने पर भी उसे निर्जरा नहीं होती है।

आत्मा अर्थात् क्या चीज, बापू! अकेला सहज परमस्वभावभाव, जिसे पर्याय के चार भाव भी स्पर्श नहीं करते - ऐसा द्रव्यस्वभाव ही आत्मसत्ता है। सर्वज्ञ स्वभाव से भरपूर प्रभु अल्पज्ञ नहीं है, अल्प उपयोगवाला नहीं है। जिसमें स्थिरता करने से आत्मा की शान्ति और आनन्द वृद्धि को प्राप्त होते हैं, शोभा बढ़ती है - ऐसी आत्मसत्ता में प्रतपन वह तप है और ऐसे तप से निर्जरा होती है, इसलिए **तपसा निर्जरा** कहा है। उप अर्थात् आत्मा के समीप में वास किया, वह जीव उपवासी है, उसे निर्जरा होती है। आत्मा की पहचान के बिना रोटियों का त्याग करे वह उपवासी नहीं है।

अब ग्यारहवें पद्य में क्या कहते हैं!

(चौपाई)

जो बिनु ग्यान क्रिया अवगाहै।
जो बिनु क्रिया मोखपद चाहै॥
जो बिनु मोख कहै मैं सुखिया।
सो अजान मूढनिमैं मुखिया॥ ११॥

www.vitragvani.com

अर्थ – जो सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र धारण करता है, वा बिना चारित्र के मोक्षपद चाहता है, तथा बिना मोक्ष के अपने को सुखी कहता है, वह अज्ञानी है, मूर्खों में प्रधान अर्थात् महामूर्ख है।

काव्य-११ पर प्रवचन

आत्मा के आनन्द का वेदन-स्वसंवेदन तो नहीं है और मात्र क्रियाएँ करता है, वह चारित्र के बिना मोक्ष को चाहता है। महाव्रत का विकल्प उत्पन्न होता है, वह चारित्र नहीं है, चारित्र का दोष है। यहाँ तो जगत् की मान्यता से उल्टी बात है। चारित्र अर्थात् 'आत्म आनन्द में लीनता' उसके बिना मोक्ष चाहता है, वह झूठा है तथा आत्मा के ज्ञान के बिना कोई मोक्ष चाहता है, वह भी झूठा है।

जो 'मोक्ष' के बिना संसार में अपने को सुखिया मानता है, वह मोक्षस्वरूप आत्मा के ज्ञान से अजान, मूर्ख में मुख्य है। पैसे-टके से सुखी हो, स्त्री, पुत्रादि आज्ञांकित हो, पुत्रादि अच्छी कमाई करते हों, स्वयं बादशाही से पैढ़ी सम्हाल कर बैठा हो, इसलिए उसे ऐसा लगता है कि मैं सुखी हूँ; दूसरे भी उसे सुखी मानते हैं परन्तु यह मान्यता ही भूल भरी है, चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती और मुक्ति के बिना सुख नहीं होता।

विकल्पमात्र में दु:ख है, वह विकल्प अशुभ हो या दया, दान, पूजा का शुभ विकल्प हो – उसमें भी दु:ख है, कषाय अग्नि है, भट्टी है। शुभभाव स्वयं तो दु:खरूप है और उसके फल में स्वर्ग प्राप्त हो, उसमें भी अंगारे हैं-भट्टी है।

स्वर्ग में एक सागर की आयुवाले को एक हजार वर्ष में तो आहार का विकल्प उठता है और अमृत की डकार से तृप्ति हो जाती है। पन्द्रह दिन में एक बार श्वाँस लेना पड़ता है। रत्न के महल के मध्य रहना होता है, तथापि दु:खी ? हाँ, वह कषाय की अग्नि में सिकता है। अकषायस्वरूप भगवान आत्मा के ज्ञान और वेदन के बिना अपने को सुखी मानते हैं, वे सब मूर्खों में प्रधान हैं।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होवे तो भी सम्यक्चारित्र के बिना मुक्ति नहीं होती। चारित्र अर्थात् स्वरूप की लीनता। सम्यग्दर्शन, ज्ञान में आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान तो हुआ

www.vitragvani.com

है परन्तु उसी अतीन्द्रिय आनन्दधाम में लीनता होने का नाम चारित्र है। ऐसी लीनता के बिना महाव्रत लेकर मोक्ष माँगना, वह तो रण में पीठ दिखाने जैसी बात है।

यहाँ तो यह क्रम बता दिया है कि सम्यक् अनुभव के बिना चारित्र नहीं होता; चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता; मोक्ष के बिना सुख नहीं होता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तो आता है परन्तु उसकी ही विशेषता वह चारित्र है और मुक्ति में उसकी ही पूर्णतारूप फल है। मोक्ष के बिना सुखी नहीं अर्थात् पूर्ण सुख नहीं है। सम्यग्दर्शन में आंशिक सुख है, चारित्र में विशेष सुख है और उस सुख के फल में ही पूर्ण सुख है। व्यवहार तो स्वयं राग है, दुःख है, उसके फल में मुक्ति नहीं है। मोक्ष के बिना अपने को सुख कहता है, वह अज्ञानी मूर्खों में प्रधान - महामूर्ख है।

अब छठवें कलश में आचार्य अमृतचन्द्रदेव क्या कहते हैं, वह लेते हैं। नौ सौ वर्ष पहले यह आचार्य इस भरतक्षेत्र में विचरते थे, अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते थे। यह समयसार शास्त्र की टीका बनने में उनके विकल्प का निमित्त है। शास्त्र तो उसके बनने के काल में बन गया है परन्तु निमित्त से ऐसा कथन हो सकता है कि अमृतचन्द्राचार्यदेव ने यह बनाया है।

निर्जरा अधिकार का छठवाँ कलश —

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमुदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥ ६॥

श्रीगुरु करुणा करके संसारी जीवों को कैसा उपदेश देते हैं कि यहाँ आओ... यहाँ आओ... यह चैतन्य धातु वह तुम्हारा पद है। जो शुद्ध-शुद्ध है, उसमें आओ... ऐसा होने पर भी अज्ञानी जीव नहीं मानता, इसलिए बनारसीदासजी बारहवें पद्य में लिखते हैं कि -

www.vitragvani.com

श्रीगुरु का उपदेश अज्ञानी जीव नहीं मानते (सवैया इकतीसा)

जगवासी जीवनिसौं गुरु उपदेस कहै,
तुमैं इहां सोवत अनंत काल बीते हैं।
जागौ ह्वै सचेत चित्त समता समेत सुनौ,
केवल-वचन जामैं अक्ष-रस जीते हैं॥
आवौ मेरै निकट बताऊँ मैं तुम्हारे गुन,
परम सुरस-भरे करमसौं रीते हैं।
ऐसे बैन कहै गुरु तौऊ ते न धरैं उर,
मित्रकैसे पुत्र किधौं चित्रकैसे चीते हैं॥ १२॥

अर्थ – श्रीगुरु जगवासी जीवों को उपदेश करते हैं कि तुम्हें इस संसार में मोहनिद्रा लेते हुए अनन्त काल बीत गया; अब तो जागो और सावधान वा शान्तचित्त होकर भगवान की वाणी सुनो, जिससे इन्द्रियों के विषय जीते जा सकते हैं। मेरे समीप आओ, मैं कर्म-कलङ्क रहित परम आनन्दमय तुम्हारे आत्मा के गुण तुम्हें बताऊँ। श्रीगुरु ऐसे वचन कहते हैं तो भी संसारी मोहीजीव कुछ ध्यान नहीं देते, मानों वे मिट्टी के पुतले हैं अथवा चित्र में बने हुए मनुष्य हैं।

काव्य-१२ पर प्रवचन

अज्ञानी जीव मिट्टी के पुतले जैसे हैं कि जिससे उन्हें गुरु की वाणी का असर नहीं होता। पर्यायबुद्धि में... राग में रहते हुए अनन्त काल ऐसे बीत गया है। प्रभु! भगवान आत्मा के अमृतस्वरूप की सावधानी अनन्त काल में एक समय मात्र भी नहीं की है।

हे जीव! अब तो जागृत हो! सावधान हो! चेत! भाई चेत!! शान्तचित्त होकर एक बार भगवान की वाणी सुन। भगवान की वाणी कैसी है? जिससे पाँच इन्द्रिय के विषय जीते जा सकते हैं। **केवल-वचन जामैं अक्ष-रस जीते हैं**। इन्द्रियाँ, इन्द्रियों की ओर का विकल्प और इन्द्रियों के विषय – इन सबकी दृष्टि छोड़कर, स्वभाव की दृष्टि करने का नाम इन्द्रियों को जीतना कहलाता है। उनमें से एक पर भी जिसका लक्ष्य है, वह विषय का ही सेवन करता है। भावेन्द्रिय जो खण्ड-खण्ड ज्ञान है, क्षयोपशम ज्ञान है, वह भी

www.vitragvani.com

परविषय है। उस परविषय को भोगनेवाला विषय को ही भोगता है। स्व को विषय नहीं बनाया और परविषय का लक्ष्य और ध्येय है, वह परविषय का ही सेवन करता है।

भगवान की वाणी में यह आया है कि हमारे समक्ष देखना ही इन्द्रिय का विषय है, उसे छोड़ दे। हमें सुनना छोड़कर तू तुझे देख! ऐसा कहकर भगवान की वाणी पर्यायबुद्धि का नाश कराती है, स्वभाव की सन्मुखता कराती है और विकल्प से विमुखता कराती है – ऐसी वाणी का नाम ही वीतराग की वाणी है।

तेरा भगवान तेरे पास पूरा पड़ा है। वीतराग की यह बात जगत् के साथ मेल खाये वैसी नहीं है। एक ओर ऐसा कहे कि भगवान की वाणी सुन तो भव और इन्द्रियों को जीत सकेगा और एक तरफ भगवान की वाणी को इन्द्रिय का विषय कहा है, तो वाणी सुनना या नहीं सुनना? उसका समाधान भी भगवान की वाणी में आता है कि इन्द्रिय से लक्ष्य करके तू वाणी सुनता है, उसमें इन्द्रियों का जीतना नहीं होता परन्तु तू इन्द्रियों द्वारा जीता जाता है। आहा...हा...! अकेले ज्ञान के नूर का पूर, सुख का सागर भगवान आत्मा को ध्येय बनाकर उसमें दृष्टि दे तो वह भगवान की वाणी सुनकर इन्द्रियों को जीता कहलाता है। भगवान की वाणी तो तुझे इन्द्रियों को जीतने का कहती है।

जिसे आनन्दसहित स्वसंवेदनज्ञान प्रगट हुआ है, उसे आगे बढ़ने पर विशेष लीनतासहित जो विकल्प उत्पन्न होता है, उसका ज्ञान होता है। स्वभाव के सन्मुख होनेवाले को राग का ज्ञान होता है; राग के सन्मुख होनेवाले को राग का ज्ञान भी नहीं होता।

आवौ मैरै निकट बताऊँ मैं तुम्हारे गुन.... नजदीक आओ, सुनने के योग्य होओ तो मैं तुम्हारे गुण तुम्हें बतलाऊँ! तुम्हारे में आनन्द, शान्ति और अतीन्द्रिय सुख पड़ा है, वह मैं बताऊँ। तू तो अनन्त शक्तियों का सागर है, अनन्त सिद्धों को गर्भ में रखकर पड़ा है, अर्थात् अनन्त सिद्ध पर्यायें होने की योग्यता तुझमें भरी पड़ी हैं, तू निकट आवे तो तेरे स्वभाव की महिमा को बताऊँ – ऐसा कहा है, व्यवहार बतलाने को नहीं कहा है।

अनन्त आनन्द और शान्तिवाला तत्त्व वह निजपद है। पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह निजपद नहीं है; वह तो अपद है। प्रभु! तू आनन्द का नाथ है न! है न! तुझमें दुःख नहीं, राग नहीं, अल्पज्ञता नहीं; तुझमें तो ज्ञान आनन्द, स्वच्छता आदि सभी

www.vitragvani.com

पूर्ण स्वभाव विद्यमान हैं। पूर्ण अकर्तृत्व स्वभाव और पूर्ण अभोक्तृत्व स्वभाव होने से रागादि का करना या भोगना तेरे स्वभाव में बिल्कुल नहीं है; इसलिए विकल्प, पर्याय और निमित्त की बुद्धि छोड़ दे, वह तेरे लिए अपद है।

तुम्हारे गुन, परम सुरस-भरे करमसौं रीते हैं। तेरे गुण कैसे हैं? – परम अतीन्द्रिय आनन्द रस से भरपूर हैं और कर्म से खाली हैं, जिसमें कर्म का अभाव ही है और आनन्द से परिपूर्ण हैं, उसे आत्मा कहते हैं। ऐसे आत्मा का सम्यग्दर्शन हो तब समकित और धर्म की शुरुआत हुई कहलाती है।

ऐसे बैन कहै गुरु तौऊ ते न धरैं उर.... गुरु ऐसे अमृत समान वचन कहते हैं तो भी जो उन्हें हृदय में नहीं धरते, वे जीव कैसे हैं! मानो, मिट्टी के पुतले देख लो। जैसे, मिट्टी के पुतले या चित्र में आलेखित मनुष्य को कुछ भी भान नहीं होता, वैसे ही इन्हें भी कुछ भान नहीं है। गुरु जो आत्मपद बताते हैं, वहाँ जाने के बदले हमें तो व्रत पालना है, तप करना है, जप करना है – ऐसा करके उसमें रुका रहता है, वह मिट्टी का पुतला है। मिट्टी के पुतले को कोई असर नहीं होता, वैसे ही तुझे भी कोई असर नहीं होता। ऐसा कहकर गुरु उसे जगाते हैं। जाग रे जाग, आत्मा! अब तो निद्रा छोड़!!

यह छठवाँ कलश और बारहवाँ पद्य हुआ।

अब, निर्जरा द्वार का तेरहवाँ पद्य लेना है, इसमें बनारसीदासजी जीव की शयन और जागृतदशा कहने की प्रतिज्ञा का कथन कहते हैं।

जीव की शयन और जागृतदशा कहने की प्रतिज्ञा (दोहा)

एतेपर बहुरौं सुगुरु, बोलैं वचन रसाल।
सैन दसा जागृत दसा, कहै दुहूंकी चाल॥ १३॥

अर्थ – इतने पर फिर कृपालु सुगुरु जीव की निद्रित और जागृतदशा का कथन मधुर वचनों में कहते हैं।

काव्य-१३ पर प्रवचन

अज्ञान में जीव की दशा कैसी हो रही है और ज्ञान होने पर जीव की दशा कैसी होती है? – उसका वर्णन सुगुरु मधुर वचनों द्वारा करते हैं।

www.vitragvani.com

जीव की शयन अवस्था (सवैया इकतीसा)

काया चित्रसारी मैं करम परजंक भारी,
माया की संवारी सेज चादरि कलपना।
सैन करै चेतन अचेतना नींद लियैं,
मोह की मरोर यहै लोचन कौ ढपना॥
उदै बल जोर यहै स्वासकौ सबद घोर,
विषै-सुख कारजकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दसामैं मगन रहै तिहूं काल,
धावै भ्रम जाल मैं न पावै रूप अपना॥ १४॥

अर्थ - शरीररूपी महल में कर्मरूपी बड़ा पलङ्ग है, माया की सेज सजी हुई है, कल्पनारूपी चादर है, स्वरूप की भूलरूप नींद ले रहा है, मोह के झकोरों से नेत्रों के पलक ढँक रहे हैं, कर्मोदय की जबरदस्त धुरकने की आवाज है, विषय-सुख के कार्यों के हेतु भटकना यह स्वप्न है; ऐसी अज्ञान-अवस्था में आत्मा सदा मग्न होकर मिथ्यात्व में भटकता फिरता है परन्तु अपने आत्मस्वरूप को नहीं देखता।

काव्य-१४ पर प्रवचन

अनादि से जीव अज्ञान में सो रहा है।

श्रोता : हिलता चलता है, उसे सो रहा है - ऐसा क्यों कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिन्हें अपने ज्ञान-आनन्दस्वरूप का भान नहीं है - ऐसे जीव, शुभाशुभराग और अज्ञान में सो ही रहे हैं। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विकल्प उठते हैं, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है, आस्रव है, राग है, विकार है-विभाव है। अनादि से अज्ञानी जीव इस आस्रव में सो रहे हैं, पोड़ रहे हैं।

शरीर को महल की उपमा दी है, उसमें कर्मरूपी पलंग बिछा हुआ है अथवा कर्म के निमित्त से हुए विकारों का पलंग है, उसमें अज्ञानी जीव सो रहा है। राग और शरीररहित चैतन्य महल का तो उसे पता नहीं है; इसलिए राग में ही पोढ गया है - मर गया है, घोर निद्रा में सो रहा है।

www.vitragvani.com

तथा वह शैय्या कैसी है ? माया से सजी हुई है। लक्ष्मी, वैभव आदि सब मायाजाल है, अज्ञानी उसे अपना मानकर अज्ञान में सो रहा है और ऊपर कल्पनारूपी चादर ओढ़ ली है। अनेक प्रकार के संकल्प और विकल्प किया करता है – उसका ऐसा होगा, ऐसा करना है, ऐसे संकल्प-विकल्प किया करता है। पर का तो कुछ कर नहीं सकता, मन में कल्पना किया करता है।

सैन करै चेतन अचेतना नींद लियैं,... ज्ञान-दर्शनस्वभाव चेतना को भूलकर अचेतन राग की नींद में सो रहा है। विपरीत श्रद्धा के कारण सम्यग्ज्ञान के नेत्र भी ढक गये हैं। जिस ज्ञान द्वारा आत्मा को जानना चाहिए, वे ज्ञाननेत्र मिथ्यात्व के कारण अन्ध हो गये हैं। मोह में सुख है, राग में सुख है, सामग्री में सुख है – ऐसी मिथ्या मान्यता की निद्रा ले रहा है; इस कारण मोह की लहरों से आँख की पलक ढँक गयी है।

उदै बल जोर यहै स्वासकौ सबद घोर... जैसे नींद में खर्राटे लेते हैं, वैसे अज्ञान निद्रा में कर्म के उदय के जोर से विकार के खर्राटों की घोर आवाज होती है। पुण्य का उदय होवे, उसमें बहुत अधिक धन की धूल इकट्ठी हुई हो, इसलिए यह जीव, मिथ्यात्व में लगता है; उसमें इसे मजा आता है। यह सब बनारसीदासजी उपमा देते हैं।

जैसे, निद्रा में स्वप्न आते हैं; उसी प्रकार इस अज्ञानी जीव को पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख का स्वप्न आता है, इसलिए उनके लिए भटकता है। मीठे शब्द सुनकर, या मक्खन जैसे स्त्री के शरीर को देखकर उसमें सुख है – ऐसी कल्पनारूप स्वप्न इसे आते हैं; इसलिए उनकी प्राप्ति के लिए झपट्टे मारता है। परदेश में कमाने जाऊँ, जहाँ सुन्दर शब्द मिलते हैं, वहाँ सुनने जाऊँ, रूप को देखूँ, रस चख लूँ, सुन्दर शरीर का भोग लूँ, सुगन्ध लूँ... ऐसे परचीज में झपट्टे मारकर, सुख की कल्पना करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

ऐसी मूढ़ दसामैं मगन रहै तिहूं काल,.... अज्ञान अवस्था में आत्मा सदा भ्रम से मिथ्यात्व में लीन रहता है। विषयों के लिए भटकता फिरता है, परन्तु अपने आत्मस्वरूप को नहीं देखता। निज निधान में नजर ही नहीं करता। पता भी नहीं है कि मेरे पास ऐसा

www.vitragvani.com

चैतन्यनिधान है और जहाँ कोई अपना नहीं है – ऐसे विषयों में सुख की कल्पना से दौड़ रहा है। ऐसा मूढ़ मिथ्यादृष्टि अपने खोटे लक्षण से ही चार गति में भटक रहा है।

देखो भाई! यह समझने का है, बाकी धूल में कुछ नहीं है।

श्रोता : धूल में कुछ नहीं है, परन्तु धन में माल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धन ही धूल है, शरीर भी धूल है और अन्दर शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह भी चैतन्य की जाति के नहीं, इसलिए अचेतन हैं-धूल है। उसमें भी कहा न? **अचेतना नींद लियै.....** शुभ और अशुभविकल्प अचेतन हैं। शरीर तो प्रत्यक्ष राख होता दिखता है, इसलिए शास्त्र में उसे मृतक कलेवर कहा है। देह-देवल में चैतन्यमूर्ति विराजमान है, वह तो देह से तो भिन्न है परन्तु शुभाशुभराग से भी स्वभावत: भिन्न है। ऐसे चैतन्यमूर्ति का भान नहीं है, वे सब मूढ़जीव अज्ञान में सो रहे हैं। अन्दर में क्या चीज है, वह देखने की फुर्सत भी नहीं निकालते हैं।

अज्ञानी की दृष्टि पुण्य-पाप पर है, इसलिए उदय का बल है – ऐसा कहा है। जहाँ आत्मबल नहीं है, वहाँ उदय का बल है।

इस मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व में क्या-क्या होता है? उसका वर्णन 'शयन अवस्था' के पद्य में किया। वह जीव भले ही त्यागी हो, साधु हो, या भोगी हो परन्तु अन्तर में जिन्हें आत्मस्वरूप का पता नहीं हैं, वे जीव पुण्य-पाप के विकल्पों में ही धर्म मानकर मिथ्यात्व में निश्चिन्त सो रहे हैं। आत्मा क्या चीज है, उसका तो उन्हें पता ही नहीं है।

अब, जीव की जागृतदशा का वर्णन करते हैं। जब जीव, ज्ञानदशा में जागृत होता है कि अरे! मैं तो आनन्द का धाम हूँ, विकल्पमात्र मेरी चीज में नहीं है – जिसे ऐसी जागृतदशा हुई है, उसका वर्णन करते हैं।

जीव की जागृतदशा (सवैया इकतीसा)

चित्रसारी न्यारी परजंक न्यारौ सेज न्यारी,
चादरि भी न्यारी इहां झूठी मेरी थपना।
अतीत अवस्था सैन निद्रावाहि कोउ पै,
न विद्यमान पलक न यामैं अब छपना॥

www.vitragvani.com

स्वास औ सुपन दोऊ निद्रा की अलंग बूझै,
सूझै सब अंग लखि आतम दरपना।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि,
भालै दृष्टि खोलिकैं संभालै रूप अपना॥ १५॥

अर्थ – जब सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ, तब जीव विचारता है कि शरीररूपी महल जुदा है, कर्मरूप पलङ्ग जुदा है, मायारूप सेज जुदी है, कल्पनारूप चादर जुदी है, यह निद्रावस्था मेरी नहीं है – पूर्वकाल में सोनेवाली मेरी दूसरी ही पर्याय थी। अब वर्तमान का एक पल भी निद्रा में नहीं बिताऊँगा। उदय का नि:श्वास और विषय का स्वप्न ये दोनों निद्रा के संयोग से दिखते थे; अब आत्मरूप दर्पण में मेरे समस्त गुण दिखने लगे। इस प्रकार आत्मा अचेतन भावों का त्यागी होकर ज्ञानदृष्टि से देखकर अपने स्वरूप को सम्हालता है।

काव्य-१५ पर प्रवचन

जिसे भगवान प्रथम दर्जे का धर्मी – सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसकी जागृतदशा कैसी होती है, यह बात यहाँ बनारसीदासजी कहते हैं। जब 'मैं चैतन्य जीवस्वरूप हूँ' ऐसी अन्तरदृष्टि और उसका अनुभव होने पर वह जीव सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी होता है, वह अपने जीव को कैसा मानता है ? मैं शरीररूप महल से – मिट्टी से पृथक् हूँ, वह मुझमें नहीं और मैं उसमें नहीं हूँ। शरीर तो अजीव है, वह मेरे द्रव्य-गुण में तो नहीं परन्तु पर्याय में भी नहीं है और उसके अजीवपने में मेरा कुछ नहीं है। अब जहाँ शरीर में ही मेरा कुछ नहीं है तो स्त्री-पुत्र आदि परिवार में मेरा क्या होगा ?

अनादि से मैं पुण्य-पापकर्म के पलंग में सो रहा था परन्तु वह पलंग भी मेरा नहीं है, मैं उससे भिन्न हूँ। सर हुकमचन्दसेठ के यहाँ सोने के पलंग में सुवर्ण के अक्षर से सजाया था। पलंग को सजाओ या घर को सजाओ परन्तु वह जीव का होता है ? धर्मी तो जानता है कि यह कोई चीज मेरी नहीं है। जो चीज मेरी हो, वह मुझसे कभी पृथक् नहीं होती। जो पृथक् पड़ती है, वह चीज मेरी नहीं है।

यह मेरा और यह तेरा – ऐसी जो कल्पना अज्ञानी जीव करता है, उसे ज्ञानी झूठ ही

www.vitragvani.com

जानते हैं। परचीज में मेरे-तेरे का भेद करना, यह मिथ्याकल्पना है; पर में ऐसे दो भेद हैं ही नहीं। पर है, वह पर ही है, तथापि पूर्व में अज्ञानदशा में मैं भी ऐसा भेद करता था, वह मेरी अवस्था दूसरी थी। अब तो मेरी दशा ही बदल गयी है, निद्रा छोड़ कर मैं जागृत हुआ हूँ।

आठ वर्ष की बालिका भी यदि सम्यक्त्व प्राप्त करती है तो उसकी ऐसी जागृत दशा होती है। सम्यग्दर्शन होने पर ऐसी दशा होती है। चारित्र की बात तो बाद की है। स्वरूप में रमना और स्थिर होना – ऐसी चारित्र की दशा तो अलौकिक है परन्तु प्रथम दर्जे की धर्म दशा में धर्मी को ऐसा हो जाता है कि पूर्व की निद्रादशा थी, वह दशा ही मेरी नहीं, वह तो अज्ञान अवस्था थी; मेरा स्वरूप ऐसा नहीं है। मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ – ऐसा भान हुआ इससे पूर्व की अवस्था मिथ्या थी – ऐसा उसे ख्याल में आता है।

धर्मी को ऐसा लगता है कि वर्तमान का एक भी पल में निद्रा में अर्थात् अज्ञान में व्यतीत नहीं करूँ। यह दया, दान, व्रत, भक्ति के राग की एकता में एक भी पल नहीं बिताऊँ। शुद्ध चैतन्य का भान हुआ; अत: विकल्पमात्र से विरक्त हो गया। बाहर में संयोग तो दिखता है परन्तु अन्तर में धर्मी, संयोग और संयोगीभाव से अत्यन्त भिन्न होता है। जैसे, नारियल में गोला और काँचली भिन्न है; उसी प्रकार चैतन्य गोला और शरीर तो भिन्न है ही परन्तु काँचली तरफ की लाल छाल से भी सफेद मीठा गोला भिन्न है; वैसे ही शुभाशुभराग की छाल से भी शुद्ध आनन्दकन्द चैतन्य भिन्न है।

पर्वत पर बिजली गिरे और पर्वत के दो भाग हो जाएँ, वे प्लास्टर करने से इकट्ठे नहीं होते। इसी प्रकार राग और शरीर तथा आत्मा के मध्य धर्मी ने भेदज्ञान की ऐसी छैनी मारी है कि वह अब कभी इकट्ठे नहीं होंगे अर्थात् धर्मी को राग में या शरीर में एकत्वबुद्धि नहीं होगी। अज्ञान में उदय अपना भासित होता था, विषय में सुख है – ऐसा लगता था, वह अब कभी नहीं लगता।

अब आत्मरूप दर्पण में मेरे समस्त गुण दिखने लगे.... स्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान में धर्मी को अपने अनन्त गुणों की सूझ पड़ती है। रागादि, वे मेरे नहीं परन्तु ज्ञानादि वे मेरे गुण हैं। राग से भिन्न पड़े हुए मेरे तत्त्व में तो अनन्त गुण बसे हुए हैं – ऐसा धर्मी को दिखने लगा है; इसलिए सर्व अचेतनभावों का त्यागी होकर, निजस्वरूप को सम्हालता है। मैं तो

www.vitragvani.com

ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ – ऐसा अनुभव करता हुआ ज्ञानी, ज्ञानानन्दधाम की ही सम्हाल करता है। राग और परचीज को तो अपने ज्ञान में रहकर मात्र जानता है कि यह पर है। अब धर्मी उनकी सम्हाल नहीं करता।

वीतराग मार्ग में ऐसी दशा का नाम धर्म है, यही सम्यग्दर्शन है।

प्रभु! तेरी चीज में शान्ति और आनन्द भरे हुए हैं; राग तेरे स्वरूप में नहीं है। ऐसे निज स्वरूप को भानेवाले धर्मी, रागादि के त्यागी हैं; रागादि के स्वामी नहीं हैं। जो शुभाशुभ राग का स्वामी होता है, वह जड़ है। जैसे भैंस का स्वामी पाड़ा होता है; उसी प्रकार पुण्य-पाप और उसके फल में प्राप्त संयोगों का स्वामी होता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि जड़ है। धर्मी उसका स्वामी नहीं होता, इसलिए धर्मी को उनकी सम्हाल करना नहीं रहा। बस, अब धर्मी तो स्वभाव की सम्हाल में सावधान हो गया है। रागादि विकल्प का तो अन्तर से त्यागी हो गया है; इसलिए उसे सम्हालूँ या रखूँ – ऐसी भावना नहीं रही है।

परद्रव्य की सम्हाल तो अज्ञानी भी नहीं कर सकता परन्तु कल्पना करके ऐसा मानता है कि मैं स्त्री, पुत्र, और व्यापार आदि को सम्हालता हूँ। पर को वह क्या सम्हाल सकता है? वह तो जगत् की स्वतन्त्र वस्तुएँ हैं, वे सब अपने कारण से टिककर बदल रही है; तुझे तो तेरे आत्मा को सम्हालना है। अज्ञानी मूढ़ को, कौन पर है और कौन स्व है? – इसका ही भान नहीं है। अज्ञान से पर को अपना मानकर सम्हालने का प्रयत्न करता है और जो वास्तव में अपना है – ऐसे अनन्त गुणों को नहीं सम्हालता। आहा... स्व की सम्हाल नहीं और पर को सम्हालने की कल्पना, यह तो मूढ़ता है। मैं तो शान्ति, आनन्द आदि अनन्त गुणों का निधान हूँ, मेरे निधान में रागादि नहीं है; मेरे स्वरूप में नहीं है – ऐसी जो जागृतदशा हुई, उसका क्या फल आता है? – वह अब सोलहवें दोहे में बतलाते हैं।

जागृतदशा का फल (दोहा)

इहि विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव।
जे सोवहि संसारमैं, ते जगवासी जीव॥ १६॥

अर्थ – जो जीव संसार में इस प्रकार आत्म-अनुभव करके सचेत हुए हैं, वे सदैव मोक्षरूप ही हैं और जो अचेत हुए सो रहे हैं, वे संसारी हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-१६ पर प्रवचन

जिसने ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मा को जाना, उसे क्या फल मिला? - उसका मोक्ष होगा, ऐसा नहीं परन्तु वह मोक्षरूप ही है। वह सम्यग्दृष्टि **शिवरूप सदीव** — सदा मोक्षरूप ही है क्योंकि रागादि विकल्प से भिन्न अपने स्वभाव का उसे आदर हुआ है, इसलिए धर्मी राग से मुक्त है; इसलिए संसार से भी मुक्त है, उसमें संसार नहीं है।

जिसने अनन्त-अनन्त गुणनिधान आत्मा को राग से और परद्रव्य से भिन्न करके जाना है, वह जीव, राग से और पर से भिन्न है-मुक्त है और जो जीव परचीज को और राग को अपना मानता है, वह जीव बहिरात्मा है-मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष ही संसार है। जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व और राग-द्वेष से रहित द्रव्य पर गयी है, वह पर्याय में भी मिथ्यात्व और राग-द्वेष से रहित मुक्त हो जाता है। द्रव्य में तो अपूर्णता भी नहीं है तो राग-द्वेष तो कहाँ से होंगे?

लोगस्स में आता है न! **विहूये रयमला** अर्थात् भगवान ने रज और मल का अभाव किया है, उसके बदले दूसरा अर्थ करते हैं, उन्हें अर्थ का भी पता नहीं है तो भाव का पता कहाँ से होगा?

जागृत जीव सदा मुक्त ही है। व्यवहार से और निमित्त से मुक्त हुआ, उसे किसी के साथ अब सम्बन्ध नहीं रहा।

स्वभाव के साथ सम्बन्ध होने पर आस्रवतत्त्व के साथ का सम्बन्ध छूट गया। आस्रव का सम्बन्ध छूटे बिना आत्मा का दर्शन, ज्ञान होता ही नहीं।

इन्द्रों की उपस्थिति में वीतराग परमेश्वर की वाणी में ऐसा धोध (मूसलधार) आता था। सीमन्धर परमात्मा महाविदेह में विराजमान हैं, उनकी वाणी में भी यही बात आती है।

जो जागृत हुआ, उसे ऐसा लगता है कि मैं तो अचेतन का त्यागी हूँ और चेतन का भोगी हूँ। रागादि का त्यागी हूँ और स्वभाव का भोगी हूँ। जो राग का कर्ता नहीं, उसे राग का सम्बन्ध नहीं और राग का भोग भी नहीं है। आस्रव, वह भिन्न तत्त्व है, उसे और अजीव तत्त्व को एक मानना मिथ्यात्व है। भिन्न तत्त्व को भिन्न मानना सम्यक्त्व है। अजागृत ऐसी

www.vitragvani.com

राग की सम्बन्धवाली दशा छूटे बिना स्वभाव के साथ सम्बन्धरूप जागृतदशा प्रगट नहीं होती है।

जे सोवहि संसारमैं, ते जगवासी जीव – जो अचेत बनकर संसार में सो रहा है, वह संसार में ही भटकता है, नरक और निगोद में परिभ्रमण करता है और जो संसार तथा संसारी भाव से भिन्न पड़ गया है, वह जीव सदैव मुक्त है।

इस प्रकार जागृत और अजागृत जीव की दशा का फल बतला दिया। अब, आत्म-अनुभव ग्रहण करने की शिक्षा सत्रहवें पद्य में देते हैं।

यह नाटक समयसार का निर्जरा अधिकार है, निर्जरा अर्थात् धर्म। इस अधिकार में धर्म को धारण करने की शिक्षा दी है।

सातवें कलश का सत्रहवाँ पद्य है, उसमें आत्म-अनुभव ग्रहण करने को कहा जाता है।

आत्म-अनुभव ग्रहण करने की शिक्षा (दोहा)

जो पद भौपद भय हरै, सो पद सेऊ अनूप।
जिहि पद परसत और पद, लगै आपदारूप॥ १७॥

अर्थ – जो जन्म-मरण का भय हटाता है, उपमारहित है, जिसे ग्रहण करने से और सब पद विपत्तिरूप भासने लगते हैं, उस आत्म-अनुभवरूप पद को अङ्गीकार करो।

काव्य-१७ पर प्रवचन

जिसे जन्म-मरण दूर करना है और शुद्ध चैतन्यपद प्राप्त करना है, उसे आत्म अनुभवरूप पद अङ्गीकार करना। आत्मा का अनुभव ऐसा शान्तस्वरूप है कि उसका अनुभव करनेवाले को इन्द्र, नरेन्द्र, या धरणेन्द्र के पद तो विपत्तिरूप लगते हैं, दुःख के स्थान लगते हैं, आपदा आ पड़ी हो – ऐसे लगते हैं।

आत्मा का अनुभव करने से अशुद्धता मिटती है। व्रत, तप, उपवास करने से अशुद्धता नहीं मिटती और शान्ति नहीं होती। स्वसम्पत्ति के समक्ष शुभाशुभभाव और उसके फल आपत्तिरूप हैं। तीन लोक के इन्द्र की सम्पदा भी अनुभव के समक्ष आपदा

www.vitragvani.com

जैसी लगती है तो दो-पाँच लाख रुपये हों और मकान के नवीनीकरण होकर नया हो जाए, उसमें अनुभवी को सुख कैसे लगेगा ?

धर्मी उसे कहते हैं कि जो अनन्त धर्म के धारक निज धर्मी आत्मा का अनुभव करते हैं, वह धर्मी है। जिसे धर्मी होना है, वह उपमारहित निज पद की सेवा करो कि जो पद भवभय को हरता है और ऐसा महान अतीन्द्रिय पद है कि उसका अनुभव करनेवाले को दूसरे सब पद आपदारूप भासित होने लगते हैं। ऐसी यह अतीन्द्रिय आनन्द की खान है कि उसकी श्रद्धा, ज्ञान, और अनुभव करने से दूसरे लौकिक पद तुच्छ लगते हैं।

अज्ञानी, पैसे में बड़प्पन में शरीर और संयोगों की अनुकूलता में सुख मानता है, वह वस्तुतः दुःख है; इसलिए परपद में सुख मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है और स्वपद में ही सुख मानता है, वह सम्यग्दृष्टि है, उसे संसार के बड़े-बड़े पद भी आपदारूप भासित होते हैं।

ऐसे निजपद के अनुभव का नाम ही निर्जरारूप धर्म है। उपवास या अष्टम आदि करने से निर्जरारूप धर्म नहीं होता है।

अब, अठारहवें पद में कहते हैं कि संसार सर्वथा असत्य है।

संसार सर्वथा असत्य है (सवैया इकतीसा)

जब जीव सौवै तब समुझै सुपन सत्य,
वहि झूठ लागै तब जागै नींद खोइकै।
जागै कहै यह मेरौ तन मेरी सौंज,
ताहू झूठ मानत मरन-थिति जोइकै॥
जानै निज मरम मरन तब सूझै झूठ,
बूझै जब और अवतार रूप होइकै।
वाहू अवतारकी दसामैं फिरि यहै पेच,
याही भाँति झूठौ जग देख्यौ हम टोइकै॥ १८॥

अर्थ - जब जीव सोता है, तब स्वप्न को सत्य मानता है, जब जागता है तब वह

www.vitragvani.com

झूठा दिखता है और शरीर वा धन-सामग्री को अपनी गिनता है, पश्चात् मृत्यु का ख्याल करता है, तब उन्हें भी झूठी मानता है। जब अपने स्वरूप का विचार करता है, तब मृत्यु भी असत्य दिखती है और दूसरा अवतार सत्य दिखता है। जब दूसरे अवतार पर विचार करता है, तब फिर इसी चक्कर में पड़ जाता है, इस प्रकार खोजकर देखा तो यह जन्म-मरणरूप सब संसार झूठा ही झूठा दिखता है।

काव्य-१८ पर प्रवचन

धर्मी को सम्पूर्ण जगत् असत्य भासित होता है।

जब स्वयं निद्रा में होवे, तब जो स्वप्न आते हैं, वह सच्चा लगता है। सुखड़ी (एक गुजराती मिठाई) खाता हूँ, भूख लगी है, ऐसा करता हूँ, वैसा करता हूँ, यह सब सच्चा लगता है परन्तु जहाँ नींद उड़ती है, वहाँ तो कुछ नहीं है। नींद में जो सच्चा लगता है, वही स्वप्न जागृत होने पर असत्य ज्ञात होता है, यह सब तो झूठ था। जगे वहाँ शरीर मेरा, पुत्र मेरा, घर मेरा, धन मेरा... ऐसी सब सामग्रियों में मैंपना मानने लगता है। स्वप्न में जो सच्चा लगता था, वह वास्तव में झूठ था; इसी प्रकार जागृति में संसार मेरा लगता है, वह वास्तव में झूठ है, कोई संयोग इसके नहीं हैं। जहाँ तक संयोगों के बीच खड़ा है, वहाँ तक उनकी पृथक्ता का ख्याल अज्ञानी को नहीं आता। जहाँ मरने की तैयारी हो जाती है, स्त्री-पुत्र, धनादि कोई शरण नहीं होते, तब ऐसा होता है कि यह सब झूठा है। मैं तो चला... यह कोई संयोग मेरे साथ नहीं आयेंगे, इनमें से निकलकर मुझे अकेला जाना पड़ेगा।

इस प्रकार विचार करते-करते जहाँ अपने स्वरूप का विचार करे कि मैं आत्मा तो शाश्वत् हूँ, मेरा मरण कैसा? मैं मरता नहीं, मैं तो कायम रहनेवाला हूँ - ऐसा जहाँ स्वरूप का स्वीकार करता है, वहाँ मृत्यु असत्य लगती है और मैं तो दूसरे जन्म को धारण करूँगा - ऐसा मानता है परन्तु दूसरे अवतार का विचार करके फिर उसमें अपनापना मानकर, इसी चक्कर में पड़ जाता है।

एक राजा का दृष्टान्त आता है कि राजा को किसी ने कहा कि तू मरकर कुत्ती के पेट से पिल्ला होनेवाला है, तेरे सिर पर चाँदला होगा.... राजा कहे अरे! मैं उसमें रहूँ!! मुझे तुरन्त मार डालना तो मुझे उसमें रहना नहीं पड़ेगा। राजा मर गया और कुत्ती का बच्चा हुआ,

www.vitragvani.com

जहाँ उसे मारने गये, वहाँ तो वह भाग गया, क्योंकि वहाँ भी उसे मैं-पना हो गया है। जहाँ-जहाँ अवतरित होता है, वहाँ जीव अहं और ममत्व कर लेता है, परन्तु मैं अनादि-अनन्त एक जीव हूँ, इसका उसे भान नहीं है।

इस निर्जरा अधिकार में यह बात क्यों लिखी ? इसलिए कि आत्मा की नित्यता के अनुभव के अतिरिक्त दूसरा सब झूठा भासित होता है, अखण्ड अनादि अनन्त आत्मा की खोज होने से संकल्प से लेकर सारी दुनिया झूठी भासित होने लगती है।

अब, आठवें श्लोक पर उन्नीसवें पद्य में सम्यग्ज्ञानी का आचरण बताते हैं।

धर्मी - सम्यग्ज्ञानी भले ही गृहस्थाश्रम में हो, श्रावक होने से पूर्व का सम्यग्दृष्टि हो तो भी धर्मी को कैसे भाव होते हैं ? - वह यहाँ बताते हैं।

ऐसी प्रतीति न हो, तब तक धर्म अर्थात् निर्जरा नहीं होती, इसलिए जीव की नित्यता का अनुभव कर्तव्य है।

इस प्रकार सत्य को खोजने पर सारा जगत झूठा भासित होता है।

सम्यग्ज्ञानी का आचरण (सवैया इकतीसा)

पंडित विवेक लहि एकता की टेक गहि,
दुंदज अवस्था की अनेकता हरतु है।
मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि,
निरविकलप ग्यान मन मैं धरतु है॥
इंद्रियजनित सुख दुखसौं विमुख ह्वैंकै,
परम के रूप ह्वै करम निर्जरतु है।
सहज समाधि साधि त्यागी पर की उपाधि,
आतम आराधि परमातम करतु है॥ १९॥

अर्थ - सम्यग्दृष्टि जीव, भेदज्ञान प्राप्त करके एक आत्मा ही को ग्रहण करता है, देहादि से ममत्व से नाना विकल्प छोड़ देता है। मति, श्रुत, अवधि इत्यादि क्षायोपशमिकभाव छोड़कर निर्विकल्प केवलज्ञान को अपना स्वरूप जानता है, इन्द्रियजनित सुख-दुःख से

www.vitragvani.com

रुचि हटाकर शुद्ध आत्म-अनुभव करके कर्मों की निर्जरा करता है और राग-द्वेष-मोह का त्याग करके उज्ज्वल ध्यान में लीन होकर आत्मा की आराधना करके परमात्मा होता है।

काव्य-१९ पर प्रवचन

देखो, ऐसे पण्डित अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव को निर्जरा होती है। बहुत शास्त्र पढ़ा हो वह पण्डित नहीं है; राग के विकल्पों और मतिज्ञानादि भेदों से जिसने पृथक् जाना है, वह पण्डित है, वह भेदज्ञानी है, वह विवेकी है।

पंडित विवेक लहि... शरीरादि से मैं भिन्न हूँ, राग के विकल्प भी मेरे स्वरूप में नहीं हैं और ज्ञान के भेद पड़ते हैं, उतना भी मैं नहीं हूँ; मैं तो अभेद चैतन्य हूँ - ऐसा भेदज्ञान करके धर्मी एक आत्मा का ही ग्रहण करता है क्योंकि धर्मी का ध्येय एक आत्मा है। **एकता की टेक गहि,.....** मैं तो अखण्ड अभेद एक आत्मा हूँ। शरीर, वाणी, मन, और विकल्प तो मैं नहीं परन्तु ज्ञान की पर्याय में अनेकता के भेद पड़ते हैं, वह भी मैं नहीं हूँ। मैं अभेद एक हूँ - ऐसा अनुभव करने से ज्ञानी अनेक प्रकार के विकल्पों को छोड़ देता है। मैं एक और रागादि मेरी चीज है, ऐसा द्वन्द्व भाव ज्ञानी को नहीं रहा है, वहाँ मकान, दुकान, पैसा आदि दूसरी वस्तुएँ तो बहुत दूर रह गयी। वे तो सब जड़ चीज है, वे जड़ होकर ही रही है; वे तो जीव हैं ही नहीं परन्तु विकल्प भी मेरे स्वरूप में नहीं है।

मति श्रुति अवधि इत्यादि विकलप मेटि। धर्मी, निमित्त का सम्बन्ध तो छोड़ता है, राग का विकल्प भी मिटाता है और मति-श्रुत आदि ज्ञान की पर्याय के भेद भी मिटाकर निर्विकल्प ज्ञान को मन में धरता है अर्थात् अनुभव करता है, उसका नाम धर्म है। मन्दिर में बैठकर उपवास करने में धर्म नहीं है। धर्म मन्दिर में, उपाश्रय में, या स्वाध्यायमन्दिर में नहीं है; निज वस्तु को एकरूप ग्रहण करके अनुभव करना, वह धर्म है।

.....इह विध बोध वचनिका फैली, समै पाय अध्यात्म शैली,
प्रगटी जगमांहि जिनवानी, घर घर नाटक कथा बखानी।

इस प्रकार बनारसीदासजी ने कलश टीका की महिमा की है कि यह समयसार नाटक की प्रचलित भाषा में वचनिका करने से घर-घर में समयसार की कथा होने लगी

www.vitragvani.com

– चर्चा होने लगी। 'आत्मा सत्चिदानन्द है, उसके आश्रय से शुद्धि प्रगट होती है, भेद या राग के आश्रय से शुद्धि प्रगट नहीं होती' – ऐसी चर्चा उस काल में भी ऐसे शास्त्रों के कारण घर-घर में होने लगी। यह तो तीन सौ वर्ष पहले बनारसीदासजी ऐसा लिखते हैं अर्थात् उस समय भी घर-घर में ऐसी चर्चा चलती होगी।

अहो! आत्मा रागरहित चीज है, इतना ही नहीं; भेद को मुख्य करने से भी आत्मा ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। अभेद आत्मा को अपनी ज्ञान की पर्याय में धारण करता है, अनुभव करता है, उसे ही निर्जरा होती है; बाकी किसी उपाय से किसी को निर्जरा या धर्म नहीं होता।

इंद्रियजनित सुख दुखसौं विमुख ह्वैंकै, इन्द्रिय के निमित्त से पहले कल्पना करता था कि यह मुझे ठीक है और यह अठीक है। उससे विमुख होकर स्व के सन्मुख होकर समकिती परमरूप बनकर कर्मों की निर्जरा करता है। बाह्य में चक्रवर्ती राजा हो या इन्द्र के इन्द्रासन हों, उसमें समकिती को सुख की कल्पना नहीं होती और नरक जैसे प्रतिकूल संयोगों में दु:ख की कल्पना नहीं होती।

परम के रूप ह्वै — अपना परम ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसरूप से परिणति करके धर्मी, कर्मों की निर्जरा करता है। पुण्य-पाप के विकल्प से अर्थात् आधि से रहित सहज समाधि अर्थात् शान्ति को साधकर धर्मी निर्विकल्प शान्ति को पीता है। विकल्प की जाल जो उपाधिरूप है, उसे छोड़कर धर्मी, स्वरूप के साधन से अपने स्वरूप में एकाग्र होकर निर्विकल्प शान्ति को आस्वादता है; शुद्धात्मा को साधकर, उसे आराध कर, उसमें लीनता करके / एकाग्रता करके अपने आत्मा को परमात्मा बना देता है।

इस प्रकार आत्मा की आराधना से परमात्मा हुआ जाता है, व्यवहार या निमित्त की आराधना से परमात्मा नहीं हुआ जाता। कैसा शब्द प्रयोग किया है! **आतम आराधि** भगवान आत्मा पवित्र शुद्ध चैतन्यवस्तु है, उसकी आराधना अर्थात् सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की निर्मलदशा द्वारा आत्मा का सेवन करने से आत्मा, परमात्मा हो जाता है।

व्यापार करने के लिए बाहर गाँव जाए, पैसो जैसे-जैसे अधिक आते जाएँ, वैसे स्वयं अधिक प्रसन्न होता है, मानो मैं बढ़ा! पैसे का घाटा पड़े वहाँ आहा.... हो जाता है

www.vitragvani.com

परन्तु भाई! उसमें धूल भी सुख नहीं है; पाप है, पाप में लिपट जाता है और कल्पना से अपने को सुखी मानता है।

यहाँ तो आत्मा में से परमात्मा होने की बात है, अपने स्वरूप को ध्येय बनाकर उसका ध्यान करने से कर्म निर्जरित होकर आत्मा परमात्मा बन जाता है।

अब, 20 वें पद्य में सम्यग्ज्ञान को समुद्र की उपमा देते हैं।

भगवान आत्मा ज्ञान का समुद्र है–चैतन्यरत्नाकर है। उसमें इतने रत्न भरे हैं कि यदि अन्तर्दृष्टि करके अनुभव करे तो सभी रत्न एक साथ अनुभव में आयें। चैतन्यरत्नाकर में शुभाशुभ विकल्प नहीं भरे हैं, इसलिए चैतन्य के अनुभव में से विकल्पों का अनुभव नहीं होता। मध्यलोक में अन्तिम बड़ा स्वयंभूरमण समुद्र है, वैसा यह भगवान आत्मा स्वयंभू चैतन्यरत्नाकर है। जैसे उस समुद्र में नीचे रेत नहीं है, रत्न ही है; उसी प्रकार आत्मा में विकल्प नहीं है, गुण रत्न ही भरे हैं। स्वयंभूरमण समुद्र में मनुष्य नहीं है, मनुष्य होवे तब तो रत्न ले आवें; देव वहाँ जाते हैं परन्तु उन्हें रत्नों की आवश्यकता नहीं है और तिर्यञ्च को रत्न कोई काम के नहीं हैं।

आत्मा अद्भुत निधि चैतन्यरत्नाकर है। एक विकल्प के पीछे और एक समय की पर्याय के पीछे अकेला चैतन्यरत्नाकर अनन्त गुणमणि रत्नों से डोल रहा है। अरे, ऐसा चैतन्यरत्नाकर होने पर भी दो बीड़ी में सन्तुष्ट है! घर में पुत्र का जन्म हो, वहाँ हर्षित है! .....तेरे चैतन्यरत्नाकर को तो देख! उसे कैसी उपमा दी है?

सम्यग्ज्ञान को समुद्र की उपमा (सवैया इकतीसा)

जाके उर अंतर निरंतर अनंत दर्व,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है।
निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घट मैं अघट-रस कौतुक करतु है॥
जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है।

www.vitragvani.com

सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एकमैं अनेकता धरतु है॥ २०॥

अर्थ – जिस ज्ञानरूप समुद्र में अनंत द्रव्य अपने गुण-पर्यायों सहित सदैव प्रतिबिम्बित होते हैं पर वह उन द्रव्योंरूप नहीं होता और न अपने ज्ञायकस्वभाव को छोड़ता है। वह अत्यन्त निर्मल जलरूप आत्मा प्रत्यक्ष है, जो अपने पूर्ण रस में मौज करता है तथा जिसमें मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान ये पाँच प्रकार की लहरें उठती हैं, जो महान हैं, जिसकी महिमा अपरम्पार है, जो निजाश्रित है, वह ज्ञान एक है तो भी ज्ञेयों को जानने की अनेकता लिये हुए है।

काव्य-२० पर प्रवचन

अहा! उसकी उदार अपार महिमा का क्या कहना? उसके द्रव्य गुण की तो बात ही क्या? उसकी एक समय की ज्ञान-पर्याय की सामर्थ्य ऐसी है कि उसमें लोकालोक प्रतिभासित होता है – ऐसी तो एक पर्याय की सामर्थ्य है, उसके द्रव्य-गुण की सामर्थ्य का क्या कहना?

ज्ञायकभाव में निरन्तर अनन्त द्रव्य-गुण और पर्यायें भासित होती हैं परन्तु वह कभी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। चैतन्यरत्नाकर में अनन्त द्रव्य ज्ञात होने पर भी अपने स्वभाव की अस्ति है; उसकी कभी नास्ति नहीं होती।

ज्ञायकस्वभाव की अन्तर्दृष्टि होने पर उसमें से अनन्त निर्मल दशाएँ उछलती हैं, वह आत्मा का स्वरूप है। जो शुभाशुभ व्यवहार उछलता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। जिसकी दृष्टि में निर्मल चैतन्य बैठा है, उसे समय-समय में निर्मलता की / शुद्धि की धारा प्रगट होती है, इस कारण क्षण-क्षण में उसे कर्मों की निर्जरा होती है।

घट ऐसा जो यह शरीर, उसमें अघट अर्थात् घटे नहीं – ऐसा पूर्ण चैतन्यस्वरूप आत्मा बसता है, उस पूर्ण स्वरूप में आत्मा मौज करे – ऐसा उसका स्वरूप है। धर्म की प्रथम दशा सम्यग्दर्शन तथा आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप में मौज करता है। मेरा स्वभाव आनन्दमय है – ऐसा भान होने से सुखसाहेबी और शान्ति प्रगट होती है।

किसी को ऐसा लगता है कि धर्मी को कितने परीषह, उपसर्ग के दु:ख सहन करना

www.vitragvani.com

पड़ते हैं! नहीं भाई! दु:ख सहन करना पड़े – ऐसा धर्मी का स्वरूप ही नहीं है; वे तो कौतुक अर्थात् मजा करते हैं। चैतन्य की निर्मलधारा को मजे से अनुभव करते हैं, आनन्द का अनुभव करते-करते केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं।

जैसे समुद्र में तरङ्ग उठती है; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी समुद्र में मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान की तरङ्गें उठती हैं। उसकी उदार महिमा अपार है, तथा उसे किसी परद्रव्य का आधार नहीं है – ऐसा वह निराधार चैतन्यरत्नाकर है। वह वस्तु से 'एक' होने पर भी, पर्यायदृष्टि से अनेकरूप परिणमता है। अनेक ज्ञेयों को जानते हुए किसी ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है।

श्री समयसार नाटक का यह निर्जरा अधिकार है। उसमें धर्म कैसे हो और धर्म होने पर अशुद्धता और कर्म का अभाव कैसे हो? – उसकी बात चल रही है। बीसवें पद्य का भावार्थ लेना है।

भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है; शुभाशुभभाव होते हैं, वे कहीं आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं। देहादिक तो परद्रव्य है, इसलिए वे कोई स्वभाव को मददगार नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं, वे भी आत्मा को निर्जरा के कार्य में मदद नहीं करते हैं। निर्जरा तो ज्ञानानन्दस्वरूप में एकत्व और एकाग्रता करने पर ही होती है। अन्तर में एकाग्रता से शुद्धता प्रगट होती है, उससे अशुद्धता की और कर्मों की निर्जरा होती है।

आत्मा आनन्द का समुद्र है, इसलिए यहाँ उसे समुद्र की उपमा दी गयी है। (१) समुद्र में रत्नादि अनन्त द्रव्य रहते हैं, ज्ञान में भी अनन्त द्रव्य प्रतिबिम्बित होते हैं। (२) समुद्र रत्नादिरूप हो नहीं जाता, ज्ञान भी ज्ञेयरूप नहीं होता। (३) समुद्र का जल निर्मल रहता है, ज्ञान भी निर्मल रहता है। (४) समुद्र परिपूर्ण रहता है, ज्ञान भी परिपूर्ण रहता है। (५) समुद्र में लहरें उत्पन्न होती हैं, ज्ञान में भी मति, श्रुत आदि तरङ्गें उत्पन्न होती हैं। (६) समुद्र महान होता है, ज्ञान भी महान होता है। (७) समुद्र अपार है, ज्ञान भी अपार है। (८) समुद्र का जल निज आधार से रहता है, ज्ञान भी निज आधार से रहता है। (९) समुद्र अपने स्वरूप की अपेक्षा से एक और तरङ्गों की अपेक्षा से

www.vitragvani.com

अनेक होता है, ज्ञान भी जीव स्वभाव की अपेक्षा से एक और ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा से अनेक होता है।

शुभाशुभराग के पीछे यह सम्पूर्ण चैतन्यसमुद्र है परन्तु इसने कभी नजर नहीं की है। इस चैतन्य समुद्र का जो ज्ञान करता है, और उसका वेदन करता है, उस जीव को निर्जरा होती है, अकेले उपवास करने से निर्जरा होती है – ऐसा नहीं है। यह बात आगे इक्कीसवें पद्य में आयेगी।

जैसे समुद्र में अनन्त रत्न हैं, वैसे ही ज्ञान समुद्र में अनन्त पदार्थ जानने में आते हैं। उसे रत्न की उपमा है, परन्तु जैसे समुद्र रत्नरूप नहीं हो जाता, इसी प्रकार ज्ञान, ज्ञात होने योग्य पदार्थोंरूप नहीं हो जाता। भगवान आत्मा शरीर और रागादि को जानता है, तथापि शरीर या रागादिरूप नहीं होता, वह तो चैतन्य समुद्र, चैतन्यरूप ही रहता है – ऐसे चैतन्य को जो पहचानता है, उसे धर्मात्मा कहा जाता है।

मध्यलोक में द्वीप और समुद्र हैं, उसमें जो अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है, उसमें नीचे रेत नहीं किन्तु रत्न ही है परन्तु वहाँ कोई मनुष्य नहीं है और मनुष्य वहाँ जा भी नहीं सकता, इसलिए रत्नों को कोई लेता नहीं है।

आत्मा किसी का कार्य करे या आत्मा का कार्य कोई करे – ऐसा आत्मा में गुण ही नहीं है। जानना, यह आत्मा का कार्य है, उसे आत्मा करता है।

प्रश्न – गुरु को तो करुणा होती है, इसलिए गुरु तो शिष्य का काम कर देते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री – गुरु तो नहीं करते परन्तु गुरु के देव भी किसी का कार्य नहीं कर देते। यहाँ तो यह कहना है कि एकमात्र द्रव्य के आश्रय से ही कल्याण होता है; द्रव्य के आश्रय के बिना पर्याय में कल्याण नहीं हो जाता। वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है! देव, गुरु भी पर है, उनके आश्रय से कल्याण नहीं होता है।

जैसे समुद्र रत्नरूप नहीं होता, वैसे ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता; ज्ञान का तो जानने का स्वभाव है, इसलिए ज्ञान में यह शरीर है, वाणी है, पैसा है, यह कर्म है – ऐसा जानने में आता है। इस प्रकार अनन्त ज्ञेय जानने में आने पर भी, किसी ज्ञेयरूप ज्ञान नहीं होता – ऐसे ज्ञानस्वरूप की दृष्टि करता है, उसे वास्तव में आत्मा कहते हैं।

www.vitragvani.com

जैसे समुद्र निर्मल है, वैसे ज्ञान भी निर्मल है। अनन्त ज्ञेयों को जानने से ज्ञान में मैल नहीं आ जाता; ज्ञान तो निर्मल, निर्मल ही है। ज्ञानस्वभाव सदा ही परिपूर्ण है, भले पर्याय में अपूर्णता हो परन्तु स्वभाव पूर्ण है; चैतन्यस्वरूप अखण्ड, अभेद, और परिपूर्ण है।

जैसे समुद्र में लहर उठती है, वैसे ज्ञान में मतिश्रुतादि की तरङ्गें उठती हैं। सम्यग्ज्ञान की पर्याय में मति आदि की तरङ्गें उठती हैं। रागादि उठते हैं, वह आत्मा में नहीं है।

समुद्र अपार है, वैसे ज्ञान भी अपार है। ज्ञान का क्षेत्र भले ही छोटा है तो भी वह अनन्त-अपार क्षेत्र को जान लेता है। अनन्त द्रव्य, अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल और अनन्त भावों को तो जानता है परन्तु उससे अनन्तगुने होवें तो भी ज्ञान जान ले - ऐसी ज्ञान की अपार शक्ति है, उसकी महिमा अपार है।

जैसे समुद्र का जल निज आधार से है, वैसे ज्ञान भी निज आधार से है। लवण समुद्र के मध्य में पानी दश-दश हजार योजन जितना ऊँचा चढ़ा हुआ है, उसे किसी ने चढ़ाया नहीं है। अनादि से ऐसी वेदणी चढ़ी हुई है, उसे किसी के आधार की आवश्यकता नहीं है; उसी प्रकार चैतन्य भगवान अनन्त ज्ञान से उछलता है, उसे किसी की अपेक्षा नहीं है, किसी के आधार की आवश्यकता नहीं है।

जैसे समुद्र तरङ्ग की अपेक्षा से अनेक है और स्वरूप की अपेक्षा से एक है; उसी प्रकार चैतन्य अपने ध्रुवभाव की अपेक्षा से एक है और मति, श्रुत आदि पर्यायों की अपेक्षा से अनेक है, अनेक ज्ञेयों को जाननेवाला है। ऐसे महिमावन्त ज्ञानस्वभाव के भान बिना जितनी क्रिया करे, वह सब रण में शोर मचाने के समान है। अणुव्रत, महाव्रत करके सूख जाए तो भी उसे धर्म नहीं होता। यही बात दसवें कलश में / इक्कीसवें पद्य में कहते हैं।

ज्ञानरहित क्रिया से मोक्ष नहीं होता (सवैया इकतीसा)

केई क्रूर कष्ट सहैं तपसौं सरीर दहैं,
धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वैकै झूले हैं।
केई महाव्रत गहैं क्रियामैं मगन रहैं,
वहैं मुनिभार पै पयार कैसे पूले हैं॥

www.vitragvani.com

इत्यादिक जीवन कौं सर्वथा मुकति नांहि,
फिरैं जगमांहि ज्यौं वयारिके बघूले हैं।
जिन्ह के हियमैं ग्यान तिन्हि ही कौ निरवान,
करम के करतार भरम मैं भूले हैं॥ २१॥

अर्थ – अनेक मूर्ख, कायक्लेश करते हैं, पञ्चाग्नि तप आदि से शरीर को जलाते हैं, गाँजा चरस आदि पीते हैं, नीचे को सिर और ऊपर को पैर करके लटकते हैं, महाव्रत ग्रहण करके तपाचरण में लीन रहते हैं, परीषह आदि का कष्ठ उठाते हैं परन्तु ज्ञान के बिना उनकी यह सब क्रिया, कणरहित पयाल के गट्ठे के समान निस्सार है। ऐसे जीवों को कभी मुक्ति नहीं मिल सकती, वे पवन के बघूले के समान संसार में भटकते हैं – कहीं ठिकाना नहीं पाते। जिनके हृदय में सम्यग्ज्ञान है, उन्हीं को मोक्ष है; जो ज्ञानशून्य क्रिया करते हैं, वे भ्रम में भूले हुए हैं।

काव्य-२१ पर प्रवचन

अनेक जीव कायक्लेश से धर्म होना मानकर काया को कृश कर डालते हैं, अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, महाव्रत पालन करते हैं और उनकी क्रिया में ही मग्न रहते हैं, अन्तर भावलिङ्ग के बिना मुनिपने का भार वहन करते हैं परन्तु उन्हें बिलकुल धर्म नहीं होता। अरे! कुछ तो लाभ होता है न! नहीं, जरा भी लाभ नहीं होता; राग की क्रिया से आत्मा को लाभ कहाँ से होगा? आत्मा के भान बिना, आत्मा के वेदन बिना, क्रियाकाण्ड में रँग गये हैं, वे जीव आँधी के तिनके की तरह जगत में इधर से उधर भटकते हैं, चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करते हैं।

कठिन काम है भाई! बाह्य क्रिया से धर्म नहीं होता; ज्ञान में ज्ञान की क्रिया अन्तर में हो, वह मोक्ष का कारण है, बाकी, बाबा लोग पञ्चाग्नि तपे, सिर के बल लटके, गाँजा-चरस आदि पीये उससे धर्म नहीं होता। शरीर की क्रिया तो जड़ है, उससे आत्मा को धर्म नहीं होता और राग की क्रिया अन्दर में विकल्परूप से उत्पन्न होवे कि दया पालन करूँ, व्रत पालन करूँ, उपवास करूँ – ऐसी राग की क्रिया भी विकार है; उससे आत्मा को धर्म नहीं होता। विकल्परहित चैतन्यतत्त्व का भान करके आत्मा का वेदन करे, वह धर्म और मोक्ष का कारण है।

www.vitragvani.com

वहैं मुनिभार... ऐसा चलना, ऐसा भोजन लेना, अमुक क्रिया करनी, अमुक क्रिया नहीं करनी, परीषह सहन करना, उपवास में पानी की एक बूँद भी नहीं लेना – ऐसा सब 'मैं मुनि हूँ' – ऐसा मानकर नियमरूप से करता है परन्तु यह सब कषायभाव है, रागभाव है। रागरहित ज्ञानानन्दस्वरूप के भान के बिना यह सब भाव निरर्थक है। कणरहित छिलके कूटने के समान है क्योंकि रागरहित ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा की दृष्टि तो है नहीं; अत: उसे जरा भी मुक्ति नहीं है। पवन में उड़ते हुए रजकण की तरह वह संसार में भटकता है, कहीं ठिकाना नहीं पाता है।

जैसे, चावल के ऊपर कठिन छिलका होता है और नीचे लाल रंग होता है, वह चावल नहीं है। इसी प्रकार शरीर है, वह छिलके के समान है और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम होते हैं, वह लाल रंग के समान हैं। उनमें अन्दर रहनेवाला रस-कश से भरपूर उज्ज्वल चावल की तरह चिदानन्द-निर्मलनाथ का ज्ञान और उसका अनुभव करना, वह धर्म है, उसे ही निर्जरा कहा जाता है।

जिन्ह के हियमैं ग्यान तिन्हि ही कौ निरवान, अन्तर में ज्ञान आनन्द की मूर्ति भगवान आत्मा का ज्ञान है, उसे निर्वाण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। ज्ञान के बिना क्रिया करनेवाले तो भ्रम में भूले हुए हैं, अज्ञान से भूले हैं। द्रव्यसंयम लेकर जीव बहुत बार ग्रैवेयक में जा आया है परन्तु वहाँ से वापस चार गतियों में ही आ पड़ा है; मोक्ष को प्राप्त नहीं हुआ है। विकल्पमात्र बन्धन है, जहर है, दोष है, उससे रहित अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द के सागर की दृष्टि और ज्ञान, आनन्द, शान्ति आदि गुणों की शक्ति को व्यक्त करने का नाम निर्जरा है।

ज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान की बातें करना, वह ज्ञान नहीं है। अन्तर में ज्ञानस्वरूप (आत्मा) है, उसका ज्ञान में वेदन करना; राग और मन का सम्बन्ध छूटकर ज्ञान, ज्ञान का वेदन करे – स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करे, अनुभव करे – उसका नाम ज्ञान है। ऐसे ज्ञान के बिना जीव भ्रम में भूला हुआ चार गति में परिभ्रमण करता है।

अब, बनारसीदासजी 'व्यवहार-लीनता का परिणाम' पद्य में कहते हैं।

www.vitragvani.com

व्यवहार-लीनता का परिणाम (दोहा)

लीन भयौ विवहार मैं, उकति न उपजै कोइ।
दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहासौं होइ ?॥ २२॥

अर्थ - जो क्रिया में लीन है, भेदविज्ञान से रहित है और दीन होकर भगवान के चरणों को जपता है, और इसी से मुक्ति की इच्छा करता है, सो आत्मानुभव के बिना मोक्ष कैसे मिल सकता है ?

काव्य-२२ पर प्रवचन

यह खाऊँ, यह न खाऊँ, इतने उपवास करना, अहिंसा पालन करना, सत्य बोलना - यह सब तो विकल्प की क्रिया है। उसमें तो लीन है परन्तु उक्ति अर्थात् भेदविज्ञान नहीं है। आत्मा विकल्प से पृथक् वस्तु है - ऐसा इसे भान नहीं है, वह धर्म में भूला हुआ है। दो प्रकार से भूल में है - विकल्प से भिन्नता का भान तो नहीं और विकल्प में ही लीन हो रहा है - यह भूल आजकल की नहीं, अनन्त काल से भूला हुआ है। अनन्त बार दिगम्बर जैन मुनि होकर नौवें ग्रैवेयक तक जा आया परन्तु विकल्प की क्रिया को अपनी मानकर ही रहा, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

जो विकल्प की क्रिया से भिन्न है, वह सम्यग्दृष्टि है, धर्मी है। वह व्यवहार से मुक्त है, जबकि अज्ञानी विकल्प की क्रियारूप व्यवहार में ही लीन है, इसलिए चार गति में भटकता है। छोटी उम्र में दुकान में बैठे-बैठे यह 'द्रव्यसंयम से ग्रैवेयक पायो, फेर पिछौ पटक्यो' की पंक्ति सज्झायमाला में पढ़ता, तब ही ख्याल आता कि यह क्या ? राग की क्रिया मेरी है - ऐसी मान्यतारूप मिथ्यात्व पड़ा है, तब तक उभरने का उपाय नहीं है। स्वर्ग में / ग्रैवेयक में अनेक बार जाये तो भी क्या ? संसार तो खड़ा ही रहा। छहढाला में ऐसी गाथा आती है कि —

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो॥

श्रोता : ग्रैवेयक में अनुकूलता तो मिली न ?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी आत्मा को अनुकूलता नहीं मिली। वहाँ ऊँची धूल थी, वहाँ से गिरकर मनुष्य, तिर्यञ्च होकर निगोद में चला गया।

बापू! आत्मतत्त्व कोई अलग तत्त्व है। शुभाशुभ विकल्प तो आस्रव और बन्धतत्त्व है। आत्मतत्त्व के बदले तू किस तत्त्व में विमोहित हुआ!

संवत् 1972 के साल में फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी के दिन पालीयाद में यह चर्चा बहुत चली थी, क्योंकि मूलचन्दजी बारम्बार बोला करते थे कि 'भगवान ने देखा होगा वैसा होगा, हम कुछ पुरुषार्थ नहीं कर सकते।' ऐसी पुरुषार्थहीन बात सुनकर मैंने कहा – ऐसी बात कहाँ से लाये हो? भगवान की वाणी में ऐसे वाक्य नहीं होते। केवली ने देखा होगा – ऐसा जो मानता है, उसे तो सम्यग्दर्शन होता है। उसे भव नहीं होता.... फिर तो मैं उठ गया। इसलिए हीराचन्दजी महाराज ने कहा – भाई! यह कोई बड़ी भूल नहीं है, तब कहा था कि जीव नौंवे ग्रैवेयक तक जा आया तो भी यह भूल रह गयी है। उस दिन यह बात कही थी। (मिथ्यात्व की भूल कोई छोटी भूल नहीं है) यह बात मुझे सुनना, रुचता नहीं है, यह सम्प्रदाय रुचता नहीं है। यह बात उसकी नहीं है, जिसके ज्ञान में भगवान बैठे हैं, उसे भव ही नहीं होते।

एक व्यक्ति ने जयपुर में प्रश्न किया था महाराज! क्रमबद्ध का स्पष्टीकरण करो। 'जो पर्याय जिस समय में जहाँ जैसी होनी हो, वह होती है' इसका अर्थ क्या होता है? कहा – सुनो! क्रमबद्ध अर्थात् जिसे चिदानन्द ज्ञायकस्वरूप का अन्तर में भान हुआ, उसे राग का और पर का कर्तापना मुझमें नहीं है – ऐसा अकर्तापने का भान हुआ, वह जीव, पर्याय जिस काल में जहाँ होती है, उसे जानता है परन्तु कर्ता नहीं होता – यह क्रमबद्ध का तात्पर्य है।

इस प्रकार 'ज्ञाता होना' यह क्रमबद्ध का तात्पर्य है। राग से और निमित्त से पार मेरी चीज है – ऐसा जिसे ज्ञायक का भान हुआ, वह ज्ञाता हो गया; राग का कर्ता नहीं रहा। जिसकी दृष्टि तो राग पर है और बोलता यह है कि होना होगा वैसा होगा, उसकी दृष्टि और ज्ञान सच्चा नहीं है। क्रमबद्ध का विषय नया है और सूक्ष्म है, इसीलिए समझना कठिन पड़ता है।

www.vitragvani.com

यहाँ कहते हैं कि अहो! भगवान आत्मा ज्ञान का सागर, आनन्द का सागर है। उसकी दृष्टि नहीं करके जो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में ही धर्मबुद्धि से लीन है, वह मूर्ख, भेदविज्ञान से रहित है; उसे सम्यग्दर्शन नहीं है। राग में लीन है, उसे राग से भिन्नता का भान ही नहीं है। वह तो प्रभु के पास दीनता करता है कि हे प्रभु! मुझे तारना। ऐसी दीनता करता है, वह मूढ़ है। भगवान.... भगवान.... का जाप करे तो भी भगवान उसे तार नहीं देते। जाप करना तो राग है, उससे आत्मा किस प्रकार तिरेगा? जाप आदि सब शुभराग, पुण्यबन्ध का कारण है, धर्म नहीं।

स्वयं प्रभुशक्ति धारण करके बैठा है, उसका उसे भान नहीं है और एकान्त से अपने को पामर मानकर भगवान का जाप करता है, वह मूर्ख चार गति में परिभ्रमण करनेवाला है। उसे **मुकति कहासौं होइ?** कवि ने उक्ति और मुक्ति का मेल किया है। अखण्डानन्द ध्रुव निजपद के भान बिना, राग की क्रिया से भिन्न अपने स्वरूप के भान रहित जीव दीन होकर प्रभु के चरण को पूजते हैं कि हे नाथ! हमें तारना.... तो प्रभु उसे तार देंगे? भगवान तो परद्रव्य हैं, वे भक्त को किस प्रकार तारेंगे? भक्त स्वयं तिरे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है।

पर्याय में रङ्क / पामर होने पर भी, द्रव्यस्वभाव से त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति प्रभु है, उसकी प्रतीति और भजन नहीं, उसे कौन तिरायेगा।

अठारह वर्ष की उम्र में एक आर्यिका हो गयी हैं, वे आयिका हमारे पास आयी थी कि आपके तीन व्याख्यान सुने.... आज ही मुझे पता पड़ा कि मेरी चीज क्या है!

भगवानपने के भान बिना दया करो.... दया करो.... कि पुकार करते हैं, वह तो मूढ़ है।

श्रोता : भक्त तो भगवान के समक्ष ऐसा ही कहेगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कथन की ऐसी शैली होती है। वरना स्वयं को दीन माने, वह तो मूढ़ है। तीन लोक का नाथ चिदानन्द प्रभु एक समय की पर्याय जितना नहीं है, फिर भी अपने को पर्यायमात्र मानकर दीन मानना मिथ्यात्व है।

फिर दूसरा ऐसा ही पद बनारसीदासजी लिखते हैं।

www.vitragvani.com

पुनः (दोहा)

प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ, करौ विविध विवहार।
मोख सरूपी आतमा, ग्यानगम्य निरधार॥ २३॥

अर्थ – भगवान का स्मरण करने, पूजा-स्तुति पढ़ने वा अनेक प्रकार का चारित्र ग्रहण करने से कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्षस्वरूप आत्मा अनुभव-ज्ञानगोचर है।

काव्य-२३ पर प्रवचन

भगवान का स्मरण, पूजा-भक्ति आदि अनेक प्रकार के शुभविकल्प आवें क्योंकि अभी पूर्ण दशा प्रगट नहीं हुई है, वहाँ तक ऐसे विकल्प तो आयेंगे परन्तु वे मुक्ति का कारण नहीं होते – ऐसा धर्मी तो जानता है परन्तु अज्ञानी को अन्दर में ऐसी शल्य रह जाती है कि भगवान के स्मरण आदि के बिना मैं भगवान कैसे हो सकता हूँ? उसे पता नहीं है कि स्वयं मोक्षस्वरूपी आत्मा अन्तर में ज्ञान में ही गम्य होने योग्य है; किसी क्रिया से उसकी प्राप्ति नहीं होती है। मोक्षस्वरूपी आत्मा अनुभव ज्ञान में ही गोचर होता है, यह निर्णय करने के लिए बनारसीदासजी चौबीसवें पद्य में दृष्टान्त देते हैं।

ज्ञान के बिना मुक्तिमार्ग नहीं जाना जा सकता (सवैया इकतीसा)

काज बिना न करै जिय उद्यम,
लाज बिना रन मांहि न जूझै।
डील बिना न सधै परमारथ,
सील बिना सतसौं न अरूझै॥
नेम विना न लहै निहचै पद,
प्रेम विना रस रीति न बूझै।
ध्यान विना न थंभै मन की गति,
ग्यान विना सिव पंथ न सूझै॥ २४॥

अर्थ – बिना प्रयोजन जीव उद्यम नहीं करता, बिना स्वाभिमान के संग्राम में नहीं लड़ता, शरीर के बिना मोक्ष नहीं सधता, शील धारण किये बिना सत्य का मिलाप नहीं

www.vitragvani.com

होता, संयम के बिना मोक्षपद नहीं मिलता, प्रेम के बिना रसरीति नहीं जानी जाती, ध्यान के बिना चित्त स्थिर नहीं होता और ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग नहीं जाना जाता।

काव्य-२४ पर प्रवचन

काज बिना — पैसे के प्रयोजन बिना कोई व्यापार नहीं करता; इसी प्रकार किसी भी प्रयोजन से ही मनुष्य कार्य करता है। प्रयोजन के बिना उद्यम कोई नहीं करता।

लाज बिना — राजा होकर लड़ने न जाये तो नाक कटती है, इसलिए स्वाभिमान के लिए पच्चीस वर्ष का नवविवाहित युवा राजा भी युद्ध में जाता है – 'हम राजपूत हैं, प्राण जायें तो भी पीछे नहीं हटेंगे।'

डील बिना न सधै परमारथ — मनुष्यभव के बिना मुक्ति नहीं होती। मनुष्यभव से मुक्ति नहीं होती परन्तु तिर्यञ्च, नारकी, या देवभव में से मुक्ति नहीं होती – ऐसा सिद्ध करना है। मनुष्यभव से ही मुक्ति होती है – ऐसा सिद्ध करना है। '**ज्ञान बिना शिव पंथ न सूझै**' इस बात को सिद्ध करने के लिए यह दृष्टान्त दिये हैं। मनुष्यभव के बिना मुक्ति नहीं हो सकती है।

सील विना — ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा में आचरणरूप अन्तर के शील बिना सत्स्वरूप की भेंट नहीं होती। भोपाल में अभी एक पच्चीस वर्ष के युवक ने आजीवन ब्रह्मचर्य लिया है, इंजीनियर है, अच्छा वेतन है और तत्त्व का ज्ञान भी है, होशियार है। कहते हैं – मार्ग तो यह है; बाकी तो सब अनन्त बार करके मर गये हैं। 'छह भाई हैं, चार विवाहित हैं, इसने ब्रह्मचर्य लिया है; इसलिए पिताजी तो प्रसन्न हैं परन्तु माता जरा रोती है – ऐसा कहता था।' अरे! यह तो निवृत्ति ली है, उतना प्रवृत्ति से छूटा है, उसमें रोने जैसा क्या है? यह एक शुभराग है, धर्म नहीं। अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्दरूप शुद्धभाव के शील बिना सत्य की प्राप्ति नहीं होती।

नेम विना न लहै निहचै पद — स्वरूप का सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने पर भी स्वरूप के चारित्र बिना कभी मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। चारित्र अर्थात् संयम; अर्थात् स्वरूप में रमणता। स्वरूप में आनन्द की रमणता के बिना मात्र सम्यग्दर्शन, ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है और आत्मा में प्रेम के बिना अतीन्द्रिय आनन्द का रस नहीं आता

www.vitragvani.com

और उसमें एकाग्रता नहीं हो सकती है। शुभाशुभराग का रस छूटकर आनन्द का रस आये बिना अन्तर में एकाग्रता नहीं हो सकती है। 'मैं परमात्मा हूँ' – ऐसा प्रेम होता है, उसे ही आनन्द का रस आता है।

ध्यान विना न थंभै मन की गति — अन्तर में स्थिरतारूप ध्यान के बिना मन की चंचलता को नहीं रोका जा सकता है। भगवान सर्वज्ञदेव ने जो आत्मा कहा है, उसके ध्यान के बिना मन स्थिर नहीं होता है। अज्ञानी कहता है, उस ध्यान की यह बात नहीं है।

यह सब दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना है कि **ग्यान बिना शिवपंथ न सूझै।** राग से भिन्न भगवान आत्मस्वरूप के भान बिना मोक्ष का मार्ग नहीं सूझता है। शास्त्र की जानकारी हो जाए, वह ज्ञान नहीं है। आत्मा का ज्ञान — अतीन्द्रिय आनन्दसहित आत्मा का ज्ञान – राग से भिन्न भगवान आत्मा के ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पन्थ की सूझ नहीं पड़ती है।

दृष्टान्त देकर कितना स्पष्ट किया है। तू स्वयं ज्ञानस्वरूप चैतन्य ही है – ऐसे ज्ञान का अनुभवी ज्ञान-स्वसंवेदन ज्ञान बिना मोक्षपन्थ हाथ नहीं आता। सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्दर्शन का पता नहीं पड़ता। सम्यग्ज्ञान के बिना ज्ञान का पता नहीं पड़ता, सम्यग्ज्ञान के बिना आत्मा का पता नहीं पड़ता और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र का भी पता नहीं पड़ता है। ऐसे ज्ञान के बिना निर्जरा नहीं होती है – ऐसा सिद्ध किया है। ज्ञान के बिना चाहे जितनी क्रिया करे, उससे निर्जरा या धर्म नहीं होता है – ऐसा सिद्ध किया है। मात्र पुण्य करके देव या सेठ का भव करके नीचे चला जाता है। यह भटकता राम रहता है परन्तु आत्माराम नहीं होता है।

यह निर्जरा अधिकार है। निर्जरा अर्थात् कर्म का खिरना। ऐसी निर्जरा किसे होती है? राग, कर्म और शरीर रहित आत्मा का ज्ञान करे, आत्मा की श्रद्धा करे और आत्मा में स्थिर हो तो कर्म गलते हैं। इसके अतिरिक्त उपवास करके मर जाए तो भी निर्जरा नहीं होती है।

इसमें सार तो इतना कहना है कि जितना विकल्प-व्यवहार है, वह सब बन्ध का कारण है। विकल्प से रहित भगवान आत्मा का आश्रय लेकर जितनी ज्ञान, आनन्द, शान्ति

www.vitragvani.com

की शुद्धता प्रगट होती है, उतना ही धर्म है और उतनी ही निर्जरा है। इसके अतिरिक्त मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड से निर्जरा होना मानता है, वह अपने मिथ्यात्व को पुष्ट करता है। आनन्दमूर्ति आत्मा के समीप वास करना, वह उपवास है और उससे निर्जरा होती है। आत्मा की समीपता बिना तो सब लंघन है, उपवास नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञानरहित उपवास -लंघन मिथ्यात्वसहित पुण्यबन्ध का कारण है। अहिंसा पालन करे, सत्य बोले, उसे पुण्यबन्ध होता है परन्तु मिथ्यात्व गये बिना और समकित हुए बिना व्रतादि आत्मा को लाभरूप नहीं होते हैं।

ज्ञान की परिणति ऐसी है कि इन्द्रियों के विषयों को भोगता होने पर भी कर्मों की झटाझरी है - ज्ञानी को कर्म खिरते जाते हैं। अतीन्द्रियज्ञान के आनन्द की जागृति हो गयी है, उसके समक्ष ज्ञानी को समस्त क्रियाएँ पररूप ज्ञात होती है। वह अपने ज्ञान की स्वावलम्बी दशा का परिणमन है। ज्ञानी बोलता है फिर भी मौन है; चलता फिर भी स्थिर है और विषय की वासना होने पर भी शान्ति और समाधि वर्तती है। ऐसे ज्ञान की महिमा का पच्चीसवाँ पद्य कहते हैं।

ज्ञान की महिमा (सवैया तेईसा)

ग्यान उदै जिन्ह के घट अंतर,
जोति जगी मति होत न मैली।
बाहिज दिष्टि मिटी जिन्ह के हिय,
आतमध्यानकला विधि फैली॥
जे जड़ चेतन भिन्न लखैं,
सुविवेक लियैं परखैं गुन-थैली।
ते जगमैं परमारथ जानि,
गहैं रुचि मानि अध्यातमसैली॥ २५॥

अर्थ - जिनके अन्तरङ्ग में सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ है, जिनकी आत्म-ज्योति जागृत हुई है और बुद्धि निर्मल रहती है, जिनकी शरीर आदि से आत्मबुद्धि हट गई है, जो

www.vitragvani.com

आत्मध्यान में निपुण हैं, जो जड़ और चेतन के गुणों की परीक्षा करके उन्हें जुदा-जुदा जानते हैं; वे मोक्षमार्ग को अच्छी तरह समझकर रुचिपूर्वक आत्म-अनुभव करते हैं।

काव्य-२५ पर प्रवचन

यह निर्जरा अधिकार है न! ज्ञानकला की महिमा बताते हैं। सम्यग्ज्ञान की दशा जागृत हुई है, अर्थात् स्वसन्मुखता से, स्वसत्तावलम्बी ज्ञान प्रगट हुआ है, उसकी महिमा है। परलक्ष्यी शास्त्रज्ञान की महिमा नहीं है।

ग्यान उदै ..... मति होत न मैली। जो सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ है, उसमें विकल्प से लेकर समस्त परिग्रह का अभाव है; इसलिए उसकी मति में मलिनता नहीं आती है।

बाहिज दिष्टि मिटी.... विकल्प से लेकर एक समय की अवस्था की दृष्टि भी जिसे नहीं रही और आत्मा में ही एकाग्रतारूप ध्यान की कला जागृत हुई है। अन्तर दृष्टि में ही एकाग्रता की कला विकसित होती है।

जे जड़ चेतन भिन्न लखैं.... मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और विकल्प से लेकर कर्म, शरीर आदि सब जड़-अचेतन है; इस प्रकार स्व-पर को भिन्न जानता है। अन्तर में ऐसा सुविवेक प्रगट हुआ है कि स्व को स्वरूप से स्व रूप से पर को पर रूप से भिन्न-भिन्न जानता है। गुणों की थैली ऐसे आत्मा को अपनी परीक्षाशक्ति से पहचान लेता है और उसमें एकाग्र होता है। ऐसे जीव को ही निर्जरा होती है, क्योंकि ऐसे ज्ञानी ही मोक्षमार्ग को यथार्थरूप से समझकर रुचिपूर्वक निज आत्मा का अनुभव करते हैं।

अब ग्यारहवें कलश का छब्बीसवाँ पद्य कहते हैं।

पुनः (दोहा)

बहुविधि क्रिया कलेससौं, सिवपद लहै न कोइ।
ग्यानकला परकाशसौं, सहज मोखपद होइ॥ २६॥

अर्थ - अनेक प्रकार की बाह्य क्रियाओं के क्लेश से कोई मोक्ष नहीं पा सकता और सम्यग्ज्ञान प्रकाशित होने से बिना क्लेश से ही मोक्षपद प्राप्त होता है।

www.vitragvani.com

काव्य-२६ पर प्रवचन

उपवास, अनशन, उनोदर.... इत्यादि महाव्रत और त्याग के भाव की अनेक प्रकार की क्रिया तो विकल्परूप होने से क्लेशमय है। उनसे किसी का मोक्ष नहीं होता है। मोक्ष तो आनन्दस्वरूप है, उसकी प्राप्ति क्लेश से कभी नहीं होती है। अन्तर में चैतन्यकला का प्रकाश हो, उससे सहज मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मा सहज चैतन्यस्वरूप मूर्ति है, उसमें एकाग्रता करने से ही स्वाभाविकरूप से मोक्षपद की प्राप्ति होती है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए कोई उपसर्ग या परीषह आदि सहन करे तो मोक्ष होता है – ऐसा नहीं है। किसी प्रकार के क्लेश बिना अन्तर एकाग्रता से सहजरूप से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ग्यानकला घटघट बसै, जोग जुगतिके पार।
निज निज कला उदोत करि, मुकत होइ संसार॥ २७॥

अर्थ – ज्ञानज्योति समस्त जीवों के अन्तरङ्ग में रहती है, वह मन, वन, काय और युक्ति के अगम्य है। हे भव्यो! अपनी-अपनी ज्ञानज्योति प्रगट करके संसार-मुक्त होओ।

काव्य-२७ पर प्रवचन

प्रत्येक शरीर में भिन्न आत्मा बसता है। इस भगवान का स्वरूप ही चैतन्यमय है, वह योग और युक्ति अर्थात् मन-वचन-काया का योग और युक्ति से पार है। युक्ति अर्थात् विकल्प से पार है। ऐसे निज आत्मा को, हे भव्यों! तुम ज्ञानज्योति द्वारा प्रगट करो, और संसार से मुक्त होओ। प्रत्येक जीव को अपनी-अपनी निरालम्बी कला से उसकी प्राप्ति होती है।

वह ज्ञानकला क्या है? निर्विकल्प श्रद्धा, निर्विकल्प ज्ञान और निर्विकल्प स्थिरता, वह सब ज्ञानकला है; उसमें रागकला का अभाव है। ऐसी ज्ञानकला से मोक्ष की प्राप्ति होती है; किसी क्रियाकाण्ड से नहीं होती है। अखण्डानन्द निज प्रभु का आश्रय लेकर जो दशा प्रगट होती है, वह दशा मुक्ति का कारण है। बाहर के लक्ष्य से जितने क्रियाकाण्ड हैं, वे सब बन्ध के कारण हैं, उनसे मुक्ति नहीं होती है।

अब, बारहवें श्लोक में अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा तो अचिन्त्य

www.vitragvani.com

शक्तिवाला देव है, चिन्मात्र चिन्तामणि है, उससे ही सर्व अर्थ की सिद्धि होती है, इसलिए ज्ञानी को अन्य परिग्रह का क्या प्रयोजन है ? इस कलश पर बनारसीदासजी निम्नानुसार पद्य में अनुभव की प्रशंसा करते हैं।

अनुभव की क्रिया (कुंडलिया)

अनुभव चिंतामनि रतन, जाके, हिय परगास।
सो पुनीत सिवपद लहै, दहै चतुरगतिवास॥
दहै चतुरगतिवास, आस धरि क्रिया न मंडै।
नूतन बंध निरोधि, पूब्बकृत कर्म बिहंडै॥
ताके न गनु विकार, न गनु बहु भार न गनु भव।
जाके हिरदै मांहि, रतन चिंतामनि अनुभव॥ २८॥

अर्थ – अनुभवरूप चिन्तामणि रत्न का जिसके हृदय में प्रकाश हो जाता है, वह पवित्र आत्मा चतुर्गति भ्रमणरूप संसार को नष्ट करके मोक्षपद पाता है। उसका चारित्र इच्छारहित होता है, वह कर्मों का संवर और पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करता है। उस अनुभवी जीव के राग-द्वेष, परिग्रह का भार और आगे होनेवाले जन्म किसी गिनती में नहीं हैं अर्थात् वह स्वल्प काल ही में सिद्धपद पावेगा।

काव्य-२८ पर प्रवचन

अनुभव की प्रशंसा — आत्मा निर्विकल्प वीतरागस्वरूप है, उसका अनुसरण करके जो दशा होती है, वह अनुभव है। यह अनुभव, मुक्ति का कारण है। किसी के हाथ में देव अधिष्ठित चिन्तामणि रत्न आया हो तो वह जो चाहता है, वे सभी वस्तुएँ उसे प्राप्त होती हैं; उसी प्रकार 'अनुभव' वह आत्मा का ऐसा चिन्तामणि रत्न है कि उससे चाहे जितनी आनन्द की प्राप्ति जीव कर सकता है। जितना अनुभव करे, उतनी आनन्द की प्राप्ति होती है। वीतरागदशा का अनुभव, वह चिन्तामणि रत्न है।

यह पवित्र रत्न प्राप्त करके ज्ञानी जीव क्या करता है ? शिवपद को प्राप्त करता है और चतुर्गति वास का नाश करता है। अनुभव से मुक्ति की प्राप्ति होती है, बाकी व्रत, तप, भक्ति आदि क्रियाकाण्ड से मुक्ति नहीं होती है परन्तु अभी तो सब सम्प्रदाय में यह बात

www.vitragvani.com

है कि उपवास करो, प्रौषध करो, तप करो.... तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी परन्तु इस तरह किसी की मुक्ति होनेवाली नहीं है। यह तो जीव अनादि से जो करता आया है, वह की वही बात है, उसका फल संसार है।

अनुभव चिंतामनि रतन — जिसमें महाव्रतादि के विकल्प का भी अभाव है, और आनन्द की दशा के अनुभव की अस्ति है - ऐसा चिन्तामणि रत्न जिसके हृदय में प्रकाशित हो रहा है, वह पवित्र आत्मा, मोक्षपद को प्राप्त करता है।

धर्मी जीव अपने आनन्दस्वरूप का अनुभव करता है, परन्तु किसी प्रकार की इच्छा रखकर क्रिया नहीं करता। व्रत, तपादि के भाव आ जाएँ और उनका पालन करे - यह अलग बात है परन्तु इच्छापूर्वक व्रतादि नहीं करता। यह राग करने योग्य है - ऐसा मानकर राग की क्रिया नहीं करता। वह तो स्वरूप में स्थिरतारूप क्रिया को करता है। ध्रुव आत्मा के अनुभव की दशा से धर्मी जीव को नवीन कर्म आना रुक जाते हैं और पुराने कर्म खिर जाते हैं; इस प्रकार संवर-निर्जरा की क्रिया, वह धर्मी की धर्म क्रिया है।

ताके न गनु विकार — धर्मी को विकार होता है, वह भिन्न रह जाता है; अनुभव में विकार नहीं आता। धर्मी, विकार और व्यवहार से मुक्त है। जो विकार को ग्रहण करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। धर्मी तो छह खण्ड के राज्य को साधता हो तो भी वह तो अखण्ड आत्मा को साधता है, छह खण्ड के राज्य का अथवा विकार का बोझ धर्मी नहीं रखता है। जहाँ विकल्प मेरा नहीं है, वहाँ राज्य मेरा कहाँ से होगा? सम्यग्दृष्टि धर्मी को राग-द्वेषादि विकल्प है ही नहीं। परिग्रह का भार धर्मी उठाता ही नहीं है। धर्मी के पास तो बस - अबन्ध शुद्धद्रव्य, अबन्ध गुण और अबन्ध परिणाम हैं।

कोई ऐसा प्रश्न करे कि ऐसा समकित अभी हो सकता होगा? - हाँ, सम्यग्दर्शन तो धर्म की इकाई है उसके बिना धर्म कहाँ से होगा? इस काल में धर्म हो सकता।

सम्यग्दृष्टि व्यवहार के राग से मुक्त है, व्यवहार का बोझ उसे नहीं होता। 'इतना व्यवहार करना पड़ेगा' - ऐसा भाव ज्ञानी को होता ही नहीं है। सबेरे-शाम प्रतिक्रमण करना पड़े, तीन बार सामायिक करनी पड़े - ऐसा विकल्प का बोझ ज्ञानी को नहीं होता है। इसलिए यहाँ कहा है कि —

www.vitragvani.com

न गनु विकार, न गनु बहु भार — धर्मी जीव राग-द्वेष के भार को नहीं उठाता और भव को भी गिनती में नहीं लेता है। धर्मी को भव ही नहीं हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान में भव कैसा? एक-दो भव हों, वे ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञानी भव का स्वामी नहीं है। जहाँ आत्मा राग से भी सहित नहीं है, वहाँ भवसहित कैसे होगा? स्वयं तो ज्ञातादृष्टा है। भव का भाव या भव मुझमें नहीं है।

शकेन्द्र एकावतारी कहलाता है न? इन्द्र-इन्द्राणी दोनों एक भव करके मोक्ष में जाते हैं - ऐसा कहा जाता है परन्तु ज्ञानी को वह भव मात्र ज्ञान का ज्ञेय है। धर्मी को ज्ञान में भव नहीं है क्योंकि भव और भव का भाव ये दोनों पर हैं, इनसे धर्मी आत्मा पृथक् है। यह सब अनुभव चिन्तामणि रत्न की महिमा है। अनुभव प्राप्त जीव भले पशु हो तो भी भव और भव के भाव के भार से रहित है।

अर्थ में 'अल्प काल में सिद्धपद प्राप्त करेगा....' यह तो फिर स्पष्टीकरण किया है। वस्तुतः तो धर्मी को 'मैं अखण्ड आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ' - ऐसा अनुभव हुआ, उसमें भव या भव का भाव कुछ दिखता ही नहीं। जहाँ विकल्प ही पर रूप से भासित होने लगा, वहाँ भव अपना कहाँ से लगेगा? राग से मुक्त हुआ, उसे किससे मुक्ति बाकी रही है? वह तो मुक्त ही है। जितना राग बाकी है, उस प्रमाण में भव है, वह तो ज्ञान में ज्ञेयरूप से जानने की बात है।

यह अनुभव की प्रशंसा की है। अब सम्यग्दर्शन की प्रशंसा का पद्य कहते हैं। बात तो एक ही है परन्तु दूसरे प्रकार से कहते हैं।

सम्यग्दर्शन की प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जिन्ह के हिये मैं सत्य सूरज उदोत भयो,
फैली मति किरन मिथ्यात तम नष्ट है।
जिन्ह की सुदिष्टि मैं न परचै विषमतासौं,
समतासौं प्रीति ममतासौं लष्ट पुष्ट हैं॥
जिन्ह के कटाक्ष मैं सहज मोखपंख सधै,
मनकौ निरोध जाके तन कौ न कष्ट है।

www.vitragvani.com

तिन्ह के करम की कलोलैं यह है समाधि,
डोलै यह जोगासन बोलै यह मष्ट है॥ २९॥

अर्थ – जिनके हृदय में अनुभव का सत्य सूर्य प्रकाशित हुआ है और सुबुद्धिरूप किरणें फैलकर मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट करती हैं, जिनके सच्चे श्रद्धान में राग-द्वेष से नाता नहीं है, समता से जिनका प्रेम और ममता से द्रोह है, जिनकी चिन्तवनमात्र से मोक्षमार्ग सधता है और जो कायक्लेश आदि के बिना मन आदि योगों का निग्रह करते हैं; उन सम्यग्ज्ञानी जीवों के विषय-भोग भी समाधि हैं, चलना-फिरना योग वा आसन हैं और बोलना-चालना ही मौनव्रत है।

काव्य-२९ पर प्रवचन

अहा! जिसके अनुभव में ज्ञानसूर्य भगवान आत्मा जागृत हुआ – सत्यसूर्य प्रकाशित हुआ कि जो अनन्त चैतन्य प्रकाशमय है, उसका अनुभव होने से मिथ्यात्व का अन्धकार तो नाश को प्राप्त हुआ और सुबुद्धि की किरणें फैल रही हैं।

समकिती अनुभवी ज्ञानी को राग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, अशुभराग के साथ तो सम्बन्ध नहीं परन्तु व्यवहाररत्नत्रयरूप राग के साथ भी धर्मी को कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्यक्श्रद्धा और अनुभव में राग के साथ कोई लगाव नहीं है क्योंकि सच्चे श्रद्धा-ज्ञान को विषमता अर्थात् राग-द्वेष स्पर्श ही नहीं करते हैं। इसलिए अपने अनन्त आनन्द और ज्ञानस्वभाव का वेदन करते हुए धर्मी को राग के साथ कोई परिचय नहीं है। 'राग मेरा है' – ऐसी ममता के प्रति धर्मी को ममता नहीं है परन्तु द्वेष है-विरोध है और समता के प्रति प्रेम है – आदर है।

वैसे तो चारित्र अपेक्षा से धर्मी को दशवें गुणस्थान तक राग होता है परन्तु यहाँ श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से कथन है; इसलिए कहा है कि धर्मी को राग के साथ कुछ नाता नहीं है; राग के साथ सम्बन्ध माननेवाला तो मिथ्यादृष्टि है, उसे बन्ध होता है। आत्मा, राग और बन्ध से सहित है – ऐसा मानना ही भव का बीज है। धर्मी को इस भव के बीज का नाश हुआ है; इसलिए देव-गुरु या देव-गुरु के प्रति का राग मेरा है – ऐसा धर्मी नहीं मानते हैं।

www.vitragvani.com

आहा...हा...! जिसकी ज्ञान की उग्रदशा में मोक्षपन्थ सहजरूप से सधता है, कटाक्ष अर्थात् चिन्तवन-एकाग्रता...। ज्ञान की धारा से - एकाग्रता से मोक्षपन्थ सधता है। क्रिया के कष्ट सहन करता है, तो मोक्षमार्ग की साधना होती है - ऐसा नहीं है। दुःख सहन करने से धर्म होता है - ऐसा धर्मी का मार्ग नहीं है। धर्मात्मा को ज्ञान की एकाग्रता के कटाक्ष में ही मोक्षपन्थ सधता है। उसे कोई कष्ट और दुःख सहन करना पड़े - ऐसा मार्ग नहीं है। आनन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति आनन्द से होती है, दुःख से नहीं होती है।

मैं कष्ट सहन करूँ, भूख-प्यास सहन करूँ, तो मुझे धर्म होगा, यह बात ही मिथ्यात्व है। मुझे भूख-प्यास लगते हैं और मैं उन्हें सहन करता हूँ, इस भाव में निर्जरा नहीं होती परन्तु मिथ्यात्व का बन्ध होता है। धर्मी को तो कायक्लेश के बिना मन का निरोध सहज हो जाता है। स्वरूप में दृष्टि और स्थिरता होने पर निर्विकल्प आनन्द आने से कायक्लेश बिना भी मन का रुकना स्वयं हो जाता है। धर्मी को कर्म का उदय वर्तता है परन्तु उसमें उसे समाधि है, आकुलता नहीं। कारण कि धर्मी, कर्म के उदय का मात्र ज्ञान करता है, उसे अपना नहीं मानता है। राग को भी धर्मी अपना नहीं मानता। राग का मात्र ज्ञान करता है और वह भी अपना ज्ञानस्वभाव होने से स्वयं को जानते हुए राग को भी जानता है। राग है, इसलिए राग का ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है।

धर्मी को विषयभोग भी समाधि है, वह किस प्रकार? विषयभोग में या विषयभोग की वृत्ति में धर्मी को एकत्व नहीं है, इसलिए उससे भिन्न पड़कर उस सम्बन्धी का ज्ञान भी स्वयं से करता है; इसलिए उसे समाधि भी कहा है। विषयभोग का भाव तो राग ही है, वह कहीं समाधि नहीं परन्तु उस राग को पृथक् रखकर स्व और पर को जानने की क्रिया होती है, वह समाधि है।

धर्मी को स्व-परप्रकाशक ज्ञान खिला है, वह समाधि है। बनारसीदासजी ने यह बात कितना जोर देकर कही है कि समकिती चलते हुए भी स्थिर है, बोलते हुए भी मौन है, समकिती तो जो कुछ क्रिया होती है, उसे ज्ञातारूप से मात्र जानता है। योगों की क्रिया और कम्पन भी छूटते जाते हैं। ज्ञान-आनन्दस्वरूप के अनुभव में क्रिया का स्पर्श नहीं है,

www.vitragvani.com

इसलिए वह स्थिर है – ऐसा कहा जाता है। ज्ञानी स्व के – चैतन्य के आसन में स्थिर हुए हैं; इसलिए योग की क्रिया के काल में भी स्थिर है।

आह... ! अपने परमात्मस्वरूप का स्पर्श हुआ, वहाँ राग का और कम्पन का स्पर्श धर्मी को है ही नहीं। मिथ्यात्व गया और सम्यक्त्व हुआ, फिर अव्रत, कषाय, प्रमाद, योग के परिणाम हैं परन्तु उन्हें धर्मी अपना स्वरूप नहीं मानता, इसलिए बोले कौन और चले कौन ? स्वयं को स्व-परप्रकाशक ज्ञान प्रगट हुआ है, उसमें यह बोलने-चलने की क्रिया ज्ञात होती है।

चैतन्य भगवान अनन्त-अनन्त स्वच्छता और शान्तिस्वरूप है। ऐसे स्वरूप का जहाँ स्पर्श हुआ, वेदन हुआ, निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान और श्रद्धा हुई, वहाँ अब ज्ञानी को जो कुछ क्रिया संयोग में वर्तती है, वह पररूप से ज्ञात होती है; इसलिए कहा कि बोलते हुए भी अबोल / मौन है और चलते हुए भी स्थिर है। ऐसी 'चिन्मूरत दृगधारी की मोहे रीति लगत है अटापटी।' इन्द्राणी के संग में रहते होने पर भी परपरिणति की हटाहटी है। अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की जागृति के समक्ष समस्त क्रिया से भेदज्ञान वर्तता है।

बनारसीदासजी की ऐसी बात पढ़कर विरोध हुआ था कि यह तो व्यवहार का भुक्का उड़ाते हैं... जिन्हें क्रिया पर ही धर्म का आधार है, उन्हें ऐसा कहते हैं कि तुम्हारे व्रत और तप सब बन्ध के कारण हैं, इसलिए तुम जहर पीते हो.... कठिन लगता है परन्तु क्या हो ? अन्तर में आनन्द के स्वाद के समक्ष बोलना, चलना आदि किसी क्रिया का प्रेम नहीं है, सबसे रुचि छूट गयी है; इसलिए ही तो धर्मी को समाधि कही है। वस्तुतः विकल्प है, वह कोई समाधि नहीं है; धर्मी को राग का स्वीकार नहीं है, विकल्प से विरक्ति वर्तती है और स्वभाव में विकल्प की नास्ति है तथा गुण की प्रतीति और ध्यान वर्तता है, इसलिए विकल्प के काल में भी धर्मी को समाधि वर्तती है – ऐसा कहा है।

यह तो जिसे अल्प काल में मुक्ति प्राप्त होनी है, उसकी बातें हैं। जिसे संसार में भटकना है, उसे यह बात अन्तर में बैठना कठिन पड़ती है।

भावार्थ — सम्यग्ज्ञान प्रगट होते ही गुणश्रेणी निर्जरा प्रगट होती है, ज्ञानी जीव चारित्रमोह के प्रबल उदय में यद्यपि संयम नहीं लेते – अव्रत की दशा में रहते हैं तो भी

www.vitragvani.com

कर्मनिर्जरा होती ही है अर्थात् विषय आदि भोगते, चलते-फिरते और बोलते-चालते हुए भी उनके कर्म झड़ते हैं। जो परिणाम, समाधि योग आसन मौन का है, वही परिणाम ज्ञानी के विषय-भोग, चलन-फिरन और बोलचाल का है। सम्यक्त्व की ऐसी ही अटपटी महिमा है।

यह पढ़कर किसी को प्रश्न होता है कि धर्मी को अशुभभाव में भी निर्जरा कही है तो शुभभाव में निर्जरा क्यों नहीं होगी? अरे भाई! धर्मी को अशुभभाव से निर्जरा नहीं होती; अन्दर राग से रहित ऐसा अनुभव वर्तता है, उसके कारण धर्मी को निर्जरा है, अशुभ या शुभभाव से निर्जरा नहीं होती है। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष राग का स्वाद जहर जैसा लगता है, इसलिए अशुद्धता टलती है और कर्म गलते हैं।

परिणाम में राग होने पर भी मेरे अस्तित्व में राग आया है - ऐसा धर्मी नहीं मानते। मुझमें तो मेरा स्व-परप्रकाशक ज्ञान आया है, राग नहीं आया - ऐसा मानते हैं। इसलिए समाधि, योग, आसन, और मौन का जो परिणाम है, वही परिणाम ज्ञानी को विषयभोग, हालचाल और बोलचाल होने पर भी मिलता है। सम्यक्त्व की ऐसी ही अटपटी महिमा है। आस्रव आने पर भी उसकी हटाहटी होती है। मैं द्रव्य से अबद्ध हूँ, गुण से अबद्ध हूँ और पर्याय से भी अबद्धस्वरूप हूँ, मुक्तस्वरूप हूँ - ऐसा मानने से ज्ञानी, राग के साथ के जुड़ान को अपना कैसे मानेगा?

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि मुक्तस्वरूप पर होने से वह मुक्त है, इसलिए जगत के साथ समकिती की तुलना नहीं हो सकती है। अब, निर्जरा अधिकार के तेरहवें कलश पर तीसवाँ पद्य है। इसमें परिग्रह के विशेष भेद का कथन करने की प्रतिज्ञा की है।

परिग्रह के विशेष भेद कथन करने की प्रतिज्ञा (सवैया इकतीसा)

आतम सुभाउ परभाउ की न सुधि ताकौं,
जाकौ मन मगन परिग्रह मैं रह्यौ है।
ऐसौ अविवेक कौ निधान परिग्रह राग,
ताकौ त्याग इहांलौं समुच्चैरूप कह्यौ है॥

www.vitragvani.com

अब निज पर भ्रम दूरि करिवैकै काज,
बहुरौं सुगुरु उपदेस को उमह्यौ है।
परिग्रह त्याग परिग्रहकौ विशेष अंग,
कहिवेकौ उद्दिम उदार लहलह्यौ है॥ ३०॥

अर्थ – जिसका चित्त परिग्रह में रमता है, उसे स्वभाव-परभाव की खबर नहीं रहती, इसलिए परिग्रह का प्रेम अज्ञान का कोष ही है। उसके त्याग का यहाँ तक सामान्य रीति से समुच्चयरूप कथन किया है; अब श्रीगुरु निज-पर का भ्रम दूर करने के लिये परिग्रह त्याग और परिग्रह के विशेष भेद कहने को उत्साहपूर्वक सावधान हुए हैं।

काव्य-३० पर प्रवचन

आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है, इसके सिवाय शुभविकल्प से लेकर सब परिग्रह गिनने में आया है। आत्मा उस परिग्रह से अत्यन्त भिन्न है। ज्ञानादि अनन्त गुण, वह आत्मा का स्वभाव है, और प्रत्येक प्रकार का विकल्प परभाव है – ऐसा जिसे स्वभाव का और परभाव का विवेक नहीं है, वह विकल्प में ही मग्न रहता है। उसे अपने स्वभाव का पता नहीं है, इसलिए विकल्प को ही अपना स्वभाव मानकर उसमें लीन है। वास्तव में विकल्प तो परिग्रह है, उसमें लीन होने से ही कर्म का बन्ध होता है और विकल्प से भिन्न चैतन्य का भान होने से निर्जरा होती है।

शुद्ध चैतन्य निजवस्तु और राग की भिन्नता की जिसे सूझ नहीं पड़ती, उसका मन तो राग में ही लीन है। राग में और पर संयोग में ही उसे अपनेपन की पकड़ है, इसलिए उसमें ही लीन है। राग में एकता है, वह अविवेक का निधान है। अविवेक अर्थात् वह अज्ञान का खजाना है, उसमें आत्मा नहीं है। राग की एकता टूटकर स्वभाव की दृष्टि होती है, उसमें आत्मा है, उसमें ज्ञान का खजाना है। जिसे राग का प्रेम है, उसके पास तो अविवेक का भण्डार है, उसमें से अज्ञान ही फैलता है – बढ़ता है। शरीर, स्त्री, पुत्र, पैसा आदि तो परिग्रह है; ही उनके प्रेम में तो अज्ञान ही है परन्तु राग के प्रेम में भी अज्ञान ही फैलता है।

ज्ञानी को स्वभाव और परभाव का विवेक हो गया होने से राग से लेकर समस्त

www.vitragvani.com

वस्तुएँ – समस्त परिग्रह का उसकी दृष्टि में त्याग है। राग का राग नहीं है, इसलिए राग का त्याग है। लक्ष्मी आदि समस्त परिग्रह का धर्मी की दृष्टि में त्याग ही है।

समुच्चयरूप से राग का त्याग कहकर उसमें समस्त परिग्रह का त्याग कहा था। अब, श्रीगुरु परिग्रह त्याग के विशेष भेदों को बताकर उसका त्याग करने के लिए समझाते हैं। विशेष प्रकार के शुभ और अशुभराग, कर्म का उदय, बाह्य सामग्री आदि जिस-जिस में जीव की विशेष पकड़ है, वह अविवेक और अज्ञान है। किसी भी परचीज या राग की एकता मानना, वह भ्रम है। मैं शुभराग करता हूँ, मुझे पुण्य बँधता है, मुझे बाह्य सामग्री अनुकूल मिली है... यह सब अज्ञान है। ऐसे अनेक प्रकार के परिग्रह में अज्ञानी को विशेष प्रकार से पकड़ हुई है। उसमें से उसे मुक्त कराने के लिए श्रीगुरु विशेष प्रकार से सावधान होते हैं। स्व-पर की एकता का भ्रम दूर करने के लिए श्रीगुरु परिग्रह और उसके विशेष भेद कहते हैं।

सामान्य-विशेष परिग्रह का निर्णय (दोहा)

त्याग जोग परवस्तु सब, यह सामान्य विचार।
विविध वस्तु नाना विरति, यह विशेष विस्तार॥ ३१॥

अर्थ – अपने आत्मा के सिवाय अन्य सब चेतन-अचेतन परपदार्थ त्यागने योग्य हैं, यह सामान्य उपदेश है और उनका अनेक प्रकार से त्याग करना, यह परिग्रह का विशेष त्याग है।

काव्य-३१ पर प्रवचन

संक्षिप्त में सारी बात कर दी है कि अपने ज्ञायकभाव के अतिरिक्त समस्त चेतन-अचेतन वस्तुएँ त्यागने योग्य है। शुद्ध चैतन्यद्रव्य ही एक अङ्गीकार करने योग्य है, शेष समस्त वस्तुएँ अङ्गीकार करने योग्य नहीं हैं। शुभविकल्प से लेकर समस्त विकल्प हेय है, छोड़ने योग्य हैं।

यह परिग्रह के त्याग का सामान्य उपदेश हुआ। अब इसके विशेष भेद करके करना, जैसे कि शुभराग में असंख्य प्रकार हैं, अशुभराग के असंख्य प्रकार हैं, उनके बन्ध

www.vitragvani.com

के अनेक प्रकार हैं और उनके फल के भी अनेक प्रकार हैं, इन सबका त्याग करना कि ऐसा राग नहीं, यह भाव नहीं... ऐसे सब का त्याग करना, वह परिग्रह त्याग का विशेष प्रकार है।

भावार्थ : मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह और धनधान्यादि दस बाह्य परिग्रह – इन सबका त्याग सामान्य त्याग है, और मिथ्यात्व का त्याग, अव्रत का त्याग, कषाय का त्याग, कुकथा का त्याग, प्रमाद का त्याग, अभक्ष्य का त्याग, अन्याय का त्याग आदि विशेष त्याग हैं।

मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता... क्या विपरीत मान्यता ? कि मैं अंश जितना ही हूँ, मैं ही राग हूँ, पुण्य का परिणाम मेरा है, उसका बन्धन मुझे होता है, उसके फल में अनुकूल संयोग मुझे प्राप्त हुए हैं – ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, वह अन्तरङ्ग परिग्रह है, उसका त्याग करना।

राग और द्वेष भी अन्तरङ्ग परिग्रह है। राग-द्वेष को अपना मानना, वह भी जहाँ मिथ्यात्व नामक अन्तरङ्ग परिग्रह है तो पैसे को निज मानना तो परिग्रह है ही। पैसा मेरा, शरीर मेरा, कर्म मेरा, स्त्री-पुत्र मेरे, उनके प्रति होनेवाला राग मेरा – यह सब मिथ्यात्वभाव है। इन सब भावों का त्याग, वह मिथ्यात्व परिग्रह का त्याग है और धन-धान्यादि दश प्रकार का बाह्य परिग्रह है, उसका भी त्याग करना... यह सामान्य त्याग है। उसी के भेदरूप मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, कुकथा, प्रमाद आदि की पकड़ है, उसका त्याग करना, वह विशेष त्याग है।

अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि भी परिग्रह है, उसमें भी मुझे प्रमाद है – मैं प्रमादी हूँ – ऐसी पकड़ है, वह मिथ्यात्व परिग्रह है। स्त्री-पुत्रादि का त्याग करके बैठे और माने कि मैं त्यागी हूँ, उसे भी परिग्रह है, क्योंकि स्त्री-पुत्रादि मेरे थे और उन्हें मैंने छोड़ा – यही मिथ्यात्व है – विपरीत मान्यता है। राग मेरा था और मैंने राग को छोड़ा, यह भी मिथ्यात्व है, परिग्रह है। अन्याय और अभक्ष्य भी परिग्रह है, उसका भी त्याग करना।

सारांश यह है कि आत्मा के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब परिग्रह है, विकल्प से लेकर सब परिग्रह है, वह सामान्य कथन हुआ और इसके विशेष

www.vitragvani.com

प्रकार करके सबका त्याग करना, वह विशेष प्रकार से परिग्रह त्याग का कथन है।

यह सामान्य और विशेष किसी भी प्रकार का परिग्रह है, वह मेरा है, मुझे है; इस प्रकार की मान्यता है, वह अविवेक और अज्ञान है। मेरी भाषा मीठी है, अच्छी है, मैं सुन्दर और पद्धतिसर बोलनेवाला हूँ, यह वाणी का परिग्रह है, वह भी मिथ्यात्व का कारण है। मैंने उपदेश किया – ऐसी पकड़ है, वह मिथ्यात्व है। शास्त्र के अध्ययन की पकड़ है, वह भी मिथ्यात्व परिग्रह है और एक समय की पर्याय जितना अपने को मानना भी मिथ्यात्व है। यह सब मिथ्यात्व परिग्रह के विशेष हैं।

यह निर्जरा अधिकार है। स्वभाव के अतिरिक्त किसी भी चीज को अपना मानने में मिथ्यात्व का बन्ध है, वह परिग्रह है। उसे छेदने से निर्जरा होती है। किस प्रकार? आत्मा के अतिरिक्त कोई विकल्प या वस्तु मेरी नहीं है, मैं अत्यन्त शुद्ध वस्तु हूँ। मेरा द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है, और परिणमन भी शुद्ध है – ऐसे द्रव्य–गुण–पर्याय के अतिरिक्त कोई भी चीज मेरी नहीं है – ऐसा अनुभव करने से निर्जरा होती है क्योंकि उसकी दृष्टि में से अपने द्रव्य–गुण–पर्याय के अतिरिक्त सबका त्याग हो गया है; इसलिए उसे कर्म गलते हैं, शुद्धि बढ़ती है और अशुद्धि घटती है।

यहाँ स्त्री–पुत्रादि बाह्य परिग्रह तो क्या, परन्तु एक समय की अपनी पर्याय में ही सम्पूर्ण आत्मपने की बुद्धि है, उसे प्रति समय मिथ्यात्व की ही पकड़ है; इसलिए वह कदाचित् बाह्य से त्यागी हो तो भी प्रतिक्षण बँधता है – मिथ्यात्व परिग्रह से बँधन को प्राप्त होता है और जो कोई बाह्य से गृहस्थाश्रम में हो, चक्रवर्ती की सम्पत्ति में रहा हो फिर भी विकल्प से लेकर समस्त वस्तुओं का मुझमें अभाव है – ऐसी दृष्टि हुई है, उसे मिथ्यात्व परिग्रह छूट गया होने से संयोग के पुञ्ज में पड़ा होने पर भी प्रतिसमय निर्जरा होती है, क्योंकि अन्तर में स्वभाव के आश्रय का परिणमन है, इसलिए धर्मी को अपने आनन्द स्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कोई अपना भासित नहीं होता। राग से भी रहित ऐसा अपरिग्रही चैतन्य के निर्मल परिणमनसहित धर्मी चाहे जिस द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव के बीच रहा हो, फिर भी परिग्रह का त्यागी है; इसलिए उसे निर्जरा होती है।

www.vitragvani.com

परिग्रह में रहते हुए भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं (चौपाई)

पूरव करम उदै रस भुंजै,
ग्यान मगन ममता न प्रयुंजै।
उरमैं उदासीनता लहिये,
यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये॥ ३२॥

अर्थ – ज्ञानी जीव पूर्वबद्ध कर्म के उदय से सुख-दुख दोनों भोगते हैं, पर वे उनमें ममता और राग-द्वेष नहीं करते – ज्ञान ही में मस्त रहते हैं, इससे उन्हें निष्परिग्रह ही कहा है।

काव्य-३२ पर प्रवचन

पूर्व में अज्ञानदशा में बँधे हुए कर्मों का उदय धर्मी को आता है, तब उसकी ओर राग का थोड़ा झुकाव होता है, इसलिए दुनिया को ऐसा लगता है कि धर्मी सुख-दुःख का वेदन करता है परन्तु वास्तव में ज्ञानी, राग को अथवा संयोग को भोगता नहीं है। जहाँ चैतन्य के आनन्द की प्रीति वर्तती है, वहाँ धर्मी को राग की अथवा संयोग की प्रीति कैसे होगी? धर्मी को बाह्य में सबके प्रति सुखबुद्धि उड़ गयी है। शुभभाव हो, अशुभभाव हो, अनुकूल सामग्री का संयोग हो परन्तु उसमें मेरेपने की बुद्धि उड़ गयी है; अकेला ज्ञातास्वभाव का प्रेम है, इसलिए ज्ञाता का रस चढ़ा है, दूसरा सब रस छूट गया है।

दुनिया तो ऐसा कहती है कि बाहर से सब परिग्रह छोड़ दे तो हम ज्ञानी को परिग्रह त्यागी मानेंगे परन्तु दुनिया को पता नहीं है कि ज्ञानी को समस्त परिग्रह में से अपनेपने की बुद्धि छूट गयी है; उसे तो एकमात्र चैतन्य का परिग्रह है। ज्ञानी को व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प का भी परिग्रह नहीं है तो दूसरा परिग्रह तो कौन सा होगा?

ज्ञानी को राग और संयोग की रुचि मिट गयी है तो राग क्यों करता है? — भाई! वह राग करता नहीं है, तुझे ऐसा भासित होता है कि राग को करता है; वह तो अपने आनन्द के रस में रहकर स्व में सुखबुद्धि रखकर राग को मात्र जानता है।

क्या निश्चय से ऐसा होगा? या कहनेमात्र होगा? ऐसा किसी को प्रश्न उत्पन्न होता है। अरे भाई! वस्तु ही ऐसी है। जहाँ आनन्दस्वरूप निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यद्रव्य की ओर

www.vitragvani.com

झुका और उसका भान हुआ, वहाँ वह जीव ज्ञाता-दृष्टा हो गया, राग से विरक्त हो गया; फिर उसे शुभाशुभविकल्प होता दिखता है, शरीरादि का संयोग होता दिखता है, फिर भी उससे वह विरक्त है। धर्मी तो राग से विरक्त है। जो राग में रक्त है, वह तो अज्ञानी है।

ग्यान मगन ममता न प्रयुंजै। धर्मी तो ज्ञानानन्दस्वभाव में मग्न है, क्योंकि दृष्टि वहाँ स्थिर हुई है। उस दृष्टि में अब दूसरी चीज नहीं आती। राग में मेरापना होता ही नहीं, इसलिए राग में लीन नहीं होता है।

आहा...हा...! मार्ग तो मार्ग है न! यह सुने और समझे बिना त्याग किया - ऐसा मान ले कि हम त्यागी हैं, ब्रह्मचारी हैं परन्तु उसे जो अन्दर में विकल्प उठता है, उसका रस है, वह परिग्रह का रस है, उसे आत्मा का रस नहीं है। धर्मी को तो ज्ञान में राग से उदासीनता वर्तती है; राग में मेरेपने की बुद्धि छूट गयी है, इसलिए राग से उदासरूप वर्तता है। ज्ञानी-धर्मी का आसन राग से उदास है। अद्भुत मार्ग है! ऐसे छियानवे हजार स्त्रियों के संग में पड़ा होने पर भी कहते हैं — नहीं, वह तो राग से विरक्त है और अज्ञानी नग्न-दिगम्बर होकर घूमे परन्तु जिसे राग का रस है, वह परिग्रहवन्त है, उसे सब परिग्रह लगा हुआ है।

यौं बुध परिग्रहवंत न कहिये — जिसे ज्ञानानन्दधाम आत्मा की पकड़ हुई है - ऐसा धर्मी जीव, राग से उदासीन है; इसलिए उसे परिग्रहवन्त नहीं कहते हैं, वह करोड़पति है या नृपति है या पत्नी का पति है - ऐसा हम नहीं कहते हैं, क्योंकि धर्मी की रुचि का पहलू बदल गया है। राग के विकल्प में ममता का भाव था, तब तक पर तरफ पहलू था, वह अब छूट गया है और महाप्रभु का पहलू / पक्ष सेवन करने लगा है, इसलिए धर्मी को अस्थिरता होने पर भी दृष्टि और ज्ञान की सम्यकता की अपेक्षा से परिग्रहवन्त नहीं कहते हैं। वह अस्थिरता का स्वामी नहीं है, उसे अपना स्वरूप नहीं मानता है, इसलिए उससे भिन्न है।

द्रव्य शुद्ध है - ऐसा अनुभव करनेवाले का परिणमन भी शुद्ध हो गया है, उसे पर में उत्साह नहीं है, पर से उदास है। अज्ञानी तो स्व में उदास है, और पर में उत्साह से वर्तता है। बाहर की अनुकूलता और शुभभाव आदि में उसे उत्साह है। अज्ञानी को स्वभाव के प्रति असावधानी है, जबकि ज्ञानी, स्वभाव में सावधान है और राग से उदास है।

www.vitragvani.com

आहा! इस भेदज्ञान की बात का क्या माहात्म्य है? इसकी खबर बिना बाहर से माप निकाले, उसका कोई मूल्य नहीं है। आचार्यों ने संक्षिप्त शब्द में निर्जरा का पूरा अधिकार कह दिया है। गजब बात है!

वस्तुतः तो धर्मी उसे कहते हैं कि वस्तु शुद्ध है, गुण शुद्ध है, और उसका परिणमन भी शुद्ध है। अशुद्धता का परिणमन ही नहीं, फिर अशुद्धता की पकड़रूप परिग्रह कैसे हो? श्रद्धा-ज्ञान अपेक्षा से धर्मी, विकार से तो विरक्त है, अस्थिरता वश विकार है, वह अलग अपेक्षा है। राग के रस से हट गया है, वह विरक्त है और अज्ञानी कदाचित् नग्न लिङ्ग धारण करके घूमता हो परन्तु इस शुभराग से मेरा हित है - ऐसी विकल्प की पकड़ है; इसलिए वह परिग्रहवन्त है, राग से विरक्त नहीं है।

यह तो तुम निश्चय की बात करते हो... ऐसा होता है...? परन्तु (भाई)! निश्चय की अर्थात् सत्य बात है, भगवान! तेरा सत्य ही ऐसा है प्रभु! तू सत्य का साहिब होकर विकार का साहिब कैसे हो सकता है? एक समय की पर्याय की भी जहाँ पकड़ नहीं है, उसे हम परिग्रहवन्त नहीं कहते हैं। परिग्रह के परिकर में पड़ा हुआ दिखने पर भी वह निष्परिग्रही है।

बाह्य परिग्रह छोड़कर, कुटुम्ब-परिवार छोड़कर, बाबा-साधु हो जाये परन्तु अन्दर की गहराई में दया-दान का राग, महाव्रत का राग मेरा है, उससे मुझे लाभ है, राग में मैं हूँ; इसलिए राग से मुझे लाभ है - ऐसा मानता है तो वह महापरिग्रहवन्त मिथ्यादृष्टि है और स्वयं को चारित्रवन्त मानकर ठगाया जाता है। यह कोई पोपाबाई का राज नहीं है, दुनिया उसे साधु माने इससे कहीं साधुपने का फल नहीं आ जाता। लाखों लोग महिमा करें, इससे कहीं उसमें चारित्र या चारित्र का फल नहीं आ जाता है।

सम्यक्त्वी सोने की थाली में खाता हो, हीरे के सिंहासन पर बैठा हो, इन्द्र तो जिसका मित्र हो... फिर भी उसे परिग्रह नहीं है - ऐसा कैसे माना जाए? भाई! तुझे देखना नहीं आता। सम्यक्त्वी को सब रस उड़ गया है, वह तुझे नहीं दिखता। उसे तो ध्रुव ऐसे अपने स्व-विषय का रस है। बारहवें कलश में आ गया न! अचिन्त्य शक्तिवाले स्वयमेव देव को जिसने दृष्टि में लिया, उसे अन्य परिग्रह का प्रेम कैसे होगा? अकेला वीतरागभाव

www.vitragvani.com

–ध्रुवभाव–स्वभावभाव का अनुभव हुआ, वहाँ दूसरा सब प्रेम छूट गया है। व्यवहाररत्नत्रय होने पर भी उसकी पकड़ नहीं है। व्यवहार मुझे होता है न! ऐसी पकड़ भी नहीं रही है। व्यवहार तो राग की क्रिया है; वह तेरी हो, तब तो राग और स्वभाव दोनों एक हो गये।

जिनवर का मार्ग ऐसा है। जिनवर का मार्ग कहो या आत्मा का मार्ग कहो एक ही है। वह कान में पड़े बिना जीवन चला जाता है। जहाँ धर्म नहीं, वहाँ धर्म मानकर बैठा है और दुनिया महिमा करती है, उससे इसे धर्म हो जानेवाला नहीं है।

धर्मी तो अपने धर्मस्वरूप में मस्त है। राग में मस्त नहीं, व्यवहार में मस्त नहीं; इसलिए धर्मी को निर्जरा होती है।

अब, ज्ञानी को परिग्रहरहित कहने का कारण बतलाते हैं।

परिग्रह में रहने पर भी ज्ञानी जीवों को परिग्रहरहित कहने का कारण (सवैया इकतीसा)

जे जे मनवांछित विलास भोग जगत मैं,
ते ते विनासीक सब राखे न रहत हैं।
और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम,
तेऊ विनासीक धारारूप ह्वै बहत हैं॥
एकता न दुहूं मांहि तातैं वांछा फुरै नांहि,
ऐसे भ्रम कारज कौं मूरख चहत हैं।
सतत रहैं सचेत परसौं न करैं हेत,
यातैं ग्यानवंत कौं अवंछक कहत हैं॥ ३३॥

अर्थ – संसार की मनवांछित भोग–विलास की सामग्री अथिर हैं, वे अनेक चेष्टाएँ करने पर भी स्थिर नहीं रहतीं, इसी प्रकार विषय–अभिलाषाओं के भाव भी अनित्य हैं। भोग और भोग की इच्छाएँ इन दोनों में एकता नहीं है और नाशवान हैं, इससे ज्ञानियों को भोगों की अभिलाषा ही नहीं उपजती, ऐसे भ्रमपूर्ण कार्यों को तो मूर्ख ही चाहते हैं, ज्ञानी लोग तो सदा सावधान रहते हैं – परपदार्थों से अनुराग नहीं करते, इससे ज्ञानियों को निर्वांछक ही कहा है।

www.vitragvani.com

काव्य-३३ पर प्रवचन

जे जे मनवांछित... मुझे ऐसी-ऐसी सामग्री हो, इस प्रकार भोग-विलास की सामग्री की इच्छा तो करे परन्तु वह सामग्री कोई स्थिर नहीं रहती, वह तो नाशवन्त है। इच्छा करे कि मुझे अनुकूल स्त्री मिले, कमाऊ पुत्र होवे, नौकर-चाकर भी मेरी आज्ञा में रहनेवाले मिलें - ऐसे अनेक प्रकार से जीव इच्छा करता है, इससे कहीं सामग्री मिल नहीं जाती है। इच्छा होती है, तब सामग्री नहीं होती और सामग्री मिलती है तो भी टिकती नहीं। इसलिए इच्छा और सामग्री का मेल नहीं है।

इसे ऐसा लगता है कि पैसे इत्यादि की अनुकूलता होवे, शरीर निरोगी होवे तो निर्विघ्न धर्मध्यान हो परन्तु ये चीजें तो पर हैं और नाशवन्त हैं।

श्रोता : चीजें रहें तब तक तो शान्ति लगती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : चीजें कहाँ इसकी होकर रहती हैं? चीज तो चीज में रहती है। वह कोई जीव की होकर नहीं रहती तो उससे जीव को लाभ कैसे हो सकता है?

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि ज्ञानी को सामग्री की इच्छा नहीं है और इच्छा की भी इच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा और सामग्री दोनों नाशवन्त हैं। नाशवान चीज की दृष्टिवाला नाशवान को चाहता है परन्तु ज्ञानी तो अविनाशी की दृष्टिवाले हैं, वे नाशवान् सामग्री और भोग के भाव को क्यों इच्छेगें?

वेद्य अर्थात् वेदन योग्य सामग्री और वेदक अर्थात् वेदन करनेवाला; ये दोनों साथ में नहीं होते। वेदनेवाली ऐसी इच्छा होती है, तब सामग्री नहीं होती और सामग्री आती है, तब वह इच्छा नहीं रहती, दूसरी इच्छा खड़ी हो जाती है। इस प्रकार इच्छा और सामग्री का मेल नहीं खाता; इसलिए ऐसी इच्छा ही ज्ञानी नहीं करते हैं। अमेल इच्छा और अमेल सामग्री को धर्मी कैसे इच्छेंगे? किसी बाह्य सामग्री को धर्मी इच्छते ही नहीं। उन्हें तो अन्तर में शुद्ध चिदानन्द प्रभु की पूर्ण दशा की भावना होती है। भावना अर्थात् इच्छा नहीं परन्तु अन्तर में ज्ञानानन्द की पूर्णता होवे - ऐसी एकाग्रता होती है।

अज्ञानी को बाहर में सुख की कल्पना होने से मनवांछित भोग सामग्री को प्राप्त

www.vitragvani.com

करने और रखने का बहुत प्रयत्न करता है परन्तु निरर्थक जाता है। पर सामग्री और उसकी इच्छा का मेल नहीं होता क्योंकि एक तो वह पर है और नाशवान है तथा इच्छा होती है, तब संयोग नहीं होता, उसे धर्मी क्यों इच्छेंगे। धर्मी को तो अपने अन्दर ही वेद्य और वेदक दोनों भाव हैं; इसलिए धर्मी को पर सामग्री और उसकी इच्छा इन दोनों का दृष्टि में से त्याग है, इसलिए धर्मी को परिग्रहवन्त नहीं कहते हैं, अपितु अपरिग्रहवन्त कहते हैं।

जिसे अनित्य पर दृष्टि नहीं है, उसे अनित्य पदार्थ की इच्छा या पकड़ नहीं होती है। अस्थिरतावश इच्छा होती है, उससे वह विरक्त है और सामग्री तो परद्रव्य है, उसे वह अपनी नहीं मानता है।

और जे जे भोग अभिलाष चित्त परिनाम — चित्त में ऐसा परिणाम होता है कि इतना काम करें, इतना उपदेश दें तो अपने को अभिनन्दन मिले, दुनिया वाह... वाह... पुकार जाये, तब वास्तविक लाभ कहलाये... अरे! मूढ़ है! यह सब अज्ञानमय इच्छा है। इच्छा और बाह्य योग का मेल नहीं होता – ऐसे बाह्य पदार्थ की अज्ञानी को भावना है। ज्ञानी को ऐसी इच्छा ही नहीं उत्पन्न होती। जहाँ आनन्दस्वरूप भगवान की एकाग्रता वर्तती है, उसे ऐसी इच्छा क्यों उत्पन्न होगी?

इस प्रकार अन्तरङ्ग में ज्ञानी, इच्छा और पर सामग्री का त्यागी होने से ज्ञानी को अपरिग्रहवन्त कहा गया है। धर्मी तो अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में सावधान रहता है; रागादिक में प्रेम नहीं करता, इसलिए धर्मी को परिग्रहरहित कहा गया है।

अब, निर्जरा अधिकार के सोलहवें कलश पर चौतीसवाँ पद्य है। उसमें बनारसीदासजी दृष्टान्त देते हैं।

परिग्रह में रहने पर भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं, इस पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं फिटकड़ी लौद हरड़ै की पुट बिना,
स्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीर मैं।
भीग्यौ रहै चिरकाल सर्वथा न होई लाल,
भेदै नहि अंतर सुफेदी रहै चीर मैं॥

www.vitragvani.com

तैसैं समकितवंत राग द्वेष मोह बिनु,
रहै निशि वासर परिग्रह की भीर मैं।
पूरव करम हरै नूतन न बंध करै,
जाचै न जगत-सुख राचै न सरीर मैं॥ ३४॥

अर्थ – जिस प्रकार फिटकरी, लोद और हरड़े की पुट दिये बिना मजीठ के रंग में सफेद कपड़ा डुबोने से तथा बहुत समय तक डूबा रखने से भी उस पर रंग नहीं चढ़ता – वह बिलकुल लाल नहीं होता, अन्तरङ्ग में सफेदी ही रहती है; उसी प्रकार राग-द्वेष-मोहरहित ज्ञानी मनुष्य, परिग्रह-समूह में रात-दिन रहता है तो भी पूर्व-संचित कर्मों की निर्जरा करता है, नवीन बन्ध नहीं करता। वह विषय-सुख की वाञ्छा नहीं करता और न शरीर से मोह रखता है।

काव्य-३४ पर प्रवचन

यह निर्जरा अधिकार है न! धर्मी को आत्मा के आनन्द का स्वाद आया है, इसलिए उसे राग में रस नहीं आता है। जबकि अज्ञानी को अपने आनन्द का ज्ञान नहीं है और राग में रस का वेदन है, इसलिए उसे बन्धन होता है और ज्ञानी को कर्मों का बन्धन नहीं होता है।

अज्ञानी को भले मन्दराग हो तो भी उसकी प्रीति होने से बन्ध होता है। परिग्रह और व्यापारादि की प्रवृत्ति छोड़कर त्यागी हुआ हो तो भी राग की प्रीति पड़ी है, इसलिए उसे बन्धन होता है, क्योंकि वह त्यागी होने पर भी राग का भोगी है और ज्ञानी को कोई त्याग न होने पर भी राग का रस नहीं है; इसलिए वह कर्मों से बँधता नहीं है। चाहे जिस स्थिति में खड़ा होने पर भी, राग का रस नहीं होने से धर्मी को कर्मों की निर्जरा ही होती है।

सफेद वस्त्र को मजीठ में गलाकर रखो तो भी उसकी सफेदाई छूटकर एकदम लाल रंग नहीं होता, क्योंकि उसे हरड़े इत्यादि का पुट दिया हुआ नहीं है, इसलिए ऊपर से कपड़ा लाल होने पर भी उसका ताना-बाना रँगा हुआ नहीं है। वैसे ही जिसे बाह्य में से सुखबुद्धि छूट गई है और अन्तर का सुख अनुभव में आ गया है – ऐसा धर्मी, स्वर्गादिक का सुख मिले तो भी उसके राग में रँगता नहीं है। स्वर्ग का संयोग ठीक है और नरकादि

www.vitragvani.com

प्रतिकूला का संयोग अठीक है – ऐसा भाव उन्हें नहीं आता है, क्योंकि धर्मी पर में सावधान नहीं है।

छह खण्ड का राज्य हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, सोलह हजार देव जिसकी सेवा करते हों, रात-दिन ऐसे परिग्रह के मध्य में पड़ा दिखता हो, फिर भी धर्मी पूर्व कर्म को खिपाता है, क्योंकि स्वरूप के आनन्द की अधिकता में उसे कोई चीज अधिक नहीं दिखती है। जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म जैसा उत्कृष्ट पुण्य बँधता है – ऐसे भाव में भी उसे रस नहीं लगता है।

अज्ञानी कदाचित् पञ्च महाव्रत के परिणाम में रहता हो परन्तु स्वरूप का आनन्द अनुभव नहीं किया है और राग में ही रस है, इसलिए मिथ्यात्वभाव द्वारा वह आठों ही कर्मों से बँधता है और धर्मी कदाचित् ऐसी क्रिया करता हो तो भी अन्तर में से राग की रुचि उड़ गयी है, सम्पूर्ण जगत की स्पृहा छूट गयी है, जगत् के सुख की अभिलाषा-रुचि-सुखबुद्धि मिट गयी है; इसलिए कर्मों से बँधता नहीं है। **जाचै न जगत-सुख राचै न सरीर मैं** अर्थात् स्वरूप में विमोहित है, वह शरीर में मोहित नहीं है।

देखो, यह सम्यग्दृष्टि का आचरण और सम्यग्दृष्टि की दशा।

भावार्थ – राग-द्वेष-मोहरहित होने के कारण सम्यग्दृष्टि जीव, परिग्रह आदि का संग्रह रखते हुए भी निष्परिग्रह है। तो क्या सम्यग्दृष्टि केवली हो गया है! सम्यग्दृष्टि को रागादि होने पर भी उनसे विरक्त है, जबकि केवली को तो रागादि का अभाव हो गया है।

छह द्रव्यों के मध्य में रहनेवाला धर्मी, स्वद्रव्य के अनुभव के रस के समक्ष पूरी दुनिया से विरक्त है – ऐसा सम्यक्त्व का स्वरूप ही है। इसलिए कोई देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा मात्र से सम्यक्त्व मान ले तो वह यथार्थ नहीं है। इसी तरह पञ्च महाव्रत पालन कर लेने से चारित्र मान ले तो वह झूठ है। धर्मी को तो अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभवपूर्वक श्रद्धा हुई है कि आत्मा ही सुखस्वरूप है; इसलिए आत्मा के सुख के समक्ष वह सम्पूर्ण जगत् के सुख की स्पृहा से निवृत्त हो गया है।

आहा...हा... यह त्याग! सम्पूर्ण जगत की स्पृहा उड़ गयी और एक भगवान आत्मा के आनन्द की ही भावना रही है, उसके त्याग को जगत् देख नहीं सकता है। धर्मी, परिग्रह

www.vitragvani.com

आदि का संग्रह रखता होने पर भी निस्पृरिग्रही है – यह तो समझाने के लिए कहा जाता है, वरना धर्मी, परिग्रह को रखता नहीं है, (उदयानुसार) परिग्रह होता है।

एक श्वेताम्बर पण्डित लालन कहता था कि हमारे राजा बड़े बादशाह हैं, उन्हें भी एक ही रानी है और तुम्हारे सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती आदि को हजारों रानियाँ होती हैं तो वह तो व्यभिचारी कहलायेगा। उससे कहा – भाई! ऐसा नहीं है। यह समझने के लिए धीरजवान होना पड़ेगा। राग की एकताबुद्धि है, वह परिग्रह है। किसी को पाँच सौ धनुष का शरीर हो तो उसमें बहुत परमाणु है, इसलिए उसे बहुत परिग्रह है और किसी को पाँच हाथ का शरीर है तो परमाणु थोड़े हैं, इसलिए परिग्रह कम गिना जाता है? नहीं, ऐसा नहीं है। थोड़े या अधिक पदार्थ के संग्रह से परिग्रहबुद्धि नहीं होती, उसमें राग की एकता है तो परिग्रह है और राग की एकता छूट गयी है तो धर्मी उस परिग्रह से मुक्त है। छह खण्ड का राज न हो और कोई गरीब मनुष्य हो परन्तु यदि उसे राग की एकताबुद्धि है तो वह महा परिग्रहवन्त है और जहाँ राग की एकता मिट गयी है, उसे कुछ परिग्रह रखने की बुद्धि नहीं है। जहाँ राग का ही रस नहीं है, वहाँ परद्रव्य का प्रेम कैसे होगा?

शरीर में परमाणु बहुत हों, भाषावर्गणा भी बहुत हों, पुण्य के कारण लक्ष्मी भी बहुत हों, स्त्रियाँ भी बहुत हों और चक्रवर्ती जैसों को तो पुत्र भी बहुत – चौसठ हजार और पुत्रियाँ बत्तीस हजार और दामाद भी बत्तीस हजार होते हैं परन्तु धर्मी–सम्यक्त्वी का उनमें से कोई नहीं है, वे किसी को अपना नहीं मानते हैं, जहाँ परद्रव्य और राग में अपनेपने की बुद्धि नष्ट हो गयी है, वहाँ परिग्रह का संग्रह ही नहीं है। अन्तर में देखो तो वे तो वैरागी हैं। राग से भी विरक्त हैं, वहाँ दूसरी किस चीज से विरक्त नहीं होंगे?

लोगों को सम्यग्दर्शन की दशा के स्वरूप का पता नहीं है और उसकी महिमा नहीं है, इसलिए बाहर से सम्यग्दर्शन का माप निकालने जाते हैं, उसमें सच्चा माप कहाँ से आयेगा? अन्तर के माप निकालना कठिन है। दृष्टि के फेर से संसार और दृष्टि बदलने से मुक्ति है।

राग के छोटे से छोटे कण में भी ममत्व है, तो वह मिथ्यादृष्टि संसारतत्त्व है।

आगे कहेंगे कि सम्यक्त्वी को कर्म का बन्ध नहीं है – यह जानकर तू राग के रस

www.vitragvani.com

से भोग-भोगकर कहेगा कि हम तो सम्यक्त्वी हैं; इसलिए हमें बन्ध नहीं है तो तू मर जाएगा। अरे! मिथ्यात्वभाव में तू मर गया है। सुखबुद्धिपूर्वक भोग भोगे उसे परिग्रह नहीं है – ऐसा शास्त्र में नहीं कहा है। सुखबुद्धि से भोग भोगता है, वह तो पूरे संसार का परिग्रहवन्त है।

अब ऐसा ही दूसरा दृष्टान्त देकर ज्ञानी की दशा समझाते हैं।

पुनः (सवैया इकतीसा)

जैसैं काहू देसकौ बसैया बलवंत नर,
जंगल मैं जाइ मधु-छत्ता कौं गहतु है।
वाकौं लपटांहि चहुंओर मधु-मच्छिका पै-
कंबल की ओटसौं अडंकित रहतु है॥
तैसैं समकिती सिवसत्ता कौ स्वरूप साधै,
उदैकी उपाधि कौं समाधिसी कहतु है।
पहिरै सहजकौ सनाह मन मैं उछाह,
ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु है॥ ३५॥

अर्थ – जैसे कोई बलवान पुरुष जंगल में जाकर मधु का छत्ता निकालता है तो उसको बहुत सी मधुमक्खियाँ लिपट जाती हैं, परन्तु कम्बल ओढ़े हुए होने से उसे उनके डंक नहीं लग सकते। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव, उदय की उपाधि रहते हुए भी मोक्षमार्ग को साधते हैं, उन्हें ज्ञान का स्वाभाविक बख्तर प्राप्त है, इससे आनन्द में रहते हैं – उपाधिजनित आकुलता नहीं व्यापती, समाधि का काम देती है।

काव्य-३५ पर प्रवचन

जंगल में तो बड़ा मधु छत्ता होता है। उसमें एक साथ लाखों मधुमक्खियाँ चिपटी होती हैं, उन्हें उड़ावे तो कितनी ही मक्खियाँ उसके शरीर को चिपट जाती हैं, परन्तु जिसने कम्बल ओढ़ रखा है, उसे मक्खी का एक भी डंक नहीं लग सकता है। मात्र आँख के छिद्र खुले हों बाकी पूरे शरीर पर कम्बल हो, इसलिए मधुमक्खियाँ कहाँ काटेंगी? बनारसीदासजी ने दृष्टान्त भी कैसा ढूँढ निकाला है! उस कम्बल ओढ़े हुए पुरुष

www.vitragvani.com

की तरह धर्मी, परिग्रह के मध्य भी उससे विरक्त रहता हुआ स्वरूप के आनन्द को साधता है, आनन्द में एकाग्रता और आनन्द की वृद्धि करता है। **सिवसत्ता** अर्थात् धर्मी मोक्षमार्ग को साधता है।

धर्मी उदय की उपाधि को समाधि मानता है, क्योंकि स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द के रस में लवलीन है। जैसे पूरणपोली घी में सराबोर करके लोग खाते हैं न! उसी प्रकार धर्मी अपने को अतीन्द्रिय आनन्द के रस में लवलीन करके अनुभव करता है, वहाँ स्त्री-पुत्रादि का रस उसे कहाँ से आयेगा! छियानवे हजार स्त्री आदि सभी संयोग उसे रोग के समान लगता है।

धर्मी ने सम्यग्ज्ञान का कवच पहना हुआ है, इसलिए उसे राग का डंक नहीं लगता है। अतीन्द्रिय शुद्धद्रव्य का ज्ञान - स्वाभाविक ज्ञान - स्वसन्मुखता से प्रगट हुए ज्ञान का कवच पहनता है, उसे उदय का डंक नहीं लगता है।

ठानै सुख-राह उदवेग न लहतु है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पंथ साधता है, इसलिए आनन्द में रहते होने से उदय की उपाधि देखकर उसे आकुलता नहीं होती। सम्पूर्ण आत्मा के असंख्य प्रदेश में अन्तर से प्रगट हुआ ज्ञान व्याप्त हो गया है, अनुभव का ज्ञान आत्मा ने ओढ़ा हुआ है; इसलिए उसे कर्म के उदय का और राग का डंक नहीं लगता है, उसे तो समाधि का काम सधता है।

सम्यग्ज्ञानी प्रति समय स्वभावसन्मुख के अनुभव में बढ़ते-बढ़ते परिणमित हो रहे हैं, आनन्द के साधन को बढ़ाते ही जाते हैं; इसलिए उदय की उपाधि उन्हें निर्जरा का कारण होती है। इसलिए ज्ञानी को उदय की उपाधि, चारित्र और तप का काम देती है, इसलिए उन्हें उपाधि भी समाधि है।

धर्मी, स्वभाव में रक्त है और उदय से विरक्त है; आनन्द में लीन है और विकार से विरक्त है - ऐसा सम्यग्दृष्टि का स्वरूप है। जैसे कम्बल ओढ़नेवाले को मक्खी काट नहीं सकती; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान का कम्बल ओढ़नेवाले को उदय की उपाधि डस नहीं सकती। उदय या उदयभाव धर्मी का स्पर्श भी नहीं करता। उसे तो प्रति समय

www.vitragvani.com

आनन्द की वृद्धि होती जाती है। अद्‌भुत बात है, भाई! उपाधि भी समाधि का काम देती है, वह दशा कैसी!

अहा! धर्मी अतीन्द्रिय आनन्द में चरता है, रमता है, उसमें लीन हो गया है, लवलीन हुआ है। वे चारित्रवन्त मुनिराज तो पञ्च परमेष्ठी में शामिल हो गये हैं। उनकी तो क्या बात करना! परन्तु यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की बात चलती है, जिन्हें तीन कषाय का अभाव हुआ है और उतनी ही वीतरागता प्रगट हुई है, ऐसे मुनि तो मोक्षस्वरूप ही है। नियमसार में आता है कि हम जड़ हैं कि स्वरूपगुप्त मुनि में और केवली में अन्तर मानते हैं! मात्र संज्वलन कषाय का अंश बाकी रहा है, ऐसे मुनि, राग में नहीं रहते हैं; वे तो स्वयं से स्वयं में प्रगट हुए स्व-परप्रकाशक ज्ञान में रहते हैं।

जिसमें से निकलना नहीं रुचता - ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद चारित्रदशा में आता है। उन चारित्रवन्त मुनियों की तो क्या बात करना! परन्तु सम्यग्दृष्टि को भी रागरूपी जहर की रुचि छूट गयी है और स्वभावसन्मुख एकाग्रता बढ़ती जाती है, इसलिए उन्हें उदय भी चारित्र और तप का कार्य करता है। यद्यपि उदय की उपाधि स्वयं समाधि नहीं है परन्तु उदय के काल में उन्हें उदय का आदर नहीं है परन्तु स्वभाव का आदर वर्तता है, वह समाधि है।

अहा! सम्यग्दर्शन का माहात्म्य कैसा है कि उसने सम्पूर्ण आत्मा को अधिकार में कर लिया है। उसका एकमात्र ध्येय आत्मा है। अनादि से राग और निमित्त पर अपना अधिकार माना था, वह उठा लिया है और अनन्त गुण निधान आत्मा में अधिकार कर लिया है।

यह कहनेमात्र बात नहीं है, यह वस्तुस्थिति का वर्णन है। धर्मी को खजाना खुल गया है। राग की एकता टूटने से सम्पूर्ण संसार की एकताबुद्धि छूट गयी है। अकेले मुक्त स्वभाव का ही आदर और अनुभव रह गया है और उसमें जैसे-जैसे एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे खजाना अधिक खुलता जाता है।

अज्ञानी सब त्याग कर पञ्च महाव्रत का पालन करता हो, क्रियाकाण्ड में तल्लीन हो, समिति-गुप्ति के पालन में तत्पर हो परन्तु उसके खजाने को अभी ताला लगा हुआ है - खजाना खुला नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की दशा में बहुत अन्तर है।

www.vitragvani.com

ज्ञानी को उदय में एकत्व नहीं है, इसलिए उदय खिरकर चला जाता है। घर में कोई व्यक्ति आया हो परन्तु उसके समक्ष नहीं देखो और अपना काम करते रहो तो वह जानता है कि इसे मेरे साथ बात करने का समय नहीं है; इसलिए वह चला जाएगा, खड़ा नहीं रहेगा; इसी प्रकार उदय के समक्ष नहीं देखो और स्वभाव के आदर में रहो तो उदय चला जाएगा। अमृत आनन्द के आदर के समक्ष राग / भिखारी / जहर का क्या आदर होगा! उदय तो ज्ञानी को स्पर्श भी नहीं करता परन्तु उदयभाव भी स्पर्श नहीं करता। शुभभाव भी उदयभाव है, जिससे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है – ऐसे शुभभाव का भी ज्ञानी को आदर नहीं है, इसलिए अब कहते हैं कि ज्ञानी जीव सदा अबन्ध है।

ज्ञानी जीव सदा अबन्ध है (दोहा)

ग्यानी ग्यानमगन रहै रागादिक मल खोइ।
चित उदास करनी करै, कर्म बंध नहिं होइ॥ ३६॥

अर्थ – ज्ञानी मनुष्य, राग-द्वेष-मोह आदि दोषों को हटाकर ज्ञान में मस्त रहता है और शुभाशुभ क्रिया वैराग्यसहित करता है, इससे उसे कर्म बन्ध नहीं होता।

काव्य-३६ पर प्रवचन

ज्ञान में मग्न ज्ञानी की लीनता स्वभाव में है; उदयभाव में उसकी लीनता नहीं है। शुभाशुभ परिणाम आते हैं, उसमें भी रस नहीं है। वैराग्यसहित शुभाशुभराग आता है। पुण्य-पाप के लिए इस निर्जरा अधिकार में ही आता है कि ज्ञानी को स्वरूप सत्ता का अनुभव और पुण्य-पाप से वैराग्य है। ऐसी ज्ञान और वैराग्य शक्ति धर्मी को निरन्तर वर्तती है, इसलिए उसे कर्मबन्धन नहीं होता है। अज्ञानी ने स्त्री-पुत्र छोड़े हों या बाल ब्रह्मचारी हो परन्तु अन्दर में स्वभाव का आश्रय नहीं लिया तो वह भी राग के पक्ष में खड़ा है। राग के पक्ष में खड़ा हुआ अज्ञानी प्रतिक्षण दर्शनमोह और चारित्रमोहसहित सात कर्मों का बन्ध करता है तथा धर्मी क्या करता है, वह विशेष कहते हैं।

पुनः (दोहा)

मोह महातम मल हरै, धरै सुमति परकास।
मुकति पंथ परगट करै, दीपक ग्यान विलास॥ ३७॥

www.vitragvani.com

अर्थ – ज्ञानरूपी दीपक, मोहरूपी महा अन्धकार का मल नष्ट करके सुबुद्धि का प्रकाश करता है और मोक्षमार्ग को दरसाता है।

काव्य-३७ पर प्रवचन

चैतन्य का आत्मज्ञान, वह ज्ञान है; शास्त्रज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। आत्मज्ञानरूपी दीपक ही मोहरूपी महाअन्धकार को नष्ट करता है। स्वरूप की सन्मुखता से जो ज्योति प्रगट होती है, वह मोह का नाश करके मुक्ति पन्थ प्रगट करती है। राग का ज्ञान या शास्त्र का ज्ञान नहीं परन्तु आत्मा का ज्ञान जो कि स्व के आश्रय से प्रगट हुआ है, उस ज्ञानरूपी दीपक ने मोहान्धकार नष्ट कर दिया है और सुबुद्धि का प्रकाश फैला दिया होने से उसमें राग और स्वभाव की भिन्नता का भान वर्तता है।

स्वभाव के सन्मुख हुआ ज्ञान, स्वभाव की शुद्धता को बढ़ाता है, वही आत्मज्ञानरूपी दीपक का विलास है। अब उसी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं।

ज्ञानरूपी दीपक की प्रशंसा (सवैया इकतीसा)

जामैं धूम कौ न लेस वात कौ न परवेस,
करम पतंगनि कौं नास करै पल मैं।
दसा कौ न भोग न सनेह कौ संजोग जामैं,
मोह अंधकार कौ वियोग जाके थल मैं॥
जामैं न तताई नहि राग रकताई रंच,
लहलहै समता समाधि जोग जल मैं।
ऐसी ग्यान दीपकी सिखा जगी अभंगरूप,
निराधार फुरी पे दूरी है पुदगल मैं॥ ३८॥

अर्थ – जिसमें किञ्चित् भी धुवाँ नहीं है, जो हवा के झकोरों से बुझ नहीं सकता, जो एक क्षणभर में कर्म-पतंगों को जला देता है, जिसमें बत्ती का भोग नहीं है, और न जिसमें धृत तेल आदि आवश्यक हैं, जो मोहरूपी अन्धकार को मिटाता है, जिसमें किञ्चित् भी आँच नहीं है और न राग की लालिमा है, जिसमें समता, समाधि और योग प्रकाशित रहते हैं – ऐसी ज्ञान की अखण्ड ज्योति स्वयंसिद्ध आत्मा में स्फुरित हुई है – शरीर में नहीं है।

www.vitragvani.com

काव्य-३८ पर प्रवचन

यह चैतन्य भगवान के ज्ञान की बात है। यह ज्ञान चैतन्य का कब कहलाता है? राग और निमित्त से हटकर स्वभावसन्मुख का ज्ञान करे, तब उसे आत्मज्ञान कहा जाता है। निमित्त के ज्ञान को या व्यवहार के ज्ञान को या पर के ज्ञान को आत्मज्ञान नहीं कहते हैं। आनन्द के वेदनसहित का आत्मज्ञान ही मोह का नाश करता है, सुबुद्धि का प्रकाश करता है और मोक्षमार्ग दिखलाता है – ऐसे सम्यग्ज्ञान की प्रशंसा बनारसीदासजी करते हैं।

ज्ञानरूपी दीपक कैसा है? जिसमें किंचित् भी धुआँ नहीं है। राग धुएँ के समान है, ज्ञान में राग का अंश भी नहीं है। जड़ दीपक तो पवन लगने से बुझ जाता है परन्तु यह ज्ञान दीपक पवन से तो नहीं बुझता परन्तु उदय की वायु से भी वह बुझे – ऐसा नहीं है। चैतन्य दीपक शाश्वत है, उसे कोई बुझा नहीं सकता है।

चैतन्य भगवान के अनुभवज्ञान में कर्मरूपी पतंगे तो नाश को प्राप्त हो जाते हैं, आनन्दस्वरूप में एकाग्रता के कारण से धर्मी को कर्म तो जल जाते हैं। चारित्रवन्त को ही कर्म जलते हैं – ऐसा नहीं है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि की बात चलती है कि उसे कर्म जल जाते हैं।

और वह दीपक ऐसा है कि जिसमें घी-तेल की आवश्यकता नहीं है। घी-तेल के बिना ऐसा प्रकाश देता है कि जिसमें मोहान्धकार मिट जाता है। शाश्वत् चैतन्य दीपक को अग्नि के जैसी आँच नहीं है, अथवा राग की लालिमा भी नहीं है, ज्ञानरूपी प्रकाश में अकषाय समता, अन्तरएकाग्रतारूप योग और समाधि का सुख प्रकाशित रहता है। ऐसे ज्ञानदीप की शिखा स्वयं स्फुरित है, उसे किसी का आधार नहीं है। शरीरादि पुद्गल के आधार से वह नहीं रहती है; पुद्गल से और राग से तो वह दूर है – ऐसे सम्यग्ज्ञान का दीपक जिसने प्रगट किया है, उसे निर्जरा होती है।

ज्ञान की निर्मलता पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसो जो दरव तामैं तैसोई सुभाउ सधै,
कोऊ दर्व काहू को सुभाउ न गहतु है।
जैसैं संख उज्जल विविध वर्न माटी भखै,
माटीसौ न दीसै नित उज्जल रहतु है॥

www.vitragvani.com

तैसैं ग्यानवंत नाना भोग परिगह-जोग,
करत विलास न अग्यानता लहतु है।
ग्यानकला दूनी होइ दुंददसा सूनी होइ,
ऊनी होइ भौ-थिति बनारसी कहतु है॥ ३९॥

अर्थ – पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जो पदार्थ जैसा होता है, उसका वैसा ही स्वभाव होता है; कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के स्वभाव को ग्रहण नहीं कर सकता। जैसे कि शंख सफेद होता है और मिट्टी खाता है पर वह मिट्टी सरीखा नहीं हो जाता – हमेशा उजला ही रहता है; उसी प्रकार ज्ञानी लोग परिग्रह के संयोग से अनेक भोग भोगते हैं पर वे अज्ञानी नहीं हो जाते। उनके ज्ञान की किरण दिन दूनी बढ़ती है, भ्रामकदशा मिट जाती है और भव-स्थिति घट जाती है।

काव्य-३९ पर प्रवचन

श्री नाटक समयसार निर्जरा अधिकार का यह १८ वाँ श्लोक है, उस पर इस ३९वें पद्य में बनारसीदासजी दृष्टान्त कहते हैं।

धर्मी की दृष्टि और ज्ञान तो शुद्ध चैतन्य-ज्ञान और आनन्द पर होती है, इसलिए धर्मी को अनुभव भी ज्ञानानन्द का है, इस कारण बाहर में धर्मी, संयोग का उपभोग करता दिखता होने पर भी वह उपभोग नहीं करता, क्योंकि उसे राग में से और भोगादि में से सुखबुद्धि मिट गयी है। सम्यग्दृष्टि का पूरा हृदय ही पलट गया है, श्रद्धा-ज्ञान निर्मल हो गये हैं।

समकिती का द्रव्य शुद्ध चैतन्यरूप परिणमित हुआ है, वस्तु का स्वभाव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे साधनेवाले धर्मी को प्रथम दशा में ही शुद्ध ज्ञानानन्द का अनुभव होता है, कोई अन्य द्रव्य इस जीव को ज्ञान या सुख, आनन्द आदि का अनुभव नहीं करा सकता। अज्ञानी जीव, पर में सुख की कल्पना करता है, वह भी स्वयं करता है; कोई परद्रव्य उसे सुखबुद्धि उत्पन्न नहीं करा सकता है।

सुख और आनन्द तो जीवद्रव्य का ही स्वभाव है, वह आनन्द, शुभाशुभविकल्प में नहीं अथवा शरीर की किसी क्रिया में भी आनन्द नहीं है; इसलिए जिसे सुख और आनन्द

www.vitragvani.com

चाहिए, वह जीव, स्वभाव का आश्रय करे तो ही प्राप्त होता है। धर्मी ने ऐसे आनन्द का अनुभव किया है, इसलिए इन्द्र का इन्द्रासन और इन्द्राणी के भोग उसे काले नाग के समान दु:खरूप लगते हैं। क्रिया में भोगादि दिखते हैं परन्तु अन्दर में उसे रोग जैसे लगते हैं क्योंकि सुख तो एक आत्मा में ही है – ऐसा अनुभव है।

देखो! यह धर्मी का और वस्तु के स्वरूप का कथन है। संयोगी चीजें या संयोगीभाव धर्मी को सुखबुद्धि उत्पन्न करे – ऐसी उनमें सामर्थ्य नहीं है।

जिस प्रकार शंख उज्ज्वल है और काली मिट्टी खाता है; इसलिए कहीं शंख काला नहीं हो जाता। समुद्र की काली मिट्टी खाता होने पर भी शंख हमेशा उज्ज्वल ही रहता है। इसी प्रकार धर्मी गृहस्थाश्रम में परिग्रह के मध्य रहा है, घर के सभी व्यक्ति खाते हैं, वैसा ही भोजनादि वह खाता है, सुहाने कपड़े आदि पहनता है, समस्त क्रियाएँ करता है तो भी वह अज्ञानी नहीं हो जाता है।

दुनिया को दुनिया की भाषा में कहना पड़ता है कि धर्मी भोगादि भोगता है परन्तु वास्तव में आनन्द के भोग के समक्ष उसे राग का और पर का अनुभव भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि का इतना महात्म्य है कि उसे अपने आनन्द के समक्ष अन्यत्र कहीं आनन्द या सुख लगता ही नहीं है। वह समकिती भले आठ वर्ष की बालिका हो या तिर्यंच-पशु-मेंढ़क हो, उसे स्वरूप के अनुभव में ही सुख भासित हुआ है; अन्यत्र कहीं सुख भासित नहीं होता है।

अमुक रोग की दवा ऐसी दुर्गन्धित होती है कि कुत्ते की विष्टा से भी अधिक दुर्गन्धवाली होती है। वह दवा जिसे लेनी पड़ती हो, उसे क्या उत्साह होता है? उसी प्रकार धर्मी, परिग्रह के मध्य भोग-भोगता हुआ दिखे परन्तु उसे उत्साह नहीं है। बहुत सामग्री इकट्ठी की है, इसलिए उसे उसमें आनन्द आता है – ऐसा नहीं है। भोग-विलास करता हुआ दिखने पर भी उसमें मजा नहीं मानता है, इसलिए ज्ञानी अज्ञानपने को प्राप्त नहीं करता, ज्ञानी ही रहता है।

ग्यानकला दूनी होइ दुंददसा सूनी होइ — शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव, अकेला आनन्दस्वभाव, ज्ञानस्वभाव की अन्तर्दृष्टि और अनुभव होने से धर्मी को शरीरादि की

www.vitragvani.com

क्रिया और भोगादि के सम्बन्ध में रहने पर भी ज्ञानकला बढ़ती ही जाती है और दुंद अर्थात् रागदशा सूनी होती जाती है – मिटती जाती है और भव की स्थिति भी क्षण-क्षण में घटती जाती है – ऐसा वस्तु का स्वरूप है – ऐसा बनारसीदासजी कहते हैं।

यह सुनकर कोई ऐसा मानता है कि ज्ञानी को विषयसेवन करते हुए भी बन्ध नहीं है, इसी प्रकार में भी विषय प्रेम से सेवन करता हूँ फिर (भी) मुझे बन्ध नहीं होता है। उससे कहते हैं कि यह तो तेरी मूढ़ता है, ज्ञानी ने तो राग का रस टूटकर अतीन्द्रिय आनन्द का रस चखा है, उसके समक्ष उसे सारी दुनिया का रस टूट गया है, इसलिए उसे निर्जरा होती है। तुझे तो आत्मा के आनन्द का स्वाद तो आया नहीं और भोगों के स्वाद में सुख लगता है, तो निर्जरा कहाँ से होगी? तेरी और ज्ञानी की दशा का मेल नहीं खाता है। ऐसे जीवों को समझाने के लिए अब १९ वाँ श्लोक और उसका ४० वाँ पद्य कहते हैं।

विषय वासनाओं से विरक्त रहने का उपदेश (सवैया इकतीसा)

जौलौं ग्यान कौ उदोत तौलौं नहि बंध होत,
बरतै मिथ्यात तब नाना बंध होहि है।
ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै भौगनिसौं,
जोगनिसौं उद्दम की रीति तैं बिछोहि है॥
सुनु भैया संत तू कहै मैं समकितवंत,
यहु तौ एकंत भगवंत कौ दिरोहि है।
विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि,
मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है॥ ४०॥

अर्थ – हे भाई भव्य सुनो! जब तक ज्ञान का उजेला रहता है, तब तक बन्ध नहीं होता और मिथ्यात्व के उदय में अनेक बन्ध होते हैं, ऐसी चरचा सुनकर यदि तुम विषय-भोगों में लग जाओ तथा संयम, ध्यान, चारित्र को छोड़ दो और अपने को सम्यक्त्वी कहो तो तुम्हारा यह कहना एकान्त मिथ्यात्व है और आत्मा का अहित करता है। विषयसुख से विरक्त होकर आत्म-अनुभव ग्रहण करके मोक्षसुख की ओर देखो, ऐसी बुद्धिमानी तुम्हें शोभा देगी।

www.vitragvani.com

काव्य-४० पर प्रवचन

जौलौं ग्यान कौ उदोत.... जहाँ तक राग और संयोग से भिन्न स्वरूप का अनुभव है, वहाँ तक तो बन्ध नहीं होता है, परन्तु जहाँ विषय में सुखबुद्धि हुई, राग में उत्साह आया, वहाँ तो मिथ्यात्व में वर्तन हुआ, उसे बन्ध अवश्य होगा। भले वस्तु छोटी से छोटी हो परन्तु उसका प्रेम हुआ, राग में रूचि हुई तो वह मिथ्यात्वभाव है। अपनी इज्जत की या कीर्ति की बात सुने वहाँ उत्साह आता है - महिमा लगती है तो तू मिथ्यादृष्टि है और जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ मोहनीयसहित आठों ही कर्मों का बन्ध होता है।

जहाँ चैतन्य पर दृष्टि है, अन्तर में आनन्द वर्तता है, वहाँ कदाचित् तीर्थङ्कर -नामकर्म के योग्य उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुभविकल्प उत्पन्न होता हो, तो भी उसमें हेयबुद्धि है, दुःखबुद्धि है।

कोई लिखता है कि मोक्षमार्ग दो हैं। मोक्षमार्ग भी बन्ध का कारण है — परन्तु ऐसा नहीं है। जितनी स्वभाव की दृष्टि है, वह तो संवर-निर्जरा का ही कारण है, वही मोक्षमार्ग है। साथ में जो राग का भाग है, वह बन्ध का कारण है, परन्तु वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं - रत्नत्रय नहीं। रत्नत्रय कहीं बन्ध का कारण नहीं हो सकता। निश्चयरत्नत्रय ही वास्तविक रत्नत्रय है; व्यवहाररत्नत्रय, वह कोई रत्नत्रय नहीं है।

धर्मी को भी जितने अंश में राग है, उतना बन्ध है और जितनी वीतरागता है, उतनी निर्जरा है, परन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन की शुद्धता के माहात्म्य के समक्ष रागादि को अपना नहीं गिना है, इसलिए धर्मी को बन्ध नहीं होता है - ऐसा कहा है। अरे! एक शक्कर की कंकरी मुँह में पड़ी हो और अच्छी लगे तो वह मिथ्यात्वभाव है। प्रश्न होता है कि मीठी वस्तु को मीठी जानना तो सम्यक् ज्ञान हुआ, उसमें मिथ्यात्व कहाँ आया? उसने शक्कर मीठी है - ऐसा मात्र जाना नहीं है परन्तु उसका मजा लिया है - शक्कर अच्छी लगी है, वह मिथ्यात्व है। अपने भगवान आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के मिठास की खबर नहीं और जहाँ-तहाँ मिठास मानकर मजा लेने जाता है परन्तु अपने स्वाद के समक्ष तो वह कड़वे ज़हर जैसा स्वाद है, उसमें वह मिठास का वेदन करता है, वही मिथ्यात्वभाव है। ऐसे मिथ्यात्वभावसहित कदाचित् त्यागी हो तो भी भोगी ही है और ज्ञानी गृहस्थाश्रम में

www.vitragvani.com

भोग के संयोग में होवे तो भी उसमें मिठास का वेदन नहीं करता होने से छूटता जाता है, क्योंकि राग और संयोग उसकी दृष्टि का विषय ही नहीं है।

ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विषै भौगनिसौं — ज्ञानी को बन्ध नहीं है – यह बात सुनकर यदि तू विषयभोग में लग गया अर्थात् तुझे विषय की लगन लगी, रस आया तो यह तो उल्टा मिथ्यात्व बढ़ा है। स्वरूप की सावधानी तो तूने छोड़ दी और राग की सावधानी में जुड़ गया और कर्म निर्जरित हो जाते हैं – ऐसा मानता है तो तू मूढ़ है। अनेक प्रकार के दर्शनमोहसहित सात-आठ कर्मों का बन्ध तुझे होता है।

विषय की रुचिवाला तो अकेला बन्ध में ही पड़ा है। राग के प्रेम में पड़ा हुआ वह अपने को समाधिवन्त कहता है, यह अत्यन्त झूठ है। एकान्त से मिथ्यात्व है; आत्मा का अहित करनेवाला है। तुझे विषय का रस है, उल्लसित वीर्य से राग का सेवन करता है, और मैं समाधिवन्त हूँ – ऐसा कहता है तो तू सर्वज्ञ परमात्मा का द्रोही है-द्वेषी है और सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का भी द्वेषी है।

जिसे संयोग में सुख भासित हुआ है, वह भगवान आत्मा का शत्रु हुआ और वीतराग भगवान का भी शत्रु हुआ – ऐसे दृष्टि के तोल बाहर के माप से होने योग्य नहीं है। ज्ञानी नाम धराकर विषय का रस रखता है, उसमें सुखबुद्धि रखता है और कहता है कि हमारे भोग में भी निर्जरा होती है तो तू अपनी आत्मा का अहित करनेवाला है।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि ज्ञानी को विषय का सेवन ही नहीं होता। ज्ञानी को विषयसुख से विमुखता हो जाती है – विरक्ति आ जाती है, ऐसा समझना। समयसार के कर्ताकर्म अधिकार की ७२वीं गाथा का कितने ही लोग यह अर्थ करते हैं कि जो विषय से निवृत्त नहीं है, वह ज्ञानी नहीं है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है। जो अभिप्राय में राग से निवर्तता नहीं है, वह ज्ञानी नहीं है – ऐसा उसका अर्थ है। यदि अभिप्राय में राग का रस पड़ा हो और कहे कि हमारे आस्रव नहीं हैं, बन्ध नहीं है... तो वह झूठा है, अपना अहित करनेवाला है। वह विषय से विरक्त नहीं है, इसलिए उसे बन्ध होता ही है। जोरदार भूख लगी हो और सामने मेवा-मिठाई तैयार पड़ा हो तो खाने का विकल्प उत्पन्न होता है और खाने की क्रिया भी होती है परन्तु ज्ञानी की दृष्टि या रुचि उस पर नहीं है, विकल्प आता

www.vitragvani.com

है, उस पर से दृष्टि हट गयी है, वह विषय से विमुख है और जिसकी दृष्टि विषय पर पड़ी है, वह कदाचित् बाहर से ब्रह्मचर्य पालन करता हो तो भी विषय से विमुख नहीं परन्तु विषय के सन्मुख है। राग का भोग करता है, वही बड़ा भोगी है।

विषैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि — राग में सुखबुद्धि छोड़कर आत्मा के आनन्द के अनुभव में रहता है, उसे विषयसुख से विरक्त कहा जाता है। ज्ञानी, राग के सन्मुख नहीं, राग से विमुख है और स्वभाव के सन्मुख है। जबकि अज्ञानी राग के सन्मुख है और स्वभाव से विमुख है। ज्ञानी और अज्ञानी के मध्य इतना अन्तर है। सुन्दर शरीरादि विषयों को देखकर अन्दर में उन्मेद आता है, वह विषय के सन्मुख ही है। हजारों रानियाँ छोड़कर त्यागी हुआ हो परन्तु यदि अन्दर में शुभराग का भी प्रेम और एकत्व / एकताबुद्धि है तो वह विषय के सन्मुख ही पड़ा हुआ है।

मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है। मोक्षसुख की ओर देख – तेरा सुख उसमें है, राग में कहीं सुख नहीं है। मोक्षसुख को अन्तर में खोज तो उसमें तेरी शोभा है, राग में तेरी शोभा नहीं है। मिथ्यात्व का कलंक है।

भावार्थ – ज्ञानी को बन्ध नहीं होता – ऐसा एकान्त पक्ष ग्रहण करके विषयसुख में निरंकुश नहीं हो जाना चाहिए, मोक्षसुख की ओर देखना चाहिए। विषयसुख के आधीन नहीं होना चाहिए। जहाँ आनन्द की गन्ध भी नहीं है, वहाँ आनन्द माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

अब, बीसवें कलश में कहते हैं कि समकिती का स्वभाव, राग के त्याग का है। यही बात पण्डित बनारसीदासजी ४१वें पद्य में कहते हैं।

ज्ञानी जीव विषयों में निरंकुश नहीं रहते (चौपाई)

ग्यानकला जिनके घट जागी।
ते जगमांहि सहज वैरागी॥
ग्यानी मगन विषैसुखमांही।
यह विपरीत संभवै नांही॥ ४१॥

www.vitragvani.com

अर्थ – जिनके चित्त में सम्यग्ज्ञान की किरण प्रकाशित हुई हैं, वे संसार में स्वभाव से ही वीतरागी रहते हैं, ज्ञानी होकर विषयसुख में आसक्त हों, यह उलटी रीति असम्भव है।

काव्य-४१ पर प्रवचन

धर्मी, राग के भाव से उदास है। स्वभाव के आदर की दृष्टि में सम्यक् धर्मी को राग का त्याग वर्तता है – राग का राग नहीं है – राग से वैराग्य है। दृष्टि का विषय और सम्यग्दृष्टि की दशा कोई साधारण नहीं, अलौकिक है। ज्ञायकभाव, वह सम्यग्दृष्टि का विषय है। जिसे ज्ञायकभाव की दृष्टि अन्तर में उछली है, उसे आत्मा में ही आनन्द भासित होता है, उसे जगत से वैराग्य हो जाता है। भरत चक्रवर्ती की बात आती है न! 'भरतजी घर में ही वैरागी....' छह खण्ड का राज्य और छियानवें हजार स्त्रियाँ आदि श्मशान की लकड़ियों के समान लगती हैं। शरीर भी मृतक कलेवर है। अन्तर रुचि में किसी भी परद्रव्य का राग या प्रेम नहीं आता है।

धर्मी को वस्तु के अस्तिभाव का अनुभव है और एक विकल्प से लेकर पूरी दुनिया से वैरागी है; इसलिए उसे ज्ञानी कहा जाता है। अत: ज्ञानी हो और विषयसुख में मग्न होवे – ऐसी विपरीत बात सम्भव नहीं हो सकती। इन्द्र, सम्यग्दृष्टि – ज्ञानी है, उसे करोड़ों इन्द्राणियाँ हैं परन्तु उनमें कहीं सुखबुद्धि नहीं है। बाहर से देखने पर अज्ञानी को ऐसा दिखता है कि धर्मी को भोग की क्रिया में राग है – प्रेम है परन्तु वह प्रेम, वैश्या के प्रेम जैसा है।

जैसे, एक म्यान में दो तलवार नहीं रहतीं; वैसे ही जिसे विषयसुख की बुद्धि है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं रहता, तथापि सम्यग्दर्शन है – ऐसा मानता है तो वह मूढ़मिथ्यादृष्टि है। उससे विपरीत जिसे सम्यग्दर्शन है, उसे विषयसुख में रुचि नहीं रह सकती है। अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष विषयसुख का विकल्प उसे जहर जैसा लगता है। लड्डू खाते समय बीच में कंकर आवे तो एकदम मुँह में से निकाल देता है; इसी प्रकार अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के समक्ष यह विषयसुख जहर की कंकरी जैसा लगता होने से ज्ञानी उन्हें निकाल डालना चाहता है। दृष्टि में से तो निकाल ही दिया है और स्थिरता में भी विषयसुख पोषाता नहीं है – छूटना चाहता है।

www.vitragvani.com

ऐसी सम्यग्दृष्टि की कीमत / महिमा है। उसका ध्येय ध्रुव पर है। आनन्द के धाम में दृष्टि पड़ी है, उसकी दृष्टि विषयसुख में हो ही नहीं सकती। चैतन्य रस को लूट ले जाये – ऐसा कोई छोटे से छोटा भी विषयरस उसे नहीं होता है।

ज्ञान और वैराग्य एक साथ ही होते हैं (दोहा)

ग्यान सकति वैराग्य बल, सिव साधैं समकाल।
ज्यौं लोचन न्यारे रहैं, निरखैं दोउ नाल॥ ४२॥

अर्थ – ज्ञान-वैराग्य एक साथ उपजने से सम्यग्दृष्टि जीव, मोक्षमार्ग को साधते हैं, जैसे कि दोनों नेत्र पृथक्-पृथक् रहते हैं पर देखने का काम एक साथ करते हैं।

काव्य-४२ पर प्रवचन

स्वरूप के आनन्द का ज्ञान और उसी क्षण में राग के अभाववाले वैराग्य का बल एकसाथ होता है। शुद्ध ध्रुव का आदर और राग से लेकर समस्त वस्तुओं का वैराग्य-यह दोनों भाव एक साथ ही होते हैं। ध्रुव पर दृष्टि पड़ी है, इसलिए रागादि अध्रुव चीज से वैराग्य वर्तता है।

कोई ऐसा कहता है कि सम्यक्त्वी होता है, उसे राग होता है – भोग होता है – सब होता है .....नहीं होता। भाई! मात्र बाहर का संयोग होता है परन्तु उसका प्रेम नहीं होता। संयोग तो उसके काल में और क्षेत्र में होता है, परन्तु वह कहीं ज्ञानी के काल में या क्षेत्र में आ नहीं जाता है। राग की एकता टूटी है, इसलिए अपने स्वकाल या स्वक्षेत्र में उसका प्रवेश नहीं है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अतीन्द्रिय आनन्द पद का भान हुआ, वहाँ राग पद का आदर क्यों होगा? अस्तिस्वभाव का ज्ञान और रागादि से वैराग्य, यह दोनों साथ ही होते हैं। राग का वैराग्य और स्वरूप के भान से ही सम्यक्त्वी मोक्ष को साधता है।

ज्ञान होवे और वैराग्य न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है और वैराग्य हो तथा ज्ञान न हो तो वह वैराग्य ही नहीं है। ज्ञानानन्दस्वरूप की सन्मुखता और राग से विमुखता एकसाथ ही होती है। दोनों आँखें भिन्न होने पर भी काम एकसाथ करती है। वैसे ही ज्ञान और वैराग्य दो अलग गुण होने पर भी निर्जरा का काम एक साथ मिलकर करते हैं। आत्मा का अनुभव

www.vitragvani.com

और राग से वैराग्य, इन दोनों के द्वारा कर्म की निर्जरा होती है। बाहर से स्त्री-पुत्रादि छोड़ देने से वैराग्य नहीं हो जाता है। सम्यग्ज्ञानसहित राग से वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है और वैराग्यरहित ज्ञान भी ज्ञान नहीं है; वैराग्यसहित का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

अकेला ज्ञान या अकेला वैराग्य मोक्षमार्ग को नहीं साध सकता है। पूर्णानन्दस्वरूप की प्रतीति-ज्ञान और राग से वैराग्य ये दोनों मिलकर मोक्षमार्ग को साधते हैं। ज्ञान और वैराग्य साथ ही रहते हैं और साथ ही काम करते हैं।

भावार्थ - जिस प्रकार दोनों नेत्र पृथक्-पृथक् होते हुए भी देखने की क्रिया एक साथ करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-वैराग्य एक ही साथ कर्म-निर्जरा करते हैं। बिना ज्ञान का वैराग्य और बिना वैराग्य का ज्ञान, मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ है।

अब, 'धर्म से निर्जरा होती है और धर्म के बिना जीव को कर्मबन्धन होता है' यह बात चलती है, ४३वाँ पद्य है।

अज्ञानी जीवों की क्रिया बन्ध के लिये और ज्ञानी जीवों की क्रिया निर्जरा के लिये है (चौपाई)

मूढ़ करम कौ करता होवै
फल अभिलाष धरै फल जोवै।
ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी।
लगै न लेप निर्जरा दूनी॥ ४३॥

अर्थ - मिथ्यादृष्टि जीव, क्रिया के फल की (भोगों की) अभिलाषा करता है और उसका फल चाहता है, इससे वह कर्मबन्ध का कर्त्ता है। सम्यग्ज्ञानी जीवों की भोग आदि शुभाशुभ क्रिया उदासीनतापूर्वक होती है, इससे उन्हें कर्म का बन्ध नहीं होता और दिन दूनी निर्जरा ही होती है।

काव्य-४३ पर प्रवचन

भगवान आत्मा रागरहित शुद्ध चिदानन्द वस्तु है - ऐसा जिसे ज्ञान नहीं है, वह तो शुभाशुभपरिणाम को ही अपना स्वरूप और अपना कार्य मानकर वर्तता है। दया, दान, व्रतादि के परिणाम मेरे हैं और मैं उनका कर्ता हूँ - ऐसा मानता है। जिन्हें अपना माने,

www.vitragvani.com

उनका जीव कर्ता होता है। शुद्ध चिदानन्द वस्तु की दृष्टि नहीं है, इसलिए अज्ञानी शुभाशुभराग को ही निज मानकर कर्ता होता है, यह मूल बात है।

मूढ़ करम कौ करता होवै — आनन्दमूर्ति आत्मा का अनुभवी जीव तो राग को अपना मानता नहीं, इसलिए राग के कार्य का कर्ता नहीं होता परन्तु अनादि से स्वरूप का अज्ञानी जीव / मूढ़ जीव, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड जो अपना आत्मा है, उसका अनादर करके उससे विरुद्ध रागभाव की दृष्टि करके राग को ही अपना मानकर कर्ता होता है। वह राग भले ही शुभ हो या अशुभ हो परन्तु उसे जो अपना स्वरूप मानता है, वही उसका कर्ता होता है और राग का कर्ता होता है, उसे मिथ्यात्वसहित आठों ही कर्म का बन्धन होता है। इस प्रकार उसे निर्जरा तो नहीं परन्तु अधर्म है, क्योंकि राग है, वह स्वयं ही अधर्म है; धर्म का स्वरूप नहीं है।

सर्वज्ञदेव के द्वारा देखा हुआ – अनुभव किया हुआ ऐसा जो आत्मा, उसकी जिसे दृष्टि नहीं है, उसका अवलम्बन नहीं है, उसे अपना माना नहीं है और राग को अपनेरूप माना है, वह मूढ़ है; राग का कर्ता होता है। उसने अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा को दृष्टि में नहीं लिया है, आत्मा उसकी प्रतीति में नहीं आया है, अनुभव में नहीं आया है; इसलिए उसे धर्म नहीं होता है, अपितु अधर्म होता है।

फल अभिलाष.... मूढ़ अज्ञानी जिस रागभाव को करता है, उसमें ही उसे सुखबुद्धि है। राग में मुझे ठीक लगता है–मजा आता है – ऐसी जो दृष्टि है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि राग में मजा बिलकुल नहीं है। भले शुभराग हो तो भी वह कषाय–अग्नि है, दुःख है।

आत्मा में आनन्द है – ऐसी दृष्टि नहीं है, उसे राग में सुख है – ऐसी मिथ्यादृष्टि है। राग तो वास्तव में दुःख है, उसमें सुख मानता है, इसलिए राग करते–करते मेरा कुछ कल्याण होगा – ऐसी मान्यता उसे हुए बिना नहीं रहती है। राग को अपना माननेवाला राग का कर्ता हुए बिना नहीं रहता है अथवा राग का कर्ता होता है, वह राग को अपना मानता है। अज्ञानी, राग की क्रिया को करनेवाला–रचनेवाला–बनानेवाला होता है, स्वयं रागरूप होनेवाला होता है।

www.vitragvani.com

अज्ञानी ने भले ही द्रव्यलिंग धारण किया हो, अट्ठाईस मूलगुण ठीक से पालन करता हो, नग्न दिगम्बरदशा हो तो भी उस राग की क्रिया को अपना कर्तव्य मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वभाव का तो उसे भान नहीं है; इसलिए कहीं मैंपना तो मानना ही रहा! राग की क्रिया से मूढ़ जीव को क्षण-क्षण में मिथ्यात्व से संसार की वृद्धि होती है। राग को अपना माननेवाला राग के फल को चाहता है। राग के फल में मुझे आत्मा के लिए कुछ अनुकूलता मिलेगी - ऐसी अभिलाषा है, वह उसकी मूढ़ता है।

यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव द्वारा फरमाया हुआ सिद्धान्त है कि राग को अपना स्वरूप माननेवाला मूढ़ जीव, राग का कर्ता होता ही है क्योंकि उसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा श्रद्धा-ज्ञान में जँचा नहीं है; इसलिए स्वरूप से विपरीत ऐसे रागादिभाव में एकत्व हुए बिना रहता नहीं है।

चैतन्यप्रभु आत्मा सुख का सागर है, अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है। जिसे उसकी दृष्टि नहीं है, जिसे उसकी अभिलाषा नहीं है, जिसे उसका भान और भावना नहीं है - ऐसा अज्ञानी जीव अनादि से अपने को विकाररूप परिणमन करनेवाला ही मानता है। राग को अपना मानता है और राग के फल की अभिलाषा करता है कि मैं यह शुभभाव करता हूँ; इसलिए मुझे इसके फल में स्वर्ग और सेठपन आदि मिलेगा।

श्रोता : भगवान के पास जाएगा - ऐसा लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु भगवान तो यहाँ (अन्दर में) बैठे हैं! वहाँ तो पर भगवान हैं, उन भगवान के पास तो जीव अनन्त बार जाकर आया है। भगवान की वाणी भी सुनी है। राग से वाणी सुनी है, सुनने में तो राग ही होता है परन्तु उस राग की आड़ में उसकी दृष्टि परमात्मा पर नहीं जाती; इसलिए वह विकल्प में राग का कर्ता होकर उसके फल की वाँछा किया करता है।

ज्ञानी तो उसे कहते हैं कि जिसे रागादिभाव तो आवें परन्तु उन्हें अपना न मानें, उनके फल की अभिलाषा न करे और अपने स्वरूप से विपरीत जानकर रागादिभाव को हेय मानता है। सम्यग्दृष्टि तो अपने ज्ञान और आनन्द को करता है, राग का कर्ता नहीं होता। राग की क्रिया का विकल्प तो उठता है परन्तु उसे एकरूप नहीं मानता; इसलिए उस

www.vitragvani.com

राग की क्रिया का कर्ता नहीं है, राग का स्वामी नहीं है, राग को अपनेरूप नहीं मानता; राग को स्वभाव में एकमेक नहीं करता, राग को भिन्न रखता है, उसका कर्ता नहीं होता; उसे तो राग जहर के समान लगता है।

निजस्वरूप के आनन्द का अनुभव किया है, उसे राग जहर के समान दिखता है। राग में सुखबुद्धि या हितबुद्धि उसे नहीं होती है, इसलिए ज्ञानी शुभाशुभपरिणाम से उदासीन है। जिस प्रकार आत्मा में परद्रव्यों का अभाव है, उसी प्रकार धर्मी के आत्मा में शुभाशुभ विकल्प का अभाव है।

अहा! वीतरागधर्म अलौकिक है! परन्तु इसमें कभी विचार नहीं किया; विचार के बिना जीवन चला जा रहा है। व्रत पालन करता हो, पूजा-भक्ति करता हो, इसलिए इसे ऐसा लगता है कि हम आत्मा के लिए कुछ करते हैं, परन्तु देह की क्रिया तो जड़ की है, उस पर दृष्टि रखकर उस परिणमन को 'निज' मानना तो मिथ्यात्व है।

ज्ञानी राग से मुक्त है, अज्ञानी रागसहित है। अपने को रागसहित माननेवाला अज्ञानी ही राग का कर्तृत्व स्वीकार करता है। अपने को रागरहित ज्ञानानन्दस्वरूप माननेवाला ज्ञानी अपने को रागसहित नहीं मानता; इसलिए ज्ञानी को राग का अथवा कर्म का लेप नहीं लगता है।

लगै न लेप निर्जरा दूनी — सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया और सारा आत्मा ऐसा अतीन्द्रियमय है - ऐसी श्रद्धा और अनुभव वर्तता है, उसे रागादिभाव में ममत्व नहीं होने से राग का लेप नहीं लगता है और निर्जरा तो दुगनी नहीं परन्तु बहुत निर्जरा होती है।

धर्मी तो अनन्त सिद्धपर्याय को पेट में रखनेवाला है। जितनी-जितनी स्वभाव सन्मुखता वर्तती है, उतना कर्म का क्षरण-कर्म की निर्जरा होती रहती है। धर्मी ने सिद्ध समान आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में लिया है, इसलिए उसे निर्जरा होती है; मात्र व्रत-तपादि करनेवाले को निर्जरा नहीं होती। अज्ञानी को सच्चा तप कहाँ से होगा! अज्ञानी के तप, व्रत को बालतप और बालव्रत ही कहा है क्योंकि उसके व्रत, तप मूर्खता से भरे हुए होते हैं। मैं राग का कर्ता नहीं हूँ, देह की क्रिया का करनेवाला नहीं हूँ, आहार का ग्रहण-त्याग

www.vitragvani.com

करनेवाला नहीं हूँ; मैं तो अरूपी आनन्दमूर्ति वस्तु हूँ – ऐसा अनुभव जिसे नहीं है, उसके व्रत-तप अज्ञान से भरे हुए, मूर्खता से भरे हुए बन्धन के ही कारण होते हैं।

अब ४४वें पद्य में ज्ञानी का अबन्ध और अज्ञानी का बन्ध पर दृष्टान्त कहते हैं। अज्ञानी को रेशम के कीड़े की और ज्ञानी को गोरखधन्धा नामक कीड़े की उपमा दी है।

ज्ञानी के अबन्ध और अज्ञानी के बन्ध पर कीटक का दृष्टान्त (दोहा)

बंधै करम सौं मूढ़ ज्यौं, पाट-कीट तन पेम।
खुलै करम सौं समकिती, गोरखधंधा जेम॥ ४४॥

अर्थ – जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने शरीर पर आप ही जाल पूरता है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव कर्मबन्धन को प्राप्त होते हैं, और जिस प्रकार गोरखधंधा नाम का कीड़ा जाल से निकलता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कर्मबन्धन से मुक्त होते हैं।

काव्य-४४ पर प्रवचन

जाल कहीं बाहर से नहीं आती, रेशम का कीड़ा अपने मुँह में से ही जाल निकालता है और उसमें फँस जाता है; उसी प्रकार अज्ञानी, स्वरूप के ज्ञान बिना विकल्प की लार निकालकर उसमें ही लिपट जाता है। राग मेरा स्वरूप है – ऐसा मानकर उसमें लिपट जाता है, उसमें उसे मिथ्यात्वसहित आठों ही कर्मों का बन्धन होता है।

खुलै करम सौं समकिती, गोरखधंधा जेम — गोरखधन्धा नाम का कीड़ा होता है, वह जाल में फँसता नहीं है, जाल में से निकल ही जाता है। उसी प्रकार धर्मी उसे कहते हैं कि जो राग की लार में लिपटता नहीं है, वह तो ज्ञानानन्दस्वरूप में लहर करता हुआ, राग को हेय मानकर वर्तता हुआ, कर्मबन्धन से मुक्त होता है। उसे क्षण-क्षण में कर्म की निर्जरा होती है।

सम्यग्दृष्टि को विषयभोग का विकल्प जहर जैसा दिखाई देता है। विकल्प से रहित स्वभाव का स्वाद आता है, इसलिए उसे समाधि है-शान्ति है। योग की क्रिया होने पर भी धर्मी उससे भिन्न है, इसलिए कहते हैं कि हलन-चलन करता हुआ भी धर्मी ने तो स्वरूप में आसन जमाया है। हिलते-चलते और बोलते हुए भी ज्ञानी को कर्म खिरते हैं।

www.vitragvani.com

जो फल समाधि, योग, आसन, और मौन का है, वही फल ज्ञानी को विषयभोग, हलन-चलन और बोलचाल का है। सम्यक्त्व की ऐसी ही अटपटी महिमा है।

धर्मी जीव को अन्तर में आत्मा के प्रेम के समक्ष सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रति भी अन्दर से प्रेम नहीं होता। ऐसा अपने निजात्मा का आनन्द और प्रेम है। उसे विषयभोग में प्रेम कहाँ से होगा? विषयभोग के विकल्प के काल में भी स्वभावसन्मुखता वर्तती होने से उसे शान्ति और समाधि बढ़ती जाती है। शरीर की क्रिया मेरी नहीं, मुझ में नहीं, मैंने उसे किया नहीं; मैं तो अपने में रहकर मात्र उसका जानने-देखनेवाला हूँ – ऐसा मानने से धर्मी को क्रिया होने पर भी स्थिरता है। धर्मी बोलता होने पर भी मौन है और अज्ञानी मौन होने पर भी बोलता है, क्योंकि वाणी में एकता होने से वह बोलता मिथ्यादृष्टि है।

ऐसे रेशम और गोरखधन्धे नाम के कीड़े होते हैं। भागलपुर में शाल बनती है, वह दो प्रकार की बनती है। एक तो जो जाल जीवित कीड़ेसहित हो, उसे गरम पानी में डालते हैं तो कीड़े मर जाते हैं, और जाल में से पूरे तार निकलते हैं, उनसे शाल बनाते हैं, इसलिए उसमें तो महापाप है और दूसरी इस प्रकार बनती है कि वे कीड़े जाल को तोड़कर बाहर निकल जाते हैं, उस जाल के टुकड़े जोड़कर शाल बनाते हैं, उसमें कीड़े मरते नहीं हैं, इसलिए निर्दोष है। हम भागलपुर गये थे, वहाँ से चम्पापुरी गये थे। चम्पापुर से वासुपूज्य भगवान मोक्ष पधारे हैं।

जिस तरह वे कीड़े जाल के टुकड़े करके स्वयं छूट जाते हैं, उसी प्रकार धर्मी अपने स्वभाव के आनन्द के समक्ष रागादि की क्रिया को हेय मानकर कर्मबन्धन से छूट जाता है। इस प्रकार धर्मी को निर्जरा होती है।

श्रोता : धर्मी, राग को हेय मानता है तो राग करता किसलिए है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्मी राग को करता नहीं है, राग होता है। पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण राग होता है। धर्मी को उस कमजोरी का अथवा राग का किसी का अपने स्वरूप के रूप में स्वीकार नहीं है। मैं तो चैतन्य हूँ, पूर्णानन्द मूर्ति हूँ – ऐसा धर्मी को स्वीकार है।

वीतरागमार्ग बहुत कठिन है। जगत् को सुनने नहीं मिला है। लोग वर्षीतप इत्यादि करके धर्म मनवाते हैं परन्तु उसमें धूल भी धर्म नहीं है। अज्ञान में ऐसे तप तो अनन्त बार

www.vitragvani.com

किये परन्तु कर्म की निर्जरा नहीं हुई है। मिथ्यादृष्टि, राग की मन्दता में धर्म मानकर उसमें ही मग्न हो जाता है। धर्मी को राग की मन्दता तो है परन्तु उसमें अपनापन नहीं माना है; इसलिए छूटता जाता है और जिसमें अपनापन है – ऐसे स्वभाव में एकाग्र होता जाता है।

अब, ४५वें पद्य में कहते हैं। यह २१वें श्लोक के अर्थरूप पद्य है।

ज्ञानी जीव कर्म के कर्त्ता नहीं हैं (सवैया तेईसा)

जे निज पूरब कर्म उदै,
सुख भुंजत भोग उदास रहैंगे।
जे दुख मैं न विलाप करैं,
निरबैर हियैं तन ताप सहैंगे॥
है जिन्ह कै दिढ़ आतम ग्यान,
क्रिया करिकैं फल कौं न चहैंगे।
ते सु विचच्छन ग्यायक हैं,
तिन्ह कौं करता हम तौ न कहैंगे॥ ४५॥

अर्थ – जो पूर्व में बाँधे हुए पुण्यकर्म के उदय-जनित सुख भोगने में आसक्त नहीं होते और पापकर्म के उदय-जनित दुख भोगते हुए संतापित नहीं होते – न दु:ख देनेवाले से द्वेष भाव करते हैं, बल्कि साहसपूर्वक शारीरिक कष्ट सहते हैं, जिनका भेदविज्ञान अत्यन्त दृढ़ है, जो शुभक्रिया करके उसका फल स्वर्ग आदि नहीं चाहते, वे विद्वान् सम्यग्ज्ञानी हैं। वे यद्यपि सांसारिक सुख भोगते हैं तो भी उन्हें कर्म का कर्ता हम तो नहीं कहते।

काव्य-४५ पर प्रवचन

जे निज पूरब कर्म उदै.... पूर्व कर्म का उदय दो प्रकार से आता है। घातिकर्म के निमित्त से जीव के परिणाम में रागादि होते हैं और अघातिकर्म के निमित्त से संयोग प्राप्त होते हैं। यह संयोग और राग दोनों कर्म की सामग्री है, आत्मा के धर्म की सामग्री नहीं है; शत्रु की सामग्री है, यह सब शत्रु का लश्कर है। शुभाशुभराग और अनुकूल या प्रतिकूल सामग्री, यह सब वैरी कर्म की फौज है; भगवान आत्मा का स्वरूप नहीं है।

www.vitragvani.com

सुख भुंजत.... भाषा तो क्या कहें ? पूर्व कर्म के उदय से ज्ञानी सुख को भोगता है – ऐसी भाषा आती है और ऐसा ही दिखता है... ज्ञानी और अज्ञानी दोनों दूधपाक-पूड़ी खाते हुए दिखें परन्तु धर्मी तो जानता है कि यह मेरी चीज नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ, मेरे में इस भाव की क्रिया नहीं है; यह तो पूर्व कर्म के उदय का कार्य है, मेरे घर में कर्म या उसकी सामग्री का अभाव है। मैं तो आनन्द का नाथ-आनन्द का स्वामी हूँ।

ज्ञानी उदयजनित सुख भोगता हुआ दिखाई दे, तथापि अन्दर से उदास है। धर्मी उलहाना दे कि यह वस्तु कच्ची है, यह किसने बनाई है ? ऐसा कैसे चलेगा ? इत्यादि.... परन्तु उस भाषा या विकल्प के साथ धर्मी का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार रोगी कड़वी औषधि पीता है परन्तु उसके प्रति प्रेम नहीं है; इसी प्रकार जब जो सामग्री होवे, उसका ख्याल तो बराबर आता है परन्तु उसमें धर्मी को सुखबुद्धि नहीं है। विषय का सुख, जहर का प्याला पीने जैसा लगता है।

आहा! धर्मी किसे कहें! जिसे आत्मा में आनन्द है, मात्र उसका भास नहीं परन्तु भान और अनुभव हुआ है, वह धर्मी है। उसे आत्मा के आनन्द के समीप विषयसुख काले नाग जैसे लगते हैं, जहर जैसे लगते हैं। कोई उपाय नहीं है, इसलिए पूर्व कर्म के फल में वह क्रिया दिखती है परन्तु वह मेरे आत्मा का फल नहीं है – ऐसा जानता है।

जे दुख मैं न विलाप करैं.... धर्मी को पूर्व कर्म के उदयवश सातवें नरक का संयोग हुआ हो तो भी समकिती उसमें विलाप नहीं करता। 'बाहिर नारकी कृत दुख भोगत, अन्तर सुखरस गटागटी...' तैंतीस सागर की स्थिति में सातवें नरक में भी धर्मी अपने को आनन्दमूर्ति देखता है। यह संयोग हमारे अस्तित्व में नहीं है – ऐसा जानता है। इसलिए सातवें नरक के दुःख के मध्य भी धर्मी दुःख का वेदन नहीं करता। वह संयोग और संयोग सम्बन्धी द्वेष का अंश आवे, उसे धर्मी परज्ञेयरूप जानता है; मेरे स्वरूप में वह संयोग भी नहीं और द्वेष भी नहीं है।

निहालभाई ने एक जगह लिखा है कि रोम-रोम में सुई चुभती हो तो भी डर नहीं है, क्योंकि वह मेरे अस्तित्व में नहीं है।

www.vitragvani.com

मेरे अस्तित्व में कोई संयोग नहीं और संयोग के लक्ष्य से होनेवाला राग या द्वेष भी मेरे स्वरूप में नहीं है, मेरी अस्ति में नहीं है; मेरी अस्ति में तो ज्ञान और आनन्द है।

निरबैर हियैं तन ताप सहैंगे। पहली लाइन में पूर्व पुण्य के उदय से सुख की सामग्री और विकल्प की बात आयी थी। दूसरी लाइन में पूर्व पापकर्म के उदय से दुःख की सामग्री और विकल्प की बात आयी थी। दुःख को शान्ति से ज्ञानी सहन करता है, किसी के प्रति द्वेष नहीं करता। जहाँ देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा के विकल्प से भी सम्यग्दृष्टि मुक्त है, वहाँ सुख-दुःख के संयोग से तो मुक्त है ही; संयोग का अस्तित्व मेरी अस्ति में नहीं है। इस प्रकार अपनी सत्ता को सबसे पृथक् अनुभव करता हुआ ज्ञानी, राग और द्वेष का भी स्पर्श नहीं करता, क्योंकि चैतन्य की सत्ता में उसे राग-द्वेष का स्वीकार नहीं आता। सिर काटनेवाले शत्रु के प्रति उसे द्वेषबुद्धि नहीं होती और चन्दन लगानेवाले मित्र के प्रति उसे रागबुद्धि नहीं होती, क्योंकि वे दोनों क्रियाएँ देह में होती हैं। जहाँ देह मेरी नहीं वहाँ, उसे रखनेवाले या काटनेवाले के प्रति राग-द्वेष कैसा!

अज्ञानी ने उपवास किया हो और भूख-प्यास लगी होने पर भी आहार-पानी तो न ले परन्तु दुःख का वेदन करता है, यह उसका मिथ्यात्वभाव है। भूख-प्यास का दुःख मुझे होता है, मुझमें होता है, यह मान्यता ही विपरीत है।

है जिन्ह कै दिढ़ आतम ग्यान..... जिनका भेदविज्ञान अत्यन्त दृढ़ है। राग और पर का ज्ञान नहीं परन्तु आत्मज्ञान दृढ़ है - ऐसा कहा है। आत्मज्ञान की दृढ़तावाले को राग या द्वेष आवे परन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता और उसके फल की अभिलाषा नहीं रखता। आचार्यदेव कहते हैं - ऐसे जीव, राग के कर्ता हैं और राग में उन्हें सुखबुद्धि है - ऐसा हम नहीं मानते हैं। भरत और बाहुबली चरमशरीरी हैं, दोनों सगे भाई हैं परन्तु भाई के ऊपर चक्र चलाते हैं, उस काल में भी अन्तर में उस क्रिया और राग से भेदज्ञान वर्तता है। क्रिया और राग में एकत्व नहीं होता, जाननेवाले रहते हैं। ज्ञानी तो राग को जहर जानकर उगलता है, अन्दर में संग्रह नहीं करता। हाथ में काला नाग पकड़ा हो, वह छोड़ने के लिए पकड़ा है, रखने के लिए नहीं, जल्दी छोड़ना चाहता है। इसी प्रकार धर्मी, संयोग को और

www.vitragvani.com

राग को जहर जानकर जल्दी छोड़ना चाहता है। ऐसे धर्मी जीवों को क्षण-क्षण में कर्म की निर्जरा होती है, उन्हें बन्धन नहीं होता है।

अब, धर्मी को कैसी ज्ञानधारा होती है, कैसी श्रद्धा और समता होती है, उसकी बात चलती है।

सम्यग्ज्ञानी का विचार (सवैया इकतीसा)

जिन्ह की सुदृष्टि मैं अनिष्ट इष्ट दोऊ सम,
जिन्ह कौ अचार सु विचार सुभ ध्यान है।
स्वारथ कौं त्यागि जे लगे हैं परमारथ कौं,
जिन्हकै बनिज मैं न नफा है न ज्यान है॥
जिन्ह की समुझि मैं सरीर ऐसौ मानियत,
धानकौसौ छीलक कृपानकौसौ म्यान है।
पारखी पदारथ के साखी भ्रम भारथ के,
तेई साधु तिनही कौ जथारथ ग्यान है॥ ४६॥

अर्थ - जिनकी ज्ञानदृष्टि में इष्ट-अनिष्ट दोनों समान हैं, जिनकी प्रवृत्ति और विचार शुभध्यान के लिये होती है, जो लौकिक प्रयोजन छोड़कर सत्यमार्ग में चलते हैं, जिनके वचन का व्यवहार किसी को हानिकारक वा किसी को लाभकारक नहीं है, जिनकी सुबुद्धि में शरीर, धान के छिलके व तलवार के म्यान के समान आत्मा से जुदा गिना जाता है, जो जीव-अजीव पदार्थों के परीक्षक हैं, संयम आदि मिथ्यात्व की खींचतान के जो मात्र ज्ञाता-दृष्टा हैं; वे ही साधु हैं और उन्हीं को वास्तविक ज्ञान है।

काव्य-४६ पर प्रवचन

ज्ञानी की दृष्टि में समस्त पदार्थ मात्र ज्ञान के ज्ञेय हैं; कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं है। अज्ञानी को तो अनुकूलता इष्ट लगती है और प्रतिकूलता अनिष्ट लगती है। क्यों? इसलिए कि मिथ्यात्वभाव के कारण उसे ऐसी इष्ट-अनिष्ट की कल्पना होती है। ज्ञानी को मिथ्यात्व नहीं होने से उसे अनुकूलता या प्रतिकूलता में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं

www.vitragvani.com

होती है। ज्ञानी को इष्ट होवे तो एक अपना ध्रुवस्वभाव और अनिष्ट कोई होवे तो राग है – ऐसा प्रवचनसार में आता है। बाकी परवस्तु तो कोई इष्ट-अनिष्ट है नहीं।

असाता के उदय में भी ज्ञानी को समता होती है। यह असाता मुझे ठीक नहीं है – ऐसा ज्ञानी नहीं मानते हैं। चैतन्य ज्ञायकमूर्ति का भान वर्तता है, इसलिए ज्ञानी की दृष्टि में जगत के कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं लगते हैं।

जिन्ह कौ अचार सु विचार.... स्वरूप का ध्यान करना यह ज्ञानी का आचार या विचार है। लौकिक आचार-विचार की बात नहीं तथा व्यवहार विकल्परूप आचार और ज्ञान का विचार वह भी नहीं। ज्ञानी को स्वरूप की तरफ की एकाग्रता का ध्यान है, वही उसका आचार और विचार है। राग का वर्तन है, वह तो भिन्न है।

स्वारथ कौं त्यागि जे लगे हैं परमारथ कौं..... स्वार्थ अर्थात् लौकिक प्रयोजन को ज्ञानी अपना प्रयोजन नहीं मानते। लड़के-लड़कियाँ अच्छे ठिकाने लग जायें, व्यापार अच्छा चले.... ऐसा भाव ज्ञानी को नहीं है।

श्रोता : ऐसा विकल्प नहीं आता?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प आता है परन्तु वह ज्ञानी का आचरण नहीं है। ज्ञानी उस विकल्प को अपना नहीं मानते, इसलिए कहा है कि धर्मी स्वार्थ के त्यागी हैं। धर्मी तो परमार्थ में लगे हुए हैं। अहा! सम्यग्दर्शन अर्थात् क्या चीज!! सम्पूर्ण निजवस्तु जहाँ प्रतीति में और प्रसिद्धि में आ गयी, उसकी क्या बात करना! यह तो लौकिक प्रयोजन के त्यागी हैं और परमार्थ प्रयोजन के ही साधक हैं। व्यवहाररत्नत्रय का भाव है, उसके भी धर्मी त्यागी हैं, साधक नहीं। अन्तर शुद्धचैतन्य की ओर झुकाव होने से धर्म के व्यवहार की ओर का झुकाव भी छूट जाता है।

जिन्हकै बनिज मैं न नफा है न ज्यान है। धर्मी की वाणी अपने को या पर को किसी को लाभ-हानि का कारण नहीं है। उपदेश करते हैं, उससे लाभ होता है – ऐसा नहीं है। उपदेश न करे तो नुकसान होता है – ऐसा नहीं है। धर्मी, वाणी के व्यापार का भी जानने-देखनेवाला है, इसलिए उससे लाभ या नुकसान नहीं मानते हैं। अज्ञानी ऐसा मानता है कि जिसे वाणी का योग होता है – ऐसे धर्मी से सबको अधिक लाभ होता है, हजारों-

www.vitragvani.com

लाखों जीव धर्म प्राप्त करते हैं... यहाँ उससे इनकार करते हैं। धर्मी के उपदेश से कोई धर्म प्राप्त नहीं करता। जो धर्म प्राप्त करता है, वह स्वयं से प्राप्त करता है। ज्यान अर्थात् नुकसान.... धर्मी की वाणी से किसी को नुकसान भी नहीं होता है।

जिन्ह की समुझि मैं..... म्यान है.... जैसे अनाज के ऊपर छिलका होता है, वह अनाज से पृथक् है; इसी प्रकार भगवान आत्मा के ऊपर शरीर है, वह छिलके की तरह जीव से पृथक् है। जैसे तलवार और म्यान अत्यन्त भिन्न है; उसी प्रकार जीव और अजीव अत्यन्त भिन्न है। शरीर के साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर का सदुपयोग करना... वाणी का सदुपयोग करना.... ऐसा कहा जाता है परन्तु जड़ का सदुपयोग क्या होगा? शरीर अच्छा हो, वाणी का योग हो तो सबको लाभ होता है – ऐसा कितने ही कहते हैं। हम दूसरों को उपदेश दें तो कर्म की निर्जरा होती है – ऐसा भी कितने ही मानते हैं। भाई! ऐसे निर्जरा नहीं होती। जड़ के उपयोग से आत्मा को क्या लाभ होगा?

पारखी पदारथ के.... धर्मी तो जड़ और चैतन्य दोनों का भलीभाँति पारखी है–परीक्षक है। शरीर और रागादि अजीव है, और ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा जीव है। इस प्रकार धर्मी दोनों को यथावत पहचानता है। जगत् में अनेक प्रकार के दर्शन हैं, उनकी खींचतान में ज्ञानी नहीं पड़ता है। जगत् में ऐसे अभिप्राय हैं, उन्हें मात्र जानता है।

इस प्रकार जो उपदेश से लाभ–हानि नहीं मानते; जड़ और चैतन्य की तथा विकार और स्वभाव की जिन्हें अन्तर में परीक्षा वर्तती है; लौकिक व्यवहार के त्यागी और स्वरूप के साधक हैं; स्वरूप में एकाग्रता ही जिनका आचार–विचार है – ऐसे साधु को यथार्थ ज्ञान है। इससे विपरीत माननेवाले को सच्चा ज्ञान नहीं होता है।

जो यह मानता है कि हम दूसरों को उपदेश देते हैं, उससे हमें और दूसरों को सबको लाभ होता है–यह उसका ज्ञान सच्चा नहीं है, मिथ्याज्ञान है क्योंकि वाणी स्वयं जीव नहीं है, उससे जीव को लाभ किस प्रकार होगा? भगवती आराधना में आता है कि 'जगत् में वाणी की कहाँ कमी है?' अच्छे शब्द ही प्रयोग करना, खराब शब्द नहीं बोलना! ऐसा कहकर तेरे भाव में खराबी नहीं आने देना – यह कहने का आशय है। व्यवहार से कथन ऐसा होता है परन्तु वाणी कौन बोल सकता है? वाणी तो रजकण है, उसे जीव लेता या छोड़ता या करता नहीं है।

www.vitragvani.com

इस प्रकार जिसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान है, उसके ज्ञान को सम्यक् कहा जाता है। उससे विपरीत ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है।

अब २२वें कलश पर ४७वाँ पद्य है, उसमें ज्ञान की निर्भयता बतलाते हैं।

ज्ञान की निर्भयता (सवैया इकतीसा)

जमकौसौ भ्राता दुखदाता है असाता कर्म,
ताकै उदै मूरख न साहस गहतु है।
सुरगनिवासी भूमिवासी औ पतालवासी,
सबही कौ तन मन कंपितु रहतु है॥
उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत भैसौं,
डोलत निसंक भयौ आनन्द लहतु है।
सहज सुवीर जाकौ सासतौ सरीर ऐसौ,
ग्यानी जीव आरज आचारज कहतु है॥ ४७॥

अर्थ - आचार्य कहते हैं कि जो अत्यन्त दुखदाई है मानों जम का भाई ही है, जिससे स्वर्ग, मध्य और पाताल त्रैलोक्य के जीवों का तन-मन काँपता रहता है, ऐसे असाताकर्म के उदय में अज्ञानी जीव हतसाहस हो जाता है परन्तु ज्ञानी जीव के हृदय में ज्ञान का प्रकाश है, वह आत्मबल से बलवान है, उसका ज्ञानरूपी शरीर अविनाशी है, वह परम पवित्र है और सप्त भय से रहित नि:शङ्कित डोलता है।

काव्य-४७ पर प्रवचन

अहो! जहाँ पर से निराली चैतन्यवस्तु भान में-अनुभव में आयी, वहाँ वह पुरुष निर्भय हो गया। उसे मरण का या इसलोक-परलोक आदि किसी का भय नहीं है। शाश्वत् वस्तु को भय कैसा? शुद्ध चैतन्यवस्तु ज्ञान में ज्ञेय होकर अनुभव में आयी - ऐसे धर्मी जीव निशंक होने से निर्भय हैं - ऐसा यहाँ कहते हैं।

जमकौसौ भ्राता.... शरीर में रोग आवे, वह तो मानो यम का भाई हो - ऐसा दु:खरूप लगता है। अज्ञानी को असाताकर्म का उदय आवे, वहाँ शरीर में कँपकँपी छूट जाती है। असाताकर्म के फल में अनेक प्रकार से अत्यन्त दु:ख के निमित्त खड़े हो जाते

www.vitragvani.com

हैं। सिर पर छुरी गिरे ऐसे प्रसंग बनते हैं, जिन्हें देखकर अत्यन्त भय उत्पन्न हो जाता है। अरे! ऐसे रोग हमको न होओ – ऐसा हो जाता है। जबकि ज्ञानी यम के भाई जैसे रोग के काल में भी निर्भय ही रहता है। रोग तो जड़ की दशा है और संयोग प्रतिकूल हो, वह भी मेरे आत्मा से बाह्य है – ऐसा जाननेवाले धर्मी को भय नहीं होता, वह तो निशंक और निर्भय रहता है; इसलिए धर्मी को कर्मों की निर्जरा होती है।

सुरगनिवासी.... ऊर्ध्व, मध्य और अधो तीनों ही जगतवासी जीव रोगादि असाता सुनकर काँप उठते हैं। शरीर तो कँपता है परन्तु मन भी काँप उठता है, निराश हो जाता है कि इसमें से मैं कैसे बचूँगा.... परन्तु जिसके हृदय में ज्ञान प्रकाश प्रगट हो गया है – ऐसे धर्मी जीव ज्ञानबल–आत्मबल से बलवान है। इसलिए सात प्रकार के भय से भयभीत नहीं होते हैं। **सपत भै** अर्थात् सात भय से धर्मी की परिणति निराली रहती है।

प्रश्न होता है कि श्रेणिकराजा तो क्षायिक समकिती थे, तीर्थंकरनामकर्म प्रकृति बाँधते थे, फिर भी सिर क्यों पछाड़ा? जहर क्यों खाया? (**समाधान** यह है कि –) भाई! अन्तर में निर्भय थे, आत्मघात करने का विकल्प आया और क्रिया हो गयी परन्तु अन्तर में धर्मी उसके त्यागी हैं।

देखो! धर्मी को भी कैसा असाता का उदय आता है? अपने पुत्र ने ही राज्य के लिए पिता श्रेणिक को जेल में डाल दिया! पिता की उपस्थिति में तो पुत्र, राजा नहीं हो सकता, इसलिए राजा होने के लिए पिता को जेल में डाल दिया परन्तु वे तो धर्मी हैं; इसलिए अन्तर से निर्भय रहते हैं। जरा भय का विकल्प आता है परन्तु अन्तर में असंख्य प्रदेशी ध्रुव चैतन्य में कहीं खण्ड पड़े – ऐसा भय धर्मी को नहीं होता है।

राजा श्रेणिक आगामी चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर होनेवाले हैं परन्तु अभी नरक की आयु बाँध ली है, इसलिए नरक में गये बिना छुटकारा नहीं है। कुणिक पहुँचे उससे पहले अपने आप ही श्रेणिक मर जाते हैं। आहा! राग की क्रीड़ा तो देखो! नरक से निकलने के छह महीने पहले से उन तीर्थंकर की माता की सेवा स्वर्ग में से देवियाँ आकर करेंगी। इन्द्र जिनकी पूजा करेंगे, उन्हें अभी नरक में जाना पड़ता है। फिर भी अन्दर से भय नहीं है – ऐसा यहाँ कहना है।

www.vitragvani.com

ज्ञानी को नरक का भय नहीं है, मरण का भय नहीं है, वेदना का भय नहीं है। आहा! सबसे पृथक् पड़े हुए भगवान को उनमें एकता कैसे होगी? जो राग से भी पृथक् है, तो शरीर के रजकणों में उसे एकता कैसे होगी! पर से पृथक् पड़े हुए को पृथक् पदार्थ से भय कैसे होगा? सातों ही प्रकार के भय से धर्मी भिन्न है। अखण्डानन्द वज्र चैतन्यमूर्ति ध्रुव को कहीं से क्षति आवे – ऐसा नहीं है। जिन्हें ऐसा अनुभव वर्तता है, उन्हें भय नहीं हो सकता। बाह्य में ऐसे भय के प्रसंग बनें, तब भी वे तो अन्तर में नि:शंकरूप से आनन्द से डोलते हैं।

नि:शंक और अभय इन दोनों भावों को एक करके लिया है। जो नि:शंक है, वह निर्भय है और निर्भय है, वह नि:शंक है। अस्ति से लो तो वस्तु नि:शंक है, वह हाथ आयी इसलिए नि:शंक हुआ है। वह जीव पर से निर्भय हो जाता है, यह नास्ति से कथन है।

गाँव में प्लेग महामारी का रोग आया हो और अपने परिवार के दस व्यक्तियों में से नौ को तो महामारी लग गयी हो – ऐसे समय में धर्मी भी गाँव छोड़कर पहले बाहर निकल जाता है, अन्दर से निर्भय है फिर भी विकल्प तो ऐसा ही उत्पन्न होता है। तब अन्तर के अभिप्राय को नहीं पहचाननेवाले को धर्मी की नि:शंकता की बात समझ में नहीं आती परन्तु धर्मी तो उस क्षण भी अतीन्द्रिय आनन्द का मजा मानता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की आकुलता नष्ट हुई है, इतनी निराकुल आनन्ददशा तो सम्यक्त्वी को प्रगट प्रसिद्ध है, नि:शंकरूप से आनन्द लेता है; इसलिए धर्मी को पूर्व के कर्म खिर जाते हैं।

देखो यह धर्मी की अन्तरदृष्टि और निभर्यता!

सहज सुवीर.... शरीर में निर्बलता आ गयी हो तो भी आत्मा में तो धर्मी को स्वाभाविक अन्तरबल वर्तता है। अनन्त वीर्यवान आत्मा को पकड़ा है, इसलिए उसके बल को कोई विचलित कर सके – ऐसा नहीं हैं। ज्ञानरूपी मेरा शरीर तो शाश्वत् है – ऐसा अनुभव करते हुए धर्मात्मा आत्मबल से बलवान है। ऐसे धर्मात्मा को आचार्यदेव आर्य कहते हैं। आर्य अर्थात् पवित्र कहते हैं। चैतन्य के नूर के तेजवाले आत्मा को बाह्य उदय या रागादि कोई हिला नहीं सकते, वह तो सात भय से रहित होकर नि:शंकरूप से वर्तता है। इन सात भयों के नाम अब कहते हैं –

www.vitragvani.com

सप्त भय के नाम (दोहा)

इहभव-भय परलोक-भय, मरन-वेदना-जात।
अनरच्छा अनुगुप्त-भय, अकस्मात-भय सात॥ ४८॥

अर्थ - इह भव-भय, परलोक-भय, मरण-भय, वेदना-भय, अनरक्षा-भय, अनुगुप्त-भय और अकस्मात-भय - ये सात भय हैं।

काव्य-४८ पर प्रवचन

(१) अरे! मेरा क्या होगा! शरीर में रोग है, स्त्री मर गयी है, पुत्रादि नहीं हैं, सम्पत्ति नहीं है, अब मेरा क्या होगा - ऐसा इसलोक का भय धर्मी को नहीं होता है।

(२) मरकर कहाँ जाऊँगा - ऐसा भय धर्मी को नहीं होता है। नरक में जाना होवे तो भी धर्मी को परभव का भय नहीं है। श्रेणिक राजा ने भगवान से पूछा था कि मैं कहाँ जाऊँगा? तो भगवान की वाणी में आया कि तू नरक में जायेगा, तथापि वे अन्तर से निर्भय थे। बाहर के ज्ञेय की स्थिति जिस प्रकार होनी होगी, वह होगी। तीर्थंकर होना है, फिर भी नरक में जाना है, यह पता है, फिर अन्तर में निर्भय है। शाश्वत् ध्रुव आत्मा अनुभव में आया, उसे भय क्या! नरक में जाएँगे तो भी कर्म खिपायेंगे। योगीन्दुदेव योगसार में कहते हैं कि धर्मी कदाचित् नरकादि में जाये तो भी दोष नहीं है, क्योंकि वह तो वहाँ भी पूर्वकर्म का नाश करेगा।

अज्ञानी स्वर्ग में जाये तो भी वह भववाला और दु:खी है तथा धर्मी में नरक में जाये तो भी सुखी है। वस्तुत: तो धर्मी नरक में जाता है, यह भी समझाने की बात है। धर्मी राग में भी नहीं आता तो नरकगति में कैसे आयेगा? धर्मी का वास तो वस्तुस्वभाव में / ज्ञानानन्द में है। वहाँ शरीर, कर्म, और रागादि में उसका वास बतलाना तो ज्ञान करानेवाला कथन है। व्यवहार की कथनशैली निश्चय से अत्यन्त अलग है।

धर्मी को नरकादि गति का संयोग है, वह तो उसके ज्ञान का ज्ञेय है। उसमें-गति में मैं हूँ - ऐसा धर्मी नहीं मानते हैं। यह मात्र कहने की बात नहीं है, वस्तुस्वरूप का भान होने से धर्मी की दशा ही ऐसी हो जाती है कि इसलोक से लेकर अकस्मात आदि कोई भय उन्हें नहीं रहता है।

www.vitragvani.com

सप्त भय का पृथक्-पृथक् स्वरूप (सवैया इकतीसा)

दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता इह भव,
दुर्गति-गमन भय परलोक मानिये।
प्राननिकौ हरन मरन-भै कहावै सोइ,
रोगादिक कष्ट यह वेदना बखानिये॥
रच्छक हमारौ कोऊ नांही अनरच्छा-भय,
चोर-भै विचार अनगुप्त मन आनिये।
अनचिंत्यौ अब ही अचानक कहाधौं होइ,
ऐसौ भय अकस्मात जगत मैं जानिये॥ ४९॥

अर्थ - (१) क्षेत्र, वास्तु आदि दस प्रकार के परिग्रह का वियोग होने की चिन्ता करना, इसभव का भय है।

(२) कुगति में जन्म होने का डर मानना परलोक-भय है।

(३) दस प्रकार के प्राणों का वियोग हो जाने का डर मानना मरण भय है।

(४) रोग आदि दुख होने का डर मानना वेदनामय है।

(५) कोई हमारा रक्षक नहीं - ऐसी चिन्ता करना अनरक्षाभय है।

(६) चोर व दुश्मन आवे तो कैसे बचेंगे - ऐसी चिन्ता करना अगुप्तभय है।

(७) अचानक ही कुछ विपत्ति न आ खड़ी हो - ऐसी चिन्ता करना अकस्मातभय है। संसार में ऐसे ये सात भय हैं, उनकी यह व्याख्या है।

काव्य-४९ पर प्रवचन

(१) इसलोक का भय - क्षेत्र, मकान, धन, अनाज, दास-दासी, सोना-चाँदी, बर्तन, घर के उपयोग की वस्तुएँ - इन दस प्रकार के परिग्रह में से कोई भी वस्तु चली जाएगी तो.... ! ऐसा भय अज्ञानी को रहा ही करता है। वह इसलोक सम्बन्धी भय है। ज्ञानी को ऐसा भय नहीं होता है।

मोटर, फ्रिज, रेडियो, आदि समस्त वस्तुएँ इस परिग्रह में आ जाती हैं। घर में स्वर्ण

www.vitragvani.com

का ढेर पड़ा हो तो कितना भय होता है कि कोई ले जाएगा तो.... नाश हो जाएगा तो.... कोई जान लेगा तो.... कोई माँगेगा तो ? ऐसे अनेक प्रकार से अज्ञानी को भय सताया करता है। तब ज्ञानी को तो निर्जरा अधिकार में कहा है तदनुसार कोई 'छेदाय या भेदाय, को ले जाय, नष्ट बनो भले। या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे' – ऐसा भाव वर्तता होने से भय नहीं है। उसे तो एक भगवान आत्मा उपादेय हो गया है, उसके समीप समस्त परिग्रह हेय है; इसलिए परिग्रह के वियोग की ज्ञानी को चिन्ता नहीं है। जिसमें अपनापन माना है, उसमें से कुछ जाता नहीं और जो मेरा नहीं है, उसमें से जाये वह कुछ मेरा नहीं है, इसलिए उसके वियोग का मुझे भय नहीं है – ऐसे निर्भय ज्ञानियों को निर्जरा होती है।

(२) परलोकभय – यहाँ से मरकर कहाँ जाऊँगा ? पशु में जाऊँगा या नरक में जाऊँगा या कहाँ जाऊँगा ? वहाँ हमारा क्या होगा ? ऐसा भय अज्ञानी को होता है, ज्ञानी को ऐसा भय नहीं होता है।

(३) मरणभय – पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु, और श्वासोच्छ्वास इन दस प्राणों के हरण से मरण होता है। उसमें ज्ञानी का कुछ नहीं जाता। जड़ का परिणमन बदलता है, उसका ज्ञानी को भय नहीं है।

एक दृष्टान्त बहुत बार देते हैं कि एक लड़के के पिता के पास करोड़ों रुपये थे, फिर भी व्यापार किया परन्तु व्यापार में रुपये गँवाये, अब करना क्या ? पिता को मुँह कैसे दिखाना ? भाई-बन्धुओं को भेजा कि पिताजी के पास जाओ और कहो कि दस लाख दो, यदि नहीं दोगे तो प्रातःकाल अपने पुत्र का मुख देखने को नहीं मिलेगा। पिता ने यह बात सुनकर बहुत क्रोध किया... बापूजी ! पैसा दो, पैसा नहीं दोगे तो लड़का आत्महत्या करेगा... भले ही मर जाये... कषाय का वेग आवे, वहाँ कोई माप नहीं रहता। भाई-बन्धु गम्भीर था, कहने लगा, बापूजी ! एक बात कहूँ ? अब तुम्हारी उम्र हो गयी है, दो-चार वर्ष में तुम करोड़ों रुपये लड़के को ही देकर ऊपर चले जानेवाले हो न ! तो नब्बे लाख देना, दस लाख अभी दोगे वह उनमें से ही कम होंगे न ! तुम्हारा कुछ कम नहीं होगा, तुम्हें अपने साथ पैसा लेकर तो जाना नहीं है... पिता की दृष्टि बदल गयी, मस्तिष्क में बात बैठ

www.vitragvani.com

गयी... पैसे लड़के को ही देने हैं, उसमें से कम होंगे, उसमें मेरा क्या जाता है ? तुरन्त ही दस लाख रुपये गिन दिये।

इस प्रकार दृष्टि में शरीर में अपनापन है, तब तक मरणादि भय रहते हैं। जहाँ शरीर में से अपनापन छूट जाता है, वहाँ किसी का भय नहीं रहता है।

जहाँ शरीर का एक रजकण भी मेरा नहीं है तो स्त्री-पुत्र-परिवार धनादिक मेरे कहाँ थे ? प्राण का हरण होता है अर्थात् श्वास बन्द हो जाये, इन्द्रियाँ काम न करें, आयु पूर्ण हो जाये, तो भले हो जाये, कोई प्राण मेरा नहीं है; इसलिए मुझे उनके हरण की चिन्ता नहीं है।

(४) वेदनाभय - शरीर में कठोर दर्द हो, पेट में पानी भी न टिके इतना दस्त-उल्टी हो जाये, हृदय के पसलियाँ दुखें - ऐसे-ऐसे कठोर रोग की वेदना का भी भय धर्मी को नहीं होता है।

(५) अरक्षाभय - जगत में कोई हमारा रक्षक नहीं है - ऐसा भय अज्ञानी को रहता है। ज्ञानी तो जानता है कि जगत में भले ही कोई रक्षक नहीं है परन्तु हम ही अपने रक्षक हैं, हमें किसी पर की रक्षा की आवश्यकता नहीं है।

(६) अगुप्तिभय - धन, धान्य आदि चोर ले जाएँगे तो... ऐसा अगुप्ति भय भी अज्ञानी को होता है, ज्ञानी को ऐसा भय नहीं होता है।

(७) अकस्मात्भय - अचानक कोई विपत्ति आ पड़ेगी तो... साँप काट खायेगा या सिंह आकर फाड़ डालेगा तो... एक्सीडेंट हो जायेगा तो... ऐसा भय अज्ञानी को रहता है, धर्मी को ऐसा भय नहीं होता है।

अब इन सातों ही भयों के एक-एक का अलग-अलग कलश अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहे हैं। उन पर बनारसीदासजी एक-एक पद्य में भय मिटाने के उपायरूप भाव का वर्णन करते हैं।

धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा के आनन्द का अनुभव हुआ है, और उस आनन्द के समीप उसे दुनिया में कहीं आनन्द नहीं लगता। शरीर या अनुकूल संयोग या शुभाशुभभाव किसी में उसे सुखबुद्धि नहीं होती, इसलिए उसका चित्त आत्मा के

www.vitragvani.com

अतिरिक्त कहीं स्थिर नहीं होता। प्रतिक्षण स्वभावसन्मुखता वर्तती है, इसलिए पूर्व कर्म का उदय आता है, वह खिर जाता है, उसका नाम निर्जरा है।

इस भव का भय निवारण का उपाय (छप्पय)

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत॥
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु।
जहाँ उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु॥
परिग्रह प्रपंच परगट परखि,
इहभव भय उपजैन चित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५०॥

अर्थ – आत्मा सिर से पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, शरीर आदि परपदार्थ हैं, संसार का सब वैभव और कुटुम्बियों का समागम क्षणभंगुर है। जिसकी उत्पत्ति है, उसका नाश है। जिसका संयोग है, उसका वियोग है, और परिग्रह-समूह जंजाल के समान है। इस प्रकार चिन्तवन करने से चित्त में इस भव का भय नहीं उपजता। ज्ञानी लोग अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे निःशङ्क रहते हैं।

काव्य-५० पर प्रवचन

धर्मी ऐसा जानता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यबिम्ब चैतन्य प्रकाश का पुंज हूँ। धर्मी ऐसे ज्ञानस्वरूप में व्याप्त कर स्वयं अपने को चैतन्य प्रकाशमय देखता है-अनुभव करता है। धर्मी शुभाशुभरागादि में अपनेपनेरूप व्याप्त नहीं होता। अपने अस्तित्व में व्यापकर अपने को अवगाहन करता है कि मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, मेरा अंग तो अभंग है-मैं अखण्ड हूँ, नित्य हूँ, और शरीरादि संयोगी वस्तु है, वह तो सब नाशवान है; अविनाशी तो मैं एक आत्मा हूँ। मेरे स्वरूप के अतिरिक्त शुभ-अशुभराग से लेकर शरीर स्त्री, पुत्र, धनादि सभी संयोग नाशवान हैं।

रागादिभाव क्षण-क्षण में नष्ट होते हैं। संयोग भी बदलते हैं, संसार का सर्व वैभव

www.vitragvani.com

इस प्रकार क्षण-क्षण में विलय होता है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति है, उसका नाश हुए बिना नहीं रहता है। संयोग हुआ हो, उसका वियोग हुए बिना नहीं रहता है। अपनी पर्याय का भी प्रति समय संयोग और विरह होता है, वहाँ अन्य चीज का तो क्या कहना? जिस पर्याय का जिस समय में संयोग हुआ है, उसका दूसरे समय में वियोग हो जाता है। संयोग, हमेशा वियोग लेकर ही आता है और आत्मा तो असंयोगी तत्त्व होने से वह हमेशा अभंग अंग रहता है।

परिग्रह प्रपंच... राग से और पर से अपने तत्त्व को भिन्न देखा, उसके जीवन में सब परिग्रह उसे प्रपंच जैसा लगता है। सब नाशवान दिखता है; इस कारण उसकी दृष्टि किसी परिग्रह में स्थिर नहीं होती। इस प्रकार की विचारधारा के कारण धर्मी को इसलोक का भय उत्पन्न नहीं होता। मेरे स्वरूप को कोई भय ही नहीं है। मेरे स्वरूप को राग भी नहीं स्पर्श करता तो बाह्य चीज तो स्पर्श करनेवाली कहाँ थी! इसलिए मुझे कोई भय नहीं है। मेरा स्वरूप मल / मैलरहित ज्ञानरूप और निकलंक है, उसे मैं निरन्तर देखता हूँ, इसलिए मुझे कोई भय या शंका नहीं है। इस प्रकार धर्मी नि:शंक रहता है।

जब तक ऐसे अखण्ड, अभंग, अभेद आत्मा का अनुभव नहीं है, तब तक कोई भाव सच्चा नहीं है। व्यवहार के विकल्प भी सब नाशवान हैं, उन्हें निभाने से अन्तर की शुद्धि हो – ऐसा नहीं है। व्यवहार आचरण करने से आनन्द नहीं आता है, व्यवहार से मेरा आत्मा भिन्न है – ऐसी दृष्टि के बिना और ऐसे अनुभव के बिना किसी को प्रतिक्षण निर्जरा नहीं होती है। आनन्दघनजी भी ऐसा कहते हैं कि 'व्यवहारे लख दोह्यलां, कांईं न आवे हाथ रे... शुद्धनय स्थापतां सेवतां, ते रंजे एक तंत रे....'।

धर्मी अपने आत्मा को निष्कलंक-व्यवहार के रागरहित देखता है। व्यवहार का विकल्प तो कलंक है। शुभरागरूप व्यवहार के तीन भेद हैं, वे तीनों ही राग हैं। एक तो व्रत का राग, दूसरा भक्ति का राग और तीसरा गुण-गुणी के भेद के विकल्परूप राग, यह सब राग दु:खरूप है। उससे आत्मा की दशा सुखरूप कैसे होगी? आत्मा अपने ज्ञान से निष्कलंक और सुखरूप है। भगवान का ज्ञान तो पर है, उससे सुख नहीं होता है।

'मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ।' आत्मा के समस्त गुणों में ज्ञान प्रधान है और सविकल्प है,

www.vitragvani.com

इसलिए स्व-पर सबको जानने की ज्ञान में ताकत है। इसलिए आत्मा को ज्ञान प्रकाश की मूर्ति कहा है। ऐसे अपने आत्मा को प्रतिक्षण देखने से अशुद्धता गलती है, शुद्धता बढ़ती है और कर्म गलते हैं। इस प्रकार तीनों प्रकार से निर्जरा होती है। आत्मवस्तु स्वभाव से ही अकेला ज्ञान का पिण्ड है, उसे किसी ने बनाया नहीं है, भगवान ने भी उसे बनाया नहीं है। भगवान ने आत्मा जैसा है, वैसा कहा है। आत्मा में व्यवहार के विकल्प की गन्दगी नहीं है। विकल्प से रहित अकेले ज्ञानस्वरूप से आत्मवस्तु अनुभव में आती है। ऐसी वस्तु प्रगट है परन्तु अज्ञानी को श्रद्धा में यह बात नहीं जँचती है। आत्मा नहीं दिखता, इसलिए उसे कैसे मानना? परन्तु आत्मा दिखता नहीं - ऐसा निर्णय किसने किया? यह निर्णय करनेवाला स्वयं ही वस्तु है। 'मैं मुझे नहीं दिखता' - ऐसा माननेवाला स्वयं ही देखनेवाला है, फिर भी अपने को नहीं देखता, यह आश्चर्य है।

समयसार ७३ गाथा में आता है कि 'मैं यह अनन्त प्रत्यक्ष चिन्मात्र ज्योति हूँ...' मैं प्रत्यक्ष हूँ - यही मेरा स्वरूप है। मैं अपने आत्मा को निजस्वरूप से देखने से अशुद्धता टलती है-निर्जरा होती है; उपवास आदि क्रिया करने से निर्जरा नहीं होती है।

यह सब भव के भय का निवारण करने के उपाय की बात है। अब परभव के भय का निवारण करने का उपाय कहते हैं।

परभव का भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोख-सुख।
इतर लोक मम नाहिं, नाहिं जिसमाहिं दोख दुख॥
पुन्न सुगतिदातार, पाप दुरगति पद-दायक।
दोऊ खंडित खानि, मैं अखंडित सिवनायक॥
इहविधि विचार परलोक-भय,
नहि व्याप्त वरतै सुखित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५१॥

अर्थ - ज्ञान का पिण्ड आत्मा ही हमारा लोक है, जिसमें मोक्ष का सुख मिलता है।

www.vitragvani.com

जिसमें दोष और दु:ख हैं – ऐसे स्वर्ग आदि अन्य लोक मेरे नहीं हैं ! नहीं हैं !! सुगति का दाता पुण्य और दुखदायक दुर्गति पद का दाता पाप है, सो दोनों ही नाशवान हैं और मैं अविनाशी हूँ – मोक्षपुरी का बादशाह हूँ। ऐसा विचार करने से परलोक का भय नहीं सताता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे नि:शङ्क रहते हैं।

काव्य-५१ पर प्रवचन

ग्यानचक्र मम लोक... ज्ञान का पिण्ड वह मेरा लोक है, उसके अतिरिक्त कोई मेरा लोक नहीं है, कोई गति मेरी नहीं है। मेरा लोक तो ऐसा है कि जिसे देखने से सुख होता है – आनन्द आता है। मोक्ष में जैसा सुख है, अतीन्द्रिय आनन्द है, वैसा ही सुख-अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव आत्मा को देखने से आता है। निज को निरखने से जो आनन्द आता है, उसमें और पूर्णानन्दरूप मोक्ष के आनन्द की जाति में कोई अन्तर नहीं है।

मेरा तो चैतन्यलोक है। स्वर्ग, नरकादि चार गति मेरा लोक नहीं है। जिसमें दोष और दु:ख है – ऐसी गतिरूप लोक मेरा नहीं है। चार गति में तो दोष ही भरे हैं और उनके फल में दु:ख ही प्राप्त होत है। मैं तो निर्दोष और निर्दु:ख हूँ। निर्दोष आनन्द ही मेरा लोक है और वही मेरा परलोक है – प्रधान लोक है। स्वर्गादि तो दोष और दु:ख से भरे हुए हैं, और मेरा लोक नहीं है, इसलिए मैं यहाँ से मरकर कहाँ जाउँगा – यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। मैं मेरे लोक में ही रहनेवाला हूँ, जहाँ जाऊँगा, वहाँ मैं मुझमें ही रहनेवाला हूँ।

वस्तुत: धर्मी को स्वर्ग या नरकादि गति का स्पर्श ही नहीं है। धर्मी ज्ञानस्वरूप में ही है, वह राग में भी नहीं आता और गति में भी नहीं जाता। शुभभाव से पुण्य और उसके फल में सुगति मिलती है, तथा अशुभराग से पाप और उसके फल में दुर्गति मिलती है परन्तु वह कोई आत्मा की चीज नहीं है, आत्मा की गति नहीं है, आत्मा का लोक नहीं है; अन्य लोक है। जो उसे अपना मानता है, वह अज्ञानी है, क्योंकि उसने अपने लोक को तो जाना नहीं और अन्य लोक को अपना मान लिया है; इसलिए वह अज्ञानी है, यह सिद्ध हो गया।

आत्मा तो मोक्षपुरी का बादशाह है। शरीर का और रागादि का बन्धन भगवान

www.vitragvani.com

आत्मा को नहीं है। शुभ और अशुभराग दोनों खण्डित खान हैं, अर्थात् नाशवान हैं; अखण्डित खान नहीं। अखण्डित चैतन्य में स्थिर हो वही स्वसमय है, बाकी सब परसमय है। स्वसमयपने की शुरुआत चौथे गुणस्थान से है और पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है परन्तु धर्मी की दृष्टि में तो स्वसमय ही है, परसमयपना तो उसके ज्ञान में ज्ञेयमात्र है।

शुभ और अशुभ दोनों भाव खण्डित हैं, और उसके फल में प्राप्त होनेवाली चार गतियाँ भी खण्डित खान हैं, उनमें कोई अखण्डित नहीं है। मैं तो अखण्ड शिव नायक हूँ, अर्थात् मोक्ष का नायक हूँ, मैं गति का नायक नहीं हूँ। पञ्चम काल के सम्यक्त्वी या मुनिराज, देह त्यागकर स्वर्ग में ही जायेंगे फिर भी कहते हैं कि हम उस गति के नायक नहीं हैं। परलोक, वह परलोक अर्थात् अन्य लोक है, मेरा लोक नहीं – ऐसा वह जानता है। मेरे देखने लायक लोक तो मेरे आत्मा में है, वह कहीं बाहर में नहीं है। मैं चार गति का स्वामी नहीं हूँ।

गति का भाव तो उदयभाव है–खण्ड–खण्डभाव है, विकारीभाव है, उसका फल भी दु:खरूप और दोषरूप ऐसी गति है। दोष तो आस्रवतत्त्व है, आत्मतत्त्व नहीं। बहुत धीरज से समझने जैसी बात है। जिसे जन्म–मरण का किनारा लाना हो, उसके लिए यह बात है। अवतार करना, वह आत्मा का स्वरूप नहीं.... नहीं....।

पञ्चम काल के मुनि स्वर्ग में जानेवाले हैं न...! नहीं... हम कहीं नहीं जाते, हम तो अपने में हैं। जहाँ रागादि ही हमारी चीज नहीं हैं, वहाँ राग के फल में प्राप्त स्वर्गादि गति में हम कैसे जाएँगे, हम तो अपने में हैं। शास्त्र की कथनशैली में ऐसा आता है कि सम्यक्त्वी वैमानिक स्वर्ग में ही जाता है, अन्यत्र नहीं जाता, स्त्री नहीं होता, नपुंसक नहीं होता इत्यादि। यह तो संयोग से ज्ञानी की गति का ज्ञान कराया। वास्तव में सम्यक्त्वी ज्ञान में रहता है और आनन्द में जाता है, अन्यत्र कहीं रहता नहीं, और जाता नहीं।

मैं मोक्षपुरी का बादशाह हूँ, ऐसा कहा तो क्या ज्ञानी का मोक्ष हो गया — सुन भाई! मोक्ष अर्थात् पवित्रता का मैं स्वामी हूँ। अपवित्र गति और विकारीभाव का मैं स्वामी नहीं हूँ – ऐसा कहते हैं। देखो! धर्मदृष्टि होने पर ऐसी विधि और ऐसी दशा होती है।

इस प्रकार विचार करने से ज्ञानी को परलोक का भय नहीं लगता और अनाकुल

www.vitragvani.com

भाव से समाधान में वर्तता है; इस कारण उसकी दशा में गति ही नहीं आती तो परलोक का भय उसे कैसे लगेगा ? ज्ञानी की दशा में गति नहीं व्याप्ती, इसलिए उसे भय भी नहीं व्याप्ता है। ज्ञानी तो नि:सन्देह, निर्भय, और निशंकरूप से वर्तते हैं। चैतन्य बादशाह का स्वरूप ही ऐसा महिमावन्त है। उसका जिसे पता नहीं है, उसे धर्म किस प्रकार होगा ? अनादि से स्वयं लुटता आया है, इसलिए लुटना उसे अच्छा लगता है। आत्मा शुभाशुभभाव में लुट गया है।

लोगों को शुभ के फल की मिठास है, इसलिए ऐसा मानते हैं कि अभी शुभभाव करके स्वर्गादि के भोग तो भोग लेने दो, फिर धर्म करेंगे तथा सम्प्रदाय के गुरु का उपदेश भी ऐसा मिलता है कि निर्दोष आहार-पानी दे और निर्दोष आहार-पानी ले, उसकी सुगति होती है। ऐसी क्रिया में ही सर्वस्व मान लिया हो, वहाँ धर्म तो दूर रह जाता है। हिन्दुस्तान का हीरा गिने जानेवाले हमारे हीराजी महाराज भी बहुत कड़क क्रिया पालन करते थे, लोगों को उपदेश भी ऐसा ही देते थे कि साधु के लिए आहार-पानी नहीं बनाना। बनाओगे तो गर्भ में गल जाओगे... ऐसा कड़क उपदेश देते थे परन्तु मान्यता में मिथ्यात्व था। बहुत भद्र थे, अभी ढूँढने जाओ तो ऐसा कोई साधु स्थानकवासियों में नहीं मिलेगा - ऐसे हीरा जैसे हीराचन्द महाराज थे, परन्तु यह तत्त्व उनके कान में नहीं पड़ा। उनका स्वर्गवास हुआ तब बड़े लखपति सेठिया भी, स्वयं का युवा पुत्र मर गया हो, ऐसे रोते थे। साधु, साध्वियाँ, गृहस्थ... सब ऐसे रोते... इतना सबको उनके प्रति प्रेम था, प्रतिष्ठा बहुत थी परन्तु यह बात नहीं थी।

यहाँ तो कहते हैं कि शुभविकल्प है, वह भी बन्ध का कारण है, उसे धर्म का कारण मानता है, उसे मिथ्यात्व लगता है।

ग्यानी निसंक निकलंक निज, ग्यानरूप निरखंत नित — ज्ञानी निकलंक अर्थात् वीतराग, नि:शंक है और अपने को हमेशा ज्ञानरूप देखता है। अपने को रागवाला, क्रियावाला, या स्वर्ग में जानेवाला हो - ऐसा नहीं देखता है।

बनारसीदासजी ने भी कितने भाव भर दिये हैं ! अब ५२वें पद्य में मरण भय मिटाने का उपाय बतलाते हैं। यह २७वें कलश का ५२वाँ पद्य है।

www.vitragvani.com

मरण का भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

फरस जीभ नासिका, नैन अरु श्रवन अच्छ इति।
मन वच तन बल तीन, स्वास उस्वास आउ-थिति॥
ये दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जइ।
ग्यान-प्रान संजुगत, जीव तिहुं काल न छिज्जइ॥
यह चिंत करत नहि मरन भय,
नय-प्रवांन जिनवरकथित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५२॥

अर्थ – स्पर्श, जीभ, नाक, नेत्र, और कान ये पाँच इन्द्रियाँ; मन, वचन, काय ये तीन बल; श्वासोच्छ्वास और आयु इन दस प्राणों के वियोग को लोक में लोग मरण कहते हैं; परन्तु आत्मा ज्ञानप्राणसंयुक्त है, वह तीन काल में कभी भी नाश होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जिनराज का कहा हुआ नय – प्रमाणसहित तत्त्वस्वरूप चिंतवन करने से मरण का भय नहीं उपजता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे नि:शङ्क रहते हैं।

काव्य-५२ पर प्रवचन

पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास यह दसों ही प्राण जड़ हैं और नाशवान् हैं; इसलिए धर्मी उन्हें अपने प्राण नहीं मानते हैं। शरीर मेरा नहीं है, इन्द्रियाँ मेरी नहीं हैं, मन-वचन-काया मेरे नहीं हैं, आयु भी मेरी नहीं है, वह तो कर्म है। श्वास भी मेरा नहीं है, यह सब मुद्दती चीज है, ऐसा जानकर ज्ञानी उन्हें अपना नहीं मानता इसलिए उसे मरण का भय नहीं लगता है।

दस प्राण जीव के नहीं तो जीव का प्राण क्या ? जीव किससे जीता है ? जीव तो अपने ज्ञानप्राणमय है और यह चैतन्यप्राण शाश्वत् है, उससे जीव का जीवन है। दस प्राण से जीव का जीवन नहीं है, इसलिए ज्ञानी नि:शंकरूप से अपने चैतन्यप्राण से जीवन मानता हुआ जीवन्त ही है।

www.vitragvani.com

दस प्राण से जीवन माननेवाले एक दूसरे से ऐसा कहते हैं कि यह तुम्हारी इन्द्रियाँ अब शिथिल पड़ गयी है, अब तुम पहले की तरह बोल नहीं सकते, मन भी बहुत काम नहीं देता... इत्यादि... वहाँ पहले को भी ऐसा लगता है कि हाँ, मैं बहुत शिथिल हो गया हूँ... परन्तु भाई! यह प्राण तेरे कहाँ थे? तू तो अपने ज्ञानप्राण से संयुक्त है, जिसका तीन काल में कभी भी नाश नहीं होता।

सैंतालीस शक्तियों में जीवत्वशक्ति आती है न! आत्मा त्रिकाल इस जीवत्वशक्ति से जीवित रहता है, उसका कभी नाश होता ही नहीं तो आत्मा को मरण का भय क्या? दस प्राण के नाश को लोग मरण कहते हैं परन्तु आत्मा तो दस प्राण से भिन्न ज्ञानप्राण से-जीवत्वप्राण से सदा जीवित है। इसलिए **जीव तिहुं काल न छिज्जइ** - तीन काल में जीव का कभी नाश नहीं होता। आत्मा ज्ञानप्राण से सदा ही जीवित है - ऐसी अन्तर्दृष्टि के कारण धर्मी को दस प्राण के वियोग का त्रास और भय नहीं होता है। धर्मी के श्रद्धा और ज्ञान में इस प्रकार की विचारणा होने से धर्मी को मरण का भय नहीं हो सकता है।

दुनिया को मरण का भय है, ज्ञानी को आनन्द की लहर है। कौन मरे और कौन जीवे! मैं तो सदा शाश्वत् हूँ। मैं जहाँ हूँ, वहाँ सदा हूँ। मेरे प्राण का मुझसे कभी वियोग नहीं होता। निश्चय सत् की बात जरा सूक्ष्म लगती है परन्तु वस्तु तो ऐसी ही है।

श्रोता : ज्ञानी को भी समाधिमरण तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! समाधिमरण किसे कहते हैं? जिसे अन्तर में राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप - आनन्दस्वरूप - समाधिस्वरूप भगवान आत्मा का भान हुआ है, उसे देह के वियोग के काल में समाधि-शान्ति रहती है, उसका नाम समाधिमरण है, उसमें आत्मा मरता नहीं है, मात्र देह का वियोग होता है। वह देह को अपना नहीं मानता, इसलिए उसे अशान्ति नहीं होती है। जो राग को, विकल्प को, देह को, श्वासोच्छ्वास को अपना मानता है, वह तो उनके वियोग के काल में स्वयं मर ही जाता है। इसलिए अज्ञानी को देह के वियोग काल में समाधि नहीं रहती है। आत्मा के भान बिना व्रत, प्रतिमा ले बैठता है, वह तो मरण आने से दु:खी-दु:खी होता है, तड़पड़ाहट करता है, उसने समाधि ली हो तो भी समाधि रहती नहीं है।

www.vitragvani.com

मेरे चैतन्यभाव प्राण का कभी वियोग ही नहीं होता, इसलिए मेरा मरण ही नहीं होता – ऐसा ज्ञानी विचार करता है। वह जानता है कि दस प्राण तो नाशवान हैं, इसलिए नष्ट होते हैं। उसमें नवीनता क्या है? मैं द्रव्यार्थिकनय से त्रिकाली द्रव्य हूँ और प्रमाण से देखने पर मेरी वर्तमान पर्याय अशुद्ध है, उसमें रागादि या दूसरे कोई प्राण नहीं हैं। इस प्रकार नय-प्रमाण से तत्त्व का स्वरूप चिन्तवन करने से ज्ञानी को मरण का भय उत्पन्न नहीं होता है।

जिनवर द्वारा कथित प्रमाण और नय क्या कहते हैं? यही कि त्रिकाली द्रव्य का स्वरूप निश्चयनय का विषय है और उसकी शुद्धपरिणति व्यवहारनय का विषय है, इसलिए त्रिकालवस्तु, वह निश्चय और भावप्राण से जीवित रहना, वह व्यवहार है। वहाँ दस प्राण से जीना, वह व्यवहार ही नहीं है। जो वस्तु में नहीं है, उसके साथ निश्चय व्यवहार का सम्बन्ध कहाँ से स्थापित करना? दस प्राण तो पर में है, मैं तो अपने ज्ञान-आनन्द प्राण से जीवित रहता हूँ। द्रव्य तो शाश्वत् है परन्तु उसकी परिणति भी उस प्रकार की होती है, इसलिए जिनवर द्वारा कथित प्रमाण से देखने पर ज्ञानी हमेशा निःशंक है और ज्ञानी को रागादि व्यवहार का कलंक नहीं होने से निकलंक है।

धर्मी – ज्ञानी ऐसा जानता है कि मैं तो त्रिकाल... त्रिकाल... ज्ञाता-दृष्टा और आनन्दमय हूँ तथा ज्ञाता-दृष्टारूप से जीवित रहना, वह मेरा जीवन है। दस प्राण से जीना, वह मेरा जीवन नहीं है।

महावीर का सन्देश — 'जीओ और जीने दो' ऐसा नारा लगाते हैं परन्तु यह महावीर का सन्देश नहीं है। दस प्राण से जीओ और दस प्राण से दूसरों को जीने दो – ऐसा भगवान ने नहीं कहा है। दस प्राण अपने कहाँ हैं कि उनसे स्वयं जीवे? दूसरे के प्राण अपने पास कहाँ हैं कि उनसे उन्हें जीने दे? जीव तो अपने ज्ञान-दर्शन, आनन्द और सत्ता प्राण से जीता है। उन प्राणों से पर्याय में जीवन करना, वह व्यवहार है, तब पर से जीने की बात कहाँ आती है? दस प्राण आत्मा के हैं ही नहीं तो आत्मा उनसे किस प्रकार जीयेगा? आत्मा तो अपनी योग्यता से जीता है, वह भी संयोगीभाव है; जीव का स्वभाव नहीं, इसलिए निश्चय से वह भी पुद्गल है। अशुद्धभावप्राण पुद्गल है, क्योंकि वह पुद्गलकर्म के निमित्त से उत्पन्न हुआ है, आत्मा के स्वभाव में ऐसा भावप्राण नहीं है।

www.vitragvani.com

धर्मी सदा अपने ज्ञानरूप को निरखता है, पर को नहीं निरखता तथा दस प्राण थे और गये, उन्हें भी नहीं निरखता है। स्वयं अपने ज्ञानरूप को निरखता है – ऐसे ज्ञानी को प्रतिक्षण निर्जरा होती है। इसके अतिरिक्त अज्ञानपूर्वक उपवास कर लेने से समाधिमरण या निर्जरा नहीं होती है।

यह मरणभय की बात हुई। अब वेदनाभय का श्लोक कहते हैं।

धर्मी सातों ही प्रकार के भय से रहित होता है, उसमें से तीन भय मिटाने के उपाय का कथन आ गया है। अब, वेदनाभय मिटाने का उपाय ५३वें पद्य में कहते हैं।

वेदना का भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

वेदनवारौ जीव, जाहि वेदत सोऊ जिय।
यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नांहि बिय॥
करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुख।
दोऊ मोह विकार, पुग्गलाकार बहिरमुख॥
जब यह विवेक मनमहिं धरत,
तब न वेदनाभय विदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५३॥

अर्थ – जीव ज्ञानी है और ज्ञानी का अभङ्ग-अङ्ग है। मेरे ज्ञानरूप अङ्ग में जड़ कर्मों की वेदना का प्रवेश ही नहीं हो सकता। दोनों प्रकार का सुखदुखरूप कर्म-अनुभव मोह का विकार है, पौद्गलिक है और आत्मा से बाह्य है। इस प्रकार का विवेक जब मन में आता है, तब वेदना-जनित भय विदित नहीं होता। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे निःशङ्क रहते हैं।

काव्य-५३ पर प्रवचन

वेदनवारौ जीव.... ज्ञानी जीव को ऐसा भान वर्तता है कि मुझे तो सिद्ध होना है। जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शान्ति प्राप्त होती है – ऐसी सिद्धदशा कहाँ से प्राप्त होगी ? जिसमें उसकी शक्ति भरी है, वहीं से प्राप्त होती है। वह

www.vitragvani.com

कहीं निमित्त में से या राग में से या एक समय की पर्याय में से प्राप्त हो – ऐसा नहीं है। मूलवस्तु में यह शक्तियाँ विद्यमान है, इसलिए उसमें एकाग्र होने से ही सिद्धदशा प्राप्त होती है और कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

वेदन करनेवाला जीव स्वयं ही अपने को वेदता है। समस्त शक्तियाँ अपने अन्दर ही भरी है, इसलिए अन्तर में शोधे तो मिलती है; बाहर में शोधे तो शक्ति नहीं मिलती है। धर्मी को शुभाशुभपरिणाम में सुखबुद्धि उड़ गयी है। शरीर, स्त्री, पुत्र, इज्जत इत्यादि में कहीं सुख नहीं है। जहाँ सुख है, वह तो स्वयं ही है। आनन्द का वेदन करनेवाला मैं और जो वेदन में आता है – ऐसी ज्ञानानन्द की दशा मेरी है। राग-द्वेष और सुख-दुःख की कल्पना मेरे स्वरूप में नहीं हैं, इसलिए मैं उनका वेदन करनेवाला नहीं हूँ।

वस्तु का सत्स्वरूप जो है, उस प्रकार से वीतरागदेव ने बतलाया है; भगवान ने उसे बनाया नहीं है। भाई! तुझे सुखी होना है न? हाँ; तो थोड़ा सुख चाहिए या पूरा? पूरा सुख चाहिए, तो वह कहाँ से मिलेगा? अतीन्द्रिय आनन्द में ही पूरा सुख है, वह कहीं पाँच इन्द्रिय के विषयों में से मिले – ऐसा नहीं है, शुभाशुभराग में भी सुख मिले – ऐसा नहीं है, उसमें तो आकुलता है। इस प्रकार जानने से ज्ञानी, राग में सुख ढूँढ़ने नहीं जाते हैं। मेरे आनन्दस्वरूप में एकाग्रता होने से जो आनन्द प्रगट होता है, वह अभंग है, उसमें कभी भंग पड़े – ऐसा नहीं है।

जिस प्रकार वस्तु अभंग है, उसी प्रकार उसके आश्रय से प्रगट हुआ आनन्द भी अभंग है, वही मेरा स्वरूप है। उसमें दूसरी वेदना व्यापती नहीं है। मैं ज्ञान, आनन्द, स्वच्छता, प्रभुता, परमेश्वरता की सामर्थ्यवाला आत्मा हूँ; मैं पामर नहीं हूँ, मैं अल्पज्ञ नहीं हूँ, मैं विकारी नहीं हूँ; मैं तो अभंग अखण्ड आनन्द की वेदना को वेदन करनेवाला हूँ। राग से तो मैं मुक्त हूँ, इसलिए मुझे मेरे आनन्द की वेदना में दूसरी वेदना व्याप्त हो – ऐसा नहीं है।

यह अनेकान्त है। धर्मी इस अनेकान्त को अनुभव करता है कि स्वभाव के वेदन का भाव ही मेरा अंग है, राग का वेदन वह मेरा अंग नहीं है। इसलिए राग का वेदन मेरे स्वभाव में व्याप्त नहीं होता है।

भगवान! तू है न! तुझमें क्या है और क्या नहीं है? तुझमें अनन्त ज्ञान, अनन्त

www.vitragvani.com

आनन्द, अनन्त प्रभुता, अनन्त स्वच्छता आदि सब पूरा है, कुछ अधूरा नहीं है। कब? अभी ही। जिस क्षण में द्रव्य को स्वीकार किया, उसी क्षण में द्रव्य में पूर्णता भरी है और उसमें एकाग्र होने से धारा बहती है, वह सम्यग्दृष्टि है। धर्म की दशा बाहर से प्राप्त नहीं होती है, धर्म की दशा सम्मेदशिखर या शत्रुंजय में से मिले - ऐसा नहीं है। समवसरण में साक्षात भगवान विराजमान हैं, उनके समीप भी तेरी धर्मदशा नहीं पड़ी है कि तुझे देंगे।

मैं स्वयं ही अपने ज्ञान-आनन्दादि स्वभाव से भरपूर हूँ, उसके समीप जाऊँ तो मुझे मेरा प्रभु मिलेगा। समीप जाना अर्थात् एकाग्रता करना। एकाग्रतावन्त को राग में सुखबुद्धि नहीं होती, इसलिए राग आता है, वह खिर जाता है।

भगवान परमेश्वर ने इन्द्रों और गणधरों की सभा में ऐसा कहा था कि भाई! तू पूरा है। तेरे गुण ढूँढ़ने हों तो तेरे अन्दर ढूँढना, बाकी बाहर में झपट्टे मारने से कुछ नहीं मिलेगा। जिसे इस बात का अन्तर्दृष्टिपूर्वक स्वीकार आया कि ज्ञान आनन्द तो मुझमें ही है, उसे ज्ञान आनन्द का वेदन शुरु हो गया, उसे अब राग का वेदन ही नहीं है। जंगल में मुनिराज को बाघ, सर्प इत्यादि काटते हैं। ऐसे प्रसंग बनते हैं परन्तु धर्मी जानता है कि मुझे बाघ के मुँह ने स्पर्श भी नहीं किया है, टुकड़े भी शरीर के होते हैं, मेरे नहीं होते। जरा राग के अंश का वेदन आता है, वह भी मेरे स्वभाव में व्याप्त नहीं होता। मेरा भगवान आत्मा व्यापक है और निर्मलपर्याय व्याप्त है। व्यापक अर्थात् पसरनेवाला। मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान में शान्ति और आनन्द का प्रसार होता है, सुख-दुःख का वेदन मेरे आत्मा में व्याप्त नहीं होता है।

इस वस्तुस्वरूप की समझ किये बिना जीव को कहाँ प्रयोग करना, कहाँ जाना, कहाँ से हटना? - यह कुछ पता नहीं होने से अनादि से भटका करता है। स्वभाव का स्वीकार किये बिना, राग का स्वीकार और राग के वेदन में जीव दुःखी है, वह भले सेठिया हो या राजा हो... अकेला दुःखी है। राग में रोता है-रागभाव करके उसका वेदन करता है, उसे दुःख का वेदन है। वह दुःख का वेदन मेरा है - ऐसा मानता है, वह मिथ्यात्व है। आत्मवस्तु तो ज्ञानरस स्वरूप है, उसे रागरूप और दुःखरूप मानना, वह मान्यता मिथ्यात्व है।

भगवान आत्मा का सत्त्व क्या... कि ज्ञान, आनन्द आदि का अस्तित्व वह भगवान

www.vitragvani.com

आत्मा का सत्त्व है। ऐसे स्वभाव सत्त्व का स्वीकार होने पर धर्मी को रागादिभावों में अपनापन नहीं होता, इसलिए धर्मी राग-द्वेष में व्याप्त नहीं होते और राग-द्वेष की वेदना, आत्मा में व्याप्त नहीं होती।

श्रोता : क्या धर्म की शुरुआत में ऐसा होता होगा? यह तो ऊँचे दर्जे की बात लगती है! केवली की हो वैसी।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! तेरे धर्म की शुरुआत भी ऊँची ही है। तू कोई छोटा है? केवली की अनन्त पर्यायों का पिण्ड तू है - यह तेरी बात है।

करम वेदना दुविध — एक सुखमय और दुःखमय, यह दोनों कर्म की वेदना है। पर संयोग में मूर्च्छा है, वह राग का वेदन है, पर में प्रेम आवे, उमंग आवे, वह राग है, उसमें दुःख का वेदन होता है, वह कर्म के फल का-अज्ञान का वेदन है; आत्मा का स्वरूप नहीं। जिसे निर्विकार आत्मा वेदन में आया, उसे तो अतीन्द्रिय आनन्द की वेदना का वेदन होता है। सर्वज्ञभगवान ने ऐसा स्वरूप स्वयं प्रगट किया है और प्रगट करने की विधि जगत को बतायी है, जो तेरे पास चैतन्यनिधान पड़ा है, वहाँ जा और उसमें एकाग्र हो तो यह सब कर्म की-सुख-दुःख की वेदना गौण हो जायेगी।

प्रथम समझ में तो यह बात ले कि वस्तु का स्वरूप ऐसा है। स्वरूप के भान बिना तीन काल में धर्म होनेवाला नहीं है। अनन्त काल अज्ञान में व्यतीत किया है, कर्म के निमित्त से होनेवाले सुख-दुःख के विकार, यह दोनों एक मोह के ही कार्य हैं, तेरे स्वभाव के यह कार्य नहीं हैं।

अरे! ऐसी बात सुनने को नहीं मिलती, वह जीव कब स्व का आश्रय लेकर धर्म प्रगट करे! धर्म की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। देह की स्थिति तो पूर्ण होगी ही। आयु पूर्णता की समीपता होती जा रही है। क्या करना है, इसकी सूझ नहीं पड़ती, इसलिए क्रिया आदि करके उसमें धर्म की मान्यता कर लेता है।

प्रभु! तू तो अनाकुल आनन्दस्वरूप है न! आनन्दस्वरूप में तो आनन्द का वेदन होता है, क्योंकि अपनी दशा में पसरनेवाला तो आत्मा तू ही है। इसलिए आनन्द का वेदन आवे, वह तेरा कार्य है, सुख-दुःख की कल्पना उत्पन्न होती है, वे दोनों दुःखरूप हैं - मोह

www.vitragvani.com

का कार्य है। बहिर्लक्ष्य से उत्पन्न हुए पर को तो आत्मा वेदन कर ही नहीं सकता; पर के लक्ष्य से सुख-दु:ख की कल्पना करके उसका वेदन करता है, वह मोह का विकार है; जीव का स्वाभाविक कार्य नहीं है।

जब यह विवेक मनमहिं धरत — सुख-दु:ख की कल्पना बहिर्मुखभाव है और आत्मा के आनन्द की दशा अन्तर्मुख है। इन दोनों का विवेक जब अपने मन में अर्थात् भाव में उत्पन्न होता है, तब धर्मी को हर्ष-शोक की वेदना का भय व्याप्त नहीं होता है। मैं वेदना में व्याप्त ही नहीं होता और वेदना मुझमें व्याप्त नहीं होती। मैं वेदना से रहित हूँ - ऐसा अनुभव करने से ज्ञानी को वेदना का भय उत्पन्न नहीं होता।

शरीर की अवस्था को तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई वेदन नहीं करता। जड़ की अवस्था को चेतन किस प्रकार भोगेगा? जड़ की अवस्था को तो नहीं भोगता परन्तु उस अवस्था के प्रति जो अरुचि का भाव होता है, उसे अज्ञानी वेदन करता है और शरीर की अनुकूलता देखकर राग का भाव होता है, उसे अज्ञानी वेदन करता है। यह राग और द्वेष दोनों मोह का विकार है; आत्मा का आनन्द वेदन उनसे पृथक् है - ऐसा विवेक होने से ज्ञानी को जड़ की वेदना का भय उत्पन्न नहीं होता।

ग्यानी निसंक — ज्ञानी नि:शंक है कि सुख-दु:ख की कल्पना का व्याप्त होना मुझमें नहीं है, मैं शुद्धज्ञान और आनन्द का स्वामी हूँ। राग की वेदना के कलंकरहित मैं निष्कलंक वस्तु हूँ। ज्ञानी तो आनन्द को वेदन करनेवाला है और आनन्द लेता हुआ, आगे जानेवाला है, दु:खी होते-होते आगे बढ़नेवाला नहीं है।

जगत को मरण की पीड़ा है और ज्ञानी को आनन्द की लहर है। अनादि का जीवताजीव है, वह मरे कैसे? जीव मरता नहीं और नया नहीं होता। जीवते जीव को अनुभव करनेवाले ज्ञानी, राग के वेदन को अपना स्वरूप नहीं मानते हैं। वे तो सदा ही आत्मा को ज्ञानरूप, आनन्दरूप, सुखरूप, शान्तिरूप वेदन करते हैं। वे अपने को राग का वेदनवाला नहीं देखते हैं। निरन्तर अकषायस्वरूप को देखते हुए निरखते, हुए ज्ञानी को राग की या दु:ख की वेदना का भय नहीं होता है।

मैं अपने स्वरूप की रक्षा करूँ.... रक्षा नहीं करूँ तो तत्त्व चला जाएगा -

www.vitragvani.com

ऐसा अरक्षाभय भी ज्ञानी को नहीं होता है क्योंकि चेतन का स्वरूप अनादि-अनन्त रक्षित ही है।

अनरक्षा का भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जगमहिं त्रिकालगत।
तासु विनास न होइ, सहज निहचै प्रवांन मत॥
सो मम आतम दरब, सरवथा नहिं सहाय धर।
तिहि कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ पर॥
जब इहि प्रकार निरधार किय,
तब अनरच्छा-भय नसित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५४॥

अर्थ - सत्स्वरूप आत्मवस्तु जगत में सदा नित्य है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता, यह बात निश्चयनय से निश्चित है। सो मेरा आत्म-पदार्थ कभी किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, इससे आत्मा का न कोई रक्षक है, न कोई भक्षक है। इस प्रकार जब निश्चय हो जाता है, तब अनरक्षा-भय का अभाव हो जाता है। ज्ञानी लोग अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे निःशङ्क रहते हैं।

काव्य-५४ पर प्रवचन

मेरी चीज त्रिकाल अस्तिरूप है, उसमें रखना या नाश होना - ऐसा कभी नहीं होता है। आत्मा सदा अविनाशी है। जो सदा है, उसकी रक्षा करनापना नहीं होता तथा उसका नाश होनापना भी नहीं होता। इसलिए सत्स्वरूप आत्मा की रक्षा करूँ तो रहे, न करूँ तो नहीं रहे - ऐसा नहीं होता है।

स्वयं चैतन्य होने पर भी, अपने को जड़ का पति माने - करोड़पति माने, उद्योगपति माने, वह मूढ़ है। यहाँ तो राग को अपना माने-राग का पति होता है, वह भी मूढ़ और अज्ञानी है। जो अपने गुणों को स्वामी होता है, वही सच्चा गुणपति है।

जगमहिं त्रिकालगत — मैं तो जगत् में त्रिकाल रहनेवाली शाश्वत् चीज हूँ,

www.vitragvani.com

मेरा नाश कभी हुआ नहीं और होनेवाला नहीं, यह बात स्वाभाविक, निश्चय से प्रमाणभूत है। तो व्यवहारनय से ? व्यवहारनय से पर्याय बदलती है परन्तु वस्तु का नाश नहीं होता है।

मैं तो आत्मद्रव्य सर्वथा किसी की सहायतारहित हूँ, मुझे किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है, किसी की सहायता हो तो मैं रह सकता हूँ – ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा आत्मद्रव्य ही ऐसा अनादि-अनन्त सत्तावाला स्वयं रक्षित है। उसके अस्तित्व में नास्तित्व कभी नहीं आता है।

आत्मद्रव्य कभी किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है। यह शरीर है तो मैं टिकता हूँ – ऐसा नहीं है। इन्द्रियाँ है तो ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। मुझे मेरे स्वभाव से ज्ञान होता है, स्वभाव से आनन्द होता है – ऐसा ही मेरा त्रिकाली स्वभाव है। ऐसी श्रद्धा होना, धर्म और सम्यग्दर्शन है।

सरवथा नहिं सहाय धर — अरे! कथंचित् तो रखो! एकान्त हो जायेगा! यहाँ तो 'सर्वथा' असहाय कह दिया है। आत्मा को कथंचित् कोई सहायता करे – ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है। अपनी सहाय करनेवाला आत्मा स्वयं ही है। सर्वथा कोई मेरा सहायक नहीं है। मेरा अस्तित्व त्रिकाल सत्ता से शोभित है, उसे किसी की रक्षा की अपेक्षा नहीं है। पर मेरी रक्षा करे तो मैं रहूँ – ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है।

वस्तु के स्वरूप के अस्तित्व में कथंचित नहीं होता है। वस्तु सर्वथा है... है... त्रिकाल है। 'मैं हूँ और मैं नहीं' – ऐसा अनेकान्त नहीं है। मैं अनादि-अनन्त वस्तु हूँ, उसका कोई रक्षक नहीं है तथा कोई भक्षक नहीं है। जिसका रक्षक हो, उसका भक्षक हो और भक्षक हो, उसे रक्षक चाहिए। जिसे पैसे इत्यादि की आवश्यकता हो, उसे सेठ की सहायता चाहिए। जो प्राप्त वस्तु की रक्षा करे और नहीं प्राप्त वस्तु को प्राप्त करावे, उसे नाथ कहते हैं परन्तु यहाँ तो आत्मा स्वयं ही अपना नाथ है। शक्तियाँ तो सब है और उसकी पूर्ण निर्मलदशारूप सिद्धदशा प्राप्त नहीं है, वह प्राप्त होगी ही, क्योंकि जिसने प्रतीति की धार पर आत्मा को चढ़ाया है, उसे केवलज्ञान होगा ही।

अपने को कर्म के आधीन माननेवाले यहाँ प्रश्न करते हैं कि यदि कर्म तुम्हें रोकता

www.vitragvani.com

नहीं हो तो अभी मोक्ष कर लो न ? अरे प्रभु ! तुझे कर्म की आधीनता से प्रसन्न होना है ! कर्म मुझे मार्ग दे तो होता है – ऐसी गालियाँ तुझे सुननी हैं ?

यह तो पति के विद्यमान होने पर भी स्त्री विधवा हो गयी – 'ऐसी दादा की चिट्ठी जैसी बात है।' स्वामी बैठा हो और पत्नी विधवा होगी ? इसी प्रकार ज्ञानावरणीय जड़कर्म से चैतन्य का ज्ञान रूकता होगा ? तू रोने क्या बैठा है ? भाई ! तेरी अक्ल खो गयी है। तू स्वयं तेरे ज्ञान को प्रगट नहीं करता, तब ज्ञानावरणीय का मात्र निमित्त होता है, उसका शास्त्र तुझे ज्ञान कराते हैं। वहाँ तू तो कर्म को ही कारण मानकर पराधीन होकर रोने बैठा ? तू जागृत हो तो कर्म की क्या चलेगी ?

सम्यक्त्वी को अपने आत्मस्वरूप का नि:शंक निरधार हुआ है कि मैं सदा ही शुद्ध असहाय, अविनाशी तत्त्व हूँ। इस कारण उसे अपनी अरक्षा का भय नहीं सताता है। धर्मी ही उसे कहते हैं, जिसे स्वरूप की शंका नहीं होती है। स्वरूप में फेरफार हो जाएगा तो ! ऐसा सन्देह नहीं है।

अरे ! कर्म का जोर ऐसा आवे कि आत्मा में खेदान–मैदान हो जाये – ऐसी बात की तुझे प्रतीति आती है और आत्मा क्षण में केवलज्ञान लेने की ताकतवाला है, उसकी तुझे प्रतीति नहीं !! तेरे आत्मा की शक्ति तो देख ! आत्मा जागे तो क्षण में पूर्णदशा प्रगट कर ले। उसे रोकनेवाला कोई नहीं है – ऐसा ही जीव का स्वभाव है।

ध्रुव भगवान नित्यानन्द प्रभु का निर्धार हुआ, वह तो नि:शंकरूप से ऐसा मानता है कि मुझे किसी पर सहाय की आवश्यकता नहीं है, मैं स्वयं रक्षित पूर्णानन्द का नाथ हूँ। कोई भक्षक मेरा नाश कर सके – ऐसा नहीं है। अजगर, बकरे को निगल जाता है, इसी प्रकार मेरे आत्मतत्त्व को कोई निगल जाएगा – ऐसा भय ज्ञानी को होता ही नहीं है।

जो है... है... है... ऐसी महासत्ता का अस्तित्व दृष्टि में आया – ऐसा धर्मी कहता है मैं तो निष्कलंक हूँ, मुझे ज्ञानमय देखता हुआ मैं तो ज्ञानरूप हूँ, विकाररूप मैं नहीं हूँ; इस प्रकार धर्मी अपने को सदा ही ज्ञानरूप निरखता है, इसलिए राग–द्वेष नहीं आते हैं और आते हैं, वे भी गल कर निर्जरित हो जाते हैं।

www.vitragvani.com

इस २६वें कलश के ५५वें पद्य में चोरभय मिटाने का उपाय इस प्रकार बतलाया है —

चोर भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

परम रूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मंडित।
पर प्रवेस तहां नांहि, माहिं महि अगम अखंडित॥
सो मम रूप अनूप, अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चोर किम गहै, ठौर नहि लहै और जन॥
चितबंत एम धरि ध्यान जब,
तब अगुप्त भय उपसमित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५५॥

अर्थ – आत्मा साक्षात् परमात्मारूप है, ज्ञानलक्षण से विभूषित है, उसकी अगम्य और नित्य भूमि पर परद्रव्य का प्रवेश नहीं है। इससे मेरा धन अनुपम, स्वयंसिद्ध, अपरम्पार और अक्षय है, उसे चोर कैसे ले सकता है ? दूसरे मनुष्य के पहुँचने को उसमें स्थान हीं नही है। जब ऐसा चिन्तवन किया जाता है तब चोर-भय नहीं रहता। ज्ञानी लोग अपने आत्मा को सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशङ्क रहते हैं।

काव्य-५५ पर प्रवचन

यह सम्यग्दृष्टि की भावना अथवा विचारना है कि मैं तो परमस्वरूप परमात्मा ही हूँ, मैं अपने स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान से विभूषित है, मेरी ध्रुवभूमि में किसी का प्रवेश नहीं है; जहाँ किसी का प्रवेश ही नहीं हो सकता, उसे कौन लूट सकता है ? इसलिए मुझे चोर का भय नहीं है।

मेरा स्वरूप अगम्य और अखण्डित है, उसमें किसी की ताकत नहीं है कि अन्दर प्रवेश करे। मैं चैतन्य महापदार्थ परमात्मस्वरूप हूँ – ऐसा जिसे अन्तर में भासित हुआ है, उसे अपने चैतन्यधन के नाश की शंका नहीं है। मैं अकृत वस्तु हूँ-मुझे किसी ने बनाया नहीं है, मैं अनादि-अनन्त, अटूट घन हूँ। मेरे चैतन्यधन का कभी नाश नहीं होता ऐसा धन

www.vitragvani.com

मुझमें है। दुनिया की लक्ष्मी तो नष्ट हो जाती है परन्तु मेरी लक्ष्मी कभी नष्ट नहीं होती तथा अपरम्पार है और अक्षय है, उसे कौन ले जाये या नाश करे ?

मेरे असंख्य प्रदेशी आनन्दमय स्थान में कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता। वहाँ चोर का भय कैसे हो सकता है ? मेरे स्वघर में चोर का प्रवेश नहीं हो सकता – ऐसा जानते हुए ज्ञानी निःशंक है। ज्ञानी सदा अपने आत्मा को कलंकरहित और ज्ञानमय देखते हैं; इस कारण ज्ञानी सदा निःशंक रहते हैं। ज्ञानी की दृष्टि सदा ही द्रव्य पर ही होती है। जो कोई ऐसे अपने स्वरूप का अनुभव करता है, तब उसे सम्यग्दृष्टि अथवा अनुभवी कहा जाता है। यह धर्म की इकाई की बात है, यह कोई मुनि अथवा केवली की बात नहीं है; धर्म की शुरुआत ही ऐसे स्वरूप के अनुभव से होती है।

यह चोरभय का निवारण हुआ। अब, अकस्मात् भय का निवारण करते हैं।

अकस्मात भय निवारण करने का उपाय (छप्पय)

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम।
अलख अनादि अनंत, अतुल अचिल सरूप मम॥
चिदविलास परगास, वीत-विकलप सुखथानक।
जहां दुविधा नहि कोइ, होइ तहाँ कछु न अचानक॥
जब यह विचार उपजंत तब,
अकस्मात भय नहि उदित।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित॥ ५६॥

अर्थ – मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान तथा वीतरागभावमय है और सिद्ध भगवान के समान समृद्धिशाली है। मेरा स्वरूप अरूपी, अनादि, अनन्त, अनुपम, नित्य, चैतन्यज्योति, निर्विकल्प, आनन्दकन्द और निर्द्वन्द्व है। उस पर कोई आकस्मिक घटना नहीं हो सकती, जब इस प्रकार का भाव उपजता है, तब अकस्मात-भय उदय नहीं होता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्मा को सदा निष्कलङ्क और ज्ञानरूप देखते हैं, इससे निःशङ्क रहते हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-५६ पर प्रवचन

मैं शुद्ध-बुद्ध अर्थात् शुद्ध ज्ञानमय हूँ और विरुद्ध ऐसे जो राग-द्वेष भाव, उनसे रहित-अविरुद्ध हूँ - शुद्ध वीतराग से भरपूर हूँ। मैं स्वाभाविक ही सिद्ध समान समृद्धि से भरपूर हूँ। सिद्ध भगवान अनन्त ज्ञान, आनन्द आदि समृद्धि से भरपूर हैं; उसी प्रकार मैं भी अनन्त ज्ञान-आनन्दादि समृद्धि से स्वाभाविकरूप से भरपूर हूँ, उसमें अकस्मात् क्या होता है ? सिद्ध में जितनी समृद्धि है, वह सब मुझमें भी है। इस प्रकार सम्यक् दृष्टि को निर्जरा की धारा में ऐसी नि:शंकता वर्तती होती है।

अलख — मैं इन्द्रियों से ज्ञात होने योग्य नहीं हूँ, मैं अनादि-अनन्त हूँ, उसमें अकस्मात्पना अथवा नवीनपना क्या होगा ? तथा मेरा स्वरूप किसी के साथ तुलना हो सके - ऐसा नहीं है, इसलिए मैं अतुल हूँ। मेरा स्वरूप अविचल होने से कभी चलित नहीं होता। जो 'वस्तु' है, वह किस प्रकार चलित होगी ? मैं सदा अविचल हूँ।

चिदविलास — स्वयं सदा ही ज्ञानानन्दस्वरूप होने से ज्ञानी को अनुभव में चिद्विलास का अनुभव होता है। चिद्विलास में से ज्ञान और आनन्द निकलता है, वही मेरा विलास है, उसके अनुभव में ज्ञान और आनन्द का प्रकाश आता है, उसमें रागादि विकार नहीं आता। मेरा स्थान ही सुख स्थानक है। मैं सुख उत्पन्न करनेवाला हूँ, राग को उत्पन्न करे - ऐसा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं अतीन्द्रिय आनन्द को उत्पन्न करूँ, ऐसा हूँ। दु:ख को और संसार को उत्पन्न करे - ऐसा मेरा स्थान नहीं है। मेरे अतीन्द्रिय आनन्द के धाम में कोई द्विधा नहीं है, जहाँ दोपना ही नहीं - जहाँ दूसरा कोई नहीं, वहाँ कुछ आकस्मिक घटना घटती ही नहीं है।

यह बात ऐसी है कि कितने ही लोगों को इसमें से भाव निकालना नहीं आता तो वेदान्त जैसी लगती है। श्रीमद् ने एक पत्र में लिखा है कि समयसार पढ़कर कितनों को ही 'एक ही आत्मा है' - ऐसा भ्रम हो जाता है। समयसार में एक आत्मा अर्थात् स्वयं एक आत्मा है - ऐसा कहा है। सब मिलकर एक आत्मा है - ऐसा नहीं कहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में निश्चयभासी के प्रकरण में टोडरमलजी ने भी कहा है कि यह बात वेदान्त जैसी है - ऐसा लगता है परन्तु ऐसा नहीं है। इसके लिए बहुत स्पष्टीकरण किये हैं।

www.vitragvani.com

वस्तु स्वयं ही दो पहलू वाली है। द्रव्य और पर्याय इन दो भागों में दोनों को उपादेय गिना जाये तो दो भाग ही नहीं रहते और द्रव्यस्वभाव दृष्टि में नहीं आता। इसलिए द्रव्यस्वभाव को उपादेय और पर्याय को हेय किये बिना वस्तु सिद्ध नहीं होती है। वस्तु के एक अभेद अखण्ड स्वरूप में दो पना नहीं है। द्रव्यस्वभाव को राग और निमित्त के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अविरुद्ध शब्द का अर्थ अन्दर में ही दिया है कि मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान और वीतरागभावमय है। वीतरागभाव में चारित्र के साथ आनन्द भी आ जाता है। त्रिकाली श्रद्धा और त्रिकाली स्थिरता भी वीतरागभाव में समाहित हो जाती है।

त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को उपादेय किये बिना पर्याय में हेयपना नहीं आ सकता। द्रव्य के दोनों पहलू उपादेय नहीं हैं तथा दोनों हेय नहीं हैं। द्रव्यस्वभाव उपादेय है और पर्याय हेय है। द्रव्य में – ध्रुवस्वभाव में पर्याय भी नहीं तो आकस्मिक घटना तो अन्दर में क्या हो सकती है? सर्वज्ञदेव ने वस्तु को भूतार्थ कहा है। अभेद में भेद नहीं दिखता, इसलिए भेद अभूतार्थ है। अभेद में भेद दिखाई दे तो अभेद सिद्ध होता ही नहीं तथा रागी प्राणी को भेद का लक्ष्य करने से राग हुए बिना नहीं रहता है। इस बात का स्पष्टीकरण पण्डित जयचन्दजी ने समयसार की ६-७वीं गाथा में बहुत अच्छा किया है। अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता, इसलिए भेद को असत् कहना चाहिए। उसका अर्थ यह नहीं है कि भेद नहीं है। भेद भी है, पर्याय भी है परन्तु वस्तु की दृष्टि में ऐसा कोई भेद दिखाई नहीं देता है।

जब तक जीव का लक्ष्य बहिर्मुख है, तब तक सब भेदरूप दिखता है; अन्तर्मुख लक्ष्य जाने पर भेद दिखाई नहीं देता। लक्ष्य अन्तर्मुख होने पर दृष्टि सामान्य पर ही जाती है, इसलिए कहा है कि दृष्टि का विषय अभेद है तथा निश्चयनय का विषय भी अभेद है और शुद्धनय को ही त्रिकालवस्तु कही है।

आत्मवस्तु अभेद अर्थात् विकल्परहित है। भगवान आत्मा सुख का स्थान है, उसमें द्विधा कहाँ से? जहाँ दोपना ही नहीं है, वहाँ भय किसका होगा? संयोग में, पर में जीव के विकल्पानुसार कुछ नहीं होता। पर में अकस्मात् फेरफार हो जाता है, इसलिए संयोगदृष्टिवाले अज्ञानी जीवों को उसका भय लगता है परन्तु स्वभावदृष्टिवन्त ज्ञानी को वस्तु में अकस्मात् कुछ फेरफार होने का अवकाश ही नहीं होने से भय नहीं होता।

www.vitragvani.com

बाहर में तो अकस्मात् कितना फेरफार होता है! पैसे की कीमत अभी कितनी घट गयी है। हमारे पिताजी के पिताजी 'गिगाकूरा' के दस हजार के आसामी बड़ी इज्जतदार गिने जाते थे। वर्ष में दो महीने ही व्यापार करते थे। अभी तो बारह महीने कमाये और लाखों रुपये आये तो भी शान्ति नहीं होती। ऊपर से सरकार का भय होता है, वह अलग। बाहर में कहीं शान्ति या एकरूपता होती ही नहीं है। शान्ति तो जहाँ पर का प्रवेश नहीं, पर की गन्ध भी नहीं – ऐसे निजभगवान आत्मा में है। वह कोई पर साधन द्वारा गम्य हो सके, वैसा नहीं है।

यह सब लॉजिक से सिद्ध होता है। यहाँ तो अभी सम्यग्दर्शन की बात चलती है, उसका भी जिसे ठिकाना नहीं हो और व्रत तथा चारित्र लेकर बैठ जाये, तो ऐसे कहीं धर्म नहीं हो जाता। एक वस्त्र का धागा रखकर मुनिपना मनवावे, वह निगोदगामी होता है तो सम्यग्दर्शन हुए बिना सच्चा मुनिपना कहाँ से हो सकेगा? मुनि की दशा कैसी होती है, मुनि को द्रव्य का आश्रय कितना होता है, राग कितना होता है, संयोग कितना होता है? इसका जिसे पता नहीं है, उसे एक भी तत्त्व का पता नहीं है, उसे अकेला मिथ्यात्व का सेवन है और उसके फल में चार गति का भ्रमण है।

जब यह विचार उपजंत तब... मेरी वस्तु में द्विविधा ही नहीं है, इसलिए अकस्मात् कुछ नहीं होता। जब ऐसा विचार उत्पन्न होता है, तब अकस्मात् भय उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार अकस्मात् भय से रहित ज्ञानी निःशंक है। मेरी वस्तु में किसी का प्रवेश नहीं है, मैं दुनिया में किसी के गम्य नहीं हूँ, केवली भगवान भी मुझे मेरे में आकर नहीं जानते – मेरे वेदन का वेदन केवली को नहीं है, इसलिए केवली भी मुझे नहीं जानते – ऐसा मैं हूँ। गजब बात की है न! ज्ञानी मुझरूप होकर नहीं जानते, वे तो अपने में रहकर मुझे जानते हैं।

ज्ञानी निष्कलंक है, राग का कलंक ज्ञानी को नहीं है। ज्ञानी निःशंक है कि मेरा स्वभाव त्रिकाल वीतराग और ज्ञानमय है। ज्ञानी सदा अपने ज्ञानस्वरूप को निरखते हैं, इसलिए ज्ञानी को अकस्मात् भय नहीं है।

इस प्रकार सातों ही भय मिटाने का उपाय बतलाया। निःशंकता में से सात

www.vitragvani.com

भयरहितपने के बोल निकाले हैं। नि:शंकता आदि आठ गुणों से सम्यग्दृष्टि अलंकृत होता है। उसकी बात अब करेंगे।

अब, २९ वें कलश पर ५७ वें पद्य में बनारसीदासजी सम्यग्ज्ञानी जीवों को नमस्कार करते हैं।

सम्यग्ज्ञानी जीवों को नमस्कार (छप्पय)

जो परगुन त्यागंत, सुद्ध निज गुन गहंत धुव।
विमल ग्यान अंकूर, जासु घटमहिं प्रकास हुव॥
जो पूरबकृत कर्म, निरजरा-धार बहावत।
जो नव बंध निरोध, मोख-मारग-मुख धावत॥
नि:संकतादि जस अष्ट गुन,
अष्ट कर्म अरि संहरत।
सो पुरुष विचच्छन तासु पद,
बानारसि वंदन करत॥ ५७॥

अर्थ – जो परद्रव्य से आत्मबुद्धि छोड़कर निज-स्वरूप को ग्रहण करते हैं, जिनके हृदय में निर्मल ज्ञान का अंकुर प्रगट हुआ है, जो निर्जरा के प्रवाह में पूर्वकृत कर्मों को बहा देते हैं, और नवीन कर्मबन्ध का संवर करके मोक्षमार्ग के सन्मुख हुए हैं, जिनके नि:शङ्कितादि गुण अष्टकर्मरूप शत्रुओं को नष्ट करते हैं, वे सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं। उन्हें पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

काव्य-५७ पर प्रवचन

धर्मी कैसा है ? जिसने शरीर स्त्री, पुत्र, परिवार, प्रतिष्ठा आदि सब में से आत्मबुद्धि-अपनेपन की बुद्धि छोड़ दी है और शुद्ध निज आत्मा में आत्मबुद्धि कर ली है। फिर भले वह चक्रवर्ती हो तो उसे ९६००० रानियाँ हो वैभव का पार न हो परन्तु अन्तर में धर्मी उन सबसे पृथक् ही है। धर्मी जहाँ राग से भी पृथक् है, वहाँ परवस्तु से पृथक् क्यों नहीं होंगे ?

विमल ग्यान अंकूर — समकिती को प्रत्यक्ष अनुभूति होने पर ज्ञान और आनन्द का अंकुर फूटता है। ज्ञान अर्थात् शास्त्रज्ञान का नहीं परन्तु त्रिकाल ज्ञान का अंकुर अन्दर

www.vitragvani.com

में से फूटता है कि जो अंकुर केवलज्ञान का कारण होता है और दूसरा अंकुर चारित्र का फूटता है, ज्ञानी को शुभभाव में शुद्ध का अंश है, वह यथाख्यातचारित्र का कारण होता है।

अज्ञानदशा में परसन्मुखता से जो राग की उत्पत्ति होती थी, वह अब स्वभावसन्मुख दशा में उत्पन्न नहीं होती, अज्ञान में जो बन्ध का प्रवाह बहता था, उसके बदले अब निर्जरा का प्रवाह बहने लगा है; इसलिए बन्ध का निरोध होता है और मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है।

अब, सम्यग्दर्शन के आठ अंग के नाम कहते हैं। नाम कहो, चिह्न कहो, लक्षण कहो, अवयव कहो, या आचार कहो – सब इसमें आ जाता है।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों के नाम (सोरठा)

प्रथम निसंसै जानि, दुतिय अवंछित परिनमन।
तृतिय अंग अगिलानि, निर्मल दिष्टि चतुर्थ गुन॥ ५८॥
पंच अकथ परदोष, थिरीकरन छट्ठम सहज।
सत्तम वच्छल पोष, अष्टम अंग प्रभावना॥ ५९॥

अर्थ – नि:शङ्कित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना – ये सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग हैं।

इनका अर्थ अथवा स्वरूप आगामी पद्य में कहेंगे।

सम्यक्त्व के आठ अङ्गों का स्वरूप (सवैया इकतीसा)

धर्म मैं न संसै सुभकर्म फल की न इच्छा,
असुभकौ देखि न गिलानि आनै चित मैं।
सांची दिष्टि राखै काहू प्रानीकौ न दोष भाखै,
चंचलता भानि थिति ठानै बोध वितमैं॥
प्यार निज रूप सौं उछाहकी तरंग उठै,
एई आठौं अंग जब जागै समकित मैं।
ताहि समकित कौं धरै सो समकितवंत,
वहै मोख पावै जौ न आवै फिर इतमैं॥ ६०॥

ShreeKundkund-KahanParmarthikTrust,Mumbai.

www.vitragvani.com

अर्थ – स्वरूप में सन्देह नहीं करना नि:शङ्कित अङ्ग है; शुभ क्रिया करके उसके फल की अभिलाषा नहीं करना नि:कांक्षित अङ्ग है; दुखदायक पदार्थ देखकर ग्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है; मूर्खता त्यागकर तत्त्व का यथार्थ निर्णय करना अमूढ़दृष्ट अङ्ग है; दूसरों के दोष प्रगट नहीं करना उपगूहन अङ्ग है; चित्त की चञ्चलता हटाकर रत्नत्रय में स्थिर होना स्थितिकरण अङ्ग है; आत्मस्वरूप में अनुराग रखना वात्सल्य अङ्ग है; आत्म-उन्नति के लिये उत्साहित रहना प्रभावना अङ्ग है, इन आठ अङ्गों का प्रगट होना सम्यक्त्व है। उस सम्यक्त्व को जो धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि ही मोक्ष पाता है और फिर इस संसार में नहीं आता।

काव्य-६० पर प्रवचन

१. नि:शंकित अंग – स्वरूप में संशय न करना, वह नि:शंकित अंग है। अपना स्वरूप शुद्ध, अखण्ड, अभेद चैतन्यस्वरूप है, उसमें धर्मी को शंका नहीं होती है।

नियमसार ५ वीं गाथा में 'आप्त पुरुष शंकारहित है' ऐसा कहा है। वहाँ शंका का अर्थ मोह, राग और द्वेष है। जैसे, आप्त पुरुष मोह, राग, द्वेष से रहित है, उसी प्रकार समकितवन्त का स्वरूप भी मोह, राग, द्वेष से रहित है। मेरा स्वरूप मोह-राग-द्वेष से रहित है – ऐसा धर्मी नि:शंकरूप से मानता है और परमेश्वर-आप्त को तो अस्थिरता के राग-द्वेष भी मिटकर वीतरागता प्रगट हो गयी है।

जिस प्रकार शरीर अंगी है, उससे हाथ, पैर आदि अंग पृथक् नहीं हैं; उसी प्रकार समकित के अंग समकित से पृथक् नहीं हैं।

२. निकांक्षित अंग – शुभक्रिया करके उसके फल की अभिलाषा नहीं करना, निकांक्षित अंग है।

नि:शंकित अंग में अस्तिरूप से आत्मा की श्रद्धा ली है। इस निकांक्षित अंग में शुभ के फल की वांछा का अभाव कहकर नास्ति से गुण बताया है। अकेले पवित्र निर्मल निजरूप में नि:शंक धर्मी को शुभपरिणाम आते हैं परन्तु उसके पीछे उसके फल की भावना नहीं होती है। नि:संशयभाव प्रगट हुआ, उसके साथ ही निर्वांछकभाव भी होता ही है। मैं शुभराग से रहित हूँ, इसलिए उसके फल की भी मुझे इच्छा नहीं है। सम्यग्दृष्टि,

www.vitragvani.com

शुभराग से विरक्त ही है तथा उसके फल की भी उसे वांछा नहीं है। अपने वस्तुस्वरूप में जो नि:संशय हुए हैं, उन्हें ही वांछा का अभाव होता है। शुभविकल्प उत्पन्न होता है, वहाँ उसे ऐसा नहीं हो जाता कि यह मैं हूँ।

३. निर्विचिकित्सा अंग – दु:खदायक पदार्थों को देखकर ग्लानि नहीं करना, वह निर्विचिकित्सा अंग है। अपने परिणाम में कोई ऐसा अशुभविकल्प आ जाये तो ऐसा नहीं हो जाये कि अरे! मेरे स्वरूप में यह क्या आ गया? मेरे स्वभाव में उसका अभाव है – ऐसा जानने से ज्ञानी को अशुभपरिणाम पर द्वेष नहीं है। ज्ञानी तो ज्ञाता–दृष्टा हैं; जो है उसे जानते हैं।

राजा श्रेणिक को कुणिक के प्रति जरा द्वेष आ गया था परन्तु जानते हैं कि यह भाव मेरा स्वरूप नहीं है, तथापि ग्लानि नहीं करते हैं। पूर्णानन्द स्वरूप भगवान आत्मा जहाँ दृष्टि और अनुभव में आया है, वहाँ धर्मी को अशुभभाव की अथवा अशुद्ध पदार्थों की ग्लानि नहीं होती, द्वेष नहीं होता। अशुभ पदार्थ के प्रति ग्लानि नहीं होना, वह तो साधारण बात है। मूल तो अशुभभाव के प्रति भी ग्लानि नहीं होती है।

४. अमूढ़दृष्टि अंग – अविवेक छोड़कर तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करना, वह अमूढ़दृष्टि अंग है। धर्मी को तत्त्व के विषय में सूक्ष्म बात में भी विभ्रम नहीं होता; विवेकपूर्वक तत्त्व का यथार्थ निर्णय वर्तता है। मोक्ष का नायक भगवान बादशाह चैतन्य पिण्ड जहाँ अनुभव में आया, वहाँ किसी तत्त्व में मूढ़ता नहीं होती। भगवान आत्मा तो मोक्षपुरी का नाथ है, उसे प्रतीति में लिया – ऐसे समकितवन्त को किसी भाव में मूढ़ता नहीं आती है।

देखो, यह सम्यग्दर्शन और उसके साथ रहनेवाले आठ अंग।

५. उपगूहन अंग – काहू प्रानीकौ न दोष भाखै — किसी जीव के दोष को दूसरे से नहीं कहता, यह व्यवहार से बात की है। मूल तो स्वयं को पर्यायदृष्टि का नाश हुआ है, इसलिए दूसरे के भी निर्दोष स्वभाव को ही देखता है; पर्याय में रहे हुए दोष को नहीं देखता है।

६. स्थितिकरण अंग – धर्मी को रत्नत्रय में जरा भी चंचलता नहीं होती। देखो,

www.vitragvani.com

चौथे गुणस्थान में भी रत्नत्रय कहा है न! धर्मी को अपने श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता के अंश में कहीं भी चंचलता नहीं होती है.... **थिति ठानै बोध वितमैं** - बोध अर्थात् ज्ञान। ज्ञानी अपने चैतन्यस्वभाव में स्थिर रहता है, यह उनका स्थितिकरण अंग है।

७. वात्सल्य अंग - आत्मस्वरूप में अनुराग रखना, वह वात्सल्य अंग है। धर्मी का प्रेम स्त्री, पुत्र, मित्रादि के प्रति चला नहीं जाता, क्योंकि अपने प्रभु के साथ प्रेम जुड़ गया है, अपने शुद्ध-पवित्र स्वरूप के प्रति प्रेम लगा है, वह धर्मी का वात्सल्य अंग है।

८. प्रभावना अंग - उछाहकी तरंग उठै .... स्वरूप के प्रेमी ऐसे धर्मी को स्वरूप की सावधानी - स्वरूप के उत्साह की तरंग उठती है, वह प्रभावना अंग है।

अपने पूर्ण शुद्धस्वभाव का अनुभव करके शुद्धस्वभाव का ही उत्साह वर्तता है, वही वास्तविक प्रभावना है। शुभरागरूप प्रभावना का तो स्वभाव में अभाव है। व्यवहार की बात करें, तब शुभरागरूप प्रभावना आती है परन्तु वास्तव में व्यवहार धर्मी में नहीं है और धर्मी व्यवहार में नहीं है। स्वभावसन्मुख का उत्साह - मोक्षसन्मुख का उत्साह उत्पन्न होता है, वही वास्तविक प्रभावना है परन्तु लोग बाहर की प्रभावना में ही जल रहे हैं। आत्मा की प्रभावना आत्मा की दशा में होती है या आत्मा से अलग होती है? शुभराग भी आत्मा से स्वरूप अपेक्षा से पृथक् है, वहाँ बाहर की प्रभावना की क्रिया तो अत्यन्त पृथक् रह जाती है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव की ओर वीर्य का उल्लास उत्पन्न होना, वह सच्ची प्रभावना है। बाहर की प्रभावना का विकल्प उत्पन्न होता है, वह मात्र जानने योग्य है।

आत्मा इतना विस्तृत है कि एक समय में अनन्त... अनन्त... गुणों को सावधानरूप से उछाले, वह उसकी प्रभावना है। प्र + भावना = प्रभावना। भावना अर्थात् अपनी पर्याय; वह अपने से दूर होगी? शुभभाव और बाहर की क्रिया तो दूर है। बाहर की क्रिया तो परद्रव्य में होती है और शुभराग तो आस्रवतत्त्व है, जीवतत्त्व नहीं, इसलिए उसमें उत्साह होना उपादेय नहीं है, स्वरूप में उत्साह होना उपादेय है।

एई आठौं अंग जब जागै समकित मैं — आत्मा के दर्शन के साथ आठों ही अंग उत्पन्न होते हैं, इसलिए ऐसे आठ अंगसहित जो समकिती हैं, वे वास्तविक समकितवन्त हैं। वे ही इष्ट ऐसे मोक्ष को - सिद्धपद को प्राप्त करते हैं; पुनः संसार में नहीं आते हैं।

www.vitragvani.com

यह पद्य का अर्थ हुआ, अब विशेष कहते हैं।

विशेष – जिस प्रकार शरीर के आठ अंग होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् शरीर से पृथक् नहीं होते और न शरीर उन अंगों से पृथक् होता है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के नि:शंकित आदि आठ अंग होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् सम्यग्दर्शन से पृथक् नहीं होते और न सम्यग्दर्शन अष्ट अंगों से निराला होता है – आठों अंगों का समुदाय ही सम्यग्दर्शन है।

'शरीर' हाथ-पैर-पीठ-हृदय आदि अंगों से पृथक् नहीं है और अंग, शरीर से पृथक् नहीं हैं; इसी प्रकार नि:शंकित आदि आठ अंगों से सम्यग्दर्शन पृथक् नहीं है और सम्यग्दर्शन उन अंगों से पृथक् नहीं है, एक ही वस्तु है। यह आठों ही अंग निश्चय प्रधान हैं।

अब, इस निर्जरा अधिकार के अन्तिम कलश में चैतन्य नट का नाटक कहते हैं।

चैतन्य नट का नाटक (सवैया इकतीसा)

पूर्व बंध नासै सो तो संगीतकला प्रकासै,
नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलाप चारी करै सुर भरिकै॥
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छक्यौ महानंद मैं समाधि रीझि करिकै।
सत्ता रंगभूमि मैं मुकत भयौ तिहूं काल,
नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै॥ ६१॥

अर्थ – सम्यग्दृष्टिरूपी नट, ज्ञान का स्वाङ्ग बनाकर सत्तारूप रङ्गभूमि पर मोक्ष होने के लिये सदा नृत्य करता है; पूर्वबन्ध का नाश उसकी गायन विद्या है, नवीन बन्ध का संवर मानों उसका ताल तोड़ना है, नि:शङ्कित आदि आठ अङ्ग उसके सहचारी हैं, समता का अलाप स्वरों का उच्चारण है, निर्जरा की ध्वनि हो रही है, ध्यान का मृदङ्ग बजता है, समाधिरूप गायन में लीन होकर बड़े आनन्द में मस्त है।

www.vitragvani.com

काव्य-६१ पर प्रवचन

बनारसीदासजी ने क्या पद्य बनाये हैं!! यह पुस्तक आने पर लोग बहुत प्रसन्न होते हैं.... कागज मोटा, पुस्तक बड़ी, दिखने में सुन्दर, इस पुस्तक की बहुत माँग आयी है।

पद्य के अन्तिम शब्द का अर्थ पहले लिया है कि सम्यग्दृष्टि नट ज्ञान का स्वांग लेकर, अपनी अस्ति में शुद्ध द्रव्य, गुण, पर्याय में सदा नाचता है। किसलिए? मोक्ष होने के लिए यह नट व्यवहार में या राग में नहीं नाचता है; निर्मल पर्याय में नाचता है। सम्यक्त्व स्वयं पर्याय है, ज्ञान का स्वांग धारण किया है, वह भी पर्याय है।

शुद्ध चैतन्यवस्तु का अनुभव हुआ, फिर वह ज्ञानी जीव अपनी अस्ति में ही नाचता है, अपनी सत्ता से बाहर आता ही नहीं। आगे मोक्ष अधिकार में आयेगा कि अपनी सत्ता में रहता है, वह साहूकार है और सत्ता से बाहर जाता है, वह चोर है। द्रव्य से शुद्ध, गुण से शुद्ध और पर्याय से विशुद्ध - ऐसा अपना अस्तित्व है, उसे ही ज्ञानी अनुभव किया करता है। उसमें पूर्व बन्ध का नाश होता है, वह गायन विद्या है। नाचनेवाले होते हैं, वह गायन भी गाते हैं न!

हमने छोटी उम्र में बड़ोदरा में 'अनुसईया सती' का बहुत वैराग्यवाला नाटक देखा था, उसमें माता बालक को सुलाते समय लोरियाँ गाती है। बेटा! शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि, निर्विकल्पोऽसि उदासीनोऽसि... बालक को पहले से ऐसे संस्कार डालना चाहिए। शास्त्र में आता है कि 'शास्त्र से ज्ञान नहीं होता' तो किसी को ऐसा लगता है कि अभी तो शास्त्र पढ़ने बैठते हैं, वहाँ पहले से ऐसी बात सीखना? हाँ, शास्त्र स्वयं ज्ञान नहीं है, इसलिए जिसमें ज्ञान नहीं होता, उससे ज्ञान कैसे होगा? तथा शास्त्र तो पर है, उसके निमित्त से जो ज्ञान होता है, वह तो स्वयं से होता है, तथापि वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। चैतन्य के अन्तर्लक्ष्य से जो ज्ञान होता है, वही वास्तविक ज्ञान है परन्तु इतना लम्बा नहीं कहकर शास्त्र से हुआ ज्ञान अपना है और सच्चा है, इसलिए उसका अवलम्बन लेकर अन्तर्लक्ष्य करनेवाले को सम्यग्ज्ञान होता है; इस कारण शास्त्रज्ञान को भी ज्ञान कहा है - ऐसी शैली ली है।

शास्त्र की शैली ऐसी है, इसीलिए सम्यग्ज्ञान दीपिका में कहा है कि जैसे हाथी के

www.vitragvani.com

चबाने के और दिखाने के – ऐसे दो प्रकार के दाँत होते हैं; इसी प्रकार शास्त्र में निश्चय के और व्यवहार के ऐसे दो प्रकार के कथन होते हैं।

यहाँ अभी नाटक करनेवाली मण्डली को लाकर पण्डित टोडरमलजी का नाटक किया था परन्तु उसमें टोडरमलजी की बात तो थोड़ी और लड़कियों के नाच-गान अधिक... अरे! कहा, यह क्या? इसमें तो समय बिगड़ता है। टोडरमलजी का नाटक है, उसमें उनकी स्थिति की तो पूरी बात आना चाहिए न! नाच-गान का क्या काम है? यह तो धार्मिक स्थान है। यहाँ तो श्रद्धा-ज्ञान अथवा वैराग्य की बात जिसमें हो – ऐसे ही नाटक हो सकते हैं। यह दो – श्रद्धा-ज्ञान और वैराग्य के अतिरिक्त नाच-गान की बात यहाँ नहीं होती। फिर कोई बचाव करता था कि यह तो आपकी भक्ति करते थे। अरे! यहाँ भक्ति का क्या काम है? टोडरमलजी की स्थिति पूरी बताना चाहिए। वह तो बहुत थोड़ा आया और यह सब ही बढ़ गया। नाच-गान तो नट लोग करते हैं, उसमें क्या देखने का है?

यहाँ तो कहते हैं कि इस समकिती नट के नाच में नि:शंकित आदि मित्र उसके सहचारी हैं-सखी हैं-जोड़ीदार हैं और समता... निर्विकल्पता... वीतरागता – ऐसे सुरों का उच्चारण है। समकिती नट के नाटक में ऐसा सब होता है। निर्जरा की ध्वनि होती है, अशुद्धता मिटाता है, ध्यानरूपी मृदंग द्वारा स्वरूप में एकाग्रता हो रही होती है; समाधि -रागरहित एकाग्रता की शान्ति के गायन में लीन ऐसे समकिती महा आनन्द में मस्त हो जाता है। समकिती हमेशा अपनी सत्ता भूमि में ऐसे स्वांग रचकर आनन्द करता-करता मोक्ष प्राप्त करता है।

अब, इस सातवें निर्जरा अधिकार का सार कहते हैं।

सातवें अधिकार का सार

संसारी जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को भूले हुए हैं, इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्महित करने की भावना ही नहीं होती। यदि कभी इस विषय में उद्योग भी करते हैं तो सत्यमार्ग नहीं मिलने से बहुधा व्यवहार में लीन होकर संसार को ही बढ़ाते हैं और अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञान की खूंटी का सहारा मिलने पर गृहस्थ-मार्ग और परिग्रह-संग्रह की उपाधि रहने पर भी जीव संसार की चक्की में नहीं पिसता

www.vitragvani.com

और दूसरों को जगज्जाल से छूटने का रास्ता बतलाता है। इसलिए मुक्ति का उपाय ज्ञान है, बाह्य आडम्बर नहीं; और ज्ञान के बिना सम्पूर्ण क्रिया बोझा ही है। कर्म का बन्ध अज्ञान की दशा में ही होता है।

जिस प्रकार कि रेशम का कीड़ा अपने आप ही अपने ऊपर जाल पूरता है; उसी प्रकार अज्ञानी अपने आप ही शरीर आदि से अहंबुद्धि करके अपने ऊपर अनन्त कर्मों का बन्ध करते हैं, पर ज्ञानी लोग सम्पत्ति में हर्ष नहीं करते, विपत्ति में विषाद नहीं करते; सम्पत्ति और विपत्ति को कर्मजनित जानते हैं, इसलिए उन्हें संसार में न कोई पदार्थ सम्पत्ति है न कोई पदार्थ विपत्ति है, वे तो ज्ञान-वैराग्य में मस्त रहते हैं। उनके लिये संसार में अपने आत्मा के सिवाय और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिससे वे राग करें और न संसार में कोई ऐसा पदार्थ है, जिससे वे द्वेष करें। उनकी क्रिया फल की इच्छारहित होती है, इससे उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता, क्षण-क्षण पर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। उन्हें शुभ-अशुभ, इष्ट-अनिष्ट दोनों एक से हैं अथवा संसार में उन्हें कोई पदार्थ न तो इष्ट है, न अनिष्ट है। फिर राग-द्वेष किससे करेंगे? किससे संयोग-वियोग में लाभ-हानि गिनेंगे? इससे विवेकवान जीव, लोगों के देखने में धनी हों, चाहे निर्धन हों वे तो आनन्द ही में रहते हैं। जब उन्होंने पदार्थ का स्वरूप समझ लिया और अपने आत्मा को नित्य और निराबाध जान लिया तो उनके चित्त में सप्त प्रकार का भय नहीं उपजता और उनका अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, जिससे अनन्त कर्मों की निर्जरा होती है।

सार पर प्रवचन

संसारी जीव अनादि काल से अपना स्वरूप भूले हुए हैं। निर्जरा का अनुभव तो कभी किया नहीं, इसलिए अनादि से दु:खी हैं। स्वरूप का अज्ञान होने से उसे प्रथम तो आत्महित करने की भावना ही नहीं होती। देखो न! मनुष्य भव में जन्मे, फिर बालकपन तो व्यर्थ जाता है, युवावस्था आवे, विवाह करे, बालक हों, दुकान अच्छी चले, उद्योगपति नाम हो और अन्त में मर जाये - इसमें आत्महित की तो भावना भी नहीं होती है। मेरा क्या होगा, मेरा हित कैसे होगा? - उसकी तो चिन्ता ही नहीं है और बाहर की होली में समय व्यतीत कर देता है।

www.vitragvani.com

यदि किसी समय आत्महित के विषय में प्रयत्न भी करता है तो सच्चा मार्ग प्राप्त नहीं होने से अधिक से अधिक व्यवहार में लीन होकर संसार को ही बढ़ाता है। दया पालना, व्रत पालना, तपस्या करना, यात्रा करना, यह सब व्यवहार मार्ग – बन्ध मार्ग है। धर्म के नाम से शुभभाव करके संसार बढ़ाता है, क्रिया में एकाकार होकर अनन्त कर्म का बन्ध करता है। कथन भी ऐसे लिखता है कि एक बार यात्रा करनेवाला भव से पार हो जाता है।

यहाँ तो कहते हैं कि तीन लोक के नाथ तीर्थंकर की यात्रा अनन्त बार करे तो भी भव का नाश नहीं होता। भक्तिपूर्वक शुभभावना से यात्रा करे तो भी शुभबन्ध होता है; बन्ध का अभाव नहीं होता। व्यवहार की क्रिया में रुकना, धर्म प्रभावना के कार्य में रुकना, शास्त्र बनाने में रुकना – इसमें धर्म कहीं नहीं आया। सत्य मार्ग का उपदेश सुनकर समझने का तो उसमें कहीं नहीं आया, अपितु क्रिया को अपनी मानकर अनन्त कर्म बढ़ाता है।

सम्यग्ज्ञानरूपी खूँटे का सहारा मिलने से गृहस्थ मार्ग और परिग्रह संग्रह की उपाधि होने पर भी, जीव संसार की चक्की में नहीं पिसता है। सम्यग्ज्ञान में ज्ञान विकल्प से भिन्न पड़ गया है और बाहर की क्रिया से तो भिन्न है ही। इसलिए गृहस्थाश्रम में होने पर भी पुण्य-पाप की चक्की के पाट में वह पिसता नहीं है। मैं शुभाशुभ विकल्प से पृथक् हूँ – ऐसा भान हुआ है; इसलिए वह शुभाशुभ में पिलता नहीं है और दूसरे को भी जगत् की जाल में से छूटने का मार्ग बतलाता है। ज्ञानी उपदेश में भी 'तू पर से पृथक् है, और पृथक् हो' – ऐसा उपदेश देते हैं और छूटने का उपाय बतलाते हैं। स्वयं राग और निमित्त से पृथक् पड़ गया है और पृथक् स्वभाव के भान में वर्तता है; इसलिए दूसरे से भी वही बात करता है। राग कर! राग से लाभ होगा, राग से मोक्ष होगा – ऐसा उपदेश धर्मी नहीं करते हैं। इसलिए मुक्ति का उपाय ज्ञान है, बाह्य आडम्बर नहीं। अन्तरस्वरूप की श्रद्धा, अन्तर का ज्ञान और ज्ञान में एकाग्रता यह मुक्ति का उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

संसारी जीव अनादि काल से अपने स्वरूप को भूला हुआ है। शुद्ध चैतन्य आत्मा को वह अनादि काल से भूला हुआ है। इस कारण प्रथम तो उसे आत्महित करने की

www.vitragvani.com

भावना ही नहीं होती। यदि किसी समय इस सम्बन्ध में प्रयत्न करता है तो सत्यमार्ग नहीं मिलने से अधिकतर तो व्यवहार में लीन होकर संसार को ही बढ़ाता है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम करता है परन्तु वह तो राग है, दूसरे को बचाने का भाव करता है परन्तु अपने को विकार से बचाने का तो पता नहीं है।

कितने ही लोगों को तो व्यवहारधर्म का भी पता नहीं होता है। कितनों को ही व्यवहारधर्म मिलता है तो उसमें ही रुक जाते हैं। विकाररहित आत्मा के आनन्दमय धर्म की बात उन्हें कभी नहीं मिली है। क्रियाकाण्ड में लीन रहकर संसार को बढ़ाते हैं। दो, चार, दस, बीस या पच्चीस उपवास करके मैंने आहार छोड़ा उसका अभिमान करते हैं, वह तो लंघन है। आत्मा के भान बिना उपवास कहाँ से होगा? आत्मा के भान बिना व्रत करे, पूजा करे, मन्दिर बनावे, तप करे, इत्यादि सब क्रिया उसके संसार को बढ़ाती है – मिथ्यात्व और अज्ञान को ही पुष्ट करती है। राग है, वह वृत्ति का उत्थान है, उसे अपना स्वरूप मानकर वह अनन्त कर्मों का बन्ध करता है।

भगवान... भगवान... के नाम की माला जपे, वह भी राग है, वीतरागता नहीं। भगवान का मार्ग पूरी दुनिया से अलग प्रकार का है। राग से धर्म होगा – ऐसा भगवान नहीं कहते हैं। राग से भिन्न वीतरागता का मार्ग इसे सुनने को नहीं मिलता, इसलिए बहुभाग लोग व्यवहार मार्ग में लवलीन रहते हैं और अनन्त कर्मों का बन्ध बढ़ाते हैं।

ज्ञानमूर्ति चैतन्य आत्मा अकेला ज्ञाता-दृष्टा है – ऐसी जहाँ अनुभव की दृष्टि प्राप्त हुई, वहाँ तो उसे ध्रुव का वज्र का खूँटा मिल गया। मैं अनादि-अनन्त चैतन्यमूर्ति हूँ; दया, दान, व्रत की वृत्ति मेरे स्वरूप में नहीं है – ऐसे भान में धर्मी जीव, पुण्य-पाप के चक्र में नहीं पिसता है। शुभाशुभभाव होते हैं, वह संसार की चक्की है। उसमें अनाज की तरह अज्ञानी जीव पिस रहा है। धर्मी जीव इस शुभाशुभभाव से बनी हुई कर्म की चक्की में नहीं पिसता और दूसरे को भी इस जगत् जाल में से छूटने का मार्ग बतलाता है कि समस्त जीव राग से भिन्न पड़कर चैतन्य का अनुभव करो। पुण्य -पाप से आत्मा को धर्म नहीं होता; आत्मा का धर्म आत्मा के अनुभव से होता है — ऐसा उपदेश धर्मी देता है।

www.vitragvani.com

चैतन्य खूँटे का अनुभव हुआ, उसे वस्तु का सहारा मिल गया। अब वह चैतन्य सहारावन्त धर्मी, शुभाशुभ विकल्प मेरे हैं – ऐसी संसार की चक्की में नहीं पिसता। धर्मी, राग से भिन्न रहकर अपनी स्वभाव क्रिया करता है।

मुक्ति का उपाय तो ज्ञान है। शुभाशुभ क्रिया से भिन्न आत्मा के स्वरूप का ज्ञान और अनुभव करना, वह मोक्ष का उपाय है; बाह्य क्रियाएँ कहीं मोक्ष का उपाय नहीं हैं। व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि का विकल्प... यह सब बाह्य आडम्बर है। ज्ञान के बिना समस्त क्रियाएँ भार ही हैं। मैं शुद्ध चैतन्य हूँ – ऐसे भान बिना यह सब राग की क्रियाएँ बोझरूप है, भाररूप है, दु:खरूप है, उन्हें फिर सेठ लोग अनुमोदन करके पोषण देते हैं कि 'अष्टमी की हो, उन्हें पाँच-पाँच रुपये इनाम' — सेठ लोगों को ऐसा लगता है कि हम नहीं कर सकते परन्तु अनुमोदन तो दें! परन्तु उन्हें पता नहीं है कि यह मिथ्यात्व का अनुमोदन है, इसमें डबल नुकसान है। अपने मिथ्यात्व को पुष्टि मिलती है और दूसरे के मिथ्यात्व को भी पुष्टि मिलती है।

इसमें, व्रतादिक के परिणाम न हों – ऐसा नहीं कहना है। समकिती होने के बाद भी ऐसे परिणाम होते हैं परन्तु उनका आदर नहीं होता, उनमें धर्मबुद्धि नहीं होती, अपितु हेयबुद्धि होती है। कठिन लगे ऐसी बात है। 'परिणाम होते हैं और कर्ता नहीं होता।' राग से भिन्न आत्मा का स्वरूप अनुभव में आने के बाद राग के आदर की या राग को करने की बुद्धि ही खड़ी नहीं होती, फिर भी राग के परिणाम होते हैं।

सम्यक्त्व के बिना राग की क्रिया तो अनन्तबार की है परन्तु कल्याण नहीं हुआ। राग की क्रिया तो बोझ है-दु:ख है। शुभराग की क्रिया करके अनेक बार नौवें ग्रैवेयक जा आया परन्तु सात व्यसन के पाप से भी बड़ा ऐसा मिथ्यात्व का पाप तो उसे लगा हुआ ही है। राग मेरा है, राग की क्रिया मुझे करने योग्य है, क्रिया धर्म का साधन है – ऐसे भाव से होनेवाली क्रिया तो विपरीत मान्यता के शल्य का पोषण करनेवाली है। आगे आयेगा कि क्रिया मोक्ष की कतरनी / कैंची है। उपवास करें, फिर बाद में उसकी शोभायात्रा निकाले, बीस-बीस लाख के उपाश्रय बनाये और सेठ होकर घूमे... यह सब बोझ है, राग है; यह दु:ख का बोझ है।

www.vitragvani.com

कर्म का बन्ध अज्ञान की दशा में ही होता है। राग से भिन्नता का भान नहीं है, इसलिए राग में एकत्वबुद्धि से अज्ञानदशा में कर्मों का बन्धन होता है। जैसे, रेशम का कीड़ा स्वयं स्वत: ही अपने ऊपर जाल लपेटता है; इसी प्रकार अज्ञानी स्वयं स्वत: ही शरीरादि में अहंबुद्धि करके अपने पर अनन्त कर्मों का बन्ध करता है। स्वयं ही अज्ञान की लार में लिपट जाता है। धर्म के स्वरूप के भान बिना साधु हो, महाव्रत पालन करे, कोई चमड़ी उतार कर नमक छिड़क दे तो भी कषाय नहीं करे – ऐसे भाव के फल में नौवें ग्रैवेयक जाता है परन्तु इस महाव्रतादि की क्रिया से धर्म होगा – ऐसी मिथ्यात्व की मान्यता से अनन्त कर्मों की जाल में लिपटता है। शरीर की क्रिया मेरी है, राग की क्रिया मेरी है, करने योग्य है; इस प्रकार शरीर और रागादि में अहंबुद्धि करके अज्ञानी अपने पर अनन्त कर्मों का बोझ बढ़ाता है।

चैतन्य भगवान तो ज्ञाता–दृष्टा है और अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। उसके स्वभाव में राग की क्रिया का निषेध है। ऐसे स्वभाव के भान बिना अज्ञानी, राग की क्रिया करके मैंने मेरा हित किया – ऐसे अभिमान को और राग में मैंपने की बुद्धि को सेवन करता है। राग से भिन्न अपने अहंपने का पता नहीं है, इसलिए राग में अहम् करके उसमें लाभ मानता है।

ज्ञानी, सम्पत्ति में हर्ष नहीं करते, विपत्ति में विषाद नहीं करते। धर्मी गृहस्थाश्रम में अनेक प्रकार की सम्पत्ति के मध्य खड़े हों, सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती छियानवें करोड़ सैनिक और छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द के मध्य खड़े हों, तथापि उस समस्त सम्पत्ति को अपनी नहीं मानते हैं। मेरी चीज तो मेरे पास है। ज्ञान और आनन्दमय मेरा स्वरूप ही मेरी सम्पत्ति है। इस प्रकार धर्मी को अपनी सम्पत्ति, अपने अन्दर में भासित होती है; बाहर की सम्पत्ति अपनी भासित नहीं होती, इसलिए उसमें हर्ष नहीं करता और असाता के उदय में प्रतिकूलता के ढेर हों — शरीर में क्षयरोग हो, बाँझपना हो, कुँवारापना हो, काले मस जैसा शरीर हो, अकेला हो, कमाई करना न आता हो, अर्थात् कमाई न होती हो,.... वरना होशियारी से कमाई नहीं होती है – ऐसी अनेक प्रतिकूलता के बीच भी धर्मी विषाद नहीं करते है क्योंकि वह प्रतिकूलता को अपना नहीं मानते हैं।

www.vitragvani.com

जहाँ शरीर के रजकण भी आत्मा से भिन्न हैं, वहाँ धन, मकान आदि तो अत्यन्त भिन्न द्रव्य है; वे प्रत्येक अपने द्रव्य, गुण, पर्याय में रहनेवाले तत्त्व हैं, उनकी क्रिया आत्मा से भिन्न है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं का होकर रहा है, आत्मा के कारण नहीं रहा है। शरीर, मन आदि सम्पत्ति अजीव है और अजीव होकर ही रही है, उसे अपना माननेवाला मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। भले ही वह धर्मी नाम धराता हो, सामायिक, प्रौषध आदि करता हो परन्तु सम्पत्ति मेरी है – ऐसा मानता है तो वह मूढ़ है। धर्मी सम्पत्ति को अपनी नहीं मानता है, पुण्य के फल में सन्ध्या के रंग खिलें, वैसे ही सम्पत्ति के ढेर दिखते हैं परन्तु धर्मी उस पुण्य को या पुण्य के फल को अपना नहीं मानता है, इसलिए उन्हें सम्पत्ति के संयोग से हर्ष नहीं होता है।

धर्मी को विपत्ति में विषाद भी नहीं होता है कि अरे! यह पाप करनेवाले लोगों के शरीर निरोग हैं; उन्हें सब सुविधा है और मैं धर्मी होने पर भी मुझे असुविधा क्यों? इस प्रकार धर्मी को विषाद नहीं होता है। पाप का उदय होवे तो शरीर में रोग तो होता है परन्तु कदाचित् नरक के संयोग में भी होता है। जैसे कि श्रेणिक राजा सम्यग्दृष्टि होने पर भी नरक में है, तीर्थंकरनामकर्म बाँधा है, इसलिए वहाँ से निकलकर यहाँ पहले तीर्थंकर होनेवाले हैं; फिर भी नरक के संयोग में हैं, इसलिए अपने को दु:खी नहीं मानते हैं। मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु हूँ, मैं नारकी नहीं हूँ – ऐसा मानते हैं। धर्मी गति को, कर्म को, संयोग को अपना नहीं मानते हैं; इसलिए उन्हें प्रतिकूलता में द्वेष नहीं है और अनुकूलता में ज्ञानी को हर्ष नहीं है।

अज्ञानी को तो जरा अनुकूलता आवे, वहाँ बादशाही लगती है। लड़के अच्छे काम धन्धे लग गये हैं और लड़कियों का विवाह अच्छी जगह हो गया है, अभी मुझे सब अच्छा है – ऐसा मानता है। भाई! जड़ की अवस्था से अपने को सुखी मानता है, यही तेरी मूढ़ता है।

लोगों की मान्यता से धर्म बहुत अलग पड़ जाता है। धर्म को और लौकिक मान्यताओं को पूर्व-पश्चिम का अन्तर है।

धर्मी, सम्पत्ति और विपत्ति को कर्मजनित मानता है। अघातिकर्म के निमित्त से

www.vitragvani.com

संयोग मिलते हैं और घातिकर्म के निमित्त से राग होता है; इसलिए संयोग और रागादिक विभाव को धर्मी अपना नहीं मानता है, कर्मजनित मानता है। कर्म के निमित्त के संग में हुए राग-द्वेष की वासना का विकल्प, आस्रव है, उपाधि है; मेरा स्वरूप नहीं है। मैं उनमें नहीं और वे मेरे स्वरूप में नहीं हैं। अघातिकर्म से प्राप्त हुई बाहर की बादशाही भी मेरी नहीं है। चक्रवर्ती के राज में हम नहीं हैं और वह हमारे में नहीं है। हम तो आत्मा हैं, हमारे मैं तो ज्ञानानन्द भरा हुआ है। राग या सम्पत्ति हमारे में भरी हुई नहीं है। सम्पत्ति के बीच रहनेवाला धर्मी अपने को उससे भिन्न मानता है।

धर्मी तो ज्ञान-वैराग्य में मस्त रहता है। देखो, भाषा! अपना ज्ञान और राग से वैराग्य - इन दो में धर्मी मस्त है। ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान। मैं विकल्पमात्र से भिन्न हूँ - ऐसा ज्ञान और राग से रहित दशा, वह वैराग्य है। चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वी को ऐसी दशा होती है। उनके लिए संसार में अपनी आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि जिसके ऊपर वे राग करें और संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जिसके प्रति वे द्वेष करें। संसार में ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है। शुभराग आता है, उसका भी धर्मी राग नहीं करता अर्थात् अपना नहीं मानता। मैं तो मेरे जानने-देखने के स्वभाव में रहता हूँ। राग-द्वेष के परिणाम में मैं नहीं हूँ - ऐसा जानने से ज्ञानी शुभराग में राग और अशुभराग में द्वेष नहीं करता; ज्ञाता रहता है।

ज्ञानी की क्रिया फल की इच्छा रहित होती है। रागादि आते हैं परन्तु उन्हें अपना स्वरूप नहीं मानते, इसलिए उनके फल की इच्छा ज्ञानियों को नहीं होती है। पुण्य किया है तो भविष्य में सुविधाएँ मिलें - ऐसी धर्मी को इच्छा नहीं होती है। मैं सत् चिदानन्द आनन्द की मूर्ति हूँ - ऐसा अनुभव करने से धर्मी को भगवान की पूजा का, भक्ति का, वन्दन का, नाम स्मरण का शुभभाव तो आता है परन्तु उसे अपना स्वरूप नहीं मानते हैं। उसमें उपादेयबुद्धि नहीं तो उसके फल को कैसे चाहेंगे? फल की चाहना नहीं होने से ज्ञानी को कर्मों का बन्धन नहीं होता है। आहा...हा...! समकिती को कर्म का बन्धन नहीं है। जिसके स्वभाव में पूर्ण ज्ञान, आनन्द शान्ति की सम्पत्ति पड़ी है, उसका अनुभव, ज्ञान और प्रतीति वर्तती है, उसे राग के भाग का स्वामीपना नहीं है-मालिकपना नहीं है; उसे

www.vitragvani.com

राग की कर्ताबुद्धि नहीं है, राग को ज्ञेयरूप से जानता है; राग के फल को नहीं चाहता, उसे कर्मबन्धन नहीं होता है। कर्मबन्धन के कारण जो भाव हैं, वे मेरे नहीं हैं – ऐसा माननेवाले सम्यक्त्वी को मिथ्यात्वकर्म कैसे बँधेगा?

वीतराग का कहा हुआ धर्म तो वीतरागतामय होगा न! राग में धर्म मनावे, उसे वीतराग कैसे कहा जाएगा? राग में धर्म माने, वह सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। जिसे पूर्णानन्दस्वरूप का भान हुआ है, उसे प्रतिक्षण रागादिक मिटते जाते हैं, इसलिए क्षण-क्षण में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। अज्ञानी महाव्रतादि की क्रिया करता है परन्तु राग को अपना मानता है, इसलिए क्षण-क्षण में अनन्त संसार को बढ़ाता है क्योंकि वह राग को पालता है – पोषता है – राग की रक्षा करता है और भगवान आत्मा की रक्षा नहीं पालता, इसलिए कर्मों से बँधता है। वीतराग का मार्ग तो ऐसा है, बापू!

श्रोता : यह मार्ग कब से है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मार्ग अनादि का है। वीतराग अनादि से और यह मार्ग अनादि से कहते आये हैं। महाविदेह में तो भगवान की उपस्थिति त्रिकाल वर्तती है।

आत्मा क्या चीज है? – उसकी लोगों को महिमा नहीं है। आत्मा अर्थात् परमात्मा है। भाई! इस वर्षाऋतु में पंखवाले जीव उत्पन्न हो जाते हैं न! उनमें भी भगवान आत्मा है। तू शरीर को न देख, राग को न देख, कर्म को न देख... वे कोई आत्मा नहीं हैं। आत्मा अन्दर में शुद्ध आनन्दकन्द है, उसे देख! वे सब परमेश्वर जीव हैं-परमेश्वर स्वरूप हैं परन्तु तुझे आत्मा को देखना नहीं आता। शरीरवाला और शरीर की क्रियावाला आत्मा नहीं है; रागवाला और राग की क्रियावाला आत्मा नहीं है। नवतत्त्व हैं न? उनमें जीवतत्त्व अलग है, अजीवतत्त्व अलग है और पुण्य-पाप आदि तत्त्व अलग है। पुण्य-पाप, वह आस्रवतत्त्व है, वह आत्मा के स्वरूप में नहीं है, आत्मा का स्वरूप आस्रव से रहित है। आस्रव तो नये आवरण का कारण है।

ज्ञानी को शुभ-अशुभ, इष्ट-अनिष्ट दोनों एक समान हैं अथवा संसार में उन्हें कोई पदार्थ न तो इष्ट है या न अनिष्ट है तो फिर किसके प्रति राग-द्वेष करें? शुभ और अशुभ दोनों भाव, बन्ध के कारण हैं, इसलिए समान हैं और अनुकूल-प्रतिकूल सामग्रियाँ मात्र

www.vitragvani.com

ज्ञेय हैं; वे कोई ज्ञानी को इष्ट या अनिष्ट नहीं है। कोई ज्ञेय मेरे नहीं है, मुझमें नहीं है, मुझसे आये नहीं हैं। जो मेरा हो, वह तो मुझे शान्ति और आनन्द दे। यह कोई परज्ञेय मेरे नहीं हैं – ऐसा जानने से ज्ञानी को किसी संयोग में इष्ट-अनिष्टबुद्धि नहीं होती है। कदाचित् नरक का संयोग आ पड़ा हो तो उसमें ज्ञानी को अनिष्टबुद्धि नहीं है और स्वर्ग का अहमिन्द्र का भव मिला हो, उसमें इष्टबुद्धि नहीं होती। किसी पद को ज्ञानी इष्ट या अनिष्ट नहीं मानते हैं। मेरे पद में राग का पद भी नहीं तो संयोग का पद मुझ में कहाँ से आयेगा? मुझे ये सब परज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं।

अज्ञानी परज्ञेय में इष्ट अनिष्ट की कल्पना करता है। कल्पना बदलने में देर नहीं लगती। लड़का बहुत इष्ट लगता हो परन्तु जहाँ कुछ फेरफार होता है, वहाँ अनिष्ट लगने लगता है। मेरे उत्तराधिकार का भाग भी उसे नहीं दूँगा – इतना विवाद हो जाता है। लड़के को भी पिता से असन्तोष होने लगता है। कुणिक ने अपने पिता श्रेणिक को जेल में रख दिया था न! अज्ञानी को ऐसे इष्ट-अनिष्ट के भाव हुआ ही करते हैं। ज्ञानी को तो एक आत्मा ही मेरा है, जगत में मेरे लिए कोई इष्ट या अनिष्ट नहीं है – ऐसा भाव वर्तता है। इसलिए किसके प्रति राग या द्वेष करे? अस्थिरता के कारण राग-द्वेष हो जाते हैं, वह कोई वस्तु नहीं है। धर्मात्मा ही उसे कहते हैं कि जिसकी दृष्टि आत्मा पर है और अन्य कोई इष्ट-अनिष्ट नहीं है। कोई वस्तु स्वयं अच्छी या बुरी नहीं है तो धर्मी को उसमें इष्ट-अनिष्टबुद्धि कैसे होगी? अज्ञानी को तो कल्पना से वस्तु इष्ट और अनिष्ट भासित होती है।

जगत् में कोई पदार्थ इष्ट या अनिष्ट नहीं है। अत: धर्मी भी किस वस्तु के संयोग में लाभ-हानि गिने? संयोग तो परचीज है, उससे मुझे लाभ या हानि किस प्रकार होंगे? प्रिय में प्रिय राजकुमार जैसे पुत्र का विवाह होता हो, उसका हर्ष नहीं और छह महीने बाद वह मर जाये तो उससे शोक नहीं। जहाँ पुत्र ही मेरा नहीं है, वहाँ हर्ष-शोक किसका? वियोग में प्रसंग में भी धर्मी को द्वेष नहीं है; धर्मी तो ज्ञाता है। संयोग में लेने-देने की क्रिया होती है, उसे भी समकिती अपनी क्रिया नहीं मानता है। जो वस्तु मेरी नहीं है, उसे देने की या लेने की क्रिया को अपनी मानना तो मूढ़ता है।

www.vitragvani.com

इसलिए विवेकी जीव, लोगों की नजर में चाहे धनवान हो या निर्धन हो; वह तो आनन्द में रहता है। लोगों को ऐसा दिखता है कि यह तो सधन है, बड़ी इज्जतवाला है, और पहले तो निर्धन था, इसे कोई कन्या भी नहीं देता था इत्यादि... परन्तु धर्मी तो चाहे जिस संयोग के बीच में आनन्द में ही रहता है। अपना स्वभाव त्रिकाल आनन्दस्वरूप है – ऐसा जहाँ भान हुआ, वहाँ सदा ही आनन्द है। उसे पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जीवतत्त्व, अजीवतत्त्व और आस्रवतत्त्व का स्वरूप भिन्न-भिन्न जान लिया है, उसमें अपनी आत्मा को नित्य और निरावाद जान लिया, इसलिए उनके चित्त में सात प्रकार का भय उत्पन्न नहीं होता है और उन्हें अष्टांग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, इसलिए अनन्त कर्मों की निर्जरा होती है।

यह अन्तिम सारांश किया है। धर्मी ऐसा जानता है कि मैं त्रिकाल हूँ और मेरे स्वरूप को कोई बाधा कर सके – ऐसा नहीं है। अनुभव से ऐसा भान हुआ है, इसलिए उन्हें कोई भय उत्पन्न नहीं होता। यह युवावस्था तो अच्छी है परन्तु वृद्धावस्था में मेरा क्या होगा? ऐसा इसलोक भय और परलोक में मैं कहाँ जाऊँगा? इस प्रकार का परलोक भय उन्हें उत्पन्न नहीं होता। वृद्धावस्था में व्यक्ति घर में नहीं सम्हाला जाता अथवा दुकान में नहीं पोषाता। दादा को भण्डार में डालो, यहाँ घर में सर्दी नाक छिनकते हैं, वह हमें नहीं रुचता... ऐसा करके, भण्डार में डालें... तो तू कहाँ भण्डार की चीज में है; तू तो तुझमें है।

कर्म मुझे नरक में ले जायेंगे तो! ज्ञानी को ऐसा डर नहीं लगता। मुझमें गति नहीं है और मैं गति में नहीं हूँ। जिसने वस्तुस्वरूप जान लिया है, उसे कोई विघ्न ही नहीं है। नि:शंक, निकांक्ष, निर्विचिकित्सा आदि भाव वर्तते होने से ज्ञानी को क्षण-क्षण में अनन्त कर्म गल जाते हैं। ज्ञानी को उपवास न करे तो भी कर्म गल जाते हैं और अज्ञानी उपवास करे तो भी प्रतिक्षण मिथ्यात्व का पोषण होता है। यह क्रिया मैंने की, यह राग मेरा कर्तव्य है – ऐसे मिथ्यात्व को दृढ़ करता है, उसे पर की क्रिया मेरी नहीं है और राग छोड़ने योग्य है – आदरणीय नहीं है – ऐसा तो भान नहीं है; इसलिए अजीव का स्वामी होकर मिथ्यात्व का सेवन करता है।

www.vitragvani.com

धर्मी को तो अपने आत्मस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, और शान्ति वर्तती है। इसके अतिरिक्त जगत् की कोई चीज अपनी नहीं मानता। शुभविकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है। कोई पर चीज मेरे अस्तित्व में नहीं है, उसके कारण आती है और उसके कारण जाती है; मेरे कारण से कोई चीज आयी नहीं और जाती नहीं।

देखो! यह धर्म और धर्मी का रूप! ऐसे रूप के कारण धर्मी को निर्जरा होती है। यह निर्जरा अधिकार पूर्ण हुआ। अब, बन्ध अधिकार आयेगा।

सिर पर मौत मंडरा रही है

मरण तो आना ही है, तब सब कुछ छूट जाएगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दुःख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक साथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा? मरण की वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' - ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा, परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा? तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर लें, आस-पास खड़े हुए अनेक सगे -सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रही है' - ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू पुरुषार्थ जगा कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके। — *बहिनश्री के वचनामृत, क्रमाङ्क ४१२*

८ बन्ध द्वार

प्रतिज्ञा (दोहा)

कही निरजरा की कथा, सिवपथ साधनहार।
अब कछु बंध प्रबंध कौ, कहूं अलप विस्तार॥ १॥

अर्थ – मोक्षमार्ग सिद्ध करनेवाले निर्जरातत्त्व का कथन किया, अब बन्ध का व्याख्यान कुछ विस्तार करके कहता हूँ।

काव्य-१ पर प्रवचन

यह श्री नाटक समयसार शास्त्र का बन्ध अधिकार शुरु होता है।

आत्मा शुद्ध पवित्र है – ऐसा अनुभव होने पर उसे कर्म की और अशुद्धता की निर्जरा होती है। वह अनुभव शुद्धोपयोगरूप है और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है, उसे ही यहाँ निर्जरा कहा है। अब यहाँ बन्धतत्त्व के स्वरूप का थोड़ा कथन करते हैं – ऐसा कहकर मङ्गलाचरण करते हैं।

मङ्गलाचरण (सवैया इकतीसा)

मोह मद पाइ जिनि संसारी विकल कीने,
याही तैं अजानुबाहु बिरद बिहतु है।
ऐसौ बंध-वीर विकराल महा जाल सम,
ग्यान मंद करै चंद राहु ज्यौं गहतु है॥
ताकौ बल भंजिवेकौं घट मैं प्रगट भयौ,
उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है।
सो है समकित सूर आनंद-अंकूर ताहि,
निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है॥ २॥

www.vitragvani.com

अर्थ – जिसने मोह की शराब पिलाकर संसारी जीवों को व्याकुल कर डाला है, जिसकी घुटने तक लम्बी भुजाएँ हैं – ऐसी संसार में प्रसिद्धि है, जो महाजाल के समान है, और जो ज्ञानरूपी चन्द्रमा को प्रभारहित करने के लिए राहु के सदृश है – ऐसे बन्धरूप भयङ्कर योद्धा का बल नष्ट करने के लिए जो हृदय में उत्पन्न हुआ है, जो बहुत बलवान महान और पुरुषार्थी है; ऐसे आनन्दमय सम्यक्त्वरूपी योद्धा को पण्डित बनारसीदासजी बार-बार नमस्कार करते हैं।

काव्य-२ पर प्रवचन

राग की एकतारूपी बन्धभाव, वह भावबन्ध है। राग, वह मैं हूँ – ऐसी महामिथ्यात्व की मदिरा पी है, उस मदिरा के नशे से संसारी अज्ञानी जीव पागल बन गया है। विकारीभाव-बन्धभाव-शुभाशुभभाव मेरा है – ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उससे जीव व्याकुल बन रहे हैं।

ऐसौ बंध-वीर विकराल महा जाल सम,... योद्धा का लक्षण ऐसा आता है कि योद्धा खड़ा हो तो उसके हाथ-पैर के घुटनों तक पहुँचें – इतने लम्बे हों, उसे बड़ा योद्धा-अजातबाहु कहा जाता है। उसके जैसा यह मिथ्यात्व बड़ा योद्धा है। मिथ्यात्व का विस्तार बहुत लम्बा है। आनन्दस्वरूप चैतन्य को भूलकर शुभाशुभभाव में और शरीरादि में एकत्व माननेवाला मिथ्यात्व योद्धा कोई छोटा नहीं है। उसने तो संसार में नाम निकाला है कि मैं मिथ्यात्वरूपी महायोद्धा हूँ। आत्मा अबन्धस्वरूप होने पर भी मिथ्यात्व ने बड़ी विकराल जाल बिछायी है। मिथ्यात्व से ज्ञान की दशा भी हीन हो जाती है। शुभाशुभ विकारी वृत्तियाँ ही मेरा स्वरूप है – ऐसा माननेवाले भावबन्ध ने आत्मा की दशा हीन कर डाली है। जैसे चन्द्रमा को राहु आड़े आता है; इसी प्रकार राग, वह मैं – ऐसा मिथ्यात्वभाव है, वह चैतन्यचन्द्र को आड़े आता है। इसीलिए चैतन्य प्रकाश को वह रोकता है। निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक जानेवाले द्रव्यलिङ्गी साधु को भावबन्ध ने वश किया है। इसीलिए भावबन्ध ने जगत् में नाम निकाला है कि मैं जीवों को परिभ्रमण कराने में होशियार हूँ।

ताकौ बल भंजिवेकौं.... मिथ्यात्वरूपी भावबन्ध ने चैतन्य को पर्याय में हीन कर डाला था। उसके बल को मिटाने के लिए अन्तर में सम्यक्त्व का सूर्य प्रगट हुआ है। वह महा उद्यत है, किसी को गिने ऐसा नहीं है। एक आत्मा के आनन्दस्वभाव के अतिरिक्त

www.vitragvani.com

उसे किसी का स्वीकार नहीं है। सम्यक्त्व योद्धा, मिथ्यात्व योद्धा का नाश करने में समर्थ है – वह ऐसा बलवान, महान और पुरुषार्थी है।

रागादि की एकतारूप मिथ्यादर्शन, बन्ध का परिणाम है; जबकि सम्यग्दर्शन, अबन्ध परिणाम है। उस बन्धपरिणाम को नष्ट करने के लिए समकितरूपी सूर्य उदित हुआ है। अनन्त-अनन्त गुणस्वरूप भगवान आत्मा को जिसने प्रतीति में लिया – ऐसा सम्यक्त्वसूर्य बन्धभाव का नाश करता है। इस प्रकार इस श्लोक में बन्धभाव के नाश का उपाय भी साथ ही वर्णन करते हैं।

पर्यायमात्र में एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है। उसके फल में चार गति में परिभ्रमण का विस्तार है। इसलिए मिथ्यात्व के बल को नाश करने के लिए जिसका महान पुरुषार्थ है – ऐसे समकित सूर्य का उदय किया जाता है।

सो है समकित सूर आनंद-अंकूर ताहि,.... सम्यग्दर्शन का भोजन क्या है? नित्य अतीन्द्रिय आनन्दामृत, वह समकिती का भोजन है। मिथ्यात्व, राग की एकता में नित्य दुःख का भोजन है, उसे छोड़कर समकिती नित्य आनन्द का अनुभव करता है। सम्यग्दर्शन होते ही अतीन्द्रिय आनन्द का अंकुर फूट जाता है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, और मिथ्यात्व का स्वरूप ऐसा है कि उसमें अनन्त आकुलता का वेदन होता है। सम्यक्त्वरूपी सूर्य, आनन्द का वेदन करता हुआ ही परिणमित होता है। मिथ्यात्व घोर बन्धन का कारण है। राग की एकता में अटकना, वह कहीं जीव का स्वरूप नहीं है। स्वभाव में आना, अटकना और आनन्द का विकास होना, वह जीव का स्वरूप है – ऐसा सम्यग्दर्शन में अनुभव होता है।

विवाह के अवसर पर बहिनें गाती हैं न! सोना समो रे सूरज उगियो रे... इसी प्रकार यहाँ मङ्गलाचरण में बनारसीदासजी आनन्द समो रे सूरज उगियो रे... ऐसे समकित के गीत गाते हैं। विवाह में तो अज्ञान का अन्धकार है, जबकि यहाँ तो समकितरूपी सूर्य उदित हुआ, वहाँ पूरी दिशा बदल गयी। मङ्गल प्रभात हुआ... वह हुआ... उसका सब प्रवाह बदल गया। अज्ञान में राग की एकता के प्रवाह में बहता था, वह अब समकित होने पर स्वभाव की एकता का प्रवाह बहने लगा।

www.vitragvani.com

निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है। अहो! समकित सूर्य उदय हुआ — आनन्द की दशा प्रगट हुई, उसे मेरा नमस्कार हो – ऐसा बनारसीदासजी कहते हैं। यहाँ बन्ध अधिकार में बन्ध की व्याख्या, बन्ध का अभाव करने के लिए की है; बन्ध को रखने के लिए बन्ध के स्वरूप का वर्णन नहीं किया है। बन्ध का स्वरूप जैसा है, वैसा बतलाया है। उस बन्ध को मिटाने का उपाय क्या? अबन्धस्वरूपी चैतन्यद्रव्य का अनुभव और दृष्टि करना, कि जिससे आनन्द का अंकुर फूटे; दुःख की दशा जाये और सुख की हवा बहे, यह बन्ध के नाश का उपाय है।

अब, बन्धभाव और उसका नाश करनेवाली ज्ञानचेतना का स्पष्टीकरण करते हैं।

ज्ञानचेतना और कर्मचेतना का वर्णन (सवैया इकतीसा)

जहाँ परमातम कलाकौ परकास तहाँ,
धरम धरा मैं सत्य सूरज की धूप है।
जहाँ सुभ असुभ करम कौ गढ़ास तहाँ,
मोह के बिलास मैं महा अंधेरे कूप है॥
फैली फिरै घटासी छटासी घन-घटा बीचि,
चेतन की चेतना दुहूंधा गुपचूप है।
बुद्धिसौं न गही जाइ बैनसौं न कही जाइ,
पानी की तरंग जैसैं पानी मैं गुडूप है॥ ३॥

अर्थ – जहाँ आत्मा में ज्ञान की ज्योति प्रकाशित है, वहाँ धर्मरूपी धरती पर सत्यरूप सूर्य का उजाला है और जहाँ शुभ-अशुभ कर्मों की सघनता है, वहाँ मोह के फैलाव का घोर अन्धकारमय कुआ ही है। इस प्रकार जीव की चेतना दोनों अवस्थाओं में गुपचुप होकर शरीररूपी मेघ-घटा में बिजली के समान फैल रही है। वह बुद्धिग्राह्य नहीं है और न वचनगोचर है, वह तो पानी की तरङ्ग के समान पानी ही में गर्क हो जाती है अर्थात् समा जाती है।

काव्य-३ पर प्रवचन

राग की एकाग्रता, वह कर्मचेतना है और स्वभाव में एकाग्रता की चेतना, वह ज्ञानचेतना

www.vitragvani.com

है। यह दोनों चेतना अरूपी है; इस कारण मन से नहीं पकड़ी जा सकती है।

जहाँ परमातम कलाकौ परकास... जहाँ परमात्मशक्ति की कला का प्रकाश है, वहाँ सत्य सूरज का आताप होने से अन्धकार नहीं आ सकता। धर्मरूपी धरती पर सत्य सूरज का प्रकाश व्याप्त हो रहा है। शुभाशुभभाव की एकताबुद्धि में मिथ्यात्व का महा अन्धकार है, मोहरूपी अन्धकूप में अन्धकार का फैलाव है।

समकित में प्रकाश है और शुभाशुभपरिणाम में अन्धकार है। जहाँ चैतन्यस्वभाव का स्वीकार और अनुभव होता है, वहाँ तो परमात्मा का प्रकाश फैलता है और निर्मलता का वेदन होता है तथा जहाँ पुण्य-पाप की एकता का अनुभव है, वहाँ अन्धकार है। स्वरूप की सावधानी छोड़कर पुण्य-पापभाव में सावधानी करना उसमें मोह का विलास है - अन्धा कुँआ है, उसमें महा अन्धकार है।

आगे सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में २८८ पृष्ठ पर भी आयेगा कि मोह का विलास अन्धकूप के समान है; पुण्य-पाप में ज्ञानप्रकाश का अभाव है। ज्ञानी को तो पुण्य-पापभाव स्वप्न जैसे लगते हैं। मैंने पाप किया था, पुण्य किया था, यह सब भाव स्वप्न है। भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु विकारभाव को कैसे करे? मेरे लिए वे भाव कुछ हैं ही नहीं, यह तो स्वप्न आ गया। आगे ९६ वें पद्य में आयेगा कि 'करनी सदा हित की भरनी है'। शुभाशुभ परिणाम की क्रिया तेरे हित का हरण करनेवाली है; वे कोई तुझे मुक्ति देनेवाली नहीं है। पुण्य-पाप के परिणाम तो दु:ख से लिप्त हैं। राग करूँ - पुण्य करूँ - ऐसे अज्ञानभाव में मिथ्यात्वरूपी मोहराजा बसता है। अज्ञानभाव तो राक्षस की नगरी है, आत्मा की शान्ति को जलानेवाली है, मायारूप शक्कर लपेटी हुई छुरी है। राग की क्रिया कर्म की काया है और पुद्गल की प्रतिछाया है। अनादि से ज्ञानानन्द प्रभु - चिदानन्द, राग की क्रिया के जंजाल में फँस गया है - राग की एकता के अन्धकार में चैतन्यसूर्य ढँक जाता है। इस प्रकार क्रिया सदैव दु:खदायक है - ऐसा श्रीगुरु कहते हैं।

पाप से निवृत्त होने को जीव, धर्म और व्रत मानते हैं परन्तु व्रत के परिणाम भी विकल्प हैं, उनमें धर्म कहाँ है?

जीव की चेतना दोनों अज्ञान अवस्थाओं में गुपचुप होकर शरीररूपी घट में बिजली

www.vitragvani.com

की तरह फैल रही है। राग की उल्टी परिणति और ज्ञान की सुलटी परिणति, ये दोनों चेतना अन्तर में फैलती है, इन्हें पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पर्याय अन्तर में होती है और अन्तर में ही विलीन हो जाती है – समा जाती है।

स्वरूप के अनुभव के बिना रागरूपी क्रिया का अन्धकार बिजली की तरह होता है और जाता है। इसी तरह शुद्ध चैतन्य के अनुभवसहित की निर्मलदशा भी होती है और जाती है। जैसे, पानी की तरंग पानी में समा जाती है, इसी तरह चैतन्य के परिणाम चैतन्य में समाहित हो जाते हैं। शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार की परिणति अन्तर में समा जाती है। यह तो चेतन की चेतना की बात चलती है। वह शरीर या कर्म के कारण नहीं होती।

बनारसीदासजी ने कितनी स्पष्टता की है! जीव की चेतना उल्टी हो या सुलटी हो, वह जीव में होती है और जीव में समाती है। उसे जड़ कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। बादलों के बीच बिजली होती और जाती है। इसी तरह चैतन्य में अज्ञानमय चेतना होती और जाती है परन्तु बुद्धि से पकड़ में नहीं आती। शुद्ध ज्ञानचेतना तो सूक्ष्म है ही परन्तु कर्मचेतना भी सूक्ष्म है; इसीलिए बुद्धि में पकड़ में नहीं आती। बन्ध, वह कर्मचेतना है और समकित, वह ज्ञानचेतना है – ऐसा कहकर, अमृतचन्द्राचार्य के कलश का बनारसीदासजी ने स्पष्टीकरण किया है।

पर्यायबुद्धि अर्थात् रागबुद्धि है, वह अज्ञान है, वह भी आत्मा में ही होता है; वह कहीं कर्म में या कर्म के कारण से नहीं होता तथा चैतन्य के भानपूर्वक ज्ञानचेतना होती है, वह भी आत्मा में होती है, कर्म में या कर्म से नहीं होती। पानी की तरंग पानी में डूब जाती है, इसी तरह आत्मा की पर्यायें आत्मा में डूब जाती हैं – आत्मा में समा जाती हैं। चैतन्य भगवान पर की अपेक्षारहित स्वतन्त्र द्रव्य है, इसीलिए उसका भान न हो तो भी राग की एकताबुद्धि में स्वयं ही परिणमता है, उसे कर्मचेतना कहते हैं और आत्मा का भान होकर शुद्धपरिणति होती है, उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है। उसमें भी चैतन्य स्वयं स्वतन्त्ररूप से परिणमित होता है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य को भूलकर परिणति करे, वह अशुद्ध होने पर भी, अन्तरङ्ग में गुपचुप है और चैतन्यसूर्य के भानपूर्वक की शुद्धपरिणति भी अन्तर में गुपचुप

www.vitragvani.com

है; इस कारण वह बुद्धि से ग्राह्य नहीं है। वाणी से कही जा सकने योग्य नहीं है। प्रति समय मिथ्यात्व की धारा चल रही है-होती है और जाती है, फिर होती है, वह समय-समय का परिणमन पकड़ में नहीं आता और जब आनन्दमूर्ति प्रभु का श्रद्धा में स्वीकार और ज्ञान होता है, वह भी समय-समय का परिणमन है। होता है, जाता है, होता है, उत्पाद-व्यय चालू ही है, वह पकड़ में नहीं आता परन्तु पानी की तरंग की तरह अन्तर में ही समा जाता है।

बनारसीदासजी ने पद्य बनाकर बहुत स्पष्ट किया है। अब अमृतचन्द्राचार्य के दूसरे श्लोक पर चौथे पद्य में कहते हैं कि कर्मबन्ध का कारण अशुद्ध उपयोग है। आत्मा की त्रिकाली चैतन्यभूमि में राग की एकता करना ही भावबन्ध और अशुद्ध उपयोग है, वही बन्ध का कारण है।

कर्मबन्ध का कारण अशुद्ध उपयोग है (सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-वर्गना सौं जग मैं न बंधै जीव,
बंधै न कदापि मन-वच-काय-जोग सौं।
चेतन अचेतन की हिंसासौं न बंधै जीव,
बंधै न अलख पंच-विषै-विष-रोगसौं॥
कर्म सौं अबंध सिद्ध जोग सौं अबंध जिन,
हिंसा सौं अबंध साधु ग्याता विषै-भोग सौं।
इत्यादिक वस्तु के मिलाप सौं न बंधै जीव,
बंधै एक रागादि असुद्ध उपयोग सौं॥ ४॥

अर्थ - जीव को बन्ध के कारण न तो कार्मणवर्गणाएँ हैं, न मन-वचन-काय के योग हैं, न चेतन-अचेतन की हिंसा है, और न इन्द्रियों के विषय हैं; केवल राग आदि अशुद्ध उपयोग बन्ध का कारण है क्योंकि कार्मणवर्गणओं के रहते हुए भी सिद्ध अबन्ध रहते हैं, योग होते हुए भी अरहन्त भगवान अबन्ध रहते हैं, हिंसा हो जाने पर भी मुनि महाराज अबन्ध हैं और पञ्चेन्द्रियों के भोग भोगते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव अबन्ध रहते हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-४ पर प्रवचन

मूल पाठ में सम्यग्दृष्टि की बात नहीं ली परन्तु बनारसीदासजी ने स्पष्टीकरण के लिए सम्यक्त्वी की बात ली है। समकिती पाँच इन्द्रियों के विषय भोगता है, तथापि अबन्ध है क्योंकि उसे विषयों में एकत्वबुद्धि या तल्लीनता नहीं है। ऐसा ही पण्डित जयचन्दजी ने भी भावार्थ में लिया है कि समकिती और देशविरत को समिति नहीं होने से उनका नाम नहीं लिया परन्तु अन्तरङ्ग की अपेक्षा से तो वे भी निर्बन्ध ही है।

जीव को कर्मबन्धन किससे होता है ? उसका कारण बतलाते हुए कहते हैं कि कर्म की वर्गणा तो सारे लोक में भरी हुई है, यदि वह बन्ध का कारण होवे तो सिद्ध भगवान को भी बन्ध होना चाहिए परन्तु सिद्ध को बन्ध नहीं होता, इसलिए कर्म की वर्गणा का जत्था बन्ध का कारण नहीं है।

मन-वचन-काय की क्रिया भी बन्ध का कारण नहीं है, यदि वह क्रिया बन्ध का कारण होवे तो अरहन्त को भी बन्ध होना चाहिए परन्तु अरहन्त को बन्ध नहीं होता, इसलिए मन-वचन-काया की क्रिया जीव को बन्ध का कारण नहीं होती है।

चेतन-अचेतन की हिंसा, वह तो पर की क्रिया है, उससे जीव को बन्ध नहीं होता। मुनि महाराज ईर्यासमितिपूर्वक चलते हों और अचानक पैर के नीचे आकर जीव मर जाये तो उसकी हिंसा तो हुई परन्तु मुनिराज को बन्ध नहीं होता। इसलिए चैतन्य की भूमिका में राग को एकरूप मानना, वह एक ही बन्ध का कारण है, यह सिद्ध होता है।

राग को अपनी भूमिका में न लावे और ज्ञानानन्द भूमिका में परिणति करे - बस यही मोक्ष का कारण है।

पंचेन्द्रिय के भोग भोगता हुआ भी सम्यग्दृष्टि अबन्ध है क्योंकि सम्यक्त्वी, राग का स्वामी नहीं है और राग में एकता नहीं है। जैसे, परद्रव्य की क्रिया को भिन्न जानता है, वैसे अपनी विभाव क्रिया को भी स्वभाव में नहीं मिलाता, भिन्न ही रखता है; इसलिए सम्यक्त्वी को विषयभोग होने पर भी बन्ध नहीं है। यदि विषयभोग से ही बन्ध होता हो तो सम्यक्त्वी को भी बन्ध होना चाहिए।

वैसे तो दसवें गुणस्थान तक बन्ध है, परन्तु वह चारित्र सम्बन्धी बन्ध की बात है।

www.vitragvani.com

ज्ञानी को अस्थिरता सम्बन्धी बन्ध होता है परन्तु वह अस्थिरता को अपना स्वरूप नहीं मानता, इसलिए मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्ध नहीं होता। उपयोगरूपी भूमि में राग की एकता करना, वह एक ही इस बन्ध का कारण है। कलश में है न! — **यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम्।** मिथ्यादृष्टि को अशुद्ध उपयोग ही होता है – उपयोग में राग की एकता होती है, वही बन्ध का कारण है। सम्यग्दृष्टि को विषयभोग के समय भी अशुद्ध उपयोग नहीं है, बहिर्मुख राग के परिणमन में उसे एकपना नहीं है। जैसे शरीर और आत्मा भिन्न हैं, उसी प्रकार स्वभाव और विभाव भिन्न है – ऐसा जानता है; इसलिए ज्ञानी को बन्ध नहीं होता।

आत्मा एक वस्तु है। उसके स्वभाव में अनन्त शान्ति, आनन्द, ज्ञान आदि गुण भरे हैं परन्तु पुण्य-पाप या राग आदि उसके स्वभाव में नहीं भरे हैं। फिर भी जो निर्मल स्वभाव के साथ रागादिक भावों का एकत्व मानता है, वही मिथ्यात्वभाव है और वही बन्ध का कारण है, वही संसार की वृद्धि का कारण है। कर्मों को बन्ध का कारण कहा जाता है परन्तु वास्तव में वे बन्ध का कारण नहीं हैं। इस चौथे पद्य के भावार्थ में पहले ही कार्मणवर्गणा ली है।

कार्मणवर्गणा, योग, हिंसा, इन्द्रिय-विषयभोग ये बन्ध के कारण कहे जाते हैं, परन्तु सिद्धालय में अनन्तानन्त कार्मण पुद्गलवर्गणाएँ भरी हुई हैं, वे रागादि के बिना सिद्ध भगवान से नहीं बँध जातीं; तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त भगवान को मन-वचन-काय के योग रहते हैं परन्तु राग-द्वेष आदि नहीं होते, इससे उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता; महाव्रती साधुओं से अबुद्धिपूर्वक हिंसा हुआ करती है परन्तु राग-द्वेष नहीं होने से उन्हें बन्ध नहीं है; अव्रतसम्यग्दृष्टि जीव पञ्चेन्द्रियों के विषय भोगते हैं पर तल्लीनता न होने से उन्हें निर्जरा ही होती है। इससे स्पष्ट है कि कार्मणवर्गणाएँ, योग, हिंसा, और सांसारिक विषय बन्ध के कारण नहीं हैं; केवल अशुद्ध उपयोग ही से बन्ध होता है।

(१) कार्मणवर्गणाएँ, (२) योग, (३) हिंसा, और (४) इन्द्रिय-विषयभोग — इन चारों को ही बन्ध का कारण कहना, वह व्यवहार है। वास्तव में ये बन्ध का कारण नहीं हैं।

www.vitragvani.com

(१) सिद्धालय में जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान हैं, वहाँ भी कार्मणवर्गणाएँ तो हैं, इसलिए यदि वे वर्गणाएँ बन्ध का कारण हों तो सिद्ध को भी बन्ध होना चाहिए परन्तु सिद्ध को राग नहीं होने से वर्गणा बन्ध का कारण तो नहीं परन्तु बन्ध में निमित्त भी नहीं होती; इसलिए निश्चित होता है कि जहाँ राग की एकता नहीं है, वहाँ कार्मणवर्गणा होने पर भी बन्ध नहीं है। निर्दोष भगवान के साथ राग की एकता करे तो ही बन्ध होता है। सिद्ध भगवान को उसका अभाव है।

(२) अब, अरहन्त का दृष्टान्त लेकर योग से बन्ध नहीं है, यह कहते हैं। अरहन्त भगवान को मन-वचन-काया का योग तो है परन्तु राग-द्वेष नहीं होने से अरहन्त को बन्ध नहीं होता; इसलिए वास्तव में योग बन्ध का कारण नहीं है, भगवान आत्मा का स्वभाव शुद्धज्ञान-आनन्दस्वरूप है, उसे छोड़कर विकल्प के साथ एकत्व करे, वह मिथ्या वासना है, वही बन्ध का कारण है।

(३) महाव्रती साधु ईर्यासमितिपूर्वक गमन कर रहे हों तो भी अचानक कोई जीव उड़कर आये और पैर के नीचे दबकर मर जाये तो उससे साधु को बन्ध नहीं होता क्योंकि साधु को उस जीव को मारने का भाव नहीं था; इसलिए निश्चित होता है कि बाह्य हिंसा से बन्ध नहीं होता; राग-द्वेषरूप भावहिंसा से ही बन्ध होता है।

(४) वीतरागमार्ग में सम्यक्त्वी उसे कहते हैं कि जिसे शरीर, वाणी, मन, और कर्म से पृथक्ता का तो अनुभव हुआ हो परन्तु रागादिभाव से भी भिन्न, आनन्द, ज्ञानादिभाव का अनुभव हुआ हो, उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। उसे विषय की वासना तो होती है परन्तु वासना में सुखबुद्धि या तल्लीनता नहीं होती। इसलिए पाँच इन्द्रियों के विषय भोगते हुए भी उसे मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता क्योंकि उसे राग तो है परन्तु राग में एकता नहीं है; राग से पृथक् आत्मा का अनुभव किया है, इसलिए अतीन्द्रिय आनन्द की भूमिका में खड़े हुए ज्ञानी को राग के राग का राग नहीं है, राग का राग नहीं है।

जैनदर्शन सूक्ष्म है! अनन्त काल में एक-एक गति के अनन्त अवतार किये परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना इसने राग के भाव को अपना स्वरूप मान करके किया और मिथ्यात्व का ही सेवन किया। राग की मन्दता करके स्वर्गादिक के भोग प्राप्त किये परन्तु वह कहीं

www.vitragvani.com

धर्म नहीं है। जिसने अन्तर में धर्म प्रगट किया है – ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि को राग का विकल्प तो है परन्तु राग में एकत्व नहीं है; राग का राग नहीं है, राग का प्रेम नहीं है, राग में सुखबुद्धि नहीं है।

देखो न! भरत चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि थे। उन्हें संयोग में छियानवें हजार रानियाँ थीं परन्तु किसी में एकत्वबुद्धि या रस नहीं था। जहाँ आंशिक वीतरागभाव प्रगट हुआ, वहाँ मैं तो वीतरागस्वरूप हूँ – ऐसी सम्यग्दृष्टि वर्तती होने से कहीं बाह्य में या राग में मेरापना नहीं होता था। जो अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ हो गया, वह राग का नाथ कैसे होगा? भले गृहस्थाश्रम में राज-पाट आदि दिखाई दें परन्तु अन्तरङ्ग में उसकी दृष्टि निराली है, उसका परिणमन स्वरूपसन्मुख हो गया है, इसलिए कर्म का उदय आवे, वह भी खिर जाता है, नवीन बन्ध नहीं होता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कर्म, योग, हिंसा, और विषय-भोग, बन्ध के कारण नहीं हैं; केवल अशुद्ध उपयोग से ही बन्ध होता है, जो अपने स्वरूप में नहीं है। ऐसे राग को स्वरूप में लाता है, वह अशुद्धभाव ही बन्ध का कारण है। बन्ध अर्थात् संसार में भटकने का कारण है।

अब, तीसरे कलश पर पाँचवाँ काव्य है, वह लेते हैं।

पुनः (सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-वर्गना कौ वास लोकाकासमांहि,
मन-वच-काय कौ निवास गति आउमैं।
चेतन अचेतन की हिंसा बसै पुग्गल मैं,
विषैभोग वरतै उदैके उरझाउ मैं॥
रागादिक सुद्धता असुद्धता है अलखकी,
यहै उपादान हेतु बंध के बढ़ाउ मैं।
याही तैं विचच्छन अबंध कह्यौ तिहूं काल,
राग दोष मोह नाहीं सम्यक सुभाउ मैं॥ ५॥

अर्थ – कार्मणवर्गणाएँ लोकाकाश में रहती हैं, मन-वचन-काय के योगों की

www.vitragvani.com

स्थिति, गति और आयु में रहती है, चेतन-अचेतन की हिंसा का अस्तित्व पुद्गल में है, इन्द्रियों के विषयभोग उदय की प्रेरणा से होते हैं; इससे वर्गणा, योग, हिंसा और भोग इन चारों का सद्भाव पुद्गल सत्ता पर है - आत्मसत्ता पर नहीं है; अतः ये जीव को कर्मबन्ध के कारण नहीं हैं और राग-द्वेष-मोह, जीव के स्वरूप को भुला देते हैं, इससे बन्ध की परम्परा में अशुद्ध उपयोग ही अन्तरङ्ग कारण है। सम्यक्त्वभाव में राग-द्वेष-मोह नहीं होते, इससे सम्यग्ज्ञानी को सदा बन्धरहित कहा है।

काव्य-५ पर प्रवचन

कर्म होने के योग्य रजकण जगत में रहे हुए हैं। वे कहीं आत्मा में नहीं रहते हैं, आत्मा में तो ज्ञान और आनन्द है, उसमें कर्म नहीं हैं; इसलिए वह बन्ध का कारण नहीं है। मन, वचन, काया का कम्पन होता है, उसकी मर्यादा गति और आयुष्य तक की ही है। आत्मा को वह योग कुछ नहीं कर सकता। योग का कम्पन आत्मा में नहीं है, इसलिए उससे आत्मा को बन्ध नहीं है। जड़ की क्रिया जड़ में है, आत्मा में जड़ की क्रिया नहीं है; आत्मा में तो ज्ञान और आनन्द बसते हैं, उनसे बन्ध नहीं होता। चेतन-अचेतन की हिंसा, शरीर की क्रिया से होती है, आत्मा से नहीं होती है।

विषय की वासना कर्म के उदय से है। धर्मी के भाव में विषय का प्रेम नहीं है, इसलिए उससे बन्ध नहीं है। कर्म के निमित्त से होनेवाले राग को धर्मी अपना नहीं मानता है, उसका स्वामी नहीं होता है। धर्मी ऐसा जानता है कि मेरे स्वरूप में कर्म और राग तो नहीं परन्तु अल्पज्ञपना भी मेरे त्रिकालस्वरूप में नहीं है, पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप मेरे आत्मा में बन्ध नहीं हो सकता है।

इस प्रकार कार्मणवर्गणा, योग, हिंसा, और भोग - ये चारों ही पुद्गल की सत्ता में है; जीव की सत्ता में नहीं, इसीलिए ये बन्ध के कारण नहीं हैं। जीव की दशा में राग की एकतारूप अशुद्धता अथवा राग की भिन्नता और स्वभाव की एकतारूप शुद्धता ही होती है। उसमें से राग की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व ही जीव को बन्ध का कारण होता है। दशा में रही हुई अशुद्धता ही जीव को संसार में परिभ्रमण का कारण होती है।

रागादि से रहित - ऐसी शुद्धता और रागादि से सहित - ऐसी अशुद्धता ये दो ही

www.vitragvani.com

अलख की सत्ता में है अर्थात् आत्मा की सत्ता में है। राग तो वास्तव में आत्मा के स्वभाव में नहीं परन्तु राग की एकता करता है, इसलिए उसकी दशा में मिथ्यात्व होता है। राग को आत्मा के स्वभाव में एकत्व करना, वह मूढ़ता है, अशुद्धता है। राग से रहित दशा, वह शुद्धता है – यह दो ही भाव आत्मा की दशा में है, तीसरा भाव उसमें नहीं है।

अशुद्धता अर्थात् क्या? राग को उपयोग में एकाकार करना, वह अशुद्धता है। शुद्धता अर्थात् क्या? राग से भिन्न आत्मा का भान करना, उसका नाम शुद्धता है। अज्ञानभाव से आत्मा अशुद्धता को करता है, और ज्ञानभाव से आत्मा शुद्धता को करता है; इसके अतिरिक्त तीसरे भाव को आत्मा नहीं करता। आत्मा के परिणमन में शुद्धता अथवा अशुद्धता के अतिरिक्त तीसरा कुछ नहीं है।

श्रोता : आत्मा राग का कर्ता नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है, वह अशुद्धता है। अज्ञानभाव से आत्मा ही उस अशुद्धता को करता है; वस्तु की दृष्टि से आत्मा, राग का कर्ता नहीं है परन्तु अज्ञानभाव में अशुद्धता का एकत्व आत्मा ने ही किया है। सर्वविशुद्ध अधिकार में आता है न! जहाँ तक अज्ञान है, वहाँ तक रागादि का कर्ता आत्मा को मान! भेदज्ञान होने के बाद कर्ता नहीं है – ऐसा जान! वस्तु तो जैसी हो, वैसी आचार्यदेव की वाणी में आयेगी न! राग मेरा स्वरूप है – ऐसी मूढ़ता, वह अशुद्धता है।

भगवान आत्मा तो पवित्र शुद्ध आनन्दकन्द है, वही उसका स्वरूप है। पुण्य-पाप, आस्रवतत्त्व का स्वरूप है; कर्म और शरीर, अजीवतत्त्व है। अजीव और आस्रव से आत्मा का स्वरूप भिन्न है, उसे उनसे सहित मानना ही मूढ़ता है, यही बन्ध का मूल है।

यहै उपादान हेतु बंध के बढ़ाउ मैं.... जो स्वयं कार्य को करता है, वह उपादान है। स्वभाव में राग के विकार को एकरूप मानता है, वह मिथ्यात्वभाव है, वही दर्शनमोह आदि के बन्ध का उपादानकारण है।

यहाँ तो सम्यक्त्वी को बन्धन में से निकाल देते हैं, क्योंकि उसकी दृष्टि अबन्धस्वभाव पर पड़ी है। शरीर और कर्म की तरह राग भी जीव के स्वरूप में नहीं है – ऐसे जीवस्वरूप में जिसकी दृष्टि पड़ी है – ऐसे विचक्षण-धर्मी-सम्यक्त्वी को अबन्ध कहा है। अबन्ध

www.vitragvani.com

आत्मस्वभाव का गुण अबन्ध, द्रव्य अबन्ध, और उसका सम्यक्त्व भी अबन्ध है। इसीलिए सम्यक्त्वी को तीनों काल अबन्ध कहा है।

राग दोष मोह नाहीं सम्यक सुभाउ मैं। स्वभाव में राग-द्वेष-मोह नहीं है। इसी तरह स्वभाव की दृष्टि में भी राग-द्वेष-मोह का अभाव है। अविरत सम्यग्दृष्टि, अविरति से रहित है - ऐसी बात है। सम्यक्त्वभाव में राग-द्वेष-मोह नहीं होते, इसीलिए सम्यक्त्वी को सदा अबन्ध कहा है। राग-द्वेष-मोह, जीव के स्वरूप को भूला देते हैं, इसलिए राग-द्वेष-मोह को ही बन्ध परम्परा में अन्तरङ्ग कारण कहा है। कार्मणवर्गणा, योग, हिंसा और विषयभोग तो बहिरङ्ग कारण है।

सम्यग्दृष्टि ने भावबन्ध से अपने को भिन्न किया है, तब तो सम्यग्दृष्टि हुआ है। जैसे, शरीर और कर्म आत्मा से भिन्न है; वैसे ही राग भी जीव के स्वभाव से भिन्न है - ऐसा जहाँ जाना, वहाँ राग की दृष्टि छूटकर स्वभावदृष्टि हुई, उसमें रागरहित शुद्धस्वभाव का परिणमन है, उससे बन्ध नहीं है। जितना अशुद्ध परिणमन है, वह धर्मी के ज्ञान का ज्ञेय है। अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है परन्तु उस अविरति को (वह) धर्मी अपने स्वरूप के रूप में नहीं मानता है - ऐसा ही स्वरूप है।

सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है अर्थात् भावबन्ध से मुक्त है। भगवान आत्मा क्या चीज है और उसकी महत्ता तथा महिमा क्या है? उसका जीवों को पता नहीं है; इस कारण राग को महिमा देते हैं। उसका अर्थ यह है कि राग में एकत्व करते हैं। अज्ञानी, राग को अपनी उपयोगभूमि में लाता है और ज्ञानी अपनी उपयोगभूमि में राग को नहीं लाता, बस! इतना ही अन्तर है।

जो अपने स्वरूप में नहीं है - ऐसे दया, दान, व्रत, भक्ति, हिंसा, चोरी आदि परिणाम को अपनी उपयोगभूमि में लाता है, वह अज्ञानी है। जो स्वभाव में नहीं, उसे लाने का नाम मिथ्यात्व-मूढ़ता है और वही बन्ध का कारण है। ज्ञानी किसी रागादिक को उपयोगभूमि में लाता ही नहीं, वह तो बस अकेला शुद्ध ज्ञान... ज्ञान... ज्ञानरूप ही परिणमता है। रागरूप परिणमना वह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

यह जानकर स्वच्छन्दी होना योग्य नहीं है। योग, हिंसा, राग आदि का कर्ता आत्मा

www.vitragvani.com

नहीं है; इसलिए चाहे जैसे योग, हिंसा, या रागादि हो जाओ, उससे हमें क्या है ? – ऐसी भावना सम्यक्त्वी नहीं होती। हिंसा आदि से बचने का प्रयत्न उसके शुभपरिणाम में होता ही है। भले ही उस शुभभाव को अपने में नहीं मानता तो भी शुभभाव में ऐसा प्रयत्न होता है कि जिससे स्वच्छन्दी नहीं हुआ जाये। अशुभ में न जाये, यह बात चौथे श्लोक में कहते हैं। उसका छठवाँ पद इस प्रकार है।

यद्यपि ज्ञानी अबन्ध हैं तो भी पुरुषार्थ करते हैं (सवैया इकतीसा)

कर्मजाल-जोग हिंसा-भोगसौं न बंधै पै,
तथापि ग्याता उद्दिमी बखान्यौ जिनबैन मैं।
ग्यानदिष्टि देत विषै-भौगनिसौं हेत दोऊ-
क्रिया एक खेत यौं तौ बनै नांहि जैन मैं।
उदै-बल उद्दिम गहै पै फल कौं न चहै,
निरदै दसा न होइ हिरदै के नैन मैं।
आलस निरुद्दिम की भूमिका मिथ्यात मांहि,
जहां न संभारै जीव मोह नींद सैन मैं॥ ६॥

अर्थ – स्वरूप की सम्हाल और भोगों का अनुराग ये दोनों बातें एक साथ जैनधर्म में नहीं हो सकतीं, इससे यद्यपि सम्यग्ज्ञानी वर्गणा, योग, हिंसा और भोगों से अबन्ध हैं तो भी उन्हें पुरुषार्थ करने के लिए जिनराज की आज्ञा है। वे शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करते हैं परन्तु फल की अभिलाषा नहीं करते और हृदय में सदा दयाभाव रखते हैं, निर्दय नहीं होते। प्रमाद और पुरुषार्थहीनता तो मिथ्यात्वदशा में होती है। जहाँ जीव, मोहनिद्रा से अचेत रहता है; सम्यक्त्वभाव में पुरुषार्थहीनता नहीं है।

काव्य-६ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में रहने पर भी उसे राग की एकता टूट गयी होने से अबन्ध कहलाता है परन्तु सम्यग्दृष्टि स्वच्छन्दी नहीं होता। मान, प्रतिष्ठा का प्रेम हो, भोगों का प्रेम हो, अनुकूलता का उत्साह हो, और कहे कि मेरी दृष्टि आत्मा पर है, यह दोनों बातें साथ हो ही नहीं सकतीं। सम्यग्दृष्टि को स्वच्छन्दी न होने का पुरुषार्थ होता है। स्वभाव

www.vitragvani.com

की सन्मुखता का पुरुषार्थ तो धर्मी को होता ही है परन्तु शुभभाव में यह पुरुषार्थ भी वर्तता है कि जिससे उसे स्वच्छन्दता न हो। जैसे एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, वैसे ही धर्मी को आत्मा का प्रेम है, और विषय-कषाय का भी प्रेम है, ये दोनों प्रेम एक साथ हो ही नहीं सकते।

यहाँ तो अकेली राग में एकता को ही बन्ध कहना है। इसलिए कहा है कि मिथ्यात्व ही संसार है - ऐसा प्रसिद्ध होओ।

धर्मी को मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ - ऐसी दृष्टि रहती है और विषयसुख में प्रेम नहीं रहता। जो कहता है कि मुझे तो दोनों एक साथ रहते हैं, वह स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है। आत्मा के प्रेमी को बाह्यवस्तु की उमंग आती ही नहीं। पूर्व उदयानुसार राग का भाव आता है परन्तु उसके फल को धर्मी नहीं चाहता है।

भरतेशवैभव में आता है कि भरत चक्रवर्ती को प्रथम पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, तब बड़ा महोत्सव किया था। धर्मी को पुरुषार्थ की कमजोरी से ऐसा राग आता है परन्तु उसमें लीनता नहीं होती। यह राग करने योग्य है - ऐसी उपादेयबुद्धि नहीं होती। राग आया, उसकी कोई बाधा नहीं - ऐसा नहीं होता। बाहर से उल्लास दिखाई दे परन्तु अन्दर में लुखाश / नीरसता होती है। इसीलिए तो कहा है कि

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल,
अन्दर से न्यारा रहे ज्यों धाय खिलावे बाल।

धर्मी हृदय में सदा दयाभाव रखता है। अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हुआ होने से हृदय में करुणाभाव वर्तता है। बाहुबली पर भरत चक्रवर्ती ने चक्र चलाया परन्तु उस विकल्प के वे ज्ञाता थे, अन्तर में अकषाय करुणा वर्तती थी। यह तो तलवार की धार पर चलने जैसी स्थिति है। अज्ञानी कहीं इस तलवार की धार पर नहीं चल सकता है।

धर्मी तो उसे कहते हैं कि जिसे अपने आनन्द के प्रेम के समक्ष अन्यत्र कहीं प्रेम आता ही नहीं। धर्मी की प्रथम दशा में ऐसी स्थिति होती है। दूसरे लोग महिमा करें, इसलिए वह स्वयं को बड़ा नहीं मानने लगता। सम्यक्त्वी को आठ मद का अभाव होता है। ज्ञानस्वभाव से अपनी अधिकता जिसे भासित हुई है, उसे अन्यत्र कहीं महानता कैसे लगेगी ?

www.vitragvani.com

जैसे, बिल्ली का पैर टूट जाये तो फिर कैसी लंगड़ा कर चलती है ? इसी प्रकार धर्मी को राग अपना नहीं है – ऐसा भान होने के बाद राग लूला हो जाता है। थोड़ा राग आता है परन्तु राग का रस नहीं आता। यह वीतरागमार्ग है, इसमें राग को अपना माने तो वीतरागमार्ग ही नहीं रहता है।

रामचन्द्रजी सम्यक्त्वी थे, फिर भी जब सीताजी को रावण उठा कर ले गया, तब सीता... मेरी सीता... कहाँ गयी ! इस प्रकार चारों ओर ढूँढ़ते हैं। यह सब राग की चेष्टाएँ थीं, फिर भी स्वयं ज्ञानी हैं। सीताजी की बात लो न ! जब रावण उन्हें विचलित करने आया, तब स्वयं विचलित नहीं हुईं परन्तु स्वर्ग में जाने के बाद स्वयं रामचन्द्रजी को चलित करने आयी। रामचन्द्रजी तो ध्यान में थे, उनके सामने सीता का रूप धारण करके आयी और राम को कहती हैं – तुम राज्य में वापस आओ, हम राज्य में साथ रहेंगे... यह सब राग के विकल्प ऐसे होते हैं। उसमें भी बड़े पुरुषों की बड़े बातें। बालक के हाथ से कपड़े का माप नहीं होता; इसी तरह अज्ञानी के ज्ञान से ज्ञानी का माप नहीं होता। रामचन्द्र तो पुरुषोत्तम पुरुष हो गये हैं, सम्यक्त्वी थे, वीतराग के भक्त थे, मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पधारे हैं – ऐसी बात है।

ज्ञानी को अन्दर में राग खटकता है, राग को सुखरूप नहीं मानते हैं; हृदय में राग खटकता है। धर्मी को स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ है और स्वच्छन्दता न हो जाये, इसके लिए शुभभाव में भी पुरुषार्थ होता है – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। हम सम्यक्त्वी हुए, इसलिए अब किसी प्रकार का डर नहीं – ऐसा नहीं होता। निर्भयता तो है परन्तु स्वच्छन्दता नहीं। चाहे जैसा राग आवे – ऐसा नहीं होता। ज्ञानी की भूमिकानुसार ही राग आता है। आलस्य और निरुद्यम तो मिथ्यात्वदशा में ही होता है, यह बात आगे नौवें पद्य में आयेगी।

धर्मी को शुद्ध चैतन्य भगवान की ओर का प्रयत्न तो है ही, साथ ही उसका घोलन होने से शुभविकल्प में उसे अनुकूल भाव ही होते हैं। आलस और पुरुषार्थहीनता नहीं होती है।

जहाँ जीव अपने आनन्दस्वरूप को नहीं सम्हालता और अकेला राग में एकाकार होता है, यह मिथ्यादृष्टि की दशा है। जहाँ जीव, मोहनिद्रा में अचेत रहता है, वहीं प्रमाद

www.vitragvani.com

और पुरुषार्थहीनता रहती है क्योंकि राग की एकता में आत्मा की सचेतदशा आच्छादित हो जाती है। सम्यक्त्वभाव में ऐसी पुरुषार्थहीनता नहीं होती है। अपने स्वरूप की रचना का पुरुषार्थ उसे कायम होता है और साथ में विकल्प भी उस प्रकार का ही होता है, स्वच्छन्दता नहीं होती है। स्वभावसन्मुख की घोलनदशा और उसमें स्थिरता न हो, तब विकल्प आवे, वह भी उसके अनुकूल होने का होता है। जो अपने ज्ञानानन्दस्वरूप को याद नहीं करता और राग को याद करता है, वह तो मोह निद्रा में सो रहा है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे चौरासी के अवतार में भटकना हो – ऐसे कर्मों का बन्धन होता है। मोक्षार्थी का तो लक्षण ही यह बाँधा है कि —

दया, शान्ति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य।
होय मुमुक्षु घट विषय वही सदा सुजाग्य॥

धर्मी को स्वच्छन्दता नहीं होने से राग की मन्दता में उपरोक्तानुसार ही परिणाम होते हैं। तलवार की धार पर चलने जैसा कहा, इसलिए दुष्कर है – ऐसा नहीं है। उसमें दुःख नहीं है। राग से रहित स्वरूप को जानना-मानना और राग आने पर भी स्वच्छन्दता का सेवन नहीं करना – ऐसी वीतराग की आज्ञा है। राग में एकत्व मानना, यह भगवान की आज्ञा से विरुद्ध है। राग से लाभ और धर्म माननेवाला मिथ्यात्व में पड़ा है, वह स्वरूप को साधने में आलसी है। धर्मी तो स्वरूप के लिए सदा सावधान है।

राग और स्वभाव की एकता, वह बन्ध है। अपना स्वभाव तो शुद्ध चैतन्य आनन्दमय है, उसके साथ पुण्य-पाप की एकता करना, वह पर्यायदृष्टि-मिथ्यादृष्टि है। ऐसा जीव बन्धभाव को प्राप्त करता हुआ नये बन्धन को बढ़ाता है। ज्ञानी, राग से भिन्न पड़कर अपने आनन्दस्वभाव में रहता हुआ नये बन्ध को नहीं बढ़ाता है, तथापि कर्म के उदय के निमित्त में जुड़ने से राग होता है, उसकी बात यहाँ करते हैं।

उदय की प्रबलता (दोहा)

जब जाकौ जैसौ उदै, तब सो है तिहि थान।
सकति मरोरै जीव की, उदै महा बलवान॥ ७॥

अर्थ – जब जिस जीव को जैसा उदय होता है, तब वह जीव उसी माफिक वर्तता

www.vitragvani.com

है। कर्म का उदय बहुत ही प्रबल होता है, वह जीव की शक्तियों को कुचल डालता है और उसे अपने उदय के अनुकूल परिणमाता है।

काव्य-७ पर प्रवचन

ज्ञानी समझता है कि 'मैं मेरे स्वभाव से सहित हूँ, राग मेरा स्वभाव नहीं है' फिर भी स्वयं की अस्थिरता के कारण पुरुषार्थ कमजोर होने से राग की ओर खिंचाव-आसक्ति हो जाती है। **सकति मरोरै जीव की** — राग में आसक्ति है, उससे जीव की पर्याय कुचल जाती है। अस्थिरता का बलवानपना है, उसे उदय की बलवानता कहा जाता है, वरना कर्म का बलवानपना जीव में काम नहीं करता है।

उदय में जुड़ने से धर्मी जीव को भी परिणाम में अशान्ति होती है, यह समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं।

उदय की प्रबलता पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं गजराज परयौ कर्दम कै कुंडबीच,
उद्दिम अहूटै पै न छूटै दुख-दंदसौं।
जैसैं लोह-कंटक की कोर सौं उदझ्यौ मीन,
ऐंचत असाता लहै साता लहै संद सौं॥
जैसैं महाताप सिर वाहिसौं गरास्यौ नर,
तकै निज काज उठि सकै न सुछंद सौं।
तैसैं ग्यानवन्त सब जानै न बसाइ कछू,
बंध्यौ फिरे पूरब करम-फल-फंद सौं॥ ८॥

अर्थ - जिस प्रकार कीचड़ के गड्ढे में पड़ा हुआ हाथी अनेक चेष्टाएँ करने पर भी दु:ख से नहीं छूटता, जिस प्रकार लोह-कंटक में फँसी हुई मछली दु:ख पाती है-निकल नहीं सकती, जिस प्रकार तेज बुखार और मस्तक-शूल में पड़ा हुआ मनुष्य अपना कार्य करने के लिए स्वाधीनतापूर्वक नहीं उठ सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी जीव जानते सब हैं परन्तु पूर्वोपार्जित कर्मोदय के फंदे में फँसे होने से उनका कुछ वश नहीं चलता अर्थात् व्रत संयम आदि ग्रहण नहीं कर सकते।

www.vitragvani.com

काव्य-८ पर प्रवचन

श्रोता : एक ओर कहते हैं कि ज्ञानी को बन्ध ही नहीं है, राग तो पुद्गल का परिणाम है... फिर यहाँ तो ज्ञानी को बन्ध बतलाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि के जोर की अपेक्षा से ज्ञानी को बन्ध नहीं है – ऐसा कहा जाता है परन्तु दूसरी अपेक्षा भी है न! ज्ञानी की पर्याय में राग का परिणमन है, उसे यहाँ सिद्ध कहते हैं। दृष्टि के परिणमन में राग नहीं है। द्रव्य और द्रव्य की दृष्टि अत्यन्त शुद्ध है परन्तु साथ में चारित्र के परिणमन में अशुद्धता है, उसे यहाँ प्रसिद्ध करते हैं। राग को पुद्गल का परिणाम कहा है, वह तो एक अपेक्षा से कहा है। वरना राग तो जीव का परिणाम है। प्रवचनसार में सैंतालीस नयों में आया है कि राग का करनापना और भोगनापना मेरी पर्याय में है – ऐसा ज्ञानी जानता है। जो एक ही अपेक्षा पकड़ता है, वह वस्तु की स्थिति को नहीं जानता है। द्रव्यस्वभाव की दृष्टि में अबन्ध है, यह ठीक है परन्तु अपने परिणमन में कमजोरी के कारण रागादि अशुद्धता है, उसका भी ज्ञान करना चाहिए।

जिसे अपने स्वभाव का उग्र जोर नहीं है, उसे राग का जोर है – ऐसा इस श्लोक द्वारा कहते हैं। कर्म तो बेचारे जड़ हैं, वे जीव का कुछ नहीं कर सकते परन्तु कर्म के उदय में जुड़ जाता है, उसे कर्म का जोर है – ऐसा कहा जाता है। मूल में तो स्वभाव का उग्र जोर नहीं है, इसलिए निमित्त – ऐसे कर्म के उदय में स्वयं जुड़ जाता है।

श्रोता : ज्ञानी को तो विकार से वैराग्य है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा-ज्ञान में विकार से भिन्नता है, उतना वैराग्य है परन्तु जितनी अस्थिरता है, उतना राग है। पूर्ण वैराग्य होवे तो वीतराग हो जाये।

जैसे, बड़ा हाथी भी कीचड़ के गढ्डे में गिर जाये तो प्रयत्न करने पर भी बाहर नहीं निकल सकता; इसी प्रकार आत्मा में ही ज्ञान-आनन्द और सुख है – ऐसा जानने पर भी ज्ञानी, राग के जोर में पकड़ जाता है, वहाँ से छूट नहीं सकता। मूल में तो अपने पुरुषार्थ की कचास है; इसलिए अपनी भूमिकानुसार जो राग आता है, उससे छूट नहीं सकता है।

कोई ऐसा कहता है कि भगवान का मार्ग अनेकान्त है, इसलिए उपादान से भी

www.vitragvani.com

कार्य होता है और निमित्त से भी कार्य होता है परन्तु ऐसा अनेकान्त नहीं होता। भाई! बनारसीदासजी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'उपादान बल जहाँ-तहाँ नहीं निमित्त को दाव' — निमित्त होता है, उसका निषेध नहीं है परन्तु उससे कार्य होता है - ऐसा नहीं है। अपने उपादान से कार्य होता है, तब निमित्त होता अवश्य है। निमित्त कहाँ नहीं है? प्रत्येक पर्याय के काल में उसके अनुकूल निमित्त की उपस्थिति होती ही है, यह बात सोनगढ़ की नहीं है, वस्तु के स्वरूप की है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य को कर नहीं देता है, प्रत्येक समय में द्रव्य स्वयं के कार्य को करता है, पर का कार्य कोई नहीं करता है।

यहाँ तो इतना ही सिद्ध करना है कि अपने पुरुषार्थ की कमजोरी है, इसलिए राग का जोर है।

पालेज में एक गहरे खड्डे में घास भरा था। उसे खाने के लोभ से एक गाय उसमें गिर गयी परन्तु अन्दर में थोड़े भाग में अग्नि थी। उसमें उसका पैर जल गया फिर खड्डे में से निकले किस प्रकार? खाने के लिए खड्डे में गयी परन्तु निकल नहीं सकी और उसी में मर गयी। इसी प्रकार धर्मी को भूमिकानुसार जो राग होता है, उसमें से वह छूट नहीं सकता। राग में एकाकार नहीं है परन्तु अस्थिरतावश राग की भूमिका है, उसमें से छूटना चाहता है परन्तु छूट नहीं सकता है। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में सर्वथा रागरहित होने का पुरुषार्थ नहीं होता है।

जिस प्रकार लोह खण्ड के जाल में फँसी हुई मछली के शरीर में लोह खण्ड के काँटे भरे हुए होने से वह दु:खी होती है परन्तु छूट नहीं सकती, असाता प्राप्त करती है। यदि जाल में से छूट जाये तो साता पाये परन्तु छूट नहीं सकती। इसी प्रकार धर्मी, अस्थिरतावश राग में से छूट नहीं सकता है। यह बन्ध अधिकार है, इसलिए ज्ञानी को बन्ध का थोड़ा भाव है, उसे यहाँ सिद्ध किया है। ज्ञानी जानता है कि राग दु:खरूप है, खराब है, नुकसानकारक है, उसमें सुख नहीं है, तथापि ज्ञानी राग में जुड़ जाता है, छूट नहीं सकता है।

जैसैं महाताप.... जैसे जिसे सिर फटता हो और तेज बुखार आता हो - ऐसा मनुष्य अपना कार्य करने में शिथिल हो जाता है। इसी प्रकार अपने स्वभाव की निरोगता में स्थित

www.vitragvani.com

नहीं रह सकता ज्ञानी, अस्थिरतावश आनन्दस्वभाव से हटकर राग में आता है, तब स्वभाव की उग्रता करने में शिथिल हो जाता है।

किसी का लेख आया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बन्ध का भी कारण है और मोक्ष का भी कारण है क्योंकि तीर्थंकरनामकर्म, आहारकशरीर आदि का बन्ध सम्यक्त्वी हो ही होता है। भाई! ज्ञानी की भूमिका में रहे हुए शुभ उपयोग का वह अपराध है, उससे बन्ध होता है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से बन्ध नहीं होता, उनसे मोक्ष ही होता है। जितने अंश में निर्मलता है, उतना बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग है, उतना बन्ध ज्ञानी को भी है परन्तु उसका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है।

ज्ञानी सब जानता है कि यह राग नुकसानकारक है। विषय की वासना, लड़ाई इत्यादि के भाव आते हैं परन्तु स्वयं राजकुमार हो और वह ज्ञानी हो तो भी भूमिका ऐसी है कि ऐसे राग से छूट नहीं सकता क्योंकि अबन्धपरिणाम की पूर्णता नहीं हुई है, इसलिए बन्ध के योग्य परिणाम है। उसे मिटाने का पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए बन्ध हुए बिना नहीं रहता। पूर्व कर्म के उदय में जुड़ जाता है, तब तक बन्ध होता है।

अब कहते हैं कि ज्ञानी, मोक्षमार्ग में पुरुषार्थी होते हैं। गोम्मटसार में कहा है कि अकेला एकान्त पुरुषार्थ वह मिथ्यात्व है, और यहाँ पुरुषार्थ ही कहा है। उसका कारण यह है कि स्वभाव की ओर पुरुषार्थ होता है, उसमें सब समवाय साथ में आ जाते हैं, दूसरे समवाय अलग नहीं हैं।

मोक्षमार्ग में अज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और ज्ञानी पुरुषार्थी होते हैं (चौपाई)

जे जिय मोह नींद मैं सोवैं।
ते आलसी निरुद्दिम होवैं॥
द्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना।
तिनि आलस तजि उद्दिम कीना॥ ९॥

अर्थ - जो जीव मिथ्यात्व की निद्रा में सोते रहते हैं, वे मोक्षमार्ग में प्रमादी व पुरुषार्थहीन होते हैं और जो विद्वान् ज्ञाननेत्र उघाड़कर जागृत हुए हैं, वे प्रमाद छोड़कर मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करते हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-९ पर प्रवचन

जो जीव, राग और विकार की एकतारूप निद्रा में सो रहे हैं, वे मोक्षमार्ग में प्रमादी हैं। अन्तर्मुख स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए उन्हें प्रमादी कहा है परन्तु उलटा पुरुषार्थ तो चालू ही है। सुलटे पुरुषार्थ में हीन है क्योंकि मोहनिद्रा में सो रहा है परन्तु उस मिथ्यात्वभाव में तो वह उद्यमी है, उसमें प्रमादी नहीं है परन्तु यहाँ तो जो वीर्य स्वरूप की रचना करे, उसे ही पुरुषार्थ कहा जाता है। राग में एकत्व करता है, वह पुरुषार्थ नहीं है। मिथ्यादृष्टि, स्वभाव की ओर के झुकाव में आलसी और निरुद्यमी है।

धर्मी तो अपने ज्ञानस्वभाव की ओर के पुरुषार्थ में जागृत हो गया है, इसलिए प्रमाद छोड़कर मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ से आगे बढ़ता है। जो ऐसा कहता है कि 'भगवान ने देखा होगा तब अपने को मोक्ष होगा, उसमें अपना पुरुषार्थ क्या करेगा!' वह मिथ्यादृष्टि है, उसकी दृष्टि, राग की एकता में पड़ी है और भगवान ने देखा होगा, वैसा होगा – ऐसा कहकर पुरुषार्थ खो बैठता है।

कोई फिर ऐसा कहता है कि 'क्रमबद्ध माननेवाले पुरुषार्थ खो बैठते हैं' परन्तु वास्तव में क्रमबद्ध माननेवाले को ही पुरुषार्थ होता है। यहाँ तो कहते हैं कि अज्ञानी पुरुषार्थहीन है, प्रमादी है क्योंकि अपने स्वभावरूप परिणमित होने का पुरुषार्थ नहीं करता है। अज्ञान और मिथ्यात्वभाव का विपरीत पुरुषार्थ तो वह भलीभाँति करता है परन्तु मिथ्यात्वभाव का पुरुषार्थ, वह कहीं पुरुषार्थ है? राग की एकता और राग की रचना करना, वह पुरुषार्थ नहीं, पुरुषार्थहीनता है। विपरीत प्रयत्न को पुरुषार्थ नहीं कहते हैं।

जो ज्ञाननेत्र खोलकर जागृत हुआ है, वह स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ करता हुआ, आलस छोड़कर उद्यमवान हुआ है। सम्यग्दृष्टि, स्वभावसन्मुखता के पुरुषार्थ में उद्यमी है, उसका वीर्य शुद्धस्वभाव की रचना करता है, उसे स्वभावसन्मुखता के पुरुषार्थ में आलस होता ही नहीं, धर्मी मोक्षमार्ग में उग्र पुरुषार्थ करता है।

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति की बात की। अब, उसके दृष्टान्त देते हैं।

www.vitragvani.com

ज्ञानी और अज्ञानी की परिणति पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

काच बांधै सिरसौं सुमनि बांधै पाइनि सौं,
जानै न गंवार कैसी मनि कैसौ काच है।
यौं ही मूढ़ झूठ मैं मगन झूठ ही कौं दौरै,
झूठी बात मानै पै न जानै कहा साच है॥
मनि कौं परखि जानै जौंहरी जगत मांहि,
साच की समुझि ग्यान लोचन की जाच है।
जहां को जु वासी सो तौ तहां कौ मरम जानै,
जाकौ जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है॥ १०॥

अर्थ – जिस प्रकार विवेकहीन मनुष्य माथे में काँच और पैर में रत्न पहनता है, वह काँच और रत्न का मूल्य नहीं समझता; उसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव, अतत्त्व में मग्न रहता है और अतत्त्व ही को ग्रहण करता है, वह सत्–असत् को नहीं जानता। संसार में हीरा की परीक्षा जौहरी ही जानते हैं, साँच–झूठ की पहिचान मात्र ज्ञानदृष्टि से होती है। जो जिस अवस्था का रहनेवाला है, वह उसी को भली जानता है और जिसका जैसा स्वरूप है, वह वैसी ही परिणति करता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यात्व ही को ग्राह्य समझता है और उसे अपनाता है तथा सम्यक्त्वी, सम्यक्त्व को ही ग्राह्य जानता है व उसे अपनाता है।

भावार्थ – जौहरी, मणि को परीक्षा करके लेता है और काँच को काँच जानकर उसकी कदर नहीं करता, पर मूर्ख लोग काँच को हीरा और हीरा को काँच समझकर काँच की कदर और हीरा का अनादर करते हैं; उसी प्रकार सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी का हाल रहता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव, अतत्त्व ही को तत्त्व श्रद्धान करता है और सम्यक्त्वी जीव पदार्थ का यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता है।

काव्य–१० पर प्रवचन

अज्ञानी के लिए बनारसीदासजी ने कैसा दृष्टान्त दिया है! कोई पैर में रत्न और सिर पर काँच नहीं पहनता परन्तु अज्ञान में जीव की कैसी दशा होती है ? यह समझाने के लिए ऐसा दृष्टान्त कहा है। पागल हो, वह ऐसे पहनता है, पगड़ी में काँच भराता है और

www.vitragvani.com

पैर की जूतियों में मणि जड़ाता है, उसे काँच और मणि की कीमत का पता ही नहीं है। इसी प्रकार अज्ञानी को तत्त्व और अतत्त्व के स्वरूप का पता ही नहीं है। इसलिए अतत्त्व को ही तत्त्व मानकर उसमें लीन रहता है। निश्चय को तजकर व्यवहार में वर्तन करता है, वह विद्वान नहीं किन्तु मूढ़ है।

कोई अज्ञान में ऐसा मानता है कि जगत में एक आत्मा ही है तो कोई ऐसा मानता है कि आत्मा, कर्म का खिलौना है; कर्म नचावे, वैसे आत्मा नाचता है। इस प्रकार अनेक प्रकार से अज्ञानी, वस्तुस्वरूप से विपरीत मान्यता करके तद्नुसार वर्तन करता है परन्तु कर्म तो बेचारे जड़ हैं; कर्म में जीव की नास्ति है और जीव में कर्म की नास्ति है। इस कारण कर्म, जीव को नहीं नचा सकते। 'कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई' – जीव अपनी भूल से दु:खी होता है।

वास्तविक तत्त्व के भान बिना अज्ञानी जीव, अतत्त्व में लीन रहता है। **झूठ ही कौं दौरै,...** मान्यता झूठी है; इसलिए प्ररूपणा भी झूठी करता है और उसे ही सिद्ध करना चाहता है। सच-झूठ की परीक्षा अपनी ज्ञानदृष्टि से ही हो सकती है, अज्ञानी को उसकी परीक्षा नहीं होती है।

जैसे, मणि को झवेरी ही परख सकता है। एक बात आती है न! एक व्यक्ति विदेश से एक मणि ले आया था, उसने अपनी पत्नी को दिया कि इसे घर में रखना तो इसके प्रकाश से अपना काम चलेगा, दीपक नहीं जलाना पड़ेगा, इतनी केरोसिन की बचत होगी। एक बार एक झवेरी उसके घर के समीप से निकला, वह प्रकाश देखकर ही समझ गया कि यह तो बड़ी मणि का प्रकाश है। उसने उस व्यक्ति से कहा – तुझे जितनी चाहिए उतनी स्वर्ण मोहर हम से ले जा और यह मणि मुझे दे दे। तब उस व्यक्ति को मणि की कीमत का ख्याल आया। अरे! यह ऐसी चीज है! मैं जहाँ था, वहाँ तो ऐसे मणि बहुत थे ही परन्तु मैं तो उन्हें पत्थर मानता था, इसलिए अधिक नहीं लाया।

मणि से अनजान मनुष्य की तरह अज्ञानी, तत्त्व से अनजान है; ज्ञानी ही तत्त्व के स्वरूप को समझता है। द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है, पर्याय द्रव्य के आश्रय से होवे तो शुद्ध है और पर के आश्रय में होवे तो अशुद्ध है – ऐसा वस्तु का वास्तविक स्वरूप ज्ञानी ही जानता है।

www.vitragvani.com

अज्ञानी तो रागादि की एकत्वबुद्धि में पड़ा है, वह तत्त्व के मर्म को नहीं जानता है। ज्ञानी को ज्ञानदृष्टि-ज्ञानलोचन खुल गये हैं और अपने स्वरूप में ही लीनता है; इसलिए वस्तुस्वरूप के मर्म को बराबर जानता है। अज्ञानी को ज्ञानलोचन खुले नहीं हैं और खिले नहीं हैं; इसलिए सतस्वरूप को नहीं जानता है।

जाकौ जैसौ स्वांग — जिसका जैसा स्वरूप है, वह वैसी परिणति करता है। मिथ्यादृष्टि की परिणति मिथ्यात्वमय है और ज्ञानी की परिणति ज्ञानमय है तथा वह ज्ञानमय भाव को ही करता है। झवेरी हीरा का आदर और काँच का अनादर करता है। वैसे ही ज्ञानी, तत्त्व का आदर और अतत्त्व का अनादर करता है अर्थात् तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करता है और अतत्त्व को नहीं मानता है।

जैसी क्रिया तैसा फल (दोहा)

बंध बढ़ावै अंध ह्वै, ते आलसी अजान।
मुकति हेतु करनी करैं, ते नर उद्दिमवान॥ ११॥

अर्थ - जो विवेकहीन होकर कर्म की बन्ध-परम्परा बढ़ाते हैं, वे अज्ञानी तथा प्रमादी हैं और जो मोक्ष पाने का प्रयत्न करते हैं, वे पुरुषार्थी हैं।

काव्य-११ पर प्रवचन

धर्मी तो राग से छूटने की ओर स्वभाव में एकता की करनी करता है। स्वभाव की एकता का पुरुषार्थ करता है, उसे ही उद्यमवान् कहा है। मिथ्यात्व का उद्यम करता है, उसे सम्यक्त्व का उद्यम नहीं है, इसलिए उसे आलसी कहा है। मिथ्यात्व का उलटा उद्यम तो वह बहुत करता है परन्तु उसे उद्यम नहीं कहते हैं, वह सच्चे पुरुषार्थ का स्वरूप नहीं है।

अब, पाँचवें श्लोक पर बारहवाँ पद्य कहते हैं।

जब तक ज्ञान है, तब तक वैराग्य (सवैया इकतीसा)

जब लग जीव सुद्धवस्तु कौं विचारै ध्यावै,
तब लग भौग सौं उदासी सरवंग है।
भोग मैं मगन तब ग्यान की जगन नांहि,
भोग-अभिलाष की दसा मिथ्यात अंग है॥

www.vitragvani.com

तातैं विषै-भोग मैं मगन सो मिथ्याती जीव,
भोग सौं उदास सो समकिती अभंग है।
ऐसी जानि भोग सौं उदास ह्वै मुकति साधै,
यहै मन चंग तौ कठौती मांहि गंग है॥ १२॥

अर्थ - जब तक जीव का विचार शुद्ध वस्तु में रमता है, तब तक वह भोगों से सर्वथा विरक्त रहता है और जब भोगों में लीन होता है, तब ज्ञान का उदय नहीं रहता, क्योंकि भोगों की इच्छा अज्ञान का रूप है। इससे स्पष्ट है कि जो जीव भोगों में मग्न होता है, वह मिथ्यात्वी है और जो भोगों से विरक्त है, वह सम्यग्दृष्टि है। ऐसा जानकर भोगों से विरक्त होकर मोक्ष का साधन करो! यदि मन पवित्र है तो कठोती के जल में नहाना ही गंगा-स्नान के समान है और यदि मन मिथ्यात्व, विषय-कषाय आदि से मलिन है तो गंगा आदि करोड़ों तीर्थों के स्नान से भी आत्मा में पवित्रता नहीं आती।

काव्य-१२ पर प्रवचन

देखो, इसमें यह सिद्धान्त सिद्ध करना है कि धर्मी शुद्ध आनन्दमय वस्तु का भोग करता है और विषयभोग आदि से तो वह उदास है। भोग की कल्पना से भी उसे वैराग्य है, क्योंकि उसे पर में सुखबुद्धि ही नहीं है; इसलिए वह पर से उदास-उदास है।

करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जाननहारा.... जो विषय की वासना में लीन है, उसे ज्ञान की जागृति नहीं है। उसका ज्ञान अन्धा हो गया है, इसलिए वह अज्ञानी विषय कषाय के भाव को करता है और भोगता है। ज्ञानी को भी अस्थिरतावश विषय-भोगादि होने पर भी राग में एकता नहीं होने से ज्ञानी विषय-भोग से उदास है। आत्मा में एकता होने से इन्द्राणी का भोग हो, उसमें भी वह उदास है। उसे पर में कहीं सुख का रस नहीं आता है, चाहे जितना पैसा हो, अच्छे लड़के हों या सरस मजेदार मकान और वास्तु हो तो भी धर्मी जीव उस पर के भोग से उदास है। लोग उसके पैसा-मकान इत्यादि की महिमा करते हों तो भी धर्मी उससे उदास... उदास... है। मेरा आनन्द का भोग मेरे पास है, परचीज में मेरा आनन्द नहीं है।

बीस वर्ष का युवा पुत्र, छह महीने का विवाहित, तत्पश्चात् मर गया हो, उसका मुँह

www.vitragvani.com

देखते हुए पिता को क्या हर्ष होगा ? इसी प्रकार धर्मी को दुनिया के भोग देखते हुए हर्ष नहीं परन्तु खेद है – उदासी है। आत्मा के आनन्द के अतिरिक्त उसे कहीं सुख नहीं लगता है। श्मशान में मुर्दा बैठा हो, वैसे धर्मी दुनिया में रहता है। आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष पूरी दुनिया के भोग का रस उसकी दृष्टि में से उड़ गया है।

अज्ञानी को भोगों में रस आता है, उसमें भी कोई गुणगान करे तो अन्दर से गुदगुदी हो जाती है। अज्ञानी राग में लीन है, पर में सुखबुद्धि होने से उसका ज्ञान अन्धा हो गया है, भूख लगी हो और एक प्रकार की गुजराती मिठाई मिल जाये, वहाँ तो अज्ञानी राग में विलस जाता है। ज्ञानी ऐसे प्रसंग में पर से उदास होता है, वह खाता-पीता दिखाई दे परन्तु वास्तव में ज्ञानी खाता-पीता नहीं है।

अज्ञानी तो शरीर की सुन्दरता और अवयवों की कोमलता देखे, वहाँ लीन हो जाता है, उसे चैतन्य की जागृति नहीं रहती है। पर में सुखबुद्धि, वह मिथ्यात्व का ही अंग है। जिसे आनन्दस्वरूप आत्मा की रुचि नहीं, उसे भोग की ही रुचि होती है। पाँच इन्द्रिय के विषयभोग में लीन है, वह मिथ्यात्वी जीव है और जो भोगों से उदासीन है, वह सम्यक्त्वी जीव है।

भोगों से उदास ऐसा सम्यक्त्वी जीव ही मुक्ति को साधता है।

यहै मन चंग तौ कठौती मांहि गंग है — जिसका मन निर्मल है, वह कठौत में पानी लेकर नहावे तो भी गंगा स्नान है। इसी तरह भोगों से उदास ज्ञानी तो निज घर के आनन्द को भोगता है। अज्ञानी राग में एकाकार होकर आत्मा की गंगा को छोड़ देता है।

यह बन्ध का अधिकार है, इसलिए यह सिद्ध किया है कि अज्ञान में बन्ध है और ज्ञान में बन्ध नहीं है।

मेरे आत्मा में आनन्द है – ऐसा अनुभव धर्मी ने किया है; इसलिए विषयभोग की वासना में धर्मी को आनन्द नहीं आता है, उसमें स्वामित्वबुद्धि नहीं होती है। शुभ या अशुभ किन्हीं भावों में समकिती को सुखबुद्धि नहीं होती है। विकल्प आता है परन्तु उसमें वह मजा नहीं मानता है।

राग की मन्दता या तीव्रता में 'यह मुझे ठीक है' – ऐसी बुद्धि तो मिथ्यादृष्टि को

www.vitragvani.com

होती है। मिथ्यादृष्टि तो पर से अपने को सुख मानता है। पर से सुख तो उसे भी नहीं होता परन्तु वह ऐसा मानता है कि स्त्री-पुत्रादि से मुझे सुख मिलता है; इसलिए मिथ्यादृष्टि विषयभोगादिक में मग्न रहता है।

भोग सौं उदास सो समकिती अभंग है — सम्यग्दर्शन की भूमिका में चौथे गुणस्थान में प्रतीति हुई है कि सुख आत्मा में ही है और अखण्डानन्दस्वरूप आत्मा का अन्तर में अनुभव हुआ है। इन्द्र का इन्द्रासन या शरीर की सुन्दरता या मान-प्रतिष्ठा में कोई सुख नहीं है - ऐसी प्रतीति हो गयी है। ऐसा धर्मी और अधर्मी चार प्रकार के पुरुषार्थ में किस प्रकार प्रवर्तते हैं, वह तेरहवें पद्य में कहते हैं।

चार पुरुषार्थ (दोहा)

धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषारथ चतुरंग।
कुधी कलपना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग॥ १३॥

अर्थ - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थ के चार अंग हैं। उन्हें दुर्बुद्धि जीव मनचाहे ग्रहण करते हैं और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव सम्पूर्णतया वास्तविकरूप से अंगीकार करते हैं।

काव्य-१३ पर प्रवचन

अनादि का मिथ्यादृष्टि चारों ही पुरुषार्थ के वास्तविकस्वरूप को नहीं जानता और दूसरे प्रकार से मानता है। जबकि सम्यग्दृष्टि, पुरुषार्थ का जैसा स्वरूप है, वैसा जानता है और मानता है।

चार पुरुषार्थों पर ज्ञानी और अज्ञानी का विचार (सवैया इकतीसा)

कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तुके सुभाउकौं।
खेहकौ खजानौं ताहि अग्यानी अरथ कहै,
ग्यानी कहै अरथ दरब-दरसाउकौं॥
दंपतिकौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
सुधी काम कहै अभिलाष चित चाउकौं।

Shree Kundkund-KahanParmarthikTrust, Mumbai.

www.vitragvani.com

इंद्रलोक थानकौं अजान लोग कहैं मोख,
सुधी मोख कहै एक बंधके अभाउकौं॥ १४॥

अर्थ – अज्ञानी लोग कुलपद्धति–स्नान चौका आदि को धर्म कहते हैं और पण्डित लोग वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं। अज्ञानी लोग मिट्टी के ढेर सोने–चाँदी आदि को द्रव्य कहते हैं, परन्तु ज्ञानी लोग तत्त्व–अवलोकन को द्रव्य कहते हैं। अज्ञानी लोग पुरुष–स्त्री के विषय–भोग को काम कहते हैं, ज्ञानी आत्मा को निस्पृहता को काम कहते हैं। अज्ञानी स्वर्गलोक को / वैकुण्ठ (मोक्ष) कहते हैं पर ज्ञानी लोग कर्मबन्धन नष्ट होने को मोक्ष कहते हैं।

काव्य–१४ पर प्रवचन

कुलकौ आचार — कुल पद्धति अनुसार दया–दानादि आचरण करता हो, उसे अज्ञानी धर्म कहता है परन्तु वह तो बाह्य आचार है, वह कहीं धर्म नहीं है। यदि उस आचार के साथ उसे शुभभाव होवे तो पुण्य होता है परन्तु धर्म तो होता ही नहीं। तो समकिती धर्म किसे कहते है? अखण्ड ज्ञानानन्द वस्तु के स्वयं के साधन से ज्ञानानन्द प्रगट हो, उसे समकिती धर्म कहता है।

पण्डित शब्द का अर्थ ज्ञानी होता है। वस्तु के स्वभाव में ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, वीतरागता शक्तिरूप से रही हुई है, उसकी प्रगट पर्याय में प्राप्ति होने को ज्ञानी धर्म कहते हैं। अज्ञानी को अपने कुल अनुसार और सम्प्रदाय अनुसार बाप–दादाओं ने जो आचरण किया हो, वैसा करके स्वयं धर्म हुआ मानता है परन्तु सत्य क्या है? यह समझने का प्रयत्न नहीं करता। सत्य की परीक्षा के बिना सामायिक, प्रतिक्रमण–प्रौषध आदि करना, व्रत पालना, पूजा करना, दान देना — इन सब भावों में राग की मन्दता है परन्तु धर्म नहीं है।

बहुत स्थूल मान्यतावाले को स्नान करने और धुले हुए कपड़े पहनने इत्यादि में धर्म मानते हैं। साधु के लिए चौका बनाना, आम का रस निकालना इत्यादि–इत्यादि क्रियाएँ करके साधु का पड़गाहन करते हैं, वह तो लेनेवाला और देनेवाला दोनों मिथ्यादृष्टि हैं परन्तु यह अपने को धर्म हुआ मानता है। कठोर क्रिया करनेवाले साधु को भी क्रिया से धर्म नहीं है तो शिथिलाचार में धर्म कहाँ से होगा?

www.vitragvani.com

हमारे हीराजी महाराज के संघ में तो ऐसी सख्त-कड़क क्रिया थी कि पहले से घोषणा हो जाती थी कि गाँव में साधु आये हैं - ऐसा जानकर यदि कोई उनके निमित्त से अधिक आहार बनायेगा तो वह उद्दिष्ट आहार गिना जायेगा, वैसा आहार बनायेगा, उसे गर्भ में गलना पड़ेगा... ऐसी कड़क क्रिया थी परन्तु यह सब कुल की क्रिया थी, वास्तविक धर्म की क्रिया नहीं थी। अज्ञानी लोग तो कुल पद्धति को ही धर्म कहते हैं। हमारे गुरु ऐसी क्रिया पालन करते हैं, इसलिए हमें भी पालन करना - ऐसी मान्यता में कुल पद्धति आ गयी।

सम्यग्दृष्टि तो वस्तु के स्वभाव को धर्म कहता है। अतीन्द्रिय आनन्द, यह आत्मा का स्वभाव है, उसके अनुभव को धर्म कहा जाता है। वीतराग का मार्ग परम सत्य है परन्तु जगत् को दूसरे रूप से परोसा गया है, इस कारण जगत् को धर्म के सच्चे स्वरूप का पता नहीं है। जैतपुर में तीन हजार लोगों के बीच यह बात कही थी। जैतपुर से अहमदाबाद गये थे। जयपुर में तो रथयात्रा में हजारों लोग थे परन्तु यह कोई प्रभावना नहीं है। जितना शुभभाव होता है, वह बाह्य प्रभावना है। सच्ची प्रभावना तो अन्तर में होती है। आनन्दस्वरूप आत्मा की प्रकृष्टरूप से भावना होना, अन्तर में शान्ति और एकाग्रता होना, स्वच्छता प्रगट होना... उसे वीतरागदेव सच्ची प्रभावना कहते हैं।

जयपुर में रथयात्रा में २१ तो हाथी थे और प्लास्टिक के घोड़ेवाला मशीन से चले ऐसा बड़ा ऊँचा रथ था, उसमें भगवान विराजमान किये थे और मैं सारथी के रूप में बैठा था। गोदिकाजी ने सारथी की बोली ली थी, सब लोग तो देखने निकले - यह ज्येष्ठ शुक्ला ग्यारस की ही बात है... यह सब बाहर की क्रियाएँ हैं। इनमें धर्म नहीं है, यह तो कुल के आचार की परम्परा का वर्णन है और उनमें शुभभाव होता है, वह भी धर्म नहीं है क्योंकि शुभभाव, वह कोई वस्तु का स्वभाव नहीं है, इसलिए ज्ञानी उसे धर्म नहीं मानते और नहीं कहते हैं।

खेहकौ खजानौं — अज्ञानी, सोना-चाँदी आदि मिल्कत को द्रव्य कहता है औरज्ञानी तो मिट्टी का ढेर समझता है। शरीर स्वयं ही मिट्टी का पिण्ड है और लक्ष्मी-सोना -जवाहरात आदि सब पुद्गल होने से अपना नहीं मानता। क्या वे चीजें जीव की होकर

www.vitragvani.com

रहती हैं ? वे तो अजीव होकर ही रहती हैं। राख का ढेर है, फिर भी जगत् में लक्ष्मीवाले की कुर्सी आगे रखी जाती है, उसकी महिमा होती है, मान मिलता है। अज्ञानी की दृष्टि में उसकी महिमा है; इसलिए उसकी कीमत मानता है परन्तु आत्मा की दृष्टि से उसकी कुछ भी कीमत नहीं है।

ग्यानी कहै — ज्ञानी छह द्रव्यों को द्रव्य कहता है और प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता में रहता है। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के आधीन नहीं है - ऐसा देखता है। कर्म के साथ आत्मा एकमेक नहीं होता; आत्मा के साथ कर्म एकमेक नहीं होते। प्रत्येक द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखने का नाम अवलोकन कहा जाता है। अज्ञानी पैसों का अवलोकन करके उसे द्रव्य मानता है, वह उसकी मूढ़ता है। आत्मा कब पैसावाला हो सकता है ? पैसा तो जड़ है। आत्मा जड़वाला नहीं हो सकता। अपने आत्मस्वरूप से अनजान जीव ही पैसे को द्रव्य मानता है। भाई ! जगत् की चीज तेरी कैसे होगी ?

यहाँ तो शरीर को अपना मानता है, वह भी मूढ़ है तो पैसा तो अत्यन्त अजीव है, उसे जीव का कैसे माना जाए तथा आत्मा पैसेवाला कैसा ? यह पैसे की ममतावाला हुआ है परन्तु पैसा इसका नहीं होता। पैसा तो जड़ है-जगत की स्वतन्त्र चीज है। भगवान आत्मा, पैसा से तो पृथक् ही है परन्तु उसे शरीर-कर्म और राग से भी भिन्न देखने का नाम द्रव्य का अवलोकन है। उसे 'अर्थ' कहा जाता है। वीतराग परमात्मा, इन्द्रों के समक्ष ऐसा फरमाते थे।

इन्द्रों को तो बहुत वैभव होता है। पहले सौधर्म स्वर्ग में ३२ लाख विमान हैं, उनका स्वामी इन्द्र है। दूसरे ईशान स्वर्ग का इन्द्र २८ लाख विमान का स्वामी है। एक-एक विमान में असंख्य देव होते हैं, यह सब इन्द्र का वैभव वास्तव में खेद का खजाना-मिट्टी का ढेर है। इन्द्र के इन्द्रासन, चक्रवर्ती की विभूतियाँ, सब पर हैं, आत्मा से बाह्य हैं। प्रभु ! यह चीज तुझमें कहाँ आ गयी या तू उनमें कहाँ प्रविष्ट हो गया है ? भिन्न वस्तु को भिन्न देखना का नाम अवलोकन अर्थात् अर्थी है। कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का नहीं है, प्रत्येक द्रव्य अपना-अपना है। भगवान आनन्द का नाथ-चैतन्यस्वभावी द्रव्य वह मेरा धन है - अर्थ है, वह सदा मेरा होकर रहता है।

मूढ़ जीव, स्त्री के भोग को 'काम' कहते हैं, वे मूढ़ हैं। क्या आत्मा भोग कर सकता

www.vitragvani.com

है ? जड़ को आत्मा भोग नहीं सकता, मात्र उस सम्बन्धी के राग को भोगता है। धर्मी जीव उसे काम नहीं कहते। धर्मी तो आत्मा की निस्पृहता को काम कहते हैं। धर्मी को भावना भी निस्पृहता की ही होती है। जहाँ राग की भी अभिलाषा नहीं है, एक मात्र आनन्दस्वरूप आत्मा की स्पृहा है, दूसरी कोई स्पृहा नहीं, उसे निस्पृही कहा जाता है। निस्पृहभाव को ही ज्ञानी काम कहते हैं।

यह बन्ध अधिकार है न! इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि जो बन्ध का कारण है, उसे ही अज्ञानी भला मानता है। जबकि ज्ञानी, बन्ध से छुड़ानेवाले भाव का सेवन करके मुक्त होता है। अज्ञानी कुलाचार को, मिल्कत आदि को, काम आदि के परिणाम को सेवन करता है और उन्हीं की स्पृहा रखता है। जबकि ज्ञानी उन भोगादि सबकी स्पृहा से रहित निस्पृह है। तो प्रश्न होता है कि सम्यक्त्वी चक्रवर्ती को ९६ वें हजार स्त्रियाँ हैं न ? नहीं; नहीं क्योंकि सम्यक्त्वी की दृष्टि और भावना में स्त्रियों में मेरापन है ही नहीं। उसकी दृष्टि और भावना में एकमात्र निस्पृह स्वभाव ही है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में बड़ा अन्तर है।

इंद्रलोक थानकौं — व्यन्तर आदि स्वर्ग के स्थान मणिरत्न से बने हुए होते हैं, उन्हें अज्ञानी लोग बैकुण्ठ मानते हैं परन्तु वहाँ भूत रहते हैं। किसी को भूत में से मनुष्य होकर पूर्व भव का स्मरण हुआ हो तो ऐसा लगता है कि मैं तो बैकुण्ठ में से आया हूँ और बैकुण्ठ में जानेवाला हूँ परन्तु वहाँ कहाँ सुख था ? यहाँ के सेठों के बंगलों की अपेक्षा देवलोक के मकान जरा उत्कृष्ट होते हैं, संयोग की धूल यहाँ की अपेक्षा अधिक होती है, उससे क्या ? अज्ञान और राग की होली तो वहाँ भी सुलगती ही है।

यहाँ हमारे साधु को लड्डू खिलाओ तो तुम्हें बैकुण्ठ में लड्डू मिलेंगे – ऐसा लोग बोलते हैं। उसके पीछे भाव कैसा है ? देह रखना है, लड्डू खाना है, उसका मोक्ष कहाँ से होगा ? रागादिक का पूर्णरूप से छूट जाना और अकेली आनन्द की दशा रहना, उसका नाम मोक्ष है। इस प्रकार ज्ञानी कहते हैं और ऐसे मोक्ष की ही भावना ज्ञानी को है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की दशा में बड़ा अन्तर है।

अब, बनारसीदासजी चारों ही पुरुषार्थ को आत्मा में उतारते हैं।

www.vitragvani.com

आत्मा ही में चारों पुरुषार्थ हैं (सवैया इकतीसा)

धरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै,
अरथकौ साधन विलेछ दर्व षटमैं।
यहै काम-साधन जु संग्रहै निरासपद,
सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमैं॥
अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलोकै बुध,
धरम अरथ काम मोख निज घटमैं।
साधन आराधनकी सौंज रहै जाके संग,
भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमैं॥ १५॥

अर्थ – वस्तुस्वभाव का यथार्थ जानना धर्म-पुरुषार्थ की सिद्धि करना है, छह द्रव्यों का भिन्न-भिन्न जानना अर्थ-पुरुषार्थ की साधना है, निस्पृहता का ग्रहण करना काम-पुरुषार्थ की सिद्धि करना है और आत्मस्वरूप की शुद्धता प्रगट करना मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि करना है। ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – इन चारों पुरुषार्थों को सम्यग्दृष्टि जीव अपने हृदय में सदा अन्तर्दृष्टि से देखते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यात्व के भ्रम में पड़कर चारों पुरुषार्थों की साधक और आराधक सामग्री पास में रहते हुए भी उन्हें नहीं देखता और बाहर खोजता फिरता है।

काव्य-१५ पर प्रवचन

सबको प्रश्न रहता है कि धर्म तो तुम कहते हो, वह ठीक परन्तु इस धर्म का साधन क्या? धर्म का साधन भी वस्तु का स्वभाव ही है। वस्तु के स्वभाव में 'करण' नामक गुण है, उसके द्वारा वस्तु के स्वभाव की साधना करने से धर्म होता है। भगवान आत्मा के स्वभाव में तो ज्ञान, आनन्द, शान्ति है, उसे साधना और लीनता करने का नाम धर्म है। उसमें 'धर्म' पुरुषार्थ की सिद्धि है।

छह द्रव्यों का भिन्न-भिन्न जानना, वह अर्थ पुरुषार्थ की साधना है। छहों द्रव्य स्वतन्त्र है, कोई किसी को लाभ या नुकसान नहीं करता – ऐसा जानना – निर्णय करना – मानना उसमें अर्थ की सिद्धि है। यह कर्म मुझे नुकसान करता है – ऐसा माननेवाले को

www.vitragvani.com

अर्थ पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं है। कर्म का उदय आवे तो मुझे विकार होता है और कर्म हल्के हों तो मुझे लाभ होता है – ऐसा माननेवाले को द्रव्य को देखना ही नहीं आता है। छहों द्रव्य स्वतन्त्ररूप से अपना काम कर रहे हैं, उसमें उन्हें दूसरे द्रव्य की सहायता या दूसरों से विघ्न नहीं है। इस प्रकार एक वस्तु को दूसरे से अत्यन्त भिन्न देखना, उसमें अर्थ पुरुषार्थ की सिद्धि है अर्थात् उसमें आत्मपदार्थ की सिद्धि है।

मूढ़ जीव, जड़ के भोग को काम कहते हैं परन्तु वह काम नहीं है। आशारहित **निरासपद** – निस्पृहभाव–वीतरागभाव के ग्रहण में 'काम' पुरुषार्थ की साधना है। आत्मा स्वयं वीतराग पद है, उसे संग्रहे अर्थात् ग्रहण करे, वह काम पुरुषार्थ है।

भगवान आत्मा सहज आत्मस्वरूप है, उसकी प्रगट शुद्धता होना, उसे भगवान 'मोक्ष' कहते हैं। सहज स्वभाव प्रगट होना–पूर्ण शुद्धता प्रगट होना – इसका नाम मोक्ष है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चारों ही पुरुषार्थ को अन्तर में – आत्मा में देखता है; बाहर में किसी पुरुषार्थ को नहीं देखता। धर्म का साधन आत्मा में; अर्थ पुरुषार्थ आत्मा में; निस्पृहता का ग्रहण आत्मा में और पर्याय की पूर्ण निर्मलता की प्राप्तिरूप मोक्ष भी आत्मा में ही होता है। **अंतरकी द्रिष्टिसौं निरंतर विलोकै बुध** — धर्मी जीव निरन्तर इस प्रकार अन्तरदृष्टि से चारों ही पुरुषार्थ आत्मा में देखता है और अपने को निरन्तर पर से भिन्न देखता है। सम्यग्दृष्टि जीव, राग के विकल्प से भी मेरा स्वरूप भिन्न है – ऐसा देखता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – यह चारों ही बोल इस प्रकार आत्मा में उतरते हैं; बाहर में एक भी नहीं उतरते। इसलिए कहा कि **धरम अरथ काम मोख निज घटमैं** — चारों ही पुरुषार्थ अपने अन्दर में दिखते हैं। यह शरीर या शुभपरिणाम, आत्मा के आराधन में साधन हैं, यह मात्र व्यवहार है; वास्तव में कोई साधन बाहर में नहीं है। चारों ही पुरुषार्थ को आत्मा स्वयं पहुँचता है, इसलिए साधन आत्मा में ही है।

श्रोता : जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा और आगम को साधन कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव की साधना करनेवाले को शुभभाव के काल में जिनप्रतिमा, जिनागम आदि निमित्तों के प्रति लक्ष्य जाता है; इसलिए ऐसा कहा जाता है कि

www.vitragvani.com

वे साधन हैं परन्तु वे निश्चय साधन नहीं हैं। धर्मी को साधकदशा में बीच में ऐसा शुभभाव आये बिना नहीं रहता परन्तु हेयबुद्धि से आता है।

लोगों को मोक्ष के मार्ग की श्रद्धा होना महाकठिन है। बाहर में ऐसे फँस जाते हैं कि उसमें से निवृत्त हो तो सत्य समझे न! खमासणा आदि क्रिया तो जड़ की है। इस जड़ की और राग की क्रिया से भिन्न पड़कर आत्मा में एकाग्र होना, वह धर्म की क्रिया है परन्तु जिसने पाँच-दस लाख खर्च करके बड़े-बड़े मन्दिर बनाये हों और लोगों की वाह-वाह प्राप्त होती हो, उसे यह बात मानना कठिन पड़ता है।

साधन और आराधन की सामग्री तेरे पास पड़ी है। प्रभु! तू आत्मा है, तेरी साधन सामग्री तुझसे बाहर नहीं होती। मन्दिर में जाऊँगा तो मुझे सुख-शान्ति मिलेगी, भगवान की प्रतिमा के दर्शन से कुछ मिलेगा, समवसरण में जाऊँगा तो मुझे लाभ होगा - ऐसी मान्यता नहीं होती भाई! सत् निमित्तों की ओर का झुकाव वह शुभभाव है - ऐसा शुभभाव आता अवश्य है परन्तु वह साधन नहीं है; तथापि राग की मन्दता में शुभभाव आता ही है परन्तु उससे मुझे लाभ होगा, ऐसी मान्यता नहीं होती।

भगवान ने वस्तु के स्वरूप को किया नहीं, भगवान ने वस्तुस्वरूप ऐसा है - यह जाना है और कहा है, उसे तू जान और मान! तुझे भी वस्तुस्वरूप को करना नहीं है। तेरा साधन और आराधक-सामग्री तेरे पास होने पर भी तू उसे नहीं देखता और बाहर साधन ढूँढा करता है। राग कहीं आत्मा का साधन नहीं है, तथा सम्मेदशिखर, शत्रुंजय आदि तीर्थक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र, अतिशय क्षेत्रों में तेरा साधन नहीं है। मिथ्यादृष्टि इन क्षेत्रों में जाकर अपना दर्शन होगा - ऐसे बाहर में अपनी खोज करता है।

अपने कल्याण का साधन अपने अन्दर में ढूँढे तो प्राप्त हो ऐसा है क्योंकि अन्तर में ही साधन रहा हुआ है। बीच में शुभभाव आते हैं, इसलिए उन्हें व्यवहार साधन कहा जाता है परन्तु उन्हें ही वास्तविक साधन मान ले तो मिथ्यात्व है। जिस नय का कथन हो, उसे उस अपेक्षा से समझना चाहिए। नय को नहीं समझे तो अन्यथा मान्यता करके संसार में डूब जायेगा। निश्चय के साथ जैसा व्यवहार हो, उसे ज्ञानी जानता है परन्तु उसे ही निश्चय साधन मान लेने को नहीं कहता है।

www.vitragvani.com

समयसार की ग्यारहवीं गाथा में आया है कि व्यवहार को हस्तावलम्बन जानकर जिनवाणी में उसका उपदेश बहुत आया है परन्तु उसका फल भी संसार ही है, इसलिए उसे निश्चय साधन नहीं मान लेना। वीतराग सर्वज्ञ कथित बात स्वयं न्याय से बैठाकर निर्णय करना चाहिए और न्याय से ठीक से बैठ जाये – ऐसी बात है, कुछ गड़बड़ रहे – ऐसा नहीं है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में तो बहुत कहा है कि व्यवहार कहता है, वैसा ही मान लेना, वह मिथ्यात्व है। व्यवहार को अभूतार्थ कहा है, इसलिए व्यवहार नहीं है – ऐसा नहीं है। व्यवहार है परन्तु वह स्वभाव का साधन नहीं है; इसलिए उसे गौण करके अभूतार्थ कहा है।

भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमैं — मिथ्यादृष्टि भ्रम से बाहर में ही अपना साधन ढूँढता फिरता है, यह उसकी मूर्खता है। किसी गुरु से मुझे धर्म हो जायेगा! किसी तीर्थक्षेत्र में जाने से मुझे समकित होगा! इस तरह उसकी दृष्टि बाहर में ही भ्रम से भटकती रहती है।

बन्ध अधिकार में भी बहुत सरस बात की है। अब कलश कहेंगे।

श्री नाटक समयसार शास्त्र का यह बन्ध अधिकार है। इसमें यह विषय चल रहा है कि अज्ञानी को मिथ्यात्व के कारण प्रति समय सात कर्मों का बन्ध पड़ता है परन्तु ज्ञानी को मिथ्यात्व नहीं होने से ज्ञानदशा के कारण बन्ध नहीं पड़ता है।

ग्रन्थ के १८२ पृष्ठ पर नीचे छठा कलश है, उसके पद्यानुवादरूप सोलहवाँ पद्य है। इसमें वस्तु का सत्यस्वरूप और मूर्ख का विचार कहते हैं।

वस्तु का सत्य स्वरूप और मूर्ख का विचार (सवैया इकतीसा)

तिहूँ लोकमांहि तिहूँ काल सब जीवनिकौ,
पूरब करम उदै आइ रस देतु है।
कोउ दीरघाउ धरै कोउ अलपाउ मरै,
कोउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है॥

www.vitragvani.com

याहि मैं जिवायौ याहि मारौ याहि सुखी करौ,
याहि दुखी करौ ऐसे मूढ़ मान लेतु है।
याही अहंबुद्धिसौं न विनसै भरम भूल,
यहै मिथ्या धरम करम-बंध-हेतु है॥ १६॥

अर्थ – तीन लोक और तीनों काल में जगत के सब जीवों को पूर्व उपार्जित कर्म उदय में आकर फल देता है, जिससे कोई अधिक आयु पाते हैं, कोई छोटी उम्र में मरते हैं, कोई दुखी होते हैं और कोई साधारण स्थिति में रहते हैं। इस पर मिथ्यात्वी ऐसा मानने लगता है कि मैंने इसे जिलाया है, इसे मारा, इसे सुखी किया, इसे दुःखी किया है। इसी अहंबुद्धि से अज्ञान का परदा नहीं हटता और यही मिथ्याभाव है, जो कर्मबन्ध का कारण है।

काव्य-१६ पर प्रवचन

ऊर्ध्व, मध्य और अधो – यह तीन लोक; भूत, वर्तमान, भविष्य – यह तीन काल और समस्त जीव कहकर पूरी बात ली है कि सर्व काल, सर्व लोक में, सर्व जीवों को, पूर्व कर्म अनुसार ही फल मिलता है। पूर्व में स्वयं ने जैसा कर्म बाँधे हों, ऐसे ही उसे वर्तमान में संयोग और आयुष्य आदि प्राप्त होते हैं परन्तु विकार पूर्व कर्म के उदयानुसार होता है, – यह बात नहीं है। यहाँ तो मात्र संयोग, आयुष्य आदि धूल की सामग्री की बात है। किसी को अनुकूल संयोग मिलता है तो किसी को प्रतिकूल संयोग मिलता है, यह पूर्व के कर्म के कारण मिलता है।

किसी को लम्बी आयु मिलती है, किसी को अल्पायु मिलती है, किसी को सुख का निमित्त हो – ऐसी अनुकूल सामग्री का संयोग होता है तो किसी को दुःख का निमित्त हो – ऐसी प्रतिकूल सामग्री का संयोग होता है। यह सब स्वयं ही पूर्व में किये हुए कर्म के अनुसार मिलता है। अच्छे स्त्री-पुत्र, निरोगी शरीरादि सामग्री साताकर्म के उदय से मिलती हैं और असाताकर्म के उदय से निर्धनता, शरीर में रोग, प्रतिकूल स्त्री-पुत्रादि का संयोग होता है। किसी को मध्यम स्थिति होती है, वह सब पूर्व कर्म के रस और स्थिति अनुसार होती है परन्तु अज्ञानी-मूढ़ जीव यह सब अनुकूल संयोग मुझसे हुआ है – ऐसा मानता है।

www.vitragvani.com

अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैंने बालकों को बढ़ा किया, गौशाला में पशुओं को मैंने बचाया, मरते हुए जीवों की मैंने प्राणरक्षा की — ऐसे अनेक प्रकार से मिथ्यामान्यता का सेवन करता है परन्तु भाई! जीव अपने आयुकर्म से जीवित रहते हैं, उसमें तूने क्या किया?

ऐसा भी कहते हैं कि भगवान का संदेश है 'जिओ और जीने दो' परन्तु वास्तव में तो मैं पर को जिला सकता हूँ – ऐसी मान्यता मूढ़ मिथ्यादृष्टि को होती है। यह मनुष्य पानी में पड़ता था, इसे मैंने बचाया। यह चींटियाँ पानी में पड़ी थी, मैंने उन्हें बाहर निकाला — भाई! तेरे बचाने का भाव था, यह ठीक परन्तु क्रिया तो पर की हुई है, उसका कर्ता तू नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता – ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। यह भगवान वीतराग ने बतलाया है।

भगवान ने अहिंसा को परमधर्म कहा है; इसलिए दूसरों को बचाने से धर्म है – ऐसा भगवान ने नहीं कहा है। राग है, वहाँ तक दूसरे को बचाने का राग आयेगा परन्तु राग आया, इसलिए पर को इसने जिला दिया, यह बात मिथ्या है। (पर्याय में अपने स्वभाव की हिंसा न होने देना, उसे भगवान ने अहिंसाधर्म कहा है।)

प्रश्न तो होता है कि पिता, पैसा खर्च करके पुत्र को शिक्षा तो देता है न, चतुर तो बनाता है न... ऐसे अनेक प्रकार से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य कर देता है – ऐसा अज्ञानी को लगता है। वह उसकी मूढ़ता है–मूर्खता है। पुत्र अपने पूर्व कर्म के उदयानुसार सामग्री प्राप्त करता है, वह पिता ने नहीं दी है। शत्रु जहर देने से नहीं मरता, वह स्वयं की आयुकर्म के नाश से मरता है। मैं दूसरे को आहार देता हूँ, दवा देता हूँ, पग दबाता हूँ, सेवा करता हूँ – ऐसी मान्यता ही भूल भरी है, वह तुझे दुःख देती है।

एक अंगुली चलाने का काम भी आत्मा का नहीं है, उसके बदले जड़ के समस्त कार्यों का कर्ता होने जाता है, वह वीतराग द्वारा कथित तत्त्व को नहीं समझता है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व की दया पाल सकता है, बचा सकता है या मार सकता है – ऐसी शक्ति ही किसी तत्त्व में नहीं है। तेरापन्थी भी कहते हैं कि पर को बचाना, वह मिथ्यात्व है परन्तु वे दूसरे प्रकार से मानते हैं। 'जीव पर को बचा नहीं सकता' – इस बात का तो उन्हें पता

www.vitragvani.com

ही नहीं है, वे तो पर के बचाने के भाव को पाप कहते हैं। ऐसा नहीं है भाई! पर को बचाने का भाव तो पुण्य है परन्तु मैं पर को बचा सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्या है। 'मैं पर को बचा सकता हूँ' – ऐसा माननेवाला, परद्रव्य की क्रिया का कर्ता अपने को मानता है, यह मान्यता-मिथ्यात्व है परन्तु दया का भाव आवे, वह कहीं पाप नहीं है, वह तो पुण्यभाव है।

परजीव को बचाने का भाव धर्म नहीं है, पुण्य नहीं है परन्तु पुण्य, बन्ध का कारण है। धर्मी को ऐसा शुभराग आता है परन्तु मैं परजीव को बचा सकता हूँ – ऐसा धर्मी नहीं मानता है। जो ऐसा मानता है कि मैं परजीव को मार-जिला सकता हूँ तो वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। अरे! मैं मन्दिर बनाता हूँ, पुस्तक बनाता हूँ, गाथा का अनुवाद करता हूँ – ऐसी मान्यता भी मूढ़ता है, क्योंकि जड़ की पर्याय को जीव कैसे कर सकता है?

यह तो सर्वज्ञ से सिद्ध हुई बातें हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में रहता है। द्रव्य अर्थात् अनन्त शक्तिमय वस्तु, गुण अर्थात् शक्ति और पर्याय अर्थात् द्रव्य की वर्तमान हालत – उसमें द्रव्य रहता है। उसे दूसरा द्रव्य क्या कर सकेगा? 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य को नहीं करता' – यह वस्तुस्वभाव तीन काल-तीन लोक में समस्त जीवों को लागू पड़ता है। अरे! प्रत्येक द्रव्य को लागू पड़ता है।

मैं दुकान पर बैठा होऊँ तो ग्राहक अधिक आते हैं, नौकर बैठा हो तो ग्राहक नहीं आते, व्यापार नहीं चलता... परन्तु परमाणुओं के आने-जाने के कार्य का कर्ता तू कहाँ बन बैठा भाई!

इतने पशु कत्लखाने में जा रहे थे, मैंने उन्हें छुड़ाया... इतने एकेन्द्रिय जीवों की मैंने रक्षा की... उसमें बचाने का भाव तो शुभ है परन्तु मैं पर को बचा सकता हूँ – ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। अपने को पर का कर्ता माननेवाले को नवतत्त्व की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी बिगाड़े या सुधारे – ऐसी मान्यता मिथ्यादर्शन शल्य है।

श्रोता : माँ-बाप को पालना या नहीं?

उत्तर : भाई! मैं परद्रव्य को पालता हूँ, तेरी यह बात भी मिथ्या है। यह तो वीतरागमार्ग है बापू! प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है, कोई एक द्रव्य की दशा को दूसरा द्रव्य करे

www.vitragvani.com

या सम्हाले - ऐसा तीन काल में कभी नहीं होता है। एकेन्द्रिय हो, दोइन्द्रिय हो या पञ्चेन्द्रिय हो, किसी भी जीव की रक्षा दूसरा जीव नहीं कर सकता... तो प्रतिक्रमण में आता है न कि मैं त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से परान्मुख होता हूँ — यह तो विकल्प में इस प्रकार विचार करके परान्मुख होता है परन्तु इस कारण किसी परद्रव्य को जिला या मार सकता है - ऐसा नहीं कहना है।

भगवान कहते हैं कि 'मैं दूसरों की प्राण रक्षा कर सकता हूँ' - ऐसी तेरी मान्यता महामूढ़ता है, उसमें तुझे पाप बँधता है। मैं दूसरों को मार सकता हूँ या अनुकूलता दे सकता हूँ; इस प्रकार की विपरीत मान्यता करनेवाला आत्मा की हिंसा करनेवाला है। **याहि सुखी करौ, याहि दुखी करौ ऐसे मूढ़ मान लेतु है** — मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव ही ऐसी मिथ्या कल्पना करता है कि मैं पर को सुखी करता हूँ अथवा दुःखी करता हूँ। जिसे तत्त्व की दृष्टि नहीं है, आत्मा क्या या सम्यग्दर्शन क्या ? - इसका जिसे ज्ञान नहीं है, ऐसे जीव ही इस प्रकार पर के कर्ता होकर अभिमान करते हैं। साधु नाम धराकर भी ऐसी मिथ्यामान्यता करे तो वह मूढ़ है।

साधु, पण्डित इत्यादि को यदि ऐसा लगता है कि हमारे पास पैसा नहीं है, इसलिए हम दान नहीं दे सकते परन्तु हम उपदेश ऐसा देते हैं कि लोग दान में पैसे की झड़ी लगा देते हैं... यह तेरी मिथ्यामान्यता है। प्रथम तो उपदेश तेरा कार्य नहीं है, वह तो जड़ का कार्य है और उससे लोग पैसा नहीं निकालते, पैसा तो निकलने का था, इसलिए निकला है परन्तु उन्हें ऐसा लगता है कि हमने ऐसा उपदेश दिया है कि घर में महिलाओं को मात्र भोजन बनाकर पुरुषों को जिमाने का ही हक है ? पैसा खर्च करने का हक क्यों नहीं ? गहनों पर तो बहिनों का अधिकार है न ? बहिनों को ऐसा कहकर ऊँचा चढ़ाकर दान में पैसा निकाल लेते हैं.... ऐसी मूढ़ता करना रहने दे भाई ! उपदेश तो भाषा का कार्य है। उसमें तूने क्या किया ?

जगत् की वस्तु का परिणमन 'किसी से किया नहीं होता और रखने से नहीं रहता।' उसके समय पर होना हो, वह होता है और रहना हो, वह रहता है, जाना हो वह जाता है — आत्मा उसमें कुछ कर सकता है, यह बात तीन काल में शक्य नहीं है। दर्जी कपड़ा

www.vitragvani.com

सिल नहीं सकता; मशीन का, कपड़े का, डोरे का परिणमन सबका स्वयं से होता है, उसे दर्जी नहीं कर सकता।

मैं दूसरे को सुखी या दु:खी कर सकता हूँ – ऐसी अहंबुद्धि के कारण दूसरे जीव के जीवन-मरण या सुख-दु:ख मैं करता हूँ – ऐसा भ्रम नहीं मिटता है। मैंने आहार दिया, इसलिए अमुक बच गया, मर ही जानेवाला था, तड़फड़ा रहा था परन्तु मैंने पानी पिलाया तो बच गया – ऐसा मानना रहने दे भाई! वह उसके आयुकर्म के कारण बचा है, तेरे कारण नहीं बचा है।

जगत् का एक-एक रजकण स्वतन्त्र अजीवतत्त्व है, उसकी जिस काल में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से जो अवस्था होनी हो, वह होती है, उसे दूसरा द्रव्य करे या रोक सके – यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। मिथ्याश्रद्धा से मूर्च्छित होकर अज्ञानी ने पर का कार्य करने की चेष्टा तो बहुत की परन्तु किसी का कुछ कर नहीं सका। कर्म का नाश करने के लिए महाव्रत भी बहुत बार पालन किये परन्तु अपनी श्रद्धा में यथार्थता नहीं लाया, इसलिए अनन्त काल से मिथ्याश्रद्धा से जीव दु:खी है। यह मिथ्याभाव ही उसे कर्म-बन्ध का कारण है।

यह छठवें श्लोक का भाव हुआ। अब, सातवें श्लोक के सत्रहवें पद्य में इसी भाव का विस्तार हेतु भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह सुलटा पड़े तो जो होता है, उसे मात्र जानता है परन्तु उलटा पड़े तो जो होता है, वह मुझसे हुआ है – ऐसा अहंकार करता है। बस! इससे विशेष वह कुछ नहीं कर सकता है।

पुनः (सवैया इकतीसा)

जहांलौं जगत के निवासी जीव जगतमैं,
सबै असहाइ कोऊ काहूकौ न धनी है।
जैसी जैसी पूरब करम-सत्ता बांधी जिन,
तैसी उदैमैं अवस्था आइ बनी है॥
एतेपरि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊं मारूं,
इत्यादि अनेक विकलप बात घनी है।

www.vitragvani.com

सो तौ अहंबुद्धिसौं विकल भयौ तिहूँ काल,
डोलै निज आतम सकति तिन हनी है॥ १७॥

अर्थ – जब तक संसारी जीवों का जन्म-मरणरूप संसार है, तब तक वे असहाय हैं – कोई किसी का रक्षक नहीं है। जिसने पूर्वकाल में जैसी कर्मसत्ता बाँधी है, उदय में उसकी वैसी ही दशा हो जाती है। ऐसा होने पर भी जो कोई कहता है कि मैं पालता हूँ, मैं मारता हूँ – इत्यादि अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करता है, सो वह इसी अहंबुद्धि से व्याकुल होकर सदा भटकता फिरता है और अपनी आत्मशक्ति का घात करता है।

काव्य-१७ पर प्रवचन

जिस द्रव्य की जिस काल में जिस पर्याय के होने का काल हो, उस समय वही पर्याय होती है, उसमें निमित्त उसे क्या करेगा? सुपारी के टुकड़े सरौता से नहीं होते क्योंकि सुपारी के रजकण अलग हैं, और सरौता के रजकण अलग हैं। एक रजकण दूसरे रजकण के कार्य को नहीं कर सकता परन्तु मूढ़ जीव, मुझे ही सुपारी का बारीक चूरा करना आता है – ऐसा अभिमान करता है। बहिनें कहती हैं कि हमें ही सरस पूरण-पोली बनाना रुचता है – यह सब मिथ्यादृष्टि के अभिमान हैं तथा वस्तु अच्छी न हो, तब ऐसा भी कहते हैं कि यह तो रसोई है, अपनी इच्छानुसार नहीं होती – परन्तु पहले से ऐसा नहीं मानते कि यह कार्य मुझसे नहीं होता, स्वयं से होता है। रसोई की एक की बात नहीं है, अनेक वस्तु में जीव कर्ता होने जाता है। पर की क्रिया मुझसे होती है – ऐसी मान्यता ही मिथ्या है, ऐसा नहीं जानता; इसलिए मिथ्या विकल्प उठाया करता है। अज्ञानी पर का कार्य तो कर नहीं सकता; मात्र विकल्प का कर्ता हुआ करता है, इसलिए विकल्प उसका कार्य है और अज्ञानी उसका कर्ता है। बाकी प्रत्येक वस्तु तो अपनी सीमा में है, कोई किसी का कार्य नहीं करती है।

समयसार गाथा १०३ की टीका में भी यह कहा है कि वस्तु अपने द्रव्य में और गुण में निजरस से ही अनादि से ही वर्तती है। वह वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को तोड़ना अशक्य होने से, उसमें ही वर्तती है परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप से संक्रमण को प्राप्त नहीं होती। इसलिए वह अन्य वस्तु को कैसे परिणमित कर सकती है। इसलिए परभाव किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता।

www.vitragvani.com

द्रव्य-गुण-पर्याय सत् है। उस सत् में अन्य सत् प्रवेश नहीं पा सकता, इसलिए पर उसे कुछ नहीं कर सकता। वहाँ पर का काम तो करना परन्तु अनासक्तभाव से करना और अभिमान नहीं करना, यह बात नहीं है। मैं पर का कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता ही मिथ्यात्वभाव है।

सो तौ अहंबुद्धिसौं विकल भयौ तिहूँ काल डोलै — जगतवासी जीव पर में अहंबुद्धि से पर को मारने-जिलाने, सुखी-दुःखी करने की कल्पना से बेचैन होकर निजशक्ति का घात करते हैं।

देह की स्थिति पूरी होने लगे, तब डाक्टरों को बुलाते हैं परन्तु वे क्या कर सकते हैं? जैसा-जैसा कर्म का उदय आवे, वैसा फल भोगते हैं। वहाँ कोई उसे सहायक नहीं है। निगोद के एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के समस्त जीव असह्य हैं, कोई किसी को बचा नहीं सकता। आलू, लहसुन, प्याज इत्यादि कन्दमूल की एक-एक कणी में असंख्य शरीर हैं और उनमें अनन्त जीव रहते हैं, वे जीव एक शरीर में साथ रहने पर भी कोई किसी का कुछ नहीं कर सकते, वहाँ से निकलकर एक जीव राजा होता है तो एक जीव वहीं का वहीं निगोद में जाता है।

कोई जीव किसी अन्य जीव का स्वामी नहीं... नरपति, करोड़पति, उद्योगपति इत्यादि भाषा तो बहुत बोली जाती है परन्तु कोई किसी का पति नहीं है। पैसे के रजकण स्वयं आते हैं और स्वयं चले जाते हैं, वे उद्योगपति के उद्योग से नहीं आते हैं। पैसा जीव का होकर नहीं रहता है। प्रत्येक तत्त्व पृथक् है - ऐसा नहीं मानकर दूसरे तत्त्व का मैं कुछ भी कर सकता हूँ - ऐसी मान्यता महामिथ्यात्व है, अनन्त संसार को बाँधने का कारण है।

कोई किसी की आँख फोड़ तो नहीं सकता परन्तु दूसरे को आँख दे भी नहीं सकता। अभी सब चक्षुदान करते हैं न! चक्षु के परमाणु कहाँ तेरे थे तो मैंने दान किया - ऐसा अभिमान करता है? परमाणु तो जड़ के हैं, उसका स्वामी तू नहीं है; इसलिए दान का अभिमान करता है, वह व्यर्थ है परन्तु अरे! विपरीत मान्यता ने अनादि से इसे घेर लिया

www.vitragvani.com

है। इस विपरीत मान्यता का अभाव किये बिना जो कुछ करता है, वह सब एक के बिना बिन्दियों के समान है।

अभिमान तो कैसा करता है कि हमें कमाने की कोई जरूरत नहीं है परन्तु इस कारखाने के कारण हजार लोग रोजगार प्राप्त करते हैं, इसके लिए करते हैं — अहा! पागलों के गाँव कोई अलग होते हैं! सब पागल इकट्ठे हुए हैं।

छहों प्रकार के द्रव्य — अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, एक धर्मास्तिकाय एक अधर्मास्तिकाय एक आकाश और असंख्य कालाणु, यह छहों द्रव्य अनादि के हैं और सदा काल रहेंगे। उसमें मैंने इसे सुखी किया, मरने से बचाया - ऐसा माननेवाला अपने आत्मस्वभाव का घात करता है; मिथ्यात्वभाव से आत्मा को मार डालता है। संस्कृत श्लोक में पाठ है - **आत्महनो भवन्ति** - गुण का तो घात नहीं होता परन्तु पर्याय में आत्मा का घात होता है। मैं दूसरे को अनुकूलता दूँ या प्रतिकूलता दूँ और दूसरे मुझे अनुकूलता-प्रतिकूलता देते हैं - ऐसा मानकर आत्मा का पर्यायदृष्टि से स्वयं ही घात करता है अर्थात् मिथ्यादर्शन को पोषण करता है।

ऐसा कहकर यह कहना है कि तू पर को मार नहीं सकता परन्तु पर को मारने की मान्यता में तू स्वयं मर जाता है। भगवान ने दया पालन का उपदेश दिया है, वह कौन सी दया? आत्मा में राग-द्वेष की उत्पत्ति न होना और वीतरागी शान्ति उत्पन्न होना, इसका नाम दया है। इस दया का तो भान नहीं और जो नहीं हो सकती - ऐसी दया करने निकल पड़ता है। मैं अमुक समाजसेवा संस्था का प्रमुख हूँ, हम सेवा भावना से अनेक काम करते हैं... अरे! बापू! पर का काम कौन कर सकता है?

दुनिया के साथ मेल खाये - यह ऐसी बात नहीं है। यह तो श्लोक का भाव कहा। अब बनारसीदास जीव के स्वभाव के चार भेद डालकर अपना भाव खोलेंगे। वह आगे आयेगा कि उत्तम पुरुष द्राक्ष जैसे अन्दर से और बाहर से कोमल होते हैं। मिथ्यात्व और कषाय का अभाव हुआ होने से 'मैंने ऐसा किया और मेरे बिना नहीं होता' - ऐसा अभिमान उत्तम पुरुष नहीं करते हैं। ज्ञानी पर से तो भिन्न है परन्तु राग से भी भिन्न है, वैरागी है, मृदुअंग है-कोमल है-दयालु है।

www.vitragvani.com

उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम जीवों का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

उत्तम पुरुषकी दसा ज्यौं किसमिस दाख,
बाहिज अभिंतर विरागी मृद अंग है।
मध्यम पुरुष नारिअरकीसी भांति लियैं,
बाहिज कठिन होय कोमल तरंग है॥
अधम पुरुष बदरीफल समान जाकैं,
बाहिरसैं दीखै नरमाई दिल संग है।
अधमसैं अधम पुरुष पूंगीफल सम,
अंतरंग बाहिज कठोर सरवंग है॥ १८॥

अर्थ – उत्तम मनुष्य का स्वभाव अन्तरंग और बाह्य में किसमिश दाख के समान कोमल (दयालु) रहता है। मध्यम पुरुष का स्वभाव नारियल के समान बाहर तो कड़ा (अभिमानी) और अन्तरंग में कोमल रहता है। अधम पुरुष का स्वभाव बेर फल के समान बाहर से कोमल पर अन्तरंग में कठोर रहता है और अधमाधम पुरुष का स्वभाव सुपारी के समान अंतरंग और बाह्य सर्वांग कठोर रहता है।

काव्य-१८ पर प्रवचन

उत्तम पुरुष की दशा किशमिश जैसी मृदु है अर्थात् अन्दर में वीतरागता है और बाहर में भी शान्ति है, कषाय के वश नहीं है। अन्दर में भेदज्ञान वर्तता है, साथ में कषाय की बहुत मन्दता है, उसे यहाँ उत्तम पुरुष कहते हैं।

मध्यम पुरुष नारियल जैसे होते हैं, जैसे नारियल अन्दर से तो कोमल होता है परन्तु बाहर से कठोर होता है; इसी प्रकार मध्यम पुरुष-ज्ञानी पुरुष अन्दर से तो वैरागी हैं, पर से और राग से विरक्त शान्त हैं परन्तु बाहर में कषाय के वशवर्तीपना होता है।

अधम पुरुष अर्थात् ऐसे अज्ञानी कि जो बाहर से कोमल होते हैं परन्तु अन्दर से बेर जैसे कठिन होते हैं। बाहर से कषाय की मन्दतासहित क्रिया करते हों परन्तु अन्दर में राग की एकताबुद्धि की कठोरता होती है। जैसे, बेर बाहर से कोचा होता है परन्तु अन्दर का गुठली कठिन होती है। इसी प्रकार बाहर से कोमलता रखने पर भी अज्ञानी अन्दर से

www.vitragvani.com

पत्थर जैसा कठोर है। संग अर्थात् पत्थर। राग की एकताबुद्धि पत्थर जैसी कठोर होती है। बन्ध अधिकार का वर्णन तो देखो!

अधम से अधम पुरुष सुपारी जैसे अन्तर-बाह्य दोनों प्रकार से कठोर होते हैं। उन्हें अशुभभाव की इतनी तीव्रता होती है कि ज्ञानी सज्जन पुरुष को वे देख नहीं सकते, कठोरता ही किया करते हैं। अधम पुरुष को बाहर से तो मन्दकषाय होती है, जबकि अधमाधम को बाहर से भी कषाय की तीव्रता दिखती है।

उत्तम पुरुष का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेस पद,
मीचसी मिताई गरुवाई जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुदगल-छबि छारसी॥
जालसौ जग-विलास भालसौ भुवन-वास,
कालसौ कुटुंब-काज लोक-लाज लारसी।
सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ वखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि वंदत बनारसी॥ १९॥

अर्थ - जो कंचन को कीचड़ के समान, राज्यपद को नितान्त तुच्छ, लोगों की मित्रता को मृत्यु के समान, प्रशंसा को गाली के समान, योग की क्रियाओं को जहर के समान, मन्त्रादि करामात को दुःख के समान, लौकिक उन्नति को अनर्थ के समान, शरीर की कान्ति को राख के समान, संसार की माया को जंजाल के समान, धर के निवास को वाण की नोंक के समान, कुटुम्ब के कार्य को काल के समान, लोकलाज को लार के समान, सुयश को नाक के मैल के समान और भाग्योदय को विष्टा के समान जानता है (वह उत्तम पुरुष है); उसे पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

भावार्थ यह है कि ज्ञानी जीव सांसारिक अभ्युदय को एक आपत्ति ही समझते हैं।

काव्य-१९ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी जीव, सांसारिक अभ्युदय को एक आपत्ति ही समझता है।

www.vitragvani.com

धार्मात्मा सम्यग्दृष्टि पुरुष जो कि राग में-पुण्य में धर्म नहीं मानते, राग से भिन्न पड़ गये हैं - ऐसे भेदज्ञानी जीव **कीचसौ कनक जाकै** — सोने को कीचड़ के समान जानते हैं।

श्रोता : तब तो ज्ञानी सोने को फेंक देते होंगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : रखे कौन और फेंके कौन? जड़ चीज को जीव क्या करे? ज्ञानी तो घर में करोड़ों रुपये के सोना-चाँदी, हीरा-माणिक हो परन्तु उसकी दृष्टि में वे कीचड़ के समान लगते हैं। ज्ञानी राज्यपद लेकर बैठा हो तो दूसरे को तो वह पद बहुत उच्च लगता है कि वाह! पाँच-पाँच करोड़ की आमदनी और पचास तो हाथी, चतुरंगी सेना-जबकि ज्ञानी उस पदवी को भी तुच्छ मानता है; अत्यन्त तुच्छ मानता है।

मीचसी मिताई — परद्रव्य की मैत्री करना, वह ज्ञानी को मृत्यु के समान लगती है क्योंकि परद्रव्य का संग राग की उत्पत्ति करनेवाला है। मित्रों को बुलाना, रखना, सम्हालना यह सब मृत्यु है। मैत्री करे तो पार्टी उड़ाना जाना पड़े। दुनिया के साथ मैत्री बाँधना, वह मृत्यु के समान है। अहो! कितना वैराग्य है! स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य की मित्रता करना, वह तो मृत्यु है। चक्रवर्ती को इन्द्र के साथ मित्रता होती है। हीरे के सिंहासन पर चक्रवर्ती बैठा हो, और बगल में इन्द्र आकर बैठे... वह भी एकावतारी होता है परन्तु यहाँ तो विशेष कषाय की मन्दतावाले ज्ञानी लिये हैं कि जिन्हें मित्रता निभाना भी मृत्यु जैसी लगती है। अतीन्द्रिय आनन्द के आस्वादी ज्ञानी को जगत् के जीवों के साथ मैत्री करना, वह मृत्यु के समान लगता है।

गरुवाई जाकै गारसी — जिसे प्रशंसा गाली के समान लगती है। हमारे संघ में तुम ही बड़े हो, महान हो... इत्यादि प्रशंसा हो, वहाँ अज्ञानी तो फूल जाता है परन्तु ज्ञानी को वह प्रशंसा गाली जैसी लगती है। कोई महिमा दे, उसे स्वीकार नहीं करता। यह तो दुनिया से उलटी बात है। दुनिया तो कहीं अज्ञान के अन्धकार में पड़ी है और ज्ञानी को अन्तर में ज्ञान का प्रकाश है, इसलिए अतीन्द्रिय वस्तु का अनुभव करनेवाले ज्ञानी को दुनिया की बढाई में महिमा भासित नहीं होती।

जहरसी जोग-जाति.... ज्ञानी को आत्मा के आनन्द के साथ योग का जुड़ान हुआ

www.vitragvani.com

है, उसे बाह्य योग जहरवत् लगता है। ऐसा योग करोगे तो निरोगता होगी, ऐसा करोगे तो वचन सिद्धि होगी, ऐसे देह का योग ज्ञानी को नहीं पोषाता है। जो शुभाशुभ को जहर मानता है, उसे देह के योगों के प्रति प्रीति कहाँ से होगी? जिस भाव से तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध होता है, उस भाव को भी धर्मी जहर जानता है। 'तीर्थंकर' नाम पड़े वहाँ तो दुनिया प्रसन्न-प्रसन्न हो जाती है, उस भाव को धर्मी जहर जैसा दुःखरूप जानता है। मन्त्र आदि की साधना से करामात करने को धर्मी दुःखरूप मानता है।

हमारे पास एक व्यक्ति-मन्त्रसाधक आया था कि तुम कुछ मन्त्र जानते हो? (हमने) कहा - हमारे पास आत्मा के मन्त्र के अलावा दूसरा कोई मन्त्र नहीं है। हमें किन्हीं मन्त्रों की साधना में रस नहीं है। वीतराग सर्वज्ञदेव की मान्यता के अतिरिक्त सब भ्रम के मार्ग हैं। शरीर की निरोगता के लिए मन्त्र साधे परन्तु भाई! शरीर तो साता के उदयानुसार रहनेवाला है - ऐसा करूँगा तो ऐसा होगा और ऐसा नहीं करेंगे तो ऐसा होगा - ऐसी सब भ्रमणाओं से अज्ञानी दुःखी है।

लौकिक उन्नति अनर्थ के समान है। घर में आठ-आठ लड़के और अच्छे घर की बहुएँ हों, दो-पाँच लाख के मकान हों, दो-पाँच लाख की पूँजी हो... तो लौकिक दृष्टि से उन्नति की कहलाती है परन्तु उसमें धूल भी उन्नति नहीं है। धर्मी तो उसमें अनर्थ मानता है, अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि होने को धर्मी अपनी उन्नति समझता है। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द के नाथ का भान नहीं है, वही बाह्य उन्नति को उन्नति मानता है कि भारत के इतने उद्योगपतियों में हमरा नम्बर अग्रसर है। इस प्रकार हर्ष मानकर अज्ञान का सेवन करता है।

पुदगल-छबि छारसी — शरीर की सुन्दरता राख के समान है। शरीर काला हो, या रूपवाला हो परन्तु वह राख का ढेर है। शरीर पर शृंगार, वह मुर्दे का शृंगार है। उसमें लोग लाखों रुपये खर्च कर डालते हैं। **जालसौ जग-विलास** — आढ़तिया बढ़े, दुकानें बढ़ी, ग्राहक बढ़े - यह सब जगत की माया, धर्मी को जंजाल लगती है। छोटे पद में से आगे बढ़ते-बढ़ते बड़ा पद आ जाये तो मानो हम कुछ बढ़े हैं - ऐसा लगता है परन्तु यह तो विष्टा के छोटे ढेर में से बड़े ढेर पर बैठा है। गाँवों में पहले ऐसा रिवाज था कि खटिया में नयी रस्सी भरे, तब पहले उसमें कुत्ते को रोटी डालते थे तो कुत्ता खटिया पर बैठकर

www.vitragvani.com

रोटी खाता था, बाद में ही वह खटिया सब प्रयोग करते थे – तो क्या वह कुत्ता बड़ा हो गया ? मूर्खों के गाँव अलग होते होंगे ?

बापू ! तेरा स्वरूप चिदानन्द है। उसकी तुझे प्रतीति नहीं है, भरोसा नहीं है, उसकी महिमा नहीं है, और जगत् की चीजों की महिमा करने गया, वहाँ हैरान हो गया।

भालसौ भुवन-वास — घर का निवास बाण की अणी जैसा लगता है। पाँच-दस लाख का या उससे भी अधिक मूल्य का बँगला बनाया हो और उसके वास्तु में धूमधाम करे, तब लोगों में तो बहुत अच्छा लगता है परन्तु ज्ञानी को वह श्मशान में लड्डू जैसा लगता है। निज घर में वास्तु, वह वास्तविक वास्तु है, बाकी इस संसार के घर में रहना, वह तो धर्मी को बाण की अणी पर रहने जैसा लगता है।

परिवार के कार्य धर्मी को काले जैसे लगते हैं। स्वयं धर्मी हो परन्तु परिवार के बीच रहा हो तो कार्य तो करना पड़ते हैं परन्तु काल के समान लगते हैं। घर में पुत्र का विवाह करना हो, पाँच लाख खर्च करना हो, पहरामणी करना हो, चाँदी के थाल में सवा सेर बर्फी जाति के घर-घर में देनी है और घर में तुम बड़े हो, इसलिए यह काम तुझे करना है – ऐसा घर के लोग धर्मी को कहें तो काम करना पड़े परन्तु धर्मी को वह काल जैसा लगता है। वह तो आत्मा के आनन्द का रसिया है, उसके रस की जाति ही बदल गयी है।

धर्मी को लोजलज्जा मुँह की लार जैसी लगती है। लोकलाज से आत्मा को क्या लाभ ! लोकलाज कहीं गिरवी रखें ऐसी है कि लोगों में तुम्हारी इज्जत बहुत अच्छी है, इसलिए मरकर अच्छी जगह जाओगे। अरे ! वह तो लार है, पूर्व के पुण्य योग से इज्जत अच्छी हो उससे क्या ! छोटा बालक हो वह लार का वापस मुँह में चूस लेता है परन्तु क्या बड़े उसे चूसते हैं ? इसी तरह अज्ञानी को लोकलाज अच्छी लगती है परन्तु ज्ञानी को वह नहीं रुचती। तुमने तो तुम्हारे पिताजी से भी सवाया काम किया है, बहुत इज्जत बढ़ाई है – ऐसा कोई कहे वहाँ अज्ञानी-मूर्ख प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है परन्तु मूर्ख ! आत्मा के भान बिना बाहर की इज्जत तुझे तेरे हित में कुछ काम नहीं आयेगी, अकेली आकुलता का कारण होगी।

चैतन्य की शान्ति वह आत्मा की इज्जत है। बाहर की इज्जत या पदवी बढ़ने से

www.vitragvani.com

आत्मा में कुछ वृद्धि नहीं होती, बड़ी-बड़ी डिग्री आचार्य पदवी और नाम मिलने से आत्मा में क्या बढ़ा ? अन्तर की शान्ति बढ़े, वह आत्मा की वृद्धि है।

धर्मी सुयश को नाक के मैल समान मानता है। कोई बहुत यश देता हो, प्रतिष्ठा बढ़ती हो, उसे धर्मी नाक के मैल समान तुच्छ समझता है। जैसे नाक का मैल रखने योग्य नहीं है, छोड़ने योग्य है। इसी प्रकार धर्मी सुयश आदि को अपना मानकर रखता नहीं है। लौकिक में तो यश की बहुत महिमा होती है। जीव जाये तो भले जाये परन्तु यश रहना चाहिए - यश में अपनापन माननेवाले की दशा ऐसी होती है।

बीठसौ वखत मानै — धर्मी भाग्योदय को विष्टा समान जानता है। कमाऊ लड़का हो, लड़की अच्छे घर में विवाही हो, दामाद अच्छा मिला हो... तो ऐसा मानता है कि अभी हमारा समय अच्छा है, अथवा भाग्योदय है - ऐसा अज्ञानी मानता है परन्तु सम्यग्दृष्टि क्या मानता है —

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग,
कागवीट सम जानता है, सम्यग्दृष्टि लोग।

बनारसीदासजी कहते हैं कि ऐसी दशावाले सम्यग्दृष्टि को मैं वन्दन करता हूँ। धर्मी किसे कहते हैं ? कि जो आत्मा के आनन्द का अनुभवी है, वह धर्मी है-समकिती है, वह सांसारिक अभ्युदय को तो आपत्ति मानता है। धर्मी को रिद्धि-सिद्धि, वृद्धि आदि सब अन्दर आत्मा में दिखता है, इसलिए बाहर में तो सब आपत्तिरूप लगता है। छह खण्ड के राज्य को भी धर्मी अपना नहीं मानता, विष्टा समान जानता है। पुण्ययोग से स्वर्ग में जाना पड़े तो धर्मी उसे अपना अपराध मानता है कि अरे! मैंने पुण्य का अपराध किया, इसलिए इस स्वर्ग की जेल में आना पड़ा है।

ऐसे तो धर्मी ने राग से भिन्न पड़कर आत्मा की मुक्तदशा देखी, तब से अपने को मुक्त ही देखता है। **स मुक्त एव।** शरीर के रजकणों से तो आत्मा भिन्न ही है, इसलिए सदा ही मुक्त है और रागादि विभाव से भी स्वरूप से पृथक् है, इसलिए मुक्त है। ऐसे मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान और राग की मन्दता की दशा में ज्ञानी को संसार की पदवियाँ, शोभाएँ और संसारीभाव आपत्ति जैसे लगते हैं।

www.vitragvani.com

यह उत्तम प्रकार के ज्ञानी की दशा की बात थी। अब मध्यम प्रकार के ज्ञानी पुरुषों के स्वभाव की बात दृष्टान्त देकर बतलाते हैं।

मध्यम पुरुष का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोउ सुभट सुभाइ ठग-मूर खाइ,
चेरा भयौ ठगनीके घेरामैं रहतु है।
ठगौरी उतरि गई तबै ताहि सुधि भई,
परयौ परवस नाना संकट सहतु है॥
तैसेही अनादिकौ मिथ्याती जीव जगतमैं,
डोलै आठौं जाम विसराम न गहतु है।
ग्यानकला भासी भयौ अंतर उदासी पै,
तथापि उदै व्याधिसौं समाधि न लहतु है॥ २०॥

अर्थ – जैसे किसी सज्जन को कोई ठग ठगबूटी खिला देवे तो वह मनुष्य ठगों का दास बन जाता है और उन ठगों की आज्ञा में चलता है परन्तु जब उस बूटी का असर मिट जाता है और उसे होश आता है, तब ठगों को भला नहीं जानता हुआ भी उनके आधीन रहकर अनेक प्रकार के कष्ट सहता है। उसी प्रकार अनादि काल का मिथ्यात्वी जीव संसार में सदैव भटकता फिरता है और चैन नहीं पाता परन्तु जब ज्ञानज्योति का विकास होता है, तब अन्तरंग में यद्यपि विरक्तभाव रहता है तो भी कर्म-उदय की प्रबलता के कारण शान्ति नहीं पाता। (ऐसा मध्यम पुरुष है)।

काव्य-२० पर प्रवचन

उत्तम पुरुष को सम्यग्ज्ञानसहित विशेष स्थिरता है परन्तु मध्यम पुरुष को इतनी स्थिरता नहीं है। राग में जुड़ान है, इसलिए स्वरूप में स्थिरता नहीं होती।

अब, २१ वें पद्य में अधम पुरुष का स्वभाव दृष्टान्त द्वारा समझाया है।

अधम पुरुष का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

जैसै रंक पुरुषकै भायैं कानी कौड़ी धन,
उलुवाके भायैं जैसैं संझा ही विहान है।

www.vitragvani.com

कुकरुके भायैं ज्यौं पिडोर जिरवानी मठा,
सुकरु के भायैं ज्यौं पुरीष पकवान है॥
बायसके भायैं जैसैं नींबकी निंबोरी दाख,
बालकके भायैं दंत-कथा ज्यौं पुरान है।
हिंसकके भायैं जैसैं हिंसामैं धरम तैसैं,
मूरखके भायैं सुभबंध निरवान है॥ २१॥

अर्थ – जिस प्रकार गरीब मनुष्य को एक फूटी कौड़ी भी बड़ी सम्पत्ति के समान प्रिय लगती है, उल्लू को सन्ध्या ही प्रभात के समान इष्ट होती है, कुत्ते को वमन ही दही के समान रुचिकर होता है, कौवे को नीम की निबोरी दाख के समान प्रिय होती है, बच्चे को लौकिक वार्ताएँ (गप्पें) ही शास्त्रवत् रोचक होती हैं, हिंसक मनुष्य को हिंसा में ही धर्म दिखता है; उसी प्रकार मूर्ख को पुण्यबन्ध ही मोक्ष के समान प्रिय लगता है (ऐसा अधम पुरुष होता है)।

काव्य-२१ पर प्रवचन

यह सभी अज्ञानी को उपमा देते हैं। जैसे रंक पुरुष को एक फूटी कौड़ी मिले तो भी सम्पत्ति मिली हो – ऐसा लगता है। उल्लू को रात्रि ही प्रात:काल के समान लगती है। उल्लू की तरह बागोल और चाम चिड़िया को भी सन्ध्या, प्रात:काल के समान लगती है। इसी प्रकार अज्ञानी को व्रत, भक्ति आदि बन्ध के परिणाम ही मोक्ष के कारण समान इष्ट लगते हैं। बनारसीदासजी ने सम्प्रदाय की मान्यता स्पष्ट की है कि उसमें बन्ध के कारण को मोक्ष का कारण मानकर सेवन किया जाता है।

कुकरुके भायैं... जैसे कुत्ते को मनुष्य की उचिष्ट / उलटी दही जैसी मीठी लगती है, इसलिए उलटी को चाट जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी अष्टाह्निका आदि में पूजा कराकर पुण्य हो, उसके बदले धर्म मनवाकर प्रसन्न होता है परन्तु वहाँ कहाँ धर्म था? धर्म तो आत्मा का आश्रय लेकर पवित्रता प्रगट करना, वह धर्म है और वह निर्वाण का कारण है।

अज्ञानी, पुण्य की क्रिया में मोक्ष मानता है, जो वास्तव में बन्ध का कारण है। आत्मा

www.vitragvani.com

का धर्म क्या है, वह कैसे प्रगट होता है, वीतरागदेव क्या कहते हैं ? – उसका पता नहीं और वीतराग के नाम से पुण्य को धर्म मानते हैं।

जैसे, सूकर को मनुष्यादि की विष्टा पकवान जैसी लगती है, कौवे को नीम की निंबोरी द्राक्ष जैसी प्रिय लगती है; उसी प्रकार अज्ञानी को व्रत, तप, भक्ति, पूजादि का शुभभाव निर्वाण का कारण लगता है।

क्या सम्मेदशिखर के भगवान के पगले / चरण के दर्शन करने से निर्वाण होता होगा ?

श्रोता : नहीं साहेब !

पूज्य गुरुदेवश्री : तो यात्रा करने किसलिए जाते हो ?

श्रोता : आप ले गये थे साहेब !

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा बहुमान था, भक्ति का विनयादि का शुभभाव आता है परन्तु उससे निर्वाण नहीं होता, शुभभाव से धर्म भी नहीं होता फिर भी शुभभाव होता है। यात्रा करने का भाव शुभ है तथा यह पठन–श्रवण आदि का भाव भी शुभ है; यह कहीं धर्म नहीं है। शुभभाव हो वह अलग बात है परन्तु उससे धर्म होना मानना तो अज्ञान है। शुभभाव से पुण्य बँधता है परन्तु धर्म नहीं होता है।

भगवान के पास जाकर गाये कि 'शिव पद हमको देना रे महाराज, शिव पद हमको देना...' तो क्या भगवान शिवपद देंगे ? भगवान तो कहते हैं कि तेरा शिवपद तो तेरे पास है, मेरे पास तेरा शिवपद नहीं है।

यह तो कैसी बात है कि शुभभाव आता है... होता है... और फिर बन्ध का कारण है – तो फिर शुभभाव छोड़ देते हों तो ?

भाई ! जहाँ तक निर्विकल्प नहीं हो, वहाँ तक शुभराग छूटता ही नहीं परन्तु दृष्टि में से राग मात्र छूट जाता है। दृष्टि में से राग को छोड़ना, वही उसका वास्तविक त्याग है।

यहाँ तो बालकों को भी समझ में आये वैसे दृष्टान्त दिये हैं। बालकों को लौकिक दन्तकथा कहो, उसमें भी बहुत रस आता है। मानों कोई शास्त्र पढ़ते हों ऐसे वे सुनते हैं।

www.vitragvani.com

हिंसकके भायैं जैसैं — हिंसक मनुष्यों को तो हिंसा में ही धर्मबुद्धि होती है, एकेन्द्रिय मरे या पंचेन्द्रिय मरे... यज्ञ में बकरे को मारे और धर्म हुआ माने – यह सब मूढ़ है।

इस प्रकार, जैसे रंक को कोढ़ी का, उल्लू को सन्ध्या का, कुत्ते को वमन का, सूकर को विष्टा का, कौवे को निंबोली का, बालक को दन्त कथा का, हिंसक को हिंसा धर्म का रस और महिमा होती है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को पुण्य परिणाम का रस और महिमा होती है। मानो अपना निर्वाण तो इसी मार्ग से हो जायेगा। सिद्धगिरि में ऋषभदेव ९९ बार आये थे; इसलिए हम एक बार सिद्धगिरि की यात्रा कर आयें तो कल्याण हो जायेगा। जैसे लोग काशी में करवत लेते हैं, वैसे ही सिद्धगिरि में मरण हो तो समाधिमरण होता है – ऐसी सब मान्यताएँ हैं। वे सब मूढ़ता है। स्वयं शुभभाव करे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है परन्तु भगवान कहीं शुभभाव या मोक्ष करा नहीं देते हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में टोडरमलजी ने तो कहा है कि अकेली भक्ति के शुभराग में रहो, उसकी अपेक्षा करुणानुयोग आदि के पठन में विचार में रहो तो भक्ति से भी विशेष शुभभाव होगा परन्तु यह बात जीवों को जमती नहीं है।

जैन में आने के बाद भी कैसे शल्य रहते हैं – यह उसकी बात है। भगवान का नाम स्मरण, स्तवन, स्वाध्यायादि का शुभराग हो परन्तु उससे निर्जरा होती है – ऐसा मानते हैं, वह यथार्थ नहीं है।

श्रोता : शास्त्र में ऐसी बात आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र में आती है, उसमें अपेक्षा यह है कि जिसे स्व का लक्ष्य हुआ है, उसे साथ में ऐसा शुभविकल्प होता है और जितना स्वलक्ष्य का जोर है, उतनी निर्जरा होती है। वरना पर के लक्ष्य से निर्जरा नहीं होती है। आत्मा के स्वभाव का आश्रय न किया हो, पर का आश्रय किया हो, उसे धर्म या निर्जरा होती ही नहीं।

अशुभ से बचने के लिए धर्मी को भी शुभभाव आता है, शुभभाव के अनेक प्रकार हैं, उनमें से धर्मी को भी जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक शुभभाव आता है। धर्मी जानता है कि यह बन्ध का कारण है। जबकि अज्ञानी शुभभाव को मोक्ष का कारण मानता

www.vitragvani.com

है। बस, यही दृष्टि की बड़ी विपरीतता है, इसलिए यहाँ अज्ञानी को मूर्ख कहा है। **मूरखके भायैं सुभबंध निरवान है।** यह अधमपुरुष की बात हुई।

अब अधमाधम पुरुष जो कि मिथ्यादृष्टि तो है ही, तदुपरान्त असज्जन है, अविवेकी है, का स्वभाव दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं।

अधमाधम पुरुष का स्वभाव (सवैया इकतीसा)

कुंजरकौं देखि जैसैं रोस करि भूंसै स्वान,
रोस करै निर्धन विलोकि धनवंतकौं।
रैन के जगैय्याकौं विलोकि चोर रोस करै,
मिथ्यामती रोस करै सुनत सिद्धंतकौं।
हंसकौं विलोकि जैसैं काग मन रोस करै,
अभिमानी रोस करै देखत महंतकौं।
सुकविकौं देखि ज्यौं कुकवि मन रोस करै,
त्यौं ही दुरजन रोस करै देखि संतकौं॥ २२॥

अर्थ – जिस प्रकार कुत्ता हाथी को देखने पर क्रोधित होकर भोंकता है, धनाढ्य पुरुश को देखकर निर्धन मनुष्य क्रोधित होता है, रात में जागनेवाले को देखकर चोर क्रोधित होता है, सच्चा शास्त्र सुनकर मिथ्यात्वी जीव क्रोधित होता है, हंस को देखकर कौवा क्रोधित होती है, महापुरुष को देखकर घमण्डी मनुष्य क्रोध करता है, सुकवि को देखकर कुकवि के मन में क्रोध आता है; उसी प्रकार सत्पुरुष को देखकर अधमाधम पुरुष क्रोधित होता है।

काव्य-२२ पर प्रवचन

कुंजर अर्थात् हाथी... हाथी के बड़े शरीर को देखकर कुत्ते को सहन नहीं होता, वह हाथी के सामने भौंकता है। हाथी को कुछ पड़ी नहीं होती। हाथी, कुत्ते के समक्ष देखता भी नहीं, फिर भी कुत्ते को उसके सामने भौंकने का स्वभाव है। इसी प्रकार धर्मी को देखकर दुर्जन के द्वेष आता है। धर्मी को कोई मान दे, वह दुर्जन से सहन नहीं होता; इसलिए धर्मी के प्रति द्वेष करता है। जैसे, धनवान को देखकर गरीब को रोष होता है, उसमें

www.vitragvani.com

भी यदि अपना परिवारी धनवाला हो गया हो और उसके साथ स्वयं को मेल न हो तो और स्वयं गरीब हो तो धनवान की बहुत ईर्ष्या करता है; जैसा-तैसा बोलता है। इसी प्रकार धर्मी को देखकर दुर्जन द्वेष करता है।

चोर को रात्रि में चोरी करना हो तो रात्रि में जगनेवाले के प्रति उसे गुस्सा आता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को सिद्धान्त कहनेवाले के प्रति गुस्सा आता है। राग से धर्म नहीं होता, परद्रव्य से लाभ नुकसान नहीं होता इत्यादि सत्य सिद्धान्त सुनकर मिथ्यादृष्टि को ऐसा लगता है कि यह धर्मी, व्यवहार का लोप कर डालेगा - ऐसा करके धर्मी के प्रति द्वेष करता है कि तुम कहते हो, व्यवहार से धर्म नहीं होता; निश्चय से ही धर्म होता है तो निश्चय के करनेवाले कितने निकलनेवाले हैं ? व्यवहार से धर्म कहो तो सब जीव धर्म कर सकेंगे। अभी इस काल में समकित नहीं होता, इसलिए अभी तो व्रत, तप करके सूख जाना ही धर्म है। इस प्रकार अनेक प्रकार से धर्मी द्वारा कथित सत्य सिद्धान्तों का निषेध करता है।

मिथ्यामती ऐसा भी कहता है कि हम तो भगवान के द्वारा कथित अनेकान्त को मानते हैं। आत्मा के आश्रय से ही धर्म होता है, दूसरे प्रकार से नहीं - ऐसे एकान्त को हम नहीं मानते। भाई! आत्मा के आश्रय से ही धर्म होता है, अन्य के आश्रय से धर्म नहीं होता - यही सच्चा अनेकान्त है। पर के आश्रय से धर्म तीन काल-तीन लोक में कभी भी किसी को नहीं होता। साक्षात् तीर्थंकर समवसरण में विराजमान हों, उनकी भक्ति करे तो वह भी शुभभाव है, धर्म नहीं - ऐसा भक्ति का राग आना अलग बात है परन्तु उससे धर्म नहीं होता है।

सन्त को देखकर दुर्जन द्वेष करते हैं, यह बताने के लिए ये सब दृष्टान्त हैं।

हंस को देखकर कौवे को द्वेष होता है। वीतराग की वाणी में वीतरागता भरी होती है। वीतराग के प्रत्येक सिद्धान्त सत् स्वरूप को बतलाते हैं। वीतरागता स्व के आश्रय से ही प्रगट होती है, पर के आश्रय से प्रगट नहीं होती - ऐसा सिद्धान्त का सत् स्वरूप है, उसके समक्ष मिथ्यामती ऐसा कहता है कि शुभभाव पराश्रित है, इसलिए उससे सीधा धर्म नहीं होता परन्तु परम्परा धर्म तो होता है न! भाई! जिसे अशुभ से बचने के लिए शुभभाव

www.vitragvani.com

आता है, परन्तु उसमें धर्मबुद्धि नहीं है – ऐसे सम्यक्त्वी जीवों को शुभभाव छूटकर शुद्धभाव होता है; इसलिए उसे परम्परा धर्म का कारण कहा है परन्तु अज्ञानी को तो शुभभाव परम्परा अनर्थ का कारण कहा है क्योंकि उसे शुभभाव की रुचि है। शुभ से कल्याण मानता है, इसलिए उसे अनर्थ का कारण होता है – ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं बारह भावना में कहा है।

वीतराग का धर्म तो वीतरागभाव से होता है; राग से नहीं होता और वीतरागता स्व के आश्रय से ही होती है; पर के आश्रय से वीतरागता नहीं होती। ऐसे वीतरागता के आराधक सन्त को देखकर कौवे जैसे दुर्जनों को द्वेष आता है कि 'क्या ऐसे के ऐसे धर्मात्मा पके हैं!' अभिमानी मनुष्य को कोई अपने से बड़े किसी महन्त को देखकर द्वेष आता है। हम वर्षों पुराने अभ्यासी हैं और तुम आज के जगे हुए बड़े ज्ञानी हो गये! ऐसे अभिमान से रोष करता है। इसी प्रकार सुकवि को देखकर कुकवि को द्वेष आता है। कुकवि तो मिथ्या गुणगान करता है। आगे ४१५ पृष्ठ पर कुकवि की बात आती है कि स्त्री के मुख, स्तन, होंठ, आदि को ऊँची-ऊँची उपमा देकर खूब मथता है परन्तु वे माँस के लोथड़े हैं, उसकी क्या महिमा? उसमें ही केंसर और सडांध हो, तब क्या दशा होती है! इसलिए यदि उसके वचन को कोई प्रमाण करने का प्रयत्न करे तो मूढ़ होगा। भले मिथ्यामती हो परन्तु शास्त्र अनुसार सत्यवचन कहे तो उसे सब कोई प्रमाण करते हैं परन्तु झूठे वचन को कोई स्वीकार नहीं करता।

इस प्रकार सत् पुरुष को देखकर अधमाधम पुरुष द्वेष करता है। इसी बात को २३वें पद्य में विशेष कहते हैं। बन्ध अधिकार है, इसलिए बन्ध के भाववाले जीवों का स्वरूप स्पष्ट करके बतलाते हैं।

पुनः (सवैया इकतीसा)

सरलकौं सठ कहै वकताकौं धीठ कहै,
विनै करै तासौं कहै धनकौं अधीन है।
छमीकौं निबल कहै दमीकौं अदत्ति कहै,
मधुर वचन बोलै तासौं कहै दीन है॥

www.vitragvani.com

धरमीकौं दंभी निसप्रेहीकौं गुमानी कहै,
तिसना घटावै तासौं कहै भागहीन है।
जहां साधुगुन देखै तिन्हकौं लगावै दोष,
ऐसौ कछु दुर्जनकौ हिरदौ मलीन है॥ २३॥

अर्थ – अधमाधम मनुष्य, सरल चित्त मनुष्य से मूर्ख कहता है, जो बातचीत में चतुर होवे उसे धीठ कहता है, विनयवान को धन के आश्रित बतलाता है, क्षमावान को कमजोर कहता है, संयमी को कृपण कहता है, मधुभाषी को गरीब कहता है, धर्मात्मा को ढोंगी कहता है, निस्पृही को घमण्डी कहता है, सन्तोषी को भाग्यहीन कहता है अर्थात् जहाँ सद्गुण देखता है, वहाँ दोष लगाता है। दुर्जन का हृदय ऐसा ही मलीन होता है।

काव्य-२३ पर प्रवचन

दुर्जन मनुष्य सबकी आलोचना ही करता रहता है। कोई सरल व्यक्ति होवे तो दुर्जन उसे मूर्ख सिद्ध करेगा कि इसे भान ही कहाँ है! हमारे ऐसा हुआ था कि व्यापार करते थे तब मुम्बई से माल लेकर पालेज जाना था तो टिकट दो और माल का वजन बहुत अधिक था; तो हमने कहा वजन कराकर पैसा भर देंगे, तब साथवाला कहने लगा, यह भगत तो ऐसा का ऐसा ही रहा! ऐसे पैसा भरना नहीं होता। यहाँ से जैसे-तैसे माल चढ़ा देना और पालेज में तो सब मास्टर अपने पहचान के होते हैं, वे पूछनेवाले नहीं हैं। अरे! कहा – चोरी तो है न! चोरी करके अपने को चतुर माने-साहूकार माने, वही वास्तव में मूर्ख है।

कोई बोलने में होशियार हो तो उसे दुर्जन मनुष्य धीठ कहते हैं और कोई विनयी हो तो विनय करे उसे दुर्जन मनुष्य धन के आधीन सिद्ध करते हैं कि उसे पैसे चाहिए लगते हैं; इसलिए विनय से बोलता है। क्षमावान मनुष्य प्रत्येक प्रसंग में शान्ति रखता है, क्षमा रखता है तो दुर्जन ऐसा कहते हैं कि यह तो कायर है, इसमें जोर कहाँ है? बलहीन है, इसमें ताकत हो तो सामनेवाले का अपमान नहीं कर डालेगा।

संयमवाला (सदाचारवाला) मनुष्य पान, तम्बाकू इत्यादि व्यसन नहीं रखता और अनावश्यक शृंगार आदि नहीं करता, उसे अज्ञानी जीव कंजूस, कृपण सिद्ध करता है अर्थात् अधमाधम पुरुष दमी-संयमी को कृपण कहता है।

www.vitragvani.com

कोई मधुर वचन बोले उसे वीर्यहीन कहता है, गरीब कहता है और धर्मी को दम्भी कहता है, ढोंगी कहता है, युवावस्था में धर्म करने का होता है! ढोंगी है–धर्म करने निकल पड़ा है।

कोई मनुष्य निस्पृही हो, किसी की खुशामद आदि न करे तो उसे अधमाधम पुरुष अभिमानी सिद्ध करता है। निस्पृह को कोई आवे इसकी महिमा नहीं आती, इसलिए अधमाधम को ऐसा लगता है कि यह तो सामने भी नहीं देखता, अभिमानी लगता है।

सन्तोषी मनुष्य को तृष्णा नहीं होती, इसलिए खाने–पीने आदि सबमें सन्तोष से रहता है तो उसे यह भाग्यहीन कहता है। 'हमें तो पाँचों इन्द्रिय के विषय चाहिए – उन्हें भोगे वह भाग्यशाली है।'

जहां साधुगुन देखै तिन्हकौं लगावै दोष — दुर्जन मनुष्य जहाँ–जहाँ सद्गुण दिखे वहाँ–वहाँ दोष लगाता है – ऐसा ही उसका मलिन हृदय होता है।

यह बनारसीदास ने बन्ध अधिकार में स्वयं लिखा है, उसका अर्थ हुआ। अब अमृतचन्द्र आचार्य के आठवें कलश पर बनारसीदासजी २४वाँ पद्य लिखते हैं।

मिथ्यादृष्टि की अहंबुद्धि का वर्णन (चौपाई)

मैं करता मैं कीन्ही कैसी।
अब यौं करौं कहौ जो ऐसी॥
ए विपरीत भाव है जामैं।
सो बरतै मिथ्यात दसामैं॥ २४॥

अर्थ – मैं कहता हूँ, मैंने यह कैसा काम किया (जो दूसरों से नहीं बन सकता), अब भी मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही करूँगा। जिसमें ऐसे अहंकाररूप विपरीतभाव होते हैं, वह मिथ्यादृष्टि होता है।

काव्य–२४ पर प्रवचन

देखो! यह घर के काम, गाँव के काम, समाज के काम – सब में मैं आगे पड़ता था, इसलिए यह सब काम हुए। मैंने अमुक को जिलाया और पहले पापी को मैंने मार

www.vitragvani.com

दिया; इस प्रकार अनेक प्रकार से अज्ञानी जीव, मिथ्याभिमान करता है। वास्तव में कोई परद्रव्य का कार्य या जीवन-मरण अन्य द्रव्य कर ही नहीं सकता। व्यर्थ का अभिमान करता है कि हम कारखाने में बहुत लोगों को निभाते हैं - अभी तो इतना करते हैं परन्तु दो-पाँच वर्ष में तो बहुत सुधार कर डालेंगे। यदि मैं करना चाहूँ तो सब काम सुधार डालूँ - किये बिना भी रहूँ नहीं - दुनिया देखती रहेगी... मूढ़ है। रजकण को बदलने की भी इसकी ताकत नहीं है बापू! पर में लेने-देने की क्रिया तुझसे नहीं होती, फिर भी जो अभिमान करता है, उसने मिथ्यात्व की शराब पी रखी है। पर के आश्रय से धर्म तो नहीं होता परन्तु पर का कार्य भी जीव नहीं कर सकता। यह बात यहाँ चल रही है।

हम यह सुन्दर प्रतिमा ले आये, हम पाठशाला चलाते हैं, हम उगाही पर जायें तो ग्राहक फटाफट पैसा निकालने लगते हैं, तुम कमजोर क्या पैसा निकालवा सकते थे! इस प्रकार अनेक प्रकार से पर के कार्य मैं करता हूँ और कर सकता हूँ - ऐसा माननेवाला मूढ़ है, मिथ्यात्वदशा में वर्तता है।

मिथ्यादृष्टि की अहंबुद्धि का वर्णन चल रहा है, इसमें विशेष स्पष्टता करते हैं।

पुनः (दोहा)

अहंबुद्धि मिथ्यादसा, धरै सो मिथ्यावंत।
विकल भयौ संसारमैं, करै विलाप अनंत॥ २५॥

अर्थ - अहंकार का भाव मिथ्यात्व है, यह भाव जिस जीव में होता है, वह मिथ्यात्वी है। मिथ्यात्वी संसार में दुःखी हुआ भटकता है और अनेक प्रकार के विलाप करता है।

काव्य-२५ पर प्रवचन

जिसे अन्तर में विपरीतमान्यतारूप मिथ्यात्व की शल्य पड़ी है, उसे मैं शरीर का ध्यान रखूँ, मैं जाति का काम करूँ, मैं देश का सेवा करूँ, मैं दूसरे को सुविधा दूँ, दूसरों को असुविधा दूँ, दूसरों की हिंसा करूँ, ऐसे अनेक प्रकार से मिथ्या अहंकार वरता करते हैं। वास्तव में आत्मा का कार्य तो ज्ञान और आनन्द को करना है, उसके बदले इस शरीर का हलन-चलन, खाना-पीना, बोलना मैं करता हूँ - ऐसी मान्यता करता है, वह मिथ्या है।

www.vitragvani.com

अहंबुद्धि मिथ्यादसा.... अपने स्वरूप को छोड़कर जहाँ-तहाँ अहम्पना करना, राग, दया, दानादिक मैं करता हूँ - ऐसी जो कर्तापने की बुद्धि करना, वह अज्ञान है, मिथ्यादशा है - ऐसी दशा को धरनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। अनादि से मिथ्यादृष्टि **मिथ्यादृष्टि विकल** - पागल हुआ है-मूर्ख हुआ है। वह मूर्खतावश दु:खी होकर संसार में भटकता है।

अपने आत्मा अतिरिक्त मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, दूसरे को जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ, सुखी-दुखी कर सकता हूँ, मन्दिर बना सकता हूँ, वाणी बोल सकता हूँ, शरीर का सदुपयोग कर सकता हूँ... यह सब मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव है। मूर्ख दु:खी होकर, यह सब मैं करता हूँ - ऐसा मानता है, कर नहीं सकता है।

मैं दुकान की पेढ़ी पर बैठा होऊँ तो ग्राहकों को ठीक से सम्हाल सकता हूँ अथवा कारखाने के व्यक्तियों को सम्हाल सकता हूँ। भाई! तू आत्मा है, तू अपने अस्तित्व में सीधा या उल्टा परिणमन कर सकता है परन्तु जहाँ तेरा अस्तित्व नहीं है - ऐसे पर के अस्तित्व में कुछ भी करना, तेरे लिए शक्य नहीं है। तू तो अपने ज्ञानानन्द को करे तो तू सम्यग्दृष्टि है, उसके अतिरिक्त शरीर, वाणी, परिवार, व्यापार आदि बाहर के कार्यों को मैं व्यस्थित कर सकता हूँ, नौकर इत्यादि से ठीक से काम ले सकता हूँ... ऐसी मान्यता करनेवाला मिथ्यादृष्टि अजैन है। जैन हो तो भी वह जैन नहीं है। जैन तो उसे कहते हैं कि जो अपने स्वभाव के अतिरिक्त किसी का कर्ता नहीं होता। दया-दान-व्रत-पूजा का भाव आवे परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है, वह तो विकार है; मैं तो उनका जानने-देखनेवाला हूँ, बाकी दया-दानादि परिणाम को मैं करूँ, वह मेरा कर्तव्य है - ऐसा माननेवाला जैन नहीं है। जैन अर्थात् राग को जीतनेवाला। रागादि का करनेवाला मैं हूँ - ऐसा माननेवाला तो स्वयं मिथ्यात्व के द्वारा जीता गया है, इसलिए वह जीतनेवाला-जैन नहीं है।

मैं इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करके उनसे सुखी होऊँ - ऐसा माननेवाला मूढ़ है। इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, जड़ के द्वारा चेतन का कार्य किस प्रकार होगा? राग आवे वह अलग बात है, आगे ३०वें पद्य में कुत्ते का दृष्टान्त आयेगा कि कुत्ता सूखी हड्डियाँ चबाता है, उसकी अणी जबड़े में लगती है तो खून निकलता है। तब कुत्ते को ऐसा लगता है कि इस

www.vitragvani.com

हड्डी में से खून आता है; इसी प्रकार मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव को दाल, भात, मेवा, मिठाई खाने पर स्वयं को रागभाव होता है तो मिथ्यादृष्टि को ऐसा लगता है कि यह मुझे भोजन का स्वाद आता है। कोई इज्जत का गुणगान करे तो सुनने से मुझे सुख होता है। वास्तव में तो स्वयं का चित्त उन विषयों में एकाग्र करके स्वयं आनन्द मानता है, उसका वेदन है। विषयों में से सुख का स्वाद नहीं आता परन्तु मूर्ख ऐसा मानता है – मिथ्यादृष्टि की दृष्टि इस प्रकार मिथ्या है, इसलिए वह जैन नहीं है।

भाई! तेरा आनन्द तो तुझमें है न! तू स्वयं सुखस्वरूप, त्रिकाली आनन्द का नाथ है। उस आनन्द में एकाग्रता होवे तो अन्तर में से आनन्द आवे, वह सच्चा आनन्द है। वह जिसने प्रगट किया, उसे जैन कहा जाता है परन्तु राग में एकाग्रता करके राग को ही अपना कर्तव्य और फर्ज माने और समाज के बीच में स्त्री का हाथ पकड़ कर लाया हूँ तो उस स्त्री को मुझे निभाना चाहिए, परिवार को निभाना चाहिए, जाति का काम करना चाहिए, जो ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि महामिथ्यात्व का पाप करता है। उसे जैन नहीं कहा जा सकता है।

विकल भयौ संसारमैं — जहाँ हो, वहाँ अभिमान करता है। संसार में अनेक प्रकार से अज्ञानी जीव विलाप करता है। साधु नाम धराकर भी जो ऐसा मानता है कि मैंने इतने श्लोक बनाये, इतनी पुस्तकें तैयार की, जगत के जीवों को समझाया... वह सब मिथ्यात्वभाव है। पुस्तक तो रजकण का पिण्ड है, उस रजकण की क्रिया को कौन करे? और अन्य जीवों को कौन समझा सके? भाषा के कार्य का कर्ता होता है, उसे ऐसा लगता है कि मैं दूसरों को समझा देता हूँ।

करै विलाप अनंत — अर्थात् काठियावाड़ी भाषा में कहें तो पोरह करे–अभिमान करे कि मैंने तो इतने–इतने काम किये हैं। सेठ का काम किया, कारखाने का काम किया, घर का काम किया, लोग देखते रहें इस प्रकार लड़के का विवाह किया.... ऐसा व्यवस्थित काम किया है कि अब दूसरे लड़कों को कन्या जल्द मिल जायेगी.... ऐसे अनेक प्रकार से अभिमान करता है, वह मूर्ख है, उसके अभिमान को यहाँ विलाप कहा है। अज्ञानी ने पर का स्वामी होकर पर के काम का बोझा अपने सिर पर उठाया है।

www.vitragvani.com

तो फिर किसी को कुछ करना नहीं न! यह तो स्वार्थी हुआ। भाई! परद्रव्य का काम कोई कर सकता ही नहीं। समस्त आत्माएँ और सर्व पुद्गल स्वतन्त्र पदार्थ हैं और किसी भी समय पदार्थ अपनी वर्तमान पर्याय के कार्यरहित नहीं होता, इसलिए एक पदार्थ का कार्य दूसरा पदार्थ करता है – ऐसा हो ही नहीं सकता। हमने मन्दिर बनाये, अन्दर सोना लगाया, चाँदी के फूल से भगवान की पूजा की... यह तो जड़ के कार्य हैं, उन्हें जीव कैसे कर सकता है?

प्रश्न : क्या आत्मा पंगु है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आत्मा पर के लिए पंगु ही है। तीन काल-तीन लोक का जाननेवाला है परन्तु करनेवाला नहीं है।

नीचे (नाटक समयसार शास्त्र में) नौवाँ कलश है, उसकी पहली लाईन का शब्दार्थ करें तो इस प्रकार होता है कि अज्ञानी 'मैं पर का कार्य करूँ' ऐसे अध्यवसान के कारण व्यर्थ का मोह करता है। लड़कों को ठीक से पढ़ाकर होशियार करूँ... ऐसा करूँ... वैसा करूँ... यह सब अज्ञानी का मोह निष्फल है। व्यर्थ का मूढ़ हो रहा है। पर का कौन कर सकता है? पर का काम इस जीव से तीन काल में नहीं हो सकता, फिर भी मैंने पर का कार्य किया – ऐसा अभिमान होता है, वह मिथ्यात्व का महान पाप है, जो सप्त व्यसन से भी बड़ा पाप है। अनादि से अज्ञानी ऐसी मिथ्यामान्यता करता आया है। किसी पदार्थ में कर्तापने की मान्यता किये बिना वह नहीं रहा है।

इसे ऐसा लगता है कि पैसावाला हो तो वह धर्म में मददरूप हो सकता है, गरीब क्या कर सकता है? इसलिए पैसेवाले से धर्म टिकता है। अरे भगवान! पैसा कहाँ तेरा है कि तू पैसावाला हो गया? यह तुझे क्या हुआ? पैसा तो अजीव है, उसे 'मेरा' माननेवाला स्वयं अजीव के प्रेम में अजीव जैसा हो रहा है। मैं पैसावाला, मैं लड़केवाला, मैं अच्छी स्त्रीवाला – ऐसे अनेक 'वाला' इसे लगे हैं। जगत् में कोई चीज बाकी नहीं है कि जिसे अज्ञान से जीव ने अपनी नहीं मानी हो। श्लोक में यह सब कहा है।

शरीर मेरा है, उचित आहार लें तो शरीर में रोग नहीं होता, यह सब मूढ़ की मान्यता है। शरीर तो जड़ है, वह जीव का कैसे होगा? और अमुक आहार लेने से रोग नहीं होता

www.vitragvani.com

– यह भी मिथ्यामान्यता है। यहाँ तो जगत् से उल्टी बात है। एक आँख की पलक फिराना भी आत्मा का कार्य नहीं है, आँख की पलक जड़ है, उसका फिरना जड़ के कारण होता है परन्तु अरे! मूढ़ ने जगत् में कहीं अपनापन किये बिना छोड़ा नहीं है। यह मेरा कार्य, यह भी मेरा कार्य – ऐसे सबके कर्तापने की मान्यता का सेवन किया है। क्यों कॉन्ट्रेक्टर भाई! तुम मकान बनाते हो न? क्यों अमुखभाई! तुम मशीन बनाते हों न? क्यों इंजीनियर भाई! तुमने तो बहुत काम किया है न?

बापू! तेरे तत्त्व के सिवा–तेरे द्रव्य के सिवा दूसरे द्रव्य की अस्ति और उसका परिणमन उस द्रव्य के कारण है, तेरे कारण नहीं। जगत् के अनन्त पदार्थों को, अपने में रहकर उन्हें जानने का कार्य तुझसे होता है, उस ज्ञान का तू कर्ता है। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की भक्ति के भावों का भी कर्ता होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। इक्कीसवें पद्य में आ गया है कि गरीब को फूटी कौड़ी भी धन जैसी लगती है, उल्लू को रात्रि ही इष्ट जैसी लगती है, कुत्ते को वमन ही दही जैसा लगता है, सूकर को विष्टा पकवान जैसी मीठी लगती है, कौवे को निंबोली द्राक्ष जैसी प्रिय लगती है, हिंसक को हिंसा में ही धर्म दिखता है; इसी प्रकार मूर्ख को पुण्यबन्ध ही मोक्ष के समान प्रिय है। देखो, अन्दर है न? इसमें कहाँ गुप्त रखा है? मूर्ख को शुभबन्ध ही निर्वाण जैसा प्रिय लगता है। दया पालन की, व्रत पालन किये, उपवास किया, ऊनोदर किया, रस परित्याग किया, उसमें भी राग की मन्दता हो तो वह पुण्य है, उसे अज्ञानी धर्म मानता है, उसे ही निर्वाण मानता है, यह मूर्ख की मान्यता है। भाई! वीतराग का मार्ग दुनिया से कोई अलग प्रकार का है। शुभबन्ध, वह कोई कल्याण का मार्ग नहीं है, परिभ्रमण का मार्ग है।

किसी को **प्रश्न** होता है कि भरत राजा, श्रेणिक राजा इत्यादि समकिती थे परन्तु उन्हें तो राज्य था, स्त्रियों का भोग था तो ऐसा क्यों? तो **समाधान** ऐसा है कि धर्मी को वास्तव में राज्य या विषय–भोगादि होते ही नहीं। जिसने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया है, उसे विषय–भोगादिक का विकल्प तो काले नाग जैसा दिखता है, दुःखरूप लगता है; इसीलिए समकिती विषय से विरक्त होता है। संयोग में राज्य, स्त्री आदि दिखे परन्तु समकिती को उनका प्रेम नहीं है, उन्हें अपना नहीं मानता है; इसलिए

www.vitragvani.com

समकिती इस विषयादिक की क्रिया और राग से भिन्न है। जबकि अज्ञानी तो विषयादि में सुख मानता है। ऐसे मूढ़ पुरुष की बात आगे चलती है।

मूढ़ मनुष्य विषयों से विरक्त नहीं होते (सवैया इकतीसा)

रविकै उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति,
अंजुलिकै जीवन ज्यौं जीवन घटतु है।
कालकै ग्रसत छिन छिन होत छीन तन,
आरेके चलत मानौ काठ सौ कटतु है॥
ऐते परि मूरख न खोजै परमारथकौं,
स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है।
लगौ फिरै लोगनिसौं पग्यौ परै जोगनिसौं,
विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है॥ २६॥

अर्थ – जिस प्रकार अंजुलि का पानी क्रमशः घटता है, उसी प्रकार सूर्य का उदय-अस्त होता है और प्रतिदिन जिन्दगी घटती है। जिस प्रकार करौंत खींचने से काठ कटता है, उसी प्रकार काल शरीर को क्षण-क्षण क्षीण करता है। इतने पर भी अज्ञानी जीव मोक्षमार्ग की खोज नहीं करता और लौकिक-स्वार्थ के लिये अज्ञान का बोझा उठता है, शरीर आदि परवस्तुओं से प्रीति करता है, मन-वचन-काय के योगों में अहंबुद्धि करता है और सांसारिक विषय-भोगों से किंचित् भी विरक्त नहीं होता।

काव्य-२६ पर प्रवचन

जैसे, नाली में से पानी चला जाता है, वैसे ही जीवन चला जा रहा है। सूर्य के उदय अस्त के साथ हमेशा जिन्दगी कम होती जाती है परन्तु अज्ञानी परमार्थ आत्मस्वरूप को खोजता नहीं है। जितना आयुष्य लेकर आया है, उसके सन्मुख व्यतीत होता जाता है परन्तु अज्ञानी, मैं कौन हूँ? इस शरीर और विकल्पों से पृथक् मैं कौन हूँ? उसे खोजने की दरकार नहीं करता। बालकपन और युवावस्था चली गयी... प्रतिक्षण शरीर क्षीण होता जाता है, फिर भी परमार्थ आनन्दस्वरूप निज को खोजने की दरकार नहीं करता और आयुष्य तो लकड़ी पर आरा चलाने की तरह कटता जाता है। फिर भी अज्ञानी मूर्ख अपने चैतन्य को

www.vitragvani.com

नहीं शोधता है। मैं चैतन्य कौन हूँ ? मेरा स्वरूप कैसा है ? मैं किस भाव से रहित हूँ और किस भाव से सहित हूँ ? उसे नहीं खोजता।

अरे! समय-समय में आयुष्य घटता जाता है। शरीर जीर्ण होता जाता है परन्तु **स्वारथकै हेतु** — दुनिया के लौकिक स्वार्थ के लिए इसने भ्रम का बोझ उठाया है। इस लड़के को लाइन पर लगाना चाहिए, लड़की का विवाह अच्छे घर में करना चाहिए। इस प्रकार अज्ञानी मूढ़ ने लौकिक कार्य में बड़ा मिथ्यात्व का बड़ा बोझ उठाया है। अरे! तू चेतन है, तुझे स्त्री, पुत्र, परिवार ही नहीं होता। अरे! आस्रव भी तेरे स्वभाव में नहीं है। तू आस्रव से रहित तत्त्व है तो अन्य पदार्थ तेरे कहाँ से होंगे ? कि उनका बोझा तुझे उठाना होगा ? स्त्री को प्रसन्न रखना, पुत्र को प्रसन्न रखना, सेठ को प्रसन्न रखना, अधिकारियों को प्रसन्न रखना, समधि-समधन को प्रसन्न रखना - इस प्रकार सबको प्रसन्न रखने में अज्ञानी की जिन्दगी चली जाती है।

श्रीमद् ने कहा है न! जगत मुझे अच्छा कैसे कहे, जगत मुझे बड़ा कैसे कहे, जगत मुझे दूसरों की तुलना में अच्छे प्रकार का विचक्षण कैसे कहे ? - इस प्रकार जगत् में अच्छा होने और जगत् को अच्छा दिखाने में जीवन पूरा होता है। ऐसे लौकिक कार्य में फँस कर अज्ञानी ने भ्रम का बड़ा भार उठाया है। **लगौ फिरै लोगनिसौं** — जिसके साथ स्वयं को प्रेम हो, उन सगे सम्बन्धी मित्रों के साथ लगा रहता है, उनमें ही प्रीति और रुचि करता है परन्तु मैं भगवान जैसा कौन हूँ ? यह देखने का प्रेम नहीं है। साधु नाम धराये तो भी शिष्य बनाना, पैसा उगाहना इत्यादि कार्यों की होली किया करता है परन्तु तुझे पैसे का क्या काम है ? सेठियों के पीछे घूमा करता है... मूर्ख है।

पग्यौ परै जोगनिसौं — मन, वचन, काया की क्रिया में लवलीन रहता है, वह तो जड़ मिट्टी है परन्तु उसकी क्रिया का कर्ता स्वयं होने जाता है। उपधान करे, तब भगवान के पास सो खमासढ़ा देता है। अब इस देह की क्रिया से आत्मा को क्या लाभ होता है ? राग की मन्दता हो तो पुण्य होता है और यदि थकान से कलुषिता हो तो परिणाम में कुछ ठिकाना नहीं रहता।

विषैरस भोगनिसौं नेकु न हटतु है — अज्ञानी, विषय के रस में से किञ्चित् भी

www.vitragvani.com

पीछे नहीं हटता। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द – इन पाँच इन्द्रिय के विषयों का ही उसे ध्येय है। आत्मा ही मेरा वास्तविक ध्येय है, इसका उसे पता नहीं है। स्व विषय को छोड़कर पर विषय या रागादि किसी में लक्ष्य जाता है, वह विषय ही है। स्व के लक्ष्य के बिना शुभभाव में खड़ा हो, वह भी विषय है। ३१ वीं गाथा में इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय सबको इन्द्रिय कहा है, वह आत्मा नहीं है। वीतराग की वाणी को विषय बनाता है, वह भी इन्द्रिय है। जड़ इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय – खण्ड-खण्ड ज्ञान और इन्द्रिय के विषय, इन तीनों को जीतता है, वह जितेन्द्रिय है, अर्थात् उनका लक्ष्य छोड़कर अतीन्द्रिय भगवान आत्मा की दृष्टि करने का नाम इन्द्रिय का जीतना कहलाता है। आत्मा के आनन्द का विषय छोड़कर जितना पर के प्रति लक्ष्य जाता है, वह सब परविषय है। देव-शास्त्र-गुरु के प्रति भी लक्ष्य रहता है, तब तक धर्म नहीं होता है।

यह लोगों को एकान्त लगता है। पर से भी लाभ होता है और स्व के आश्रय से भी लाभ होता है तो अनेकान्त कहलाता है – ऐसा लोग मानते हैं। इसलिए पर के विषय से एक अंशमात्र भी नहीं हटते हैं। यह बन्ध अधिकार है, इसलिए यहाँ भावबन्ध बतलाते हैं। शुभराग और उसका निमित्त भी परविषय है, लोग उसे धर्म मानकर बैठे हैं, यह भ्रम का भार है, शुभभाव भी लौकिक है।

सम्यग्दृष्टि राज्यभोग में पड़ा है, फिर भी वह पर विषय से छूटा हुआ है, यह बात आगे आयेगी। सम्यग्दृष्टि निश्चय में लीन है, स्वभावदृष्टि में एकाग्र है, परविषय और राग से तो मुक्त है (नाटक समयसार में) १९३ पृष्ठ पर ३२ वें पद्य में आयेगा – **असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव, तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं।** जितना व्यवहारभाव है, उसे धर्म मानें तो उतना ही मिथ्यात्वभाव होता है। **जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यकदरस भयौ, ते नियत-लीन विवहारसौं मुकत हैं।** जो स्वविषय में लीन है, वह सम्यक्त्वी, राग-दया, दान, भक्ति आदि व्यवहार से मुक्त है।

जगत् को वीतराग की वाणी सुनना दुर्लभ हो गयी है। व्यवहार कहो या राग कहो, या आस्रव कहो, उसमें जिसकी एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि व्यवहार अर्थात् शुभभाव और शुभभाव अर्थात् भावबन्ध। जिसकी भावबन्ध पर दृष्टि है, वह

www.vitragvani.com

मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि भावबन्ध से मुक्त है। भगवान की भक्ति, दया, दान, व्रत, पूजा, शास्त्र-श्रवण, चिन्तवन, मनन - यह सब भाव व्यवहार है। उसमें एकत्व करना मिथ्यात्व है। सम्यक्त्वी को उसमें एकत्व नहीं है, उससे मुक्त है। धर्मी तो स्वभाव की ओर के झुकाव में अन्दर चला ही जाता है, उसमें राग उसे रोक नहीं सकता। स्थूल विषय में तो धर्मी को एकत्व नहीं है परन्तु सूक्ष्म विषय में-शुभभाव के विषय में भी धर्मी को एकत्व नहीं है।

देव, गुरु को मानो तो तुम्हारे भव का छेद हो जायेगा - ऐसा कितने ही कहते हैं भाई! वह तो राग है, विकल्प है, उससे भव का छेद नहीं होता। राग से कल्याण माननेवाले की दृष्टि मिथ्या है।

कठिन पड़े या सरल पड़े परन्तु मार्ग तो यह है। वीतराग भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते हैं। इस मार्ग पर चलनेवाले धर्मी, व्यवहारमात्र की एकत्वबुद्धि से छूट गये हैं। अज्ञानी उसमें एकत्व करता है, इसलिए शुभराग से लाभ मानते हैं। ऐसी सीधी बात सुनकर नये लोगों को ऐसा लगता है कि यहाँ तो सीधे एल.एल.बी. की ही बात है, पहले ईकाई की बात तो करते नहीं.... परन्तु भाई! यही सम्यग्दर्शन की पहली ईकाई की बात है, एल.एल.बी. की बात नहीं।

अज्ञानी, पर की रुचि से हटता ही नहीं है। जिसे पर का प्रेम है, उसे आत्मा के प्रति द्वेष है - ऐसे अज्ञानी जीवों की मूढ़ता यहाँ दृष्टान्त से समझाते हैं।

अज्ञानी जीव की मूढ़ता पर मृगजल और अन्धे का दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांहि,
तृषावंत मृषा-जल कारन अटतु है।
तैसैं भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है॥
आगेकौं धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ,
जैसैं नैनहीन नर जेवरी बटतु है।

www.vitragvani.com

तैसैं मूढ़ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हसत फल खोवत खटतु है॥ २७॥

अर्थ – जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में सूर्य का तीव्र आताप होने पर प्यासा मृग उन्मत्त होकर मिथ्याजल की ओर व्यर्थ ही दौड़ता है, उसी प्रकार संसारी जीव माया ही में कल्याण सोचकर मिथ्या कल्पना करके संसार में नाचते हैं। जिस प्रकार अन्ध मनुष्य आगे को रस्सी बटता (भाँजता) जावे और पीछे से बछड़ा खाता जावे, तो उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार मूर्ख जीव शुभाशुभ क्रिया करता है व शुभक्रिया के फल में हर्ष और अशुभक्रिया के फल में विषाद करके क्रिया का फल खो देता है।

काव्य-२७ पर प्रवचन

यह तो वीतरागमार्ग की बात है बापू! जो बात अर्धलोक के स्वामी इन्द्र सुनते होंगे, वह क्या कुम्हार करे ऐसी साधारण बात होगी? 'दया से धर्म होता है' – ऐसी बात तो कुम्हार भी करता है तो क्या वीतराग भी ऐसा कहते होंगे? एक भवावतारी शकेन्द्र जो कथा सुनने आते हैं, वह कथा कैसी होगी बापू! शकेन्द्र, इन्द्र और इन्द्राणी दोनों क्षायिक सम्यक्त्वी होते हैं और मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले होते हैं – ऐसे जीव भी समवसरण में भगवान के समीप जो कथा सुनने आते हैं, वह कथा कैसी होगी, भाई!

श्रोता : अलौकिक होती है।

यहाँ कहते हैं – गर्मी में हिरण, पानी की प्यास से पीड़ित होकर पानी के लिए इधर से उधर दौड़ता है, मृगजल में पानी की कल्पना करके दौड़ता है परन्तु उसमें पानी कहाँ मिलेगा!

मुम्बई व्याख्यान में यह मृगजल की बात की थी, इसके आधार से भजन मण्डलीवालों ने गीत बनाया है कि

सरोवर किनारे रे हिरण प्यासे रे लाल,
दौड़े हाँफें मृग जल के काज,
अरे...रे...! सच्चा पानी उसे न मिले रे लाल...!

www.vitragvani.com

भरा हुआ सरोवर छोड़कर मृगजल में पानी ढूँढ़ने जाये तो वहाँ कहाँ पानी था कि तुझे मिले। इसी प्रकार भगवान स्वयं तो आनन्द जल से भरपूर सरोवर है, उसे भूलकर शुभक्रियारूपी मृगजल में अज्ञानी मृग भटका करता है परन्तु उसमें शान्ति और आनन्द कहाँ से मिलेगा?

उस मन के मृग को वापस मोड़ना, रे लाल,
जोड़ देना आतम सरोवर रे आज,
उसे मिलेगा आतमसुख अमूल्य रे लाल...

मन के मृग को परविषय से छुड़ाकर, परान्मुख करके स्वविषय में जोड़ दे तो अमूल्य आत्मसुख मिलेगा। जिसकी दृष्टि पर्याय, राग और निमित्त पर है, वह सब विषय के और भोग के ही अर्थी हैं। स्वविषय को ध्येय बनाने की आवश्यकता है, वह तो करता नहीं और व्यर्थ में हैरान होकर भटकता है।

मिथ्यात्व मूल अन्तर में पड़ा रे लाल,
डाल तोड़े से वृक्ष न सूखाय,
तुम लेना सम्यक्त्व कुल्हाड़ी हाथ में रे लाल...

राग में धर्म मानना, वह मिथ्यात्व का मूल है। वह जब तक नहीं कटता, तब तक मन्दकषाय करने से कहीं संसार परिणमन कम नहीं होता। मिथ्यात्व के मूल को काटने के लिए तो सम्यक्त्वरूपी कुल्हाड़ी का उपयोग करना पड़ेगा अर्थात् ज्ञानानन्दस्वभाव निज भगवान आत्मा में नजर कर तो तुझे सम्यग्दर्शन और शान्ति होगी तथा मिथ्यात्वरूपी मूल कटेगा, वरना मृगजल में पानी ढूँढ़ने से तेरी प्यास नहीं बुझेगी, भाई! आत्मा की पहचान किये बिना मात्र देव-शास्त्र-गुरु को मानने से तेरी प्यास नहीं बुझेगी, क्योंकि वे भी परद्रव्य हैं। परद्रव्य के आश्रय से जीव का कल्याण कभी नहीं होता है। परद्रव्य के आश्रय से जीव को विकल्प और राग ही होता है; इसलिए पर में से कल्याण की आशा रखेगा तो मृग की तरह हैरान होगा। मार्ग तो ऐसा है। इसे बैठे या न बैठे परन्तु तीन काल में मार्ग तो यही है। केवली द्वारा कथित मार्ग है, उसमें कुछ भी फेरफार करके बोलना वह वीतराग का मार्ग नहीं है।

www.vitragvani.com

तैसैं भववासी मायाहीसौं हित मानि मानि — जैसे मृगजल में मृग को पानी नहीं मिलता, उसी प्रकार भव में भटकनेवाले जीव शुभाशुभभावरूपी माया में-विकार में हित लेने जाते हैं, परन्तु मिलता नहीं है। शुभभाव में भी मृगजल जैसी दशा है, वहाँ धर्म का पानी नहीं है। पुण्य-पाप, विकल्प और संयोग, यह सब माया में गिना जाता है। यह जीव का स्वरूप नहीं है, इसमें से ही हित की कामना रखकर वर्तता है, वह अपने भ्रम को पक्का करता हुआ, श्रम करके संसार में नाचता है।

आगेकौं धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ — जैसे अन्धा मनुष्य रस्सी बुनता जाता है परन्तु पीछे बछड़ा उसे चबाता जाता है, इसका उसे पता नहीं है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान से अन्ध जीव, व्यवहार की क्रिया कर-करके धर्म की आशा रखता है परन्तु मिथ्यात्वरूपी बछड़ा उसका सब नाश कर डालता है, इसका उसे पता नहीं है।

इस पद्य में बनारसीदासजी ने अज्ञानी जीव की मूढ़ता पर मृगजल और अन्धे का दृष्टान्त दिया है। जैसे हिरण मृगजल में जल मानकर दौड़ता है, उसी प्रकार अज्ञानी जहाँ सुख नहीं है - ऐसे शुभाशुभभाव और स्त्री-पुत्र, पैसे इत्यादि में सुख मानकर दौड़ता है।

यह बन्ध अधिकार है न! बन्ध में पड़े हुए जीव पैसे में, स्त्री में, इज्जत में, कीर्ति में - इत्यादि में मुझे ठीक है - ऐसा मानकर वर्तते हैं तथा पुण्य-पापभाव में मुझे ठीक है - ऐसा मानकर उनमें ही लीन रहते हैं। बन्धभाव में गति करके उनमें से धर्म और शान्ति होगी - ऐसा मानकर पड़े हैं।

दूसरा दृष्टान्त अन्धे का दिया है कि एक तरफ अन्धा सन की रस्सी बटता है और दूसरी तरफ से बछड़ा खाता जाता है तो उसकी मेहनत तो व्यर्थ जाती है। इसी प्रकार मूर्ख जीव, शुभक्रिया करता है और शुभक्रिया के फल में हर्ष करके क्रिया का फल खो डालता है। मूढ़ जीव, शुभभाव करता है परन्तु दृष्टि मिथ्या है, शुभभाव में धर्म मानता है परन्तु शुभभाव भी बन्धभाव है; धर्म नहीं। शुभभाव के फल में अनुकूल संयोग मिलेंगे - ऐसा हर्ष करेगा परन्तु उसकी दृष्टि आत्मा पर नहीं जाती है।

ज्ञानी की दृष्टि आत्मस्वभाव पर होने से, बन्धभाव का तो वह त्यागी है; इसलिए ज्ञानी को तो ज्ञाता-दृष्टापने के फल में शान्ति और वीतरागता है परन्तु जिसे आत्मस्वभाव

www.vitragvani.com

की दृष्टि नहीं है, उसे शान्ति नहीं है, उसे तो बाहर में से सुख लेने की पिपासा है। इसलिए सुकृत करता है परन्तु उसके फल में अनुकूलता मिले, उसमें हर्ष करके राग-द्वेष करता है, सुख प्राप्त नहीं करता है। अज्ञानी बन्धन में से पृथक् नहीं पड़ता, बन्धन को ही अपना स्वरूप मानता है। इसके दृष्टान्त कहते हैं।

अज्ञानी जीव के बन्धन से न सुलझ सकने पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

लियैं द्रिढ़ पेच फिरे लोटन कतबूरसौ,
उलटौ अनादिकौ न कहूं सुलटतु है।
जाकौ फल दुख ताहि सातासौं कहत सुख,
सहत-लपेटी असि-धारासी चटतु है॥
ऐसैं मूढ़जन निज संपदा न लखै क्यौंही,
यौंहि मेरी मेरी निसिवासर रटतु है।
याही ममतासौं परमारथ विनसि जाइ,
कांजीकौ परस पाइ दूध ज्यौं फटतु है॥ २८॥

अर्थ - जिस प्रकार लोटन कबूतर के पंखों में मजबूत पेंच लगे होने से वह उलट-पुलट फिरता है, उसी प्रकार संसारी जीव अनादि काल से कर्म-बन्धन के पेंच में उलटा हो रहा है, कभी सन्मार्ग ग्रहण नहीं करता, और जिसका फल दुःख है - ऐसी विषय-भोग की किंचित् साता को सुख मानकर शहद लपेटी तलवार की धार को चाटता है। ऐसा अज्ञानी जीव सदाकाल परवस्तुओं को मेरी-मेरी कहता है और अपनी ज्ञानादि विभूति को नहीं देखता, परद्रव्य के इस ममत्वभाव से आत्महित ऐसा नष्ट हो जाता है, जैसे कि कांजी के स्पर्श से दूध फट जाता है।

काव्य-२८ पर प्रवचन

जैसे लोटन कबूतर के पंखों में मजबूत पेंच लगे होने से वह फिरता ही रहता है। इसी तरह अनादि का अज्ञानी, राग में एकत्व करके संसार में फिरा करता है, कभी सन्मार्ग की ओर नहीं झुकता है। जिस भाव से स्वयं को बन्धन होता है, उस भाव को ही अज्ञानी अपना स्वरूप मानता है; इसलिए जिसका फल दुःख है - ऐसे साता के संयोग में सुख

www.vitragvani.com

मानकर पड़ा रहता है। अनुकूल संयोग में अपनी बादशाही मानता है, पैसे में सुख है, इज्जत में सुख है, बँगले में सुख है – ऐसा मानता है; इसलिए उनमें से उसकी रुचि नहीं हटती है। उसे पता नहीं है कि यह शहद लपेटी तलवार की धार जैसा सुख है। शहद मीठा तो लगता है परन्तु तलवार उसकी जीभ काट डालती है। इसी प्रकार साता के संयोग में उसे थोड़ा सुख कल्पना में लगता है परन्तु मिथ्यात्व उसके सुख को काट डालता है, आत्मा की शान्ति को मिथ्यात्व काट डालता है। इसका अज्ञानी को भान नहीं है।

लड़का अच्छा पका हो, बहु अच्छे घर की आयी हो, और आज्ञाकारी हो, लड़के के घर में अच्छे लड़के हुए हों, तो मूढ़ को ऐसा लगता है कि अभी हम सुखी हैं। यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी–मिथ्यादृष्टि है।

श्रोता : भले मिथ्यादृष्टि हो परन्तु सुखी तो है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सुखी कैसा है? यह कहा न! शहद लपेटी तलवार चाटनेवाले जैसा वह सुखी है। जीभ तो उसकी कट जाती है, इसी प्रकार आत्मा की शान्ति तो कट जाती है, वहाँ सुख कहाँ रहा? मिथ्यात्वभाव से जीव की शान्ति लुट जाती है परन्तु अज्ञानी परवस्तु में अपनेपन की मान्यता से छूटकर किसी प्रकार से निज सम्पत्ति को नहीं देखता है।

साधु नाम धराकर, आचार्य नाम धराकर भी, मूढ़ जीव, मिथ्यात्व में पड़े हैं। हाथी के हौंदे पर दीक्षा ली जाती हो, कितने ही शिष्य हो गये हों – यह सब पूर्व के पुण्य से हुआ हो परन्तु मूढ़ इससे अपनी प्रभावना मानता है.... परन्तु भाई! आत्मा की प्रभावना अन्दर से होती है या बाहर से होती है? विकल्प से भिन्न निर्विकल्प आनन्द का वेदन–यह अन्दर की प्रभावना है। साथ में शुभविकल्प उत्पन्न हो, वह व्यवहार प्रभावना है परन्तु वह बन्ध का कारण है।

मूढ़जन निज संपदा न लखै क्यौंही — मैं आनन्द और ज्ञान का सागर हूँ; शुभाशुभ राग तो उपाधि और मैल है – ऐसा अज्ञानी नहीं जानता। निज सम्पत्ति को नहीं जानता हुआ अज्ञानी विपदा को ही अपनी सम्पदा जानता है। शुभाशुभराग तो विपदा है–अपदा है, उसे ही सम्पदा मान ली होने से अज्ञानी की दृष्टि किसी प्रकार से निज सम्पदा

www.vitragvani.com

की ओर जाती ही नहीं। शुभाशुभभाव और उसके फल में ही अटककर पड़ा है। कदाचित् दिगम्बर साधु हो परन्तु पञ्च महाव्रतादि के राग में ही एकाकार हो जाये तो साताकर्म बाँधे परन्तु आत्मा की शान्ति से वंचित रह जाता है, निज सम्पदा को नहीं जानता है। इस प्रकार किसी भी प्रकार से मूढ़ जीव की दृष्टि पर में ही लगी होती है।

यौंहि मेरी मेरी निसिवासर रटतु है — निशि अर्थात् रात, और वासर अर्थात् दिन। रात-दिन मिथ्यादृष्टि जीव, यह हमने पुण्य किया, पुण्य के फल में संयोग मिले वे सब मेरे हैं - ऐसा बन्ध और बन्धभाव के फल को यह मेरा-मेरा कर रहा है। **याही ममतासौं परमारथ विनसि जाइ** — दया, दानादि परिणाम और उसके फल में ममता करने से मिथ्यात्व होता है और आत्मा की शान्ति का नाश होता है। जैसे, नमक का पानी दूध में डालने से दूध फट जाता है; इसी प्रकार शुभाशुभराग को ही अपना स्वरूप मानने से आत्मा की शान्ति फट जाती है-नष्ट हो जाती है।

सुकृत के फल में प्राप्त शरीर की अनुकूलता और इज्जत आदि में अपनेपन की मान्यता से अज्ञानी निज सम्पदा को खो बैठता है। राग की क्रिया मेरी है, बन्धभाव वह मैं हूँ - ऐसी श्रद्धा से उसका सम्यग्दर्शन फट जाता है, जैसे दूध फट जाता है उस प्रकार। सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता, उसे ही यहाँ फट जाता है - ऐसा कहा है। कर्ता-कर्म अधिकार में आया है कि राग की एकताबुद्धि में सम्यग्दर्शन नाश होता है अर्थात् उत्पन्न नहीं होता। राग को निज मानकर ज्ञानभवनमात्र सहज उदासीन अवस्था का अज्ञानी त्याग करता है अर्थात् सहज उदासीन (अवस्था) प्रगट नहीं करता। पहले सहज उदासीन दशा थी और उसका त्याग करता है - ऐसा नहीं है।

बन्धभाव को अपना स्वभाव माननेवाला जीव, अबन्धपरिणाम प्रगट नहीं कर सकता है; इसलिए कहा कि उसने अबन्धपरिणाम का नाश किया है। उसे यह बात समझना अटपटी लगती है और धर्म के नाम पर क्रिया करना सरल लगता है परन्तु ऐसी क्रियाएँ तो अनन्त बार की हैं। देव-शास्त्र-गुरु के लिए सिर दे दे इतनी अर्पणता अनन्त बार की है, परन्तु यह तो राग की अर्पणता है। राग में एकाकार होने से अरागी आत्मदशा का नाश होता है क्योंकि आत्मा / वस्तु अबन्धद्रव्य और अबन्धगुणस्वरूपी है, उसके

www.vitragvani.com

परिणाम भी अबन्ध होने चाहिए परन्तु अज्ञानी को अपने स्वरूप का भान नहीं होने से, शुभभाव को अपना स्वरूप मानकर शुद्धता का नाश करता है अर्थात् शुद्धता प्रगट नहीं करता है।

आत्मा / वस्तु तो रागरहित अबन्धस्वभावी है, उसका आश्रय करने से अबन्ध परिणाम ही होते हैं – ऐसी ही वस्तुस्थिति है परन्तु अज्ञानी जीव, आत्मवस्तु का आश्रय नहीं करके राग की एकताबुद्धि करके मिथ्यात्व उत्पन्न करता है; इसलिए अबन्धपरिणाम उत्पन्न नहीं होते; अत: उनका नाश किया ऐसा कहा जाता है। आत्मा की अहितबुद्धि में हितबुद्धि की पर्याय उत्पन्न नहीं होती है। यह २८ वाँ पद्य हुआ।

अब, २९ वें पद्य में अज्ञानी की अहंबुद्धि पर बनारसीदासजी दृष्टान्त देते हैं। यह उनका स्वतन्त्र पद्य है।

अज्ञानी जीव की अहंबुद्धि पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

रूपकी न झाँक हीयैं करमकौ डांक पियैं,
ग्यान दबि रह्यौ गिरगांक जैसैं घनमैं।
लोचनकी ढांकसौं न मानै सदगुरु हांक,
डोलै मूढ़ रांकसौ निसांक तिहूं पनमैं॥
टांक एक मांसकी डलीसी तामै तीन फांक,
तीनकौसौ आंक लिखि राख्यौ काहू तनमैं।
तासौं कहै नांक ताके राखिवैकौं करै कांक,
लांकसौं खड़ग बांधि बांक धरै मनमैं॥ २९॥

अर्थ – अज्ञानी जीव को अपने स्वरूप की खबर नहीं है, उस पर कर्मोदय का डांक[१] लग रहा है, उसका शुद्ध ज्ञान ऐसा दब रहा है, जैसे कि चन्द्रमा मेघों से दब जाता है। ज्ञाननेत्र ढँक जाने से वह सद्गुरु की शिक्षा नहीं मानता, मूर्खतावश दरिद्री हुआ सदैव नि:शंक फिरता है। नाक है, सो मांस की एक डली है, उसमें तीन फाँक है, मानो

१. सफेद काँच पर जिस रंग का डाँक लगाया जाता है, उसी रंग का काँच दिखने लगता है। उसी प्रकार जीवरूप काँच पर कर्म का डाँक लग रहा है, सो कर्म जैसा रस देता है, जीवात्मा उसी रूप हो जाता है।

www.vitragvani.com

किसी ने शरीर में तीन का अंक ही लिख रक्खा है, उसे नाक कहते हैं, उस नाक (अहंकार) के रखने को लड़ाई करता है, कमर से तलवार बाँधता है और मन में वक्रता ग्रहण करता है।

काव्य-२९ पर प्रवचन

अज्ञानी जीव को स्वरूप का पता ही नहीं है कि मैं तो सद्चिदानन्द निर्मल आनन्दकन्द प्रभु आत्मा हूँ। इसलिए पर्याय में जैसा-जैसा राग आता है, उस रागरूप अज्ञानी हो जाता है। कर्म के उदय के संग में रहा हुआ वह राग की प्रसिद्धि करता है परन्तु स्वरूप की जाँच नहीं करता कि मेरा स्वरूप तो जानना-देखना है। पुण्य-पाप के भाव मेरे हैं और उसमें मेरा हित है - ऐसा मानकर अपने ज्ञान को उसने ढँक दिया है। जैसे, बादल से (आकाश) ढँक जाता है; इसी प्रकार पुण्य के प्रेम में चैतन्य ढँक गया है।

लोचनकी ढांकसौं न मानै सदगुरु हांक — ज्ञाननेत्र ढँक गये हैं, इसलिए सदगुरु की शिक्षा भी अज्ञानी नहीं मानता है। ज्ञानी तो कहता है परन्तु अपने को अभी ऐसा नहीं होता - ऐसा कहकर ज्ञानी की बात की, अज्ञानी दरकार नहीं करता। साक्षात् भगवान के समवसरण में जाकर वाणी सुने तो भी धोयी हुई मूली की तरह वापस आ जाता है; कुछ भी ग्रहण नहीं करता है।

हाँक अर्थात् आज्ञा। सदगुरु की आज्ञा ऐसी होती है कि हे जीव! राग से रहित तेरे स्वभाव की दृष्टि और अनुभव कर! ऐसी इस आज्ञा को अज्ञानी नहीं मानता है। स्वयं बन्धभाव में एकाकार है, इसलिए सदगुरु की आज्ञा उसे नहीं लगती। राग और निमित्त के प्रेम में वह गुरु की आज्ञा का स्पर्श भी नहीं होने देता है।

डोलै मूढ़ रांकसौ.... रंक जैसा गरीब होकर रहता है। मुझे इन संयोगों में से कुछ मिलेगा, मुझे कोई बड़ा कहेगा, दुनिया में मैं कुछ गिनती में आऊँ... ऐसे अनेक प्रकार से भीख माँगता फिरता है, वह भी नि:शंक होकर फिरता है। मानो मुझे पर में से लाभ होगा ही। अरे! तुझे दुनिया के पास से क्या लेना है? तुझे कुछ भान नहीं है?

टांक एक मांसकी.... यह ३ के आकार से नाक का आकार है न? उसमें तीन छिद्र हैं। यह नाक के लिए अर्थात् इज्जत रखने के लिए हमें सब करना पड़ता है...

www.vitragvani.com

लड़की का विवाह करना हो तो हमारे घर के योग्य सामनेवाला घर और वर सब चाहिए। इस प्रकार मूढ़ अहंकार करके चैतन्य के स्वभाव को भूल जाता है।

अरे मूढ़! भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति का तो तुझे पता नहीं, श्रद्धा नहीं और छोटी बातों में अहंकार कर रहा है? यह तो मिथ्यात्व का बड़ा रोग है। किसी प्रसंग में कमर में तलवार बाँधकर घूमता है, प्रीतिभोजन करता है, बरौठी करता है, १०० के बदले ३०० लोगों को जिमाने बुलाता है, कर्ज करके भी नाक रखने के लिए भोजन देता है। यह कैसा अज्ञान अन्धकार है कि पर में लीन होकर स्वयं अपने को ही भूल जाये? मन में वक्रता धारण करता है। अहंकार पोषण के लिए सब कर लेता है।

गाँव के लड़के मिट्टी के, पड़ोसी के पीतल के और मेरे छगन-मगन सोने के... मेरे घर की स्त्रियाँ भी सब सुन्दर... अरे मूढ़! लड़के कहाँ तेरे थे? वह तो जगत की चीज है। यहाँ कहते हैं कि निज आनन्दकन्द आत्मा के अतिरिक्त एक परमाणु को या राग के कण को अपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

अब, ३० वें पद्य में भी बनारसीदासजी अज्ञानी के अभिमान को स्पष्ट करते हैं।

अज्ञानी की विषयासक्तता पर दृष्टान्त (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोउ कूकर छुधित सूके हाड़ चाबै,
हाड़निकी कोर चहुं ओर चुभैं मुखमैं।
गाल तालु रसना मसूढनिकौ मांस फाटै,
चाटै निज रुधिर मगन स्वाद-सुखमैं॥
तैसैं मूढ विषयी पुरुष रति-रीति ठानै,
तामैं चित्त सानै हित मानै खेद दुखमैं।
देखै परतच्छ बल-हानि मल-मूत-खानि,
गहै न गिलानि पगि रहै राग-रुखमैं॥ ३०॥

अर्थ - जिस प्रकार भूखा कुत्ता हड्डी चबाता है और उसकी नोंक चारों ओर से मुख में चुभ जाती है, जिससे गाल, तालु, जीभ तथा जबड़ों का मांस फट जाता है और खून निकलता है, उस निकले हुए अपने ही रक्त को वह बड़े स्वाद से चाटता हुआ आनन्दित

www.vitragvani.com

होता है। उसी प्रकार अज्ञानी विषयलोलुप जीव, काम-भोग में आसक्त होकर संताप और कष्ट में भलाई मानता है। कामक्रीड़ा में शक्ति की हानि और मल-मूत्र की खानि साक्षात् दिखती है, तो भी ग्लानि नहीं करता, राग-द्वेष में मग्न ही रहता है।

काव्य-३० पर प्रवचन

जैसे, कुत्ता अपने ही मुँह में से निकले हुए खून के स्वाद को हड्डी का स्वाद मानकर चाटा करता है, हड्डियों को छोड़ता नहीं है; इसी प्रकार विषयी पुरुष, स्त्री के विषय में अपने को सन्ताप और कष्ट होता होने पर भी राग के रस के कारण उसमें मजा है - ऐसा मानकर उसकी मग्नता को नहीं छोड़ता है। विषय में सुख माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। स्त्री का शरीर हड्डी, माँस, चमड़ी, पेशाब, विष्टा आदि से भरा है। स्वयं को प्रत्यक्ष दिखता है, फिर भी उसमें प्रेम करता है, उससे हित मानता है, मजा मानता है। वास्तव में तो स्वयं राग में एकाकार होकर राग के रस का वेदन करता है परन्तु अज्ञान से ऐसा मानता है कि इस शरीर में मुझे आनन्द होता है।

शरीर तो मल-मूत्र की खान है, अमृत की खान तो आत्मा है, स्वयं है। शरीर में तो रोग आये, कष्ट हो, पसीना हो, भूख मन्द पड़ जाये, शरीर जीर्ण हो; तथापि उससे स्वयं को सुख मानता है, यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है।

प्रश्न - होता है कि सम्यक्त्वी भी विवाह करता है न?

समाधान - बापू! तुझे पता नहीं है, सम्यक्त्वी को आत्मा की लगन लगी है, वह किसी स्त्री के साथ लगन नहीं करता, उसे राग आता है, उसका भी सम्यक्त्वी स्वामी नहीं होता। वह राग में दु:ख मानता है। सम्यक्त्वी को स्त्री है - ऐसा कहना, यह बात ही मिथ्या है। सम्यक्त्वी को स्त्री नहीं होती, सम्यक्त्वी को राग भी नहीं होता तो स्त्री तो कहाँ से होगी?

सम्यक्त्वी को राग नहीं होता अर्थात्? अर्थात् कि सम्यक्त्वी, राग को अपने में गिनता ही नहीं। अपनी दृष्टि में, अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में वह राग को लाता ही नहीं; इसलिए सम्यक्त्वी रागरहित है। यहाँ तो समकित और मिथ्यात्व दो की ही बात है।

www.vitragvani.com

अपने आनन्दस्वरूप भगवान में से सुखबुद्धि छोड़कर राग में और संयोग में सुखबुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। वह भले ही देव-शास्त्र-गुरु को मानता हो परन्तु बाहर में सुखबुद्धि है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही है। उसने वास्तव में देव-शास्त्र-गुरु को नहीं माना है।

देव-गुरु-धर्म की शुद्धि कहो कैसे रहे ?
कैसे रहे शुद्ध श्रद्धान इसको....।

शुभराग से भी प्रभु भिन्न है - ऐसी श्रद्धा नहीं करता तो तुझे देव-शास्त्र-गुरु की भी श्रद्धा नहीं है। आत्मा के आनन्द को भूलकर किसी भी राग के विकल्प में या निमित्त में वीर्य का उल्लसित होना, वह मिथ्यात्वभाव है। राग अथवा द्वेष किसी भी कषाय में लीन रहना, वह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है। शरीर मल-मूत्र की खान होने पर भी उसमें ग्लानि नहीं करता और राग करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। जहाँ सुख नहीं है, वहाँ सुख मानता है - यह उसकी विपरीत दृष्टि है। जहाँ सुख है, वहाँ अर्थात् स्वरूप में सुख नहीं माना - यह उसकी विपरीत दृष्टि है।

अपने स्वरूप को तो पहचाना नहीं और यह देह अजीव है, उसे अपना माना है; इसलिए अज्ञानी ने अजीव को ही जीव माना है। राग में सुख नहीं होने पर भी सुख माना है, उसने आस्रवभाव को जीव माना है। रागादिभाव आत्मा से विपक्ष है, विपरीत है, उन्हें अपने स्वभाव में गिनता है, उसे बन्ध होता है।

कोई ऐसा कहता है कि अपूर्णदशा है, वह पूर्णदशा से विपक्ष है; इसलिए बन्ध का कारण है — तो ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अपूर्ण दशा है, वह पूर्णदशा से विपक्ष नहीं, विपरीत नहीं है। पूर्ण नहीं परन्तु अंश है, इतना ही अन्तर है परन्तु जाति एक है; इसलिए अपूर्णदशा बन्ध का कारण नहीं है परन्तु अपूर्णदशा में साथ में राग का भाग है, वह पुण्य का कारण है। पञ्च परमेष्ठी में अरहन्त और सिद्ध तो पूर्ण दशा को प्राप्त है परन्तु आचार्य, उपाध्याय, साधु को अपूर्णदशा है। वहाँ जितने अंश में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उतने अंश में अबन्ध है और जितने अंश में राग है, उतना बन्ध होता है; इसलिए पूर्ण स्वरूप से अपूर्ण दशा विपक्ष नहीं परन्तु राग विपक्ष है।

www.vitragvani.com

जिस भाव से बन्ध होता है, उस भाव से मोक्षमार्ग नहीं होता और जिस भाव से छूटा जाता है, उस भाव से बन्ध नहीं होता। सम्यक्त्वी की भूमिका में तीर्थंकरनामकर्म बँधे या मुनिपने में आहारकशरीर का बन्ध हो, वह शुभराग का अपराध है। मोक्ष के मार्ग से बन्ध नहीं होता है।

लोगों को पता नहीं होता और बहुत बड़ी चर्चा चलाते हैं। रागमात्र बन्ध का कारण है, वह राग नव तत्त्व की श्रद्धा का हो या तीर्थंकरनामकर्म के योग्य राग हो... बन्ध का कारण है, पञ्चास्तिकाय की १७० गाथा में आया है न! नव तत्त्व की रुचि है, वह भी राग है। तीर्थंकर कहते हैं कि तुझे हमारी रुचि है वह भी राग है; संयम और तपसहित होने पर भी, जब तक नव तत्त्व और तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का जुड़ान वर्तता है, सूत्रों के प्रति जिसे रुचि वर्तती है, उसे निर्वाण दूरतर है अर्थात् मोक्ष दूर है, क्योंकि नव तत्त्व की भेदवाली श्रद्धा, तीर्थंकर के प्रति राग और सिद्धान्त की रुचि अर्थात् आगम का प्रेम है, वह भी राग है; इसलिए बन्ध का कारण है, तब तक मुक्ति नहीं होती है।

सम्यग्दर्शन है, अन्तर चारित्रदशा है, उसे भी जरा राग है, उतना बन्ध है। यह तो वीतरागमार्ग है, इसमें राग का अंश भी नहीं पोषाता है। छद्मस्थ ज्ञानी को सत्य स्थापित करने का राग आवे या असत्य का उत्थापन करने का जरा द्वेष आवे; वे दोनों भाव प्रशस्त होने पर भी बन्ध का कारण हैं। ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप में ऐसे स्थापन-उत्थापन के विकल्प भी बन्धरूप हैं तो अज्ञानी तो अकेले राग-द्वेष में ही मग्न है। जो शरीर अकेली अशुचि वस्तुओं से भरा है, उसका यह प्रेम करता है। हड्डी, माँस, खून, आदि को अलग-अलग बर्तन में अलग रखे हों तो देखने के लिए भी खड़ा नहीं रहेगा परन्तु शरीर में तो ऊपर चमड़ी लिपटी हुई है, इसलिए उससे प्रेम करता है।

शरीर ऐसी वस्तु से भरा हुआ है - ऐसा कहकर ज्ञानी उसके प्रति द्वेष नहीं कराते परन्तु शरीर की स्थिति ऐसी है - ऐसा ज्ञान कराते हैं। अज्ञानी, पर में प्रेम करके राग-द्वेष में मग्न रहता है परन्तु राग-द्वेष से भिन्न भगवान आत्मा की रुचि और ज्ञान नहीं करता है, इसलिए उसे बन्धभाव का अभाव नहीं होता है।

अब बन्ध अधिकार के १० वें कलश पर बनारसीदासजी का ३१ वाँ पद्य है।

www.vitragvani.com

जो निर्मोही है, वह साधु है (अडिल्ल)

सदा करमसौं भिन्न, सहज चेतन कह्यौ।
मोह-विकलता मानि, मिथ्याती ह्वै रह्यौ॥
करै विकल्प अनंत, अहंमति धारिकै।
सो मुनि जो थिर होइ, ममत्त निवारिकै॥ ३१॥

अर्थ - वास्तव में आत्मा कर्मों से निराला है, परन्तु मोह के कारण स्वरूप को भूलकर मिथ्यात्वी बन रहा है और शरीर आदि में अहंबुद्धि करके अनेक विकल्प करता है। जो जीव, परद्रव्यों से ममत्वभाव छोड़कर आत्मस्वरूप में स्थिर होता है, वह साधु है।

काव्य-३१ पर प्रवचन

वास्तव में आत्मा सदा कर्मों से भिन्न है। स्वाभाविक ज्ञानानन्दस्वरूप सहज आत्मा का स्वरूप है। आत्मा सदा ही बन्ध से रहित है परन्तु **मोह-विकलता मानि...** अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से मूढ़ जीव, राग में मैंपना कर रहा है और स्वयं को कर्म के बन्धनवाला मान रहा है। स्वयं को वर्तमान में कर्मों का बन्धन है - ऐसा जानना वह व्यवहार है परन्तु यह तो उसे स्वयं का स्वरूप मान रहा है; इसलिए यह मिथ्यात्वी जीव है।

आत्मा स्वभाव से त्रिकाल रागादि से भिन्न है, कर्म से भिन्न है, फिर भी मिथ्यादृष्टि मोह की गहल में अपने को रागरूप और कर्मरूप मानता है, उनसे मेरा स्वरूप कोई अलग है - ऐसा वह नहीं जानता है। वैसे तो शास्त्र में भी कहा है कि आत्मा, कर्म से बँधा है, वह व्यवहारनय से कहा है, सम्बन्ध बतलाया है, उसे मिथ्यादृष्टि अपना स्वरूप मानता है। यही उसकी मोह की गहल है। मूलवस्तु आत्मा तो पर के सम्बन्धरहित है परन्तु मिथ्यादृष्टि स्वयं को कर्म के सम्बन्धवाला मानकर मैं नारकी हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं लोभी हूँ, मैं देव हूँ - ऐसे अनन्त विकल्प करता है। जिस स्वरूप स्वयं नहीं है, उस स्वरूप अपने को मानकर विकल्प करता है।

राग और परद्रव्य कोई मुझमें नहीं है। इस प्रकार परद्रव्य से अपना ममत्व छोड़कर, जो अपने आनन्दस्वरूप में एकत्व करके उसमें स्थिर होता है, वह सम्यक्त्वी अथवा साधु

www.vitragvani.com

है। जिससे सहित है, उससे अपने को सहित माने, वह सम्यक्त्वी है और परद्रव्य-परभाव से रहित होने पर भी अपने को सहित मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

अब, ११ वें कलश पर ३२ वाँ पद्य कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मस्वरूप में स्थिर होते हैं (सवैया इकतीसा)

असंख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,
तेई विवहार भाव केवली-उकत हैं।
जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,
ते नियत-लीन विवहारसौं मुकत हैं॥
निरविकलप निरुपाधि आतम समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथकौं ढुकत हैं।
तेई जीव परम दसामैं थिररूप ह्वै कै,
धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं॥ ३२॥

अर्थ - जिनराज का कथन है कि जीव के जो लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर मिथ्यात्वभाव के अध्यवसाय हैं, वे व्यवहारनय से हैं। जिस जीव को मिथ्यात्व नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह व्यवहार छोड़कर निश्चय में लीन होता है। वह विकल्प और उपाधिरहित आत्म-अनुभव ग्रहण करके दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में लगता है और वही परमध्यान में स्थिर होकर निर्वाण प्राप्त करता है, कर्मों का रोका नहीं रुकता।

काव्य-३२ पर प्रवचन

बनारसीदासजी के समय में इस विषय पर बहुत चर्चा चली थी कि क्या जो व्यवहारभाव है, क्या वह मिथ्यात्वभाव है ? नहीं, व्यवहार है, वह मिथ्यात्व नहीं परन्तु अपने अबद्धस्पृष्ट स्वरूप को जाने बिना जो-जो व्यवहार है, उसे ही अपना स्वरूप मान लेना, वह मिथ्यात्व है। इसीलिए कहा कि जितना व्यवहार है, उतना ही मिथ्यात्वभाव है। जितने पराश्रितभाव हैं, उन्हें अपना मानना, वह मिथ्यात्व है। इसलिए जितने पराश्रितभाव हैं, उतने ही मिथ्यात्वभाव हैं। जितने अर्थात् कितने ? लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है,

www.vitragvani.com

उनसे अनन्तगुने मिथ्यात्व के भाव हैं। 'व्यवहार वही मिथ्यात्व' यह किस अपेक्षा से कहा है, वह समझना चाहिए।

दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि सब परिणाम पराश्रित होने से व्यवहार है। उन्हें व्यवहार नहीं मानकर निजस्वरूप मानना, वह मिथ्यात्व है। इसलिए जितना व्यवहार है- संख्या से, उतने मिथ्यात्वभाव है।

वर्तमान में लोगों को व्यवहार का ही अवलम्बन है; इसलिए यह बात कठिन लगती है क्योंकि वे तो व्यवहार को ही निश्चय का साधन मानते हैं तथा शास्त्र में भी निमित्तरूप से व्यवहार को साधन कहा है परन्तु उसे निमित्त नहीं मानकर, अपना ही मान लेना, वह मिथ्यात्वभाव है। अबन्धस्वभावी भगवान आत्मा, आस्रव और बन्धभाव से रहित है, फिर भी उनसे सहित मानते हैं, इसलिए मिथ्यात्व है। इस कारण कहा है कि जितना व्यवहार है, उतना ही मिथ्यात्व है।

मूल पाठ में ऐसा लिया है कि भगवान ने जब, मैं पर को मारता-जिलाता, सुखी-दु:खी करता हूँ, अनुकूलता-प्रतिकूलता देता हूँ - ऐसा जो अध्यवसाय है, वह मिथ्यात्व है; इसलिए छोड़ - ऐसा कहा है तो आचार्यदेव कहते हैं कि मैं तो ऐसा कहता हूँ कि भगवान ऐसा कहना चाहते हैं कि जितना पराश्रयभाव होता है, वह सब व्यवहार है; उसे भगवान ने छुड़ाया है, भले ही उस व्यवहारभाव में एकत्वबुद्धि न हो तो मिथ्यात्वभाव नहीं है परन्तु पराश्रितभाव है; इसलिए वह त्याज्य है। भगवान ने उसे छुड़ाया है। देव-शास्त्र-गुरु का आश्रय लेने जाता है, वहाँ भी राग होता है, वह व्यवहार है, उसे भगवान ने त्यागने योग्य कहा है।

आहा...हा...! समझ में आया? भगवान ने अध्यवसान को त्याज्य कहा है। इससे अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि हम तो ऐसा मानते हैं कि 'परद्रव्य की क्रिया मैं करता हूँ' ऐसी एकत्वबुद्धि भगवान ने छुड़ायी है तो पर के आश्रित जितना विकल्प उत्पन्न होता है, उस व्यवहार को भी भगवान ने छुड़ाया है। मार्ग बहुत अलौकिक है, साधारण लोगों को कठिन लगता है।

जो छोड़ने योग्य है - ऐसे विकल्पों को आदरणीय मानना और अपना मानना, यह

www.vitragvani.com

मिथ्यात्व है। **जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ** — अन्य के आश्रित क्रिया और अन्य के आश्रित परिणाम में मैंपनेरूप मिथ्यात्व था, वह जिसे छूट गया और 'ज्ञायक' वही मैं - ऐसा अनुभव हुआ, वह सम्यग्दृष्टि, निजस्वरूप में स्थित है और व्यवहार से मुक्त है।

व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है, व्यवहार कारण है और निश्चय कार्य है, व्यवहार हेतु है और निश्चय हेतुमान है - ये सब निमित्त के कथन हैं। 'कारण' दो प्रकार से नहीं हैं, उनका निरूपण दो प्रकार से है। कारण तो निश्चय से एक ही है। जैसे कि सम्यग्दर्शन दो नहीं परन्तु सम्यग्दर्शन का निरूपण दो प्रकार से है। स्वरूप की दृष्टि वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और साथ में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का विकल्प होता है, उस पर सम्यक्त्व का आरोप देकर व्यवहारसम्यक्त्व कहलाता है परन्तु वह सम्यक्त्व है नहीं।

पराश्रित समस्त भाव, बन्ध का कारण है; इसलिए सम्यग्दृष्टि को बन्ध के कारणरूप भावों की दृष्टि छूट गयी है। सम्यग्दृष्टि तो 'नियतलीन' अर्थात् अपने शुद्धस्वरूप में एकाग्र है। राग तो आस्रवतत्त्व है, जीवतत्त्व से भिन्न तत्त्व है, फिर भी आस्रवतत्त्व को अपना मानना, वह मिथ्यात्व है। जितने आस्रव के प्रकार हैं, उतने मिथ्यात्व के प्रकार हैं, यह तो उथल-पुथल कर डाले ऐसा काम है।

किसी को ऐसा लगता है कि आचार्यदेव, व्यवहार तो मिथ्यात्व कहते हैं ? भाई! आचार्यदेव किस अपेक्षा से कहते हैं - यह समझना चाहिए। अन्य के आश्रितभाव को निज मानना, वह मिथ्यात्व है - ऐसा कहा है। भले पञ्च परमेष्ठी के आश्रित उनकी भक्ति और श्रद्धा का भाव हो, वह राग और पराश्रितभाव है परन्तु वह मेरा है, मुझमें है, उससे मुझे लाभ होता है - ऐसी मान्यता होती है, वह सब मिथ्यात्वभाव है। कोई ऐसा कहता है कि देव-शास्त्र-गुरु को ठीक से पकड़ो, श्रद्धा करो तो तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। ज्ञानी को ठीक से पकड़ो तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। तब यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी परद्रव्य है। उन्हें पकड़ने से राग होता है, उस राग से आत्मा का लाभ होना मानना, वह मिथ्यात्वभाव है।

यह २७२ गाथा के पहले का श्लोक है न! व्यवहार प्रतिषेद्य है। स्व का आश्रय

www.vitragvani.com

करने पर उसमें पर का आश्रय नहीं आता; स्वाश्रितभाव, पराश्रय से रहित है – ऐसी गजब बात उसमें की है।

मैं दूसरों को मोक्ष प्राप्त करा दूँ, नरक में डाल दूँ, दूसरों को सुविधा दूँ, शस्त्रों से और हाथ से मैं काम करूँ – ऐसे अनेक प्रकार के भाव हैं, वे सब पर में एकत्वबुद्धिवाले होने से मिथ्यात्वभाव है।

भगवान की पूजा में स्वाहा आदि की क्रिया होती है, वह देह की क्रिया है। फिर भी उसे अपनी मानकर उससे लाभ मानना, वह भी मिथ्यात्वभाव है। अरे! भगवान की पूजा का विकल्प उत्पन्न होता है, वह आस्रवभाव है, उसे अपना मानना और उससे लाभ मानना भी मिथ्यात्व है।

जहाँ व्यवहार को साधन कहा है, वहाँ स्वरूप के आश्रय से जितना साधन होता है, तब उसकी भूमिका प्रमाण राग की मन्दता कितनी होती है, उसका ज्ञान कराया है। राग की मन्दता कहीं धर्म का साधन नहीं है; धर्म का साधन करनेवाले को राग की मन्दता कैसी होती है, उसका ज्ञान कराया है। इसलिए जिसे व्यवहार से साधन कहा है, उसे ही साधन मान लेना, वह मिथ्यात्व है। व्यवहारनय के कथन शास्त्र में आते हैं, वे जानने योग्य हैं, उसके बदले उससे लाभ मानना, मिथ्यात्व है। इसलिए यहाँ कहा कि असंख्यात लोक प्रमाण जो मिथ्यात्वभाव है, वही व्यवहारभाव है – ऐसा केवली परमात्मा की दिव्यध्वनि में आया है। व्यवहारभाव, वह परभाव है–विभाव है; इसलिए स्वभाव से भिन्न है। उसे एकत्वरूप मानना–स्वभाव मानना अथवा उससे लाभ मानना, मिथ्यात्व है; इसलिए जितने शुभभाव के प्रकार हैं, उतने ही मिथ्यात्व के प्रकार हैं।

जिसे परभाव से लाभ मानने की बुद्धि छूटकर स्वाश्रय से ही लाभ की बुद्धि हुई है, वह सम्यग्दृष्टि स्वाश्रयभाव में ही लीन है, वह पराश्रयभाव से मुक्त है; अतः जिससे मुक्त है, उससे लाभ किस प्रकार होगा?

एक बार हम शिवपुरी गये थे, वहाँ से यहाँ आने के बाद वहाँ के दिगम्बर साधु तथा दूसरे श्वेताम्बर साधु यहाँ आये थे, उनके साथ बहुत चर्चा हुई थी। कहा – कर्म के परिणाम को आत्मा करे और कर्म से जीव में विकार हो, यह बात जीव के स्वरूप में नहीं है। तो

www.vitragvani.com

कहा – अभी तक तो बात ऐसी ही चलती है कि जीव, कर्म को कर्ता है और कर्म का उदय जीव को विकार कराता है... तो कहा – बात चलती है, वह तो अज्ञान से चलती है, उसे कैसे मान लिया जाए ?... इसी प्रकार दूसरे साधुओं के साथ भी चर्चा चली थी। वे कहते हैं – मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ ? यह नहीं जाना जा सकता... अरे...रे... ! जिसे अपने भव्यपने की पहचान नहीं है, वह वीतराग की वाणी की परीक्षा किस प्रकार कर सकेगा ?

स्वाश्रित दृष्टि हुए बिना बाहर से मूंडा लेने से जीव का कल्याण नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कि पराश्रय से होनेवाला भाव, बन्धस्वरूप है और बन्ध का कारण है। तीन लोक के नाथ, वीतराग की वाणी और नव तत्त्व के आश्रय से होनेवाला शुभभाव भी पराश्रित है, बन्ध का कारण है और जो बन्ध के कारण को अपना स्वरूप मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ... जिन्होंने चिदानन्दस्वभाव का आश्रय किया है और राग का आश्रय छोड़ा है, उनका मिथ्यात्व तो नष्ट हो गया है और सम्यक्त्व प्रगट हुआ है। वह जीव, स्वभाव की निर्मल पर्याय में लीन है – एकत्व है। जो राग के विकल्प से भिन्न पड़ गया है, वह विकल्प और उपाधिरहित आत्म-अनुभव ग्रहण करके दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में लगता है। शुद्धस्वरूप की श्रद्धा, शुद्धस्वरूप का ज्ञान और शुद्धस्वरूप में लीनता से रागरहित शान्ति को साधता है।

धर्मी क्या साधता है ? धर्मी रागरहित निर्विकल्प निरुपाधि समाधि को साधता है। राग से भिन्न पड़कर वह स्वभावसन्मुख की एकता में लगा हुआ है। देखो, ज्ञानी कैसी दशा को प्राप्त है ! महाप्रभु चैतन्य विकल्पमात्र से भिन्न है – ऐसी दृष्टि हुई होने से ज्ञानी, आत्मा में ही लगा हुआ है। उसकी व्यवहार में लीनता नहीं है। राग से ज्ञानी मुक्त है और स्वभाव की साधना में लीन है, इसलिए कहा कि **सुगुन मोख पंथकौं ढुकत हैं।**

'व्यवहार का साधन करूँगा तो निश्चय होगा' – ऐसा माननेवाले की तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है। निश्चयसम्यक्त्व तो उसे नहीं परन्तु पहले व्यवहारश्रद्धा सच्ची होनी चाहिए, वह भी उसे नहीं है।

ज्ञानी शुद्धता का अनुभव करके विशेष शुद्धता को साधता है। **तेई जीव परम**

www.vitragvani.com

दसामैं थिररूप ह्वैकै... वह जीव परमदशा में स्थिर होकर अड़ता है। अपने स्वभाव की निर्मल दशा में स्थिर होकर धर्म में जुड़ता है, वह अब राग से रूके – ऐसा नहीं है। जिससे भिन्न पड़ गया – ऐसा राग, जीव को कैसे रोक सकता है ?

यह बात जीव को समझ में लेना कठिन पड़ती है तो प्रयोग में लेना तो दूर रही। धर्म के नाम पर ऐसी अन्धाधुन्ध चलती है कि वास्तविकमार्ग तो दूर रह जाता है। वाद-विवाद करना चाहता है परन्तु वाद-विवाद से पार पड़े ऐसा यह स्वरूप नहीं है। शास्त्र में व्यवहार के कथन बहुत आते हैं परन्तु उसका फल संसार है। तो प्रश्न करते हैं कि तब भगवान ने व्यवहार किसलिए कहा है ? भाई ! भगवान ने व्यवहार मात्र ज्ञान करने के लिए कहा है, आदर करने के लिए नहीं कहा। समकिती आदि ज्ञानी को उनकी भूमिकानुसार कैसा राग होता है, उसका ज्ञान शास्त्रों में कराया है।

धरममैं धुके न करमसौं रुकत हैं। परम ध्यान में स्थिर होकर ज्ञानी-मुनि निर्वाण को प्राप्त करते हैं। कर्म के रोकने से वे रुकते नहीं हैं। वैसे भी जीव को कर्म रोक नहीं सकते हैं। स्वयं राग में प्रीति करके कर्म के उदय में रुकता था, अब जहाँ राग की प्रीति छूट गयी, वहाँ अब वह कोई कर्म के रोकने से रूके – ऐसा नहीं है, निर्वाण प्राप्त करता है।

अद्‌भुत बात है भाई ! अनन्त काल के संसार का अन्त लाना, वह कोई साधारण बात है ! अनन्त... अनन्त काल शान्ति समाधि की प्राप्ति रहे, उसका उपाय तो अपूर्व ही होता है न !

यह ११ वें कलश का ३२ वाँ पद्य हुआ। अब, १२वें कलश पर ३३वें पद्य में शिष्य प्रश्न करता है।

शिष्य का प्रश्न (कवित्त)

जे जे मोह करमकी परनति,
बंध-निदान कही तुम सब्ब।
संतत भिन्न सुद्ध चेतनसौं,
तिन्हकौ मूल हेतु कहु अब्ब॥

www.vitragvani.com

कै यह सहज जीवकौ कौतुक,
कै निमित्त है पुग्गल दब्ब।
सीस नवाइ शिष्य इम पूछत,
कहै सुगुरु उत्तर सुन भब्ब॥ ३३॥

अर्थ – शिष्य मस्तक नवाकर प्रश्न करता है कि हे गुरुजी! आपने मोहकर्म की सब परिणति बन्ध का कारण कही है, सो वह शुद्ध चैतन्यभावों से सदा निराली ही है। अब कहिये बन्ध का मुख्य कारण क्या कहै? बन्ध, जीव का ही स्वाभाविक धर्म है अथवा इसमें पुद्गलद्रव्य का निमित्त है? इस पर श्रीगुरु उत्तर देते हैं, कि हे भव्य! सुनो।

काव्य-३३ पर प्रवचन

शिष्य प्रश्न पूछता है कि गुरुजी! आपने विकारी परिणाम को बन्ध का कारण कहा और फिर विकार को जीव से पृथक् कहा तो जो पृथक् है – ऐसा भाव, जीव को बन्ध का कारण कैसे होगा? इसलिए बन्ध का वास्तविक कारण किसे कहना?

संतत भिन्न सुद्ध चेतनसौं,... ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु से राग निरन्तर भिन्न है तो बन्ध का कारण उसे कैसे कहा जा सकता है? क्या 'बन्ध' वह जीव का स्वभाव है या पुद्गलद्रव्य से बन्ध होता है। यह मुझे समझाओ – ऐसा प्रश्न शिष्य विनय से मस्तक झुका कर करता है। उसे गुरु उत्तर देते हैं कि हे भव्य सुनो –

शिष्य की शङ्का का समाधान (सवैया इकतीसा)

जैसैं नाना बरन पुरी बनाइ दीजै हेठ,
उज्जल विमल मनि सूरज-करांति है।
उज्जलता भासै जब वस्तुकौ विचार कीजै,
पुरीकी झलकसौं बरन भांति भांति है॥
तैसें जीव दरबकौं पुग्गल निमित्तरूप,
ताकी ममतासौं मोह मदिराकी मांति है।
भेदग्यान द्रिष्टिसौं सुभाव साधि लीजै तहां,
सांची शुद्ध चेतना अवाची सुख सांति है॥ ३४॥

www.vitragvani.com

अर्थ – जिस प्रकार स्वच्छ और सफेद सूर्यक्रान्ति अथवा स्फटिकमणि के नीचे अनेक प्रकार के डाँक लगाये जावें तो वह अनेक प्रकार का रंग-बिरंगा दिखने लगता है, और यदि वस्तु का असली स्वरूप विचार किया जावे तो उज्ज्वलता ही ज्ञात होती है, उसी प्रकार जीवद्रव्य में पुद्गल के निमित्त से उसकी ममता के कारण मोह-मदिरा की उन्मत्ता होती है, पर भेदविज्ञान द्वारा स्वभाव सोचा जावे, तो सत्य और शुद्ध चैतन्य की वचनातीत सुख-शान्ति प्रतीत होती है।

काव्य-३४ पर प्रवचन

मूल १३ वें कलश में **परसंगएव** शब्द है। उसका अर्थ यह है कि तू पर का संग करता है, इसलिए तुझे उसकी ममता के भाव से कर्म का बन्ध होता है परन्तु विवादी लोग पर से विकार होना मानते हैं। वास्तव में कर्म के निमित्त में अपनी ममता है, वह मोह मदिरा की उन्मत्तदशा है, वह बन्ध का कारण होती है। यह बात यहाँ स्फटिकमणि के दृष्टान्त से स्पष्ट की है।

जैसे, स्फटिकमणि में लाल, काले फूल के निमित्त से झाँईं पड़ती है, वह डाँक कहलाती है। उस डाँक के निमित्त से स्फटिक रंग-बिरंगी दिखती है परन्तु स्फटिक तो स्वच्छ और सफेद है। स्फटिक का स्वभाव देखो तो उज्ज्वल ही है परन्तु फूल के संग से अनेक वर्णरूप दिखती है। लाल फूल हो तो स्फटिक लाल दिखती है, और काला फूल हो तो स्फटिक काला दिखती है। वह निमित्त के संग का कारण है। इसी प्रकार जीव तो स्वभाव से निर्मल होने पर भी पुद्गल कर्म के / निमित्त के संग से विकारी होता है। मैं बन्ध में हूँ, मुझे बन्ध है – ऐसा जो ममत्वरूप मिथ्यात्वभाव जीव को है, उससे उसे बन्ध होता है।

देखो! कितना स्पष्ट किया है। निमित्त से विकार नहीं होता परन्तु निमित्त की ममता से अपने को मोह-मदिरा की उन्मत्तता अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष की दहल उत्पन्न होती है। निमित्त, मोह कराता है – ऐसा नहीं।

निमित्त, जीव को विकार कराता है, यह सिद्ध करने के लिए भी स्फटिक के दृष्टान्त का प्रयोग करते हैं कि देखो! स्फटिकमणि स्वयं के कारण रंग-बिरंगी नहीं होती

www.vitragvani.com

परन्तु निमित्त के कारण ही रंग-बिरंगी होती है परन्तु स्फटिक की अपनी योग्यता को वे लोग नहीं देखते हैं। स्फटिक में योग्यता है, इसलिए फूल के संग में रंग-बिरंगी होती है। यदि फूल के कारण ही स्फटिक रंग-बिरंगी होती हो तो लकड़ियों के सामने फूल रखो तो लकड़ियाँ तो रंग-बिरंगी नहीं होती, क्योंकि लकड़ियों में ऐसी योग्यता ही नहीं है; अतः फूल का निमित्त उन्हें क्या करेगा? इसी प्रकार जीव में विकार होने की योग्यता है। इस कारण कर्म के निमित्त के संग में जीव, विकार करता है। कर्म उसे विकार नहीं कराता है, कर्म तो निमित्त है, वह जीव को क्या करेगा?

उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और क्रमबद्ध - इन पाँच विषयों में सोनगढ़ के समक्ष लोगों में बहुत चर्चित है।

रामजीभाई : चर्चा होवे तो अच्छा, मैल ऊपर आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँच में से एक में भी जिसे भूल है, उसे सबमें भूल है। केवली भगवान तीन काल-तीन लोक के जानने-देखनेवाले हैं। उसी प्रकार आत्मा अकेला जानने-देखनेवाला है - ऐसा निर्णय करे तो क्रमसर होनेवाले परिणमन का भी जाननेवाला रहता है। राग आवे, उसका भी जाननेवाला रहे। राग आया, इसलिए ज्ञान हुआ - ऐसा नहीं माने। इस कारण व्यवहार से ज्ञान होता है - ऐसा नहीं माने; ज्ञान तो ज्ञान से होता है, निमित्त से ज्ञान नहीं होता - ऐसा निर्णय करे, वहाँ पाँचों ही बोलों का विरोध मिट जाता है।

एक व्यक्ति ने प्रश्न किया था कि क्रमबद्ध अर्थात् क्या? उसका स्पष्टीकरण करो। कहा - प्रश्न ठीक है भाई! जैसे सर्वज्ञ जानते हैं, वैसे आत्मा भी मात्र जानता है। जिस-जिस समय में जो-जो होता है, उसे उस-उस समय में उसी प्रकार से ज्ञान स्वयं से जानता है। वहाँ राग से कार्य होता है - ऐसा नहीं रहता और उल्टा-सीधा हो सकता है, यह बात भी नहीं रहती तथा व्यवहार से निश्चय होता है, यह बात भी नहीं रहती। पाँचों ही सिद्धान्तों का समाधान हो जाता है। एक को यथार्थरूप से समझने पर पाँचों ही बोलों का विरोध मिट जाता है।

आत्मा का त्रिकाली स्वभाव तीन काल-तीन लोकों को जानने का है। त्रिकाली स्वभाव में त्रिकाली ज्ञानचेतना पड़ी है। पर्यायरूप नहीं परन्तु ध्रुवरूप से त्रिकाल ज्ञान

www.vitragvani.com

चेतना रही हुई है, उसका ज्ञान होने पर पर्याय में ज्ञानचेतना प्रगट होती है, फिर रागादि हों, उसका मात्र जाननेवाला है।

नय का स्वरूप सत्य को स्पष्ट करने के लिए है, उसके बदले नय के स्वरूप में अटक जाता है, वह भूल है।

मिथ्यादृष्टि को पुद्गल के निमित्त की ममता से विकार होता है; इसलिए अब निमित्त की ओर पर की ममता छोड़कर भेदज्ञानदृष्टि से स्वभाव को साध लेना... पर की ममता छोड़ दे! विभाव की ममता छोड़ दे! स्वभाव की साधना कर ले! राग से भिन्न पड़कर स्वभाव को साधना है, राग को नहीं साधना है। **सांची शुद्ध चेतना...** राग से भिन्न पड़कर, अन्तर के स्वभाव का साधन करने पर सच्ची शुद्ध चेतना और आनन्द दोनों प्रगट होते हैं, जो वचनातीत है। ऐसी शान्ति और ज्ञान प्रगट करना ही धर्म और धर्म का साधन है, दूसरा कोई साधन नहीं है।

पुनः (सवैया)

जैसैं महिमंडलमैं नदीकौ प्रवाह एक,
ताहीमैं अनेक भांति नीरकी ढरनि है।
पाथरकौ जोर तहां धारकी मरोर होति,
कांकरकी खांति तहां झागकी झरनि है॥
पौंनकी झकोर तहां चंचल तरंग ऊठै,
भूमिकी निचांनि तहां भौंरकी परनि है।
तैसैं एक आतमा अनंत-रस पुदगल,
दुहूंके संजोगमैं विभावकी भरनि है॥ ३५॥

अर्थ – जिस प्रकार कि पृथ्वीतल पर यद्यपि नदी का प्रवाह एकरूप होता है, तो भी पानी की अनेक अवस्थाएँ होती हैं, अर्थात् जहाँ पत्थर से ठोकर खाता है, वहाँ पानी की धार मुड़ जाती है, जहाँ रेत का समूह होता है, वहाँ फेन पड़ जाता है, जहाँ हवा का झकोरा लगता है, वहाँ लहरें उठती हैं, जहाँ धरती ढालू होती है, वहाँ भँवर पड़ती है। उसी प्रकार एक आत्मा में भाँति-भाँति के पुद्गलों का संयोग होने से अनेक प्रकार की विभाव परिणति होती है।

www.vitragvani.com

काव्य-३५ पर प्रवचन

आगे **परसंगएव...** की बात आ गयी है। जीव को बन्ध क्यों होता है ? जीव अपने स्वभाव का संग छोड़कर, कर्म के निमित्त का संग करता है, इसलिए बन्ध होता है। जितनी पर में ममता करता है, उसके प्रमाण में विकार होता है, उतना ही बन्ध होता है। निमित्त उसे बन्ध नहीं कराता, इस प्रकार शिष्य के प्रश्न का उत्तर चलता है।

नदी का पानी एकरूप धारा से जा रहा हो, फिर भी नीचे-ऊपर अनुसार पानी अनेक प्रकार से बहता है। जहाँ बड़े पत्थर पड़े हों, वहाँ पानी रुक जाता है... यह तो दृष्टान्त है। फिर इसका सिद्धान्त आत्मा में उतारेंगे। नदी में जहाँ रेत अधिक हो, वहाँ पानी में फेन हो जाता है, हवा के झपट्टे आवें वहाँ पानी में तूफान आता है, ढाल आवे वहाँ भँवर होती है। इस प्रकार पानी के एकरूप प्रवाह में अनेक प्रकार पड़ते हैं। इसी प्रकार आत्मा एक है परन्तु अनेक प्रकार के रसवाले कर्म पुद्गल हैं, उनका संग करके आत्मा अनेक प्रकार की विभावपरिणति करता है।

जिस प्रकार पानी का प्रवाह एक है, उसी प्रकार आत्मा एक है। स्वयं अनन्त ज्ञान-आनन्द का सागर है परन्तु उसे कर्म के निमित्त के संग में अनेक प्रकार की अवस्था होती हैं। कर्म में जिस-जिस प्रकार का रस होता है, उसका संग होने पर जीव में उस-उस प्रकार की विभावपरिणति उत्पन्न होती है। कर्म के संग में ममता करने से जीव को अनेक प्रकार से विकार खड़ा होता है। कितने ही कहते हैं कि जीव तो एक है परन्तु अनेक प्रकार के कर्म हैं, उनमें से जैसा निमित्त आता है, वैसा भाव होता है; अतः वह कर्म ने कराया है... परन्तु ऐसा नहीं है। कर्म के निमित्त का संग जीव करता है और उसमें जितनी ममता करता है, उसके प्रमाण में विकार होता है।

जीव तो एक प्रकार का है परन्तु कर्म के कारण उसमें विविधता होती है - ऐसा कहा, वहाँ यह अपेक्षा समझना कि विविध प्रकार से विभाव करना, वह जीव का स्वभाव नहीं है परन्तु अनेक प्रकार के रसवाले कर्मों का संग करने से विभावपरिणति होती है। 'कर्म है, इसलिए विभाव होता है या कर्म के कारण होता है' - ऐसा नहीं है।

हमारे तो ७१ की साल में समाधान हो गया है कि 'आत्मा में जो विकार होता है,

www.vitragvani.com

वह अपनी योग्यता से होता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। आत्मा अपने पुरुषार्थ से ही विकार का अभाव कर सकता है...' यह बात सुनकर उस समय बहुत खलबलाहट हो गयी थी क्योंकि कितने ही लोगों को 'कर्म से विकार होता है', इस बात का बहुत पक्ष था। हमने तो कहा कि परद्रव्य से आत्मा में कुछ नहीं होता है; आत्मा जैसे निमित्त के संग में जुड़ता है, उसकी ममता करता है, उस प्रमाण में विकार होता है। निमित्त, जीव को विकार नहीं कराता और निमित्त की विविधता से यहाँ विविधता नहीं होती। एक आत्मा में विविध प्रकार के कर्मों का संयोग होने से अनेक प्रकार की विभावपरिणति होती है।

दूसरे लोग ईश्वर को कर्ता मानते हैं, उनका स्वामी ईश्वर है और यह जैन होकर जीव के परिणाम का कर्ता कर्म को मानता है तो इसने तो जड़ को अपना स्वामी माना है। ऐसा नहीं होता, भाई! कर्म के निमित्त के संग में तू जितनी ममता करे, उसके प्रमाण में विकार होता है, यह सिद्धान्त यथार्थ है। वस्तु एकरूप शुद्ध होने पर भी उसमें अशुद्धता की जितनी योग्यता है, उस प्रमाण में स्वयं निमित्त के आधीन होता है; निमित्त उसे आधीन नहीं कराता है। 'कर्म से राजा, कर्म से रंक', यह बात तो सही है परन्तु 'कर्म ने रखा आड़ा अंक' यह बात मिथ्या है। भगवान आत्मा अपने चैतन्यस्वभाव को भूलता है और निमित्त की ममता में जुड़ता है, तब ममता के प्रमाण में उसे विकार और दुःख होता है।

अब, १४ वें श्लोक पर ३६ वें पद्य में बनारसीदासजी जड़ और चैतन्य की पृथक्ता बतलाते हैं।

जड़ और चैतन्य की पृथक्ता (दोहा)

चेतन लच्छन आतमा, जड़ लच्छन तन-जाल।
तनकी ममता त्यागिकै, लीजै चेतन-चाल॥ ३६॥

अर्थ - आत्मा का लक्षण चेतना है और शरीर आदि का लक्षण जड़ है, सो शरीर आदि से ममत्व छोड़कर शुद्ध चैतन्य का ग्रहण करना उचित है।

काव्य-३६ पर प्रवचन

आत्मा का लक्षण तो जानना और देखना है तथा शरीर का लक्षण तो जड़ है; इसलिए उसे आत्मा से पृथक् जानकर उसकी ममता का त्याग कर! और भगवान आत्मा

www.vitragvani.com

की चेतनमय गति का परिणमन कर! कर्म भी जड़ है, उनकी ममता छोड़! कर्म मुझे विकार कराते हैं और कर्म मुझे हैरान करते हैं – ऐसी बुद्धि को छोड़। भगवान आत्मा जानने-देखनेवाला है, आनन्दमूर्ति है, उसकी ओर रुचि का परिणमन कर। कर्म के निमित्त की ममता से जो विकार होता था, उसकी ममता छोड़कर आत्मा की ओर की दृढ़ता करके चैतन्य शुद्धपरिणमन को ग्रहण कर।

पर की ममता छोड़कर, स्वभाव की दृष्टि करने से शुद्धपरिणति की दशा होती है, उसे धर्म कहते हैं।

आत्मा की शुद्धपरिणति (सवैया तेईसा)

जो जगकी करनी सब ठानत,
जो जग जानत जोवत जोई।
देह प्रवांन पै देहसौं दूसरौ,
देह अचेतन चेतन सोई॥
देह धरै प्रभु देहसौं भिन्न,
रहै परछन्न लखै नहि कोई।
लच्छन वेदि विचच्छन बूझत,
अच्छनसौं परतच्छ न होई॥ ३७॥

अर्थ – जो संसार की सब क्रियाएँ करता है, जो जगत को जानने-देखनेवाला हे, जो शरीर के बराबर रहता है, पर शरीर से पृथक् है क्योंकि शरीर जड़ है और वह चैतन्य है, वह प्रभु (आत्मा) यद्यपि देह में है पर देह से निराला है, वह ढँका हुआ रहता है, सबको दिखाई नहीं देता, ज्ञानी लोग लक्षण आदि से उसे पहचानते हैं, वह इन्द्रियगोचर नहीं है।

काव्य-३७ पर प्रवचन

जो संसार की सर्व क्रियाओं को करता है अर्थात् अज्ञानभाव से राग-द्वेष आदि क्रिया और चार गति में भ्रमण करता है और वही आत्मा अपने शुद्धस्वरूप से परिणमते हुए जगत का जाननेवाला होता है। जो अज्ञानभाव से पर की ममता में, वस्तुस्वभाव के अज्ञानभाव से राग-द्वेष और पुण्य-पापभाव को करता है, वही अपने ज्ञानभाव से —

www.vitragvani.com

स्वभाव का ज्ञान होने पर राग से लेकर परचीज का जाननेवाला-देखनेवाला रहता है। ऐसे स्वभाववान आत्मा को जानने से शुद्धपरिणति प्रगट होती है।

देह प्रवांन पै देहसौं दूसरौ — भगवान आत्मा इस देह प्रमाण रहा है परन्तु देह से पृथक् है। देह और कर्म आदि तो सब अचेतन-जड़ है। आत्मा तो चेतन जानने-देखनेवाला है। इस प्रकार दोनों को भिन्न जानकर, वस्तुस्वभाव की दृष्टि करने से जीव को ज्ञान और आनन्द की परिणति प्रगट होती है। स्वभाव के अजानपने में राग-द्वेष की परिणति होती है और जानपने में शुद्धपरिणति प्रगट होती है। देह में रहा होने पर भी आत्मा, आत्मा में है और देह, देह में है। आत्मा, देह से निराला है।

देह धरै प्रभु देहसौं भिन्न, देखो! आत्मा को प्रभु कहा है। आत्मा स्वयं चैतन्यनाथ है। शरीर के रजकण-रजकण से आत्मा पृथक् वस्तु है परन्तु ऐसा गुप्त है कि लोग उसे जान नहीं सकते। शरीर, वाणी, मन से भिन्न चैतन्यवस्तु अन्दर गुप्त पड़ी है, उसे विचक्षण ऐसे सम्यक्त्वी ज्ञान लक्षण द्वारा पृथक् पहचान लेते हैं।

अच्छनसौं परतच्छ न होई — आत्मा अच्छ अर्थात् आँख अथवा किसी भी इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता। आत्मा रागरूप नहीं, विकल्परूप नहीं, शरीर और कर्मरूप तो आत्मा नहीं, नहीं और नहीं ही। आत्मा तो जाननेवाला है; आनन्द और ज्ञानस्वरूप है; इसलिए वह किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो - ऐसा नहीं है।

अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव को नहीं जाननेवाला जीव राग-द्वेष और अज्ञान करता है; कर्म उसे राग-द्वेष या अज्ञान नहीं कराता है। ज्ञानावरणीयकर्म, ज्ञान को नहीं रोकता है, वह तो जड़ है; उसे कुछ पता नहीं है। जीव स्वयं ज्ञान की हीन अवस्था करता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है।

शरीर की अवस्था (सवैया तेईसा)

देह अचेतन प्रेत-दरी रज,-
रेत-भरी मल-खेतकी क्यारी।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट,
उपाधिकी जोट समाधिसौं न्यारी॥

www.vitragvani.com

रे जिय! देह करै सुख हानि,
इते पर तौ तोहि लागत प्यारी।
देह तौ तोहि तजेगी निदान पै,
तूही तजै किन देहकी यारी॥ ३८॥

अर्थ – देह जड़ है मानों एक मुर्दाखाना ही है। वह रज और वीर्य से भरी हुई है, मल-मूत्ररूपी खेत की क्यारी है, रोगों की गठरी है, आत्मा के स्वरूप को ढँकनेवाली है, कष्टों का समुदाय है और आत्मध्यान से पृथक् है। हे जीव! यह देह सुख का घात करती है, तो भी तुझे प्रिय लगती है, आखिर को यह तुझे छोड़ेगी ही, फिर तू ही इससे अनुराग क्यों नहीं छोड़ देता?

काव्य-३८ पर प्रवचन

देह अचेतन... यह देह एक मुर्दाखाना-श्मशान है। चुड़ैल के रहने के स्थान है, आत्मा के रहने का यह स्थान नहीं है। हम ५९ की साल में १३ वर्ष की उम्र में पहली बार पालेज गये थे। वहाँ घर के पीछे के भाग में जीन चलता, उसकी आवाज आती थी तो कहा वहाँ क्या है? तो बालकों को वहाँ नहीं जाने देने के लिए बड़ों ने कहा कि वहाँ चुड़ैल है, इसलिए वहाँ नहीं जाते। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि यह देह चुड़ैल के रहने का स्थान है, उसे अपना नहीं मानना। **प्रेत-दरी** अर्थात् भूत की गुफा – ऐसा अर्थ किया है। यह देह भूत की गुफा है, उसे अपना मानें यह गजब है न! भूत के स्थान से तो मनुष्य भगता है, उसके बदले यह प्रेम करता है।

देह तो रज और वीर्य से बना हुआ है, और उसमें मल-मूत्र की खान भरी हुई है। भगवान आत्मा में तो अतीन्द्रिय आनन्द और शुद्धता भरी हुई है परन्तु अमृत सागर प्रभु मृतक कलेवर में मूर्च्छित है, चुड़ैल के घर से भागने के बदले वहाँ जाकर बैठा है। बाहर से शरीर लट्ठ जैसा – सोने की अंगूठी जैसा दिखता हो तो उसमें मूर्च्छित हो जाता है परन्तु आगे ४० वें पद्य में आयेगा कि यह तो सब ऊपर की चमक-दमक है, चमड़ी की मिट्टी के कारण अन्दर की अशुचि, हड्डियाँ आदि ढँक गयी हैं परन्तु अन्दर तो मल-मूत्र का कचड़ा है।

www.vitragvani.com

यह बात बन्ध अधिकार में लेने का हेतु यह है कि यह शरीर जड़ है, इसे अपना मानना बन्धभाव है, अज्ञान है।

शरीर **व्याधिकी पोट** अर्थात् रोगों की पोटली है। एक-एक शरीर में भगवान ने पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवें हजार पाँच सौ चौरासी रोग देखे हैं - ऐसा भगवती आराधना में कहा है। ऐसे शरीर को प्रिय करके अपना मानना और उसकी सम्हाल में रुकना, यह सब बन्धभाव है; एकमात्र चैतन्य की सम्हाल करना, वह अबन्धभाव है।

लाठी में एक बहिन को 'शीतला' निकली तो शीतला के दाने-दाने में कीड़े पड़ गये थे। पीड़ा सहन नहीं होती थी, ए बा! ऐसे पाप तो मैंने इस भव में तो नहीं किये, यह किस भव के पाप का फल आया होगा? ऐसे-ऐसे रोग प्रत्येक शरीर में रहते हैं परन्तु प्रगट नहीं हैं, इसलिए शरीर को प्रिय करके बैठा है। शरीर की ओट में आत्मा को ढँक दिया है, चौबीसों घण्टे शरीर को नहलाना-खिलाना, शृंगार करना, सेन्ट लगाकर घूमना, इत्यादि में व्यतीत कर देता है परन्तु प्रभु! तेरा शृंगार तो कोई दूसरा है।

शरीर में कष्ट का ढेर है, कान में शूल आवे, छाती में कैंसर हो, भगन्दर हो, अनेक प्रकार से शरीर कष्ट देता है फिर भी यह जीव उसे प्रेम से खिलाता है। यह भूत के मुख में ग्रास देता है परन्तु प्रभु! यह चीज तुझसे भिन्न है। तुझे और इसे कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी इतना प्रेम तुझे क्यों आता है? प्रेम तो प्रभु के साथ करना चाहिए। शरीर का प्रेम तो तुझे बन्ध का कारण है और भगवान आत्मा का प्रेम मोक्ष का कारण है। शरीर के आश्रय से कभी शान्ति और समाधि हो - ऐसा नहीं है।

शान्तिरूप समाधि को आत्मा के आश्रय से होती है। देह तो भिन्न वस्तु है, उसमें शान्ति नहीं और उससे शान्ति हो - ऐसा नहीं है। इस प्रकार देह और आत्मा अत्यन्त भिन्न है - ऐसा भेदज्ञान कराते हैं। आत्मा कहीं इन्द्रियों के गोचर नहीं है; आत्मा अतीन्द्रियज्ञान से ज्ञात होने योग्य है। स्वयं ही है परन्तु स्वयं को स्वयं का कुछ पता नहीं है।

रे जिय! देह करै सुख हानि — अरे जीव! देह की प्रीति तो तेरी शान्ति का नाश कर डालनेवाली है, उस देह से धर्म कैसे होगा? परन्तु काशी में पढ़े हुए बड़े पण्डित भी

www.vitragvani.com

ऐसा मानते हैं कि सचेतन शरीर से धर्म होता है। अरे भाई! देह की ममता तो आत्मा की सुख-शान्ति का नाश करती है, फिर भी देह तुझे प्रिय लगती है!

देह तौ तोहि तजेगी.... देह तो उसके निश्चित समय में तुझे छोड़ देगी। तब तू उसे साथ आने को कहेगा तो भी वह नहीं आयेगी, अपितु देह कहेगी कि अरे मूर्ख! हम किसी के साथ गये हैं? जो तेरे साथ आयें! हम तो मुर्दा हैं-जड़ हैं। तेरे साथ हम नहीं आ सकते हैं।

आत्मा का सच्चा स्वरूप बताने के लिए और अबन्धपरिणाम प्रगट कराने के लिए यह सब बात ली है। एक ओर भगवान आत्मा है और दूसरी तरफ देह है। दोनों का भेदज्ञान अच्छा कराया है।

देह तो तुझे छोड़नेवाला ही है तो तू ही उसका अनुराग क्यों नहीं छोड़ देता? आत्मा का भान होने पर देह के प्रति वैराग्य आ जाता है परन्तु तुझे तो देह के प्रति प्रीति है, इसलिए तू मिथ्यादृष्टि है, तुझे बन्ध होगा। सम्यग्दृष्टि को तो राग का राग भी नहीं है तो देह का राग तो होगा ही कैसे? ऐसी सुन्दर देह प्राप्त हुआ है तो उसे भोगकर जानना! ऐसा कहनेवाले मूर्ख हैं। देह तो हड्डियों का पिण्ड है, उसे क्या भोगकर जानना?

शरीर धर्म का साधन है, शरीर ठीक हो तो मन स्फुरति में रहता है... ऐसा माननेवाला मूढ़ है। मन की शुद्धि के लिए भगवान की पूजा करो और शरीर की शुद्धि के लिए यह 'मोती' साबुन ले जाओ - ऐसा कहकर साबुन बेचता है... अरे बापू! कोयले को चाहे जितना साबुन से धोओ परन्तु वह सफेद होता है? जला डालो तो सफेद होता है।

पुनः (दोहा)

सुन प्रानी सदगुरु कहै, देह खेहकी खांनि।
धरै सहज दुख दोषकौं, करै मोखकी हांनि॥ ३९॥

अर्थ - श्रीगुरु उपदेश करते हैं कि हे जीव! शरीर मिट्टी की खदान है, स्वभाव से ही दुख और दोषमय है तथा मोक्षसुख में बाधक है।

www.vitragvani.com

काव्य-३९ पर प्रवचन

देखो! देह तो मोक्ष की हानि करनेवाली है - ऐसा कहा है। श्रीगुरु कहते हैं कि सुन प्राणी! देह तो मिट्टी की खान है - राख है - धूल है। उसमें तेरा क्या हित है? वह तो स्वभाव से ही दुःख और दोषमय है। अन्दर से पेशाब और विष्टा की दुर्गन्धयुक्त है। अरे! दो-चार घण्टे हों, वहाँ पसीना भी दुर्गन्ध देता है। कितने ही लोगों का शरीर तन्दुरुस्त हो परन्तु उनका पसीना दुर्गन्धित, शरीर दुर्गन्धित होता है।

शरीर निमित्तरूप से मोक्षमार्ग की और मोक्ष की हानि करनेवाला है। मूल तो जीव स्वयं शरीर की ममता करता है, इसलिए मोक्षमार्ग में हानि होती है परन्तु उसमें शरीर निमित्तरूप है, इसलिए शरीर को मोक्षसुख में बाधक कहा है।

इस समयसार नाटक शास्त्र में बन्ध अधिकार में शरीर की व्याख्या चल रही है कि शरीर अत्यन्त भिन्न वस्तु होने पर भी अनादि से अज्ञानी को उसका प्रेम है, इसलिए उसे मिथ्यात्व का बन्ध होता है।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अमृत का सागर है और यह शरीर तो जड़-मिट्टी का पिण्ड है; इसलिए यहाँ उसके अवगुण गाते हैं। शरीर की एकताबुद्धि मिथ्यात्व है-संसार है, इसलिए शरीर का स्वरूप बतलाते हैं।

पुनः (सवैया तेईसा)

रेतकीसी गढ़ी किधौं मढ़ी है मसानकीसी,
अंदर अंधेरी जैसी कंदरा है सैलकी।
ऊपर की चमक दमक पट भूषनकी,
धोखै लागै भली जैसी कली है कनैलकी॥
औगुनकी औंडी महा भौंडी मोहकी कनौडी,
मायाकी मसूरति है मूरति है मैलकी।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमारी मति कोल्हूकेसे बैलकी॥ ४०॥

अर्थ - यह देह बालू की गढ़ी के समान अथवा मरघट की मढ़ी के समान है और

www.vitragvani.com

भीतर पर्वत की गुफा के समान अन्धकारमय है। ऊपर की चमक-दमक और वस्त्र-आभूषणों से अच्छी दिखती है, परन्तु कनैर की कली के समान दुर्गन्धित है, अवगुणों से भरी हुई, अत्यन्त खराब और कानी आँख के समान निकम्मी है, माया का समुदाय और मैल की मूर्ति ही है। इस ही के प्रेम और संग से हमारी बुद्धि कोल्हू के बैल के समान हो गई है, जिससे संसार में सदा भ्रमण करना पड़ता है।

काव्य-४० पर प्रवचन

राजस्थान में हवा के झपट्टे से गड्डा हो, वहाँ रेत का ढेर हो जाता है और ढेर हो वहाँ गड्डा हो जाता है। ऐसे बहुत रेत के ढेर देखे हैं। उसी प्रकार यह शरीर है, वह रेत के ढेर जैसा है। रेत का किला बाँधा हो तो उसे नष्ट होने में समय नहीं लगता। उसी प्रकार यह शरीर क्षण में नाशवान है।

सम्यक्त्वी, शरीर की सम्हाल आदि सब करता है परन्तु उसे शरीर के ऐसे स्वरूप का ज्ञान है, इसलिए शरीर में एकताबुद्धि नहीं है। अत: प्रथम वस्तुस्थिति निर्णित करना चाहिए। सम्यक्त्वी चक्रवर्ती का भोजन ऐसा होता है कि इसका एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिकों को दो तो वे पचा नहीं सकते - इतनी तो अन्दर करोड़ों रुपयों की भस्म डली होती है। पुण्ययोग से ऐसे भोजनादि का योग होता है परन्तु धर्मी को उसकी रुचि नहीं होती, सुखबुद्धि नहीं होती। आहार लेने का विकल्प आता है, उसे भी जानते हैं कि यह दु:खदायक है परन्तु समाधान नहीं होता, इसलिए आहार लेते हैं। वस्तुत: तो धर्मी आहार और विकल्प से रहित है। लोगों को यह बात समझ में नहीं आती और बाह्य त्याग की महिमा आती है; इसलिए उसमें रूक जाते हैं।

प्रभु! तू शाश्वत् ज्ञानानन्द का पुञ्ज है; शरीर तो रेत का / मिट्टी का ढेर है। दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। श्मशान में मुर्दे को जलाने के लिए चिता बनाते हैं, वैसी यह शरीररूपी मढैया है, अन्धेरी गुफा हो उसके समान यह शरीर है, परन्तु उस अन्धेरे को जाननेवाला आत्मा चैतन्य प्रकाश से शोभायमान है। जिसकी सत्ता में अन्धकार ज्ञात होता है, वह स्वयं अन्धकाररूप नहीं है परन्तु इसने कभी विचार नहीं किया है। शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार का ही विचार है और कमाई करना आवे तो उसमें गहरा उतर जाता है।

www.vitragvani.com

....परन्तु तू कौन है भाई! तेरी अस्ति के बिना इन शरीरादि की अस्ति को कौन जानता है? जाननेवाला चैतन्यभगवान स्वयं है, वह जानता है कि यह शरीर है।

शरीर तो ऊपर की चमड़ी के कारण चमक-दमकवाला दिखता है। यदि उस चमड़ी की, गन्ने के छिलके जितनी छाल उतारो तो देख तो नहीं सकते परन्तु थूँकने को भी खड़ा नहीं रहे - ऐसा स्वरूप है। जबकि अन्दर में जो आत्मा है, उसका स्वरूप ऐसा है कि उसमें जरा एकाग्रता करो तो अमृत का अनुभव होता है, क्योंकि आत्मा अमृत का सागर है। शरीर की चमड़ी उतारो तो माँस दिखता है और आत्मा में एकाग्र होवे तो आनन्द आता है। इस प्रकार शरीर और आत्मा अत्यन्त भिन्न दो वस्तुएँ हैं।

शरीर के ऊपर वस्त्रों का ठाठ-बाट ऐसा होता है कि बहुत सुन्दर दिखे परन्तु अन्दर में हड्डियाँ, माँस, पेशाब आदि अशुचि वस्तुएँ ही भरी हैं। कनेर की कली ऐसी होती होगी कि बाहर से अच्छी लगती है और अन्दर में दुर्गन्ध भरी होती है - ऐसा यह शरीर कनेर की कली जैसा दुर्गन्धमय है, उसे अच्छा मानने में धोखा है। **औगुनकी औंडी** अर्थात् गहरी फुंसी जैसा यह शरीर है। अवगुण की गहरी फुंसी को तू अपना मानकर चैतन्य को भूल गया है। शरीर अत्यन्त खराब है परन्तु जैसे कानी आँख से नहीं दिखता इसी प्रकार मोह के कारण यह तुझे खराब नहीं दिखता है। शरीर तो अन्धा है, वह कुछ नहीं देखता, माया का समूह है, मैल की मूर्ति है, जबकि आत्मा निर्मलानन्द की मूर्ति है।

ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,... ऐसे इस देह के प्रेम से और उसकी ही संगति से अज्ञानी की बुद्धि घानी के बैल जैसी हो गयी है, वहीं का वहीं उसकी बुद्धि किया करता है, इस कारण संसार में भ्रमण करना पड़ता है।

अब, ४१ वें पद्य में भी शरीर की ही अवस्था विशेष कहते हैं।

पुनः (सवैया इकतीसा)

ठौर ठौर रकतके कुंड केसनिके झुंड,
हाड़निसौं भरी जैसैं थरी है चुरैलकी।
नैकुसे धकाके लगै ऐसै फटि जाय मानौ,
कागदकी पूरी किधौं चादरि है चैलकी॥

www.vitragvani.com

सूचै भ्रम वांनि ठानि मूढ़निसौं पहचांनि,
करै सुख हानि अरु खांनि बदफैलकी।
ऐसी देह याहीके सनेह याकी संगतिसौं,
ह्वै रही हमरी मति कोल्हूकेसे बैलकी॥ ४१॥

अर्थ – इस देह में जगह जगह रक्त के कुण्ड और बालों के झुण्ड हैं, यह हड्डियों से भरी हुई है, मानो चुड़ैलों का निवासस्थान ही है। जरा सा धक्का लगने से ऐसे फट जाती है, जैसे कागज की पुड़िया अथवा कपड़े की पुरानी चद्दर हो; यह अपने अथिर स्वभाव को प्रगट करती है, पर मूर्ख लोग इससे स्नेह लगाते हैं। यह सुख की घातक और बुराइयों की खानि है। इस ही के प्रेम और संग से हमारी बुद्धि कोल्हू के बैल के समान संसार में चक्कर लगानेवाली हो गई है।

काव्य-४१ पर प्रवचन

ठौर ठौर.... शरीर में खून का कुण्ड ही जगह-जगह भरा हुआ है, जहाँ-जहाँ सुई लगाओ वहाँ से खून निकलता है। नदी में पानी चला जा रहा हो, वहाँ जहाँ खोदो वहाँ पानी ही निकलता है। इसी प्रकार शरीर में जहाँ खोदो वहाँ खून निकलता है। अन्दर में जो भरा हो वही निकलेगा न!

चेलना रानी के गर्भ में कुणिक रहा था, तब उन्हें दोहला उत्पन्न हुआ था कि श्रेणिक का खून पियूँ – यह बात जँचती नहीं, क्योंकि चेलना तो पहले से ही सम्यक्त्वी थी। चेलना ने ही श्रेणिक को जैनधर्म प्राप्त कराया था।

शरीर में जहाँ तहाँ से बाल का झुण्ड निकलता है और अन्दर तो हड्डियों का ही घोंसला है। मानो चुडैल के रहने का स्थान क्यों न हो! बनारसीदासजी ने शरीर का स्वरूप स्पष्ट किया है। इस शरीर के प्रेम में जीव अपने को भूल गया है। शरीर को जरा धक्का लगे, वहाँ गिर जाता है और कागज के पटाखे की तरह फट जाता है। पुराने कपड़ों को जरा खीचें तो फट जाते हैं; जैसे ही शरीर में जरा फेरफार हो, वहाँ रोगादि हो जाते हैं। ब्लडप्रेशर बढ़ जाता है, फुंसियां निकलती हैं, डायबिटीज हो जाती है, हड्डियाँ सड़ जाती हैं, कैंसर होता है – ऐसा तो कोई रोग होता है और क्षणमात्र में दगा दे जाता है।

www.vitragvani.com

कागज की नाव बनाकर पानी छोड़ो तो तिरने के बदले तुरन्त डूब जाएगी, पलट जाएगी। इसी प्रकार सुन्दर दिखते हुए शरीर से कुछ आशा रखना व्यर्थ है, क्योंकि उसका स्वभाव अस्थिर है, क्षण में शरीर में फेरफार हो जाता है, तथापि मूढ़ जीव, शरीर के प्रति प्रेम करते हैं। मूर्ख लोग ही भगवान को भूलकर शरीर से प्रेम करते हैं।

करै सुख हानि — जितनी शरीर की दरकार करते हैं, उतनी जीव को सुख की हानि होती है। **बदफैल** अर्थात् बुराई की तो यह खान है। इसमें से सुख कैसे मिलेगा? फिर भी शरीर के प्रति प्रेम करने से और परिचय किया करने से अज्ञानी की मति घानी के बैल जैसी हो रही है। यह समझाने के लिए ४२ वें पद्य में दृष्टान्त देते हैं।

संसारी जीवों की दशा कोल्हू के बैल के समान है

(सवैया इकतीसा)

पाटी बांधी लोचनिसौं सकुचै दबोचनिसौं,
कोचनिके सोचसौं न बेदै खेद तनकौ।
धायबो ही धंधा अरु कंधामांहि लग्यौ जोत,
बार बार आर सहै कायर है मनकौ॥
भूख सहै प्यास सहै दुर्जनको त्रास सहै,
थिरता न गहै न उसास लहै छनकौ।
पराधीन घूमै जैसौ कोल्हूकौ कमेरौ बैल,
तैसौई स्वभाव या जगतवासी जनकौ॥ ४२॥

अर्थ – संसारी जीवों की दशा कोल्हू के बैल के समान हो रही है, वह इस प्रकार है कि नेत्रों पर ढँकना बँधा हुआ है, स्थान की कमी के कारण दबोच से सिकुड़ासा रहता है, चाबुक की मार के डर से शरीर के कष्ट की जरा भी परवाह नहीं करता, दौड़ना ही उसका काम है, उसके कन्धे में जोत लगा हुआ है (जिससे निकल नहीं सकता), हर समय अरई की मार सहता हुआ मन में हत–साहस होता है, भूख–प्यास और निर्दय पुरुषों द्वारा प्राप्त कष्ट भोगता है, क्षण भर भी विश्राम लेने की थिरता नहीं पाता और पराधीन हुआ चक्कर लगाता है।

www.vitragvani.com

काव्य-४२ पर प्रवचन

आह ! देखों तो अज्ञानी की दशा कैसी कही है ? उस बैल को जैसे आँख पर पट्टी बाँधी है, इसलिए कुछ सूझ नहीं पड़ती; इसी प्रकार अज्ञानी को अज्ञानी ने अज्ञान की पट्टी बाँधी हुई है। इसलिए मैं कौन हूँ, शरीर और रागादि क्या है ? - इसका कुछ पता नहीं पड़ता। जैसे, बैल को सकड़ी-मर्यादित जगह में ही रहना पड़ता है, शरीर को कष्ट हो उसे सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार अज्ञानी को भी स्वयं को संयोग में प्राप्त मर्यादित क्षेत्र में - घर में रहना पड़ता है। उसमें उसे इतनी ममता हो जाती है कि कारणवश घर बेचना पड़ा हो और फिर स्वयं के पास पैसा हो जाये तो उस घर को फिर से अपना बना लेना चाहता है। यह तो हमारा जन्मस्थान है, हम यहाँ बड़े हुए हैं.... अरे ! परन्तु यह ईंट-मिट्टी का मकान तेरा था ही नहीं और तेरा होनेवाला भी नहीं है।

घानी के बैल की तरह तेली द्वारा प्राप्त कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी को भी स्त्री, पुत्रादि द्वारा प्राप्त कष्ट-दुर्वचन आदि सहन करना पड़ते हैं। बाहर में भले ही स्वयं खम्मा... खम्मा होता हो परन्तु घर में स्त्री उसे अक्लरहित कहे तो भी सहन करना पड़ता है। बैल को चाबुक की मार पड़ती है, जबकि इसे दुर्वचन की मार पड़ती है। तेली का बैल तो क्या दूसरे पशुओं को भी मार-मारकर उसके मालिक काम लेते हैं। एक ज्योतिष अपने बैल को मैली विद्या सीखाकर सोनगढ़ लाया था, जो प्रश्न पूछें तद्नुसार वह बैल मनुष्य के पास जाकर खड़ा रहता था। यह मैल विद्या भी बैल को मार-मारकर सिखलायी होगी। यह सब गूँगे मुँह सहन करना पड़ता है। इसी प्रकार प्रत्येक अज्ञानी गूँगे मुँह अज्ञान से स्वयं को होनेवाला दु:ख सहन करता है।

घानी के बैल को, दौड़ना ही उसका काम है। इसी प्रकार यह जीव भी क्षण में मुम्बई तो क्षण में अफ्रीका - ऐसे अनेक स्थानों पर दौड़ा-दौड़ी किया करता है। स्त्री, पुत्र, परिवार की जाल बिछाकर बैठा है, उसमें से निकलना इसे कठिन पड़ता है। सबको प्रसन्न रखने के लिए स्वयं को जो कठिनाई पड़ती है, उसे भोग लेता है। मोह के कारण जो कुछ मार पड़ती है, उसे भोगता है। शरीर के प्रेम से, शरीर के पहचाननेवालों के साथ इसे ऐसी लगन लगी है कि दु:ख को भी प्रेम से बुलाता है।

www.vitragvani.com

बैल को मालिक लकड़ी की मार मारा करता हो तो दौड़ना ही पड़ता है, काम छोड़कर कहीं जा नहीं सकता। इसी प्रकार अज्ञानी भी दुःख पड़ता हो तो भी वहीं का वहीं घर और स्त्री, पुत्रादिक में घूमा ही करता है। ऐसा बुद्धिहीन हो गया है कि छूटने का उपाय नहीं कर सकता। भूख-प्यास के उपरान्त दुष्ट निर्दय मालिक की लकड़ी सहन करता हुआ बैल सबेरे से शाम तक गोल-गोल घूमा करता है। इसी प्रकार यह भी सबेरे से शाम तक धन्धा-व्यापार आदि के काम मजदूर की तरह किया ही करता है, एक क्षण भी विश्राम लेने की स्थिरता नहीं होती है।

श्रोता : काम ४८ घण्टे का है और दिन में २४ घण्टे हैं, इसलिए क्या करें?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे काम है ही नहीं। मैं तो आत्मा हूँ, मुझे काम कैसा? मेरा काम तो जानने-देखने का है, दूसरे काम मैं नहीं करता - ऐसी समझ इसे करना चाहिए। इसके बदले कर्ताबुद्धि के जोर में इसे तत्त्व का निर्णय करने का अवकाश नहीं है, फुर्सत में बैठा हो तो भी काम के ही विचार किया करता है।

पराधीन घूमै.... कमाऊ बैल अर्थात् घानी में काम करनेवाला बैल, कमाऊ पुत्र जैसा कहलाता है, क्योंकि वह निरन्तर काम ही किया करता है। वैसे ही इसे मरने का भी समय नहीं है इतना काम है। उसमें धर्म कहाँ से करे! ऐसी मजाक करता है! परन्तु मैं कौन हूँ, कहाँ से आया, कहाँ जाऊँगा? - इसका विचार नहीं है। जगतवासी जीव की दशा ऐसी घानी के बैल जैसी हो रही है।

फुटनोट में भी इस पद्य का अर्थ किया है कि संसारी जीवों के नेत्रों पर अज्ञान की पट्टी बँधी हुई है, वे परिमित क्षेत्र से आगे नहीं जा सकते, यह उनके लिये दबोचनी है, स्त्री आदि के तीखे वचन चाबुक है, विषय-सामग्री के लिये भटकना उनका धन्धा है, गृहस्थी छोड़कर निकल नहीं सकते, यह उन पर जोत है, कषाय चिन्ता आदि अरई हैं, परिग्रह-संगह के लिये भूख-प्यास सहते हैं, स्वामी, राजा आदि का त्रास सहना पड़ता है, कर्मों की पराधीनता है, अनन्त काल चक्कर लगाते हो चुका पर एक क्षण भर के लिये भी सच्चा सुख नहीं पाया।

जहाँ से प्रतिष्ठा मिले, पैसा मिले, खाने-पीने को मिले, वहाँ यह जीव भटका

www.vitragvani.com

करता है, गृहस्थपने को छोड़ नहीं सकता। क्रोध-मान-माया-लोभ-चिन्ता आदि भाव करके वेदन किया करता है। दुकान में ग्राहकी बहुत हो तो भोजन करना छोड़कर भी व्यापार किया करता है परन्तु अज्ञानी एक समयमात्र का समय भी आत्मा के लिए नहीं निकालता। आनन्दस्वरूप आत्मा में दृष्टि देने से आनन्द आता है परन्तु इसका उसे अवकाश नहीं मिलता। बाहर की प्रतिष्ठा, कीर्ति, व्यापार के कारण अपना सब चूक जाता है, अज्ञान के कारण भ्रम में अनन्त काल बीत गया परन्तु इसने सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए कभी प्रयत्न ही नहीं किया है।

तेरी चीज कौन है ? उसे पहचान भाई ! तेरा मूल्य न हो ऐसी तेरी चीज है। उसका मूल्य किस प्रकार हो ? मूल्य करने से स्वयं को पछतावा हो जाए ऐसा है। ऐसी अमूल्य वस्तु को छोड़कर पर के रस में क्यों चढ़ गया है ?

संसारी जीवों की हालत

(सवैया इकतीसा)

जगतमैं डोलैं जगवासी नररूप धरैं,
प्रेतकेसे दीप किधौं रेतकेसे थूहे हैं।
दीसैं पट भूषन आडंबरसों नीके फिरि,
फीके छिनमांझ सांझ-अंबर ज्यौं सूहे हैं॥
मोहके अनल दगे मायाकी मनीसौं पगे,
डाभकी अनीसौं लगे ओसकेसे फूहे हैं।
धरमकी बूझ नांहि उरझे भरममांहि,
नाचि नाचि मरि जांहि मरीकेसे चूहे हैं॥ ४३ ॥

अर्थ - संसारी जीव, मनुष्य आदि का शरीर धारण करके भटक रहे हैं, सो मरघट के दीपक तथा रेत के टीले के समान क्षणभंगुर हैं। वस्त्र-आभूषण आदि से अच्छे दिखाई देते हैं परन्तु साँझ के आकाश के समान क्षणभर में विलीन हो जाते हैं। वे मोह की अग्नि से जलते हैं फिर भी माया की ममता में लीन होते हैं और घास पर पड़ी हुई ओस की बूँद के समान क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। उन्हें निजस्वरूप की पहिचान नहीं है, भ्रम में भूल रहे हैं और प्लेग के चूहों के समान नाच-नाचकर शीघ्र मर जाते हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-४३ पर प्रवचन

जगत् में भ्रमण करता हुआ अज्ञानी जीव, नररूप अथवा चार गति में कोई भी रूप धारण करता है, वे सब रूप श्मशान के दीपक की तरह क्षणभंगुर हैं। श्मशान में दीपक रखा हो, उसे बुझानेवाला अटकानेवाला कोई नहीं होता, एक पवन का झपट्टा आवे वहाँ तुरन्त ही बुझ जाता है। इसी प्रकार आयु काल पूरा होने पर उसी क्षण जीव चला जाता है, उसे कोई बचा नहीं सकता है। आत्मा तो शाश्वत् है, वह कहीं नाश हो - ऐसा नहीं है परन्तु उसका रूप बदल जाता है। रेत के ढेर बिखर जाएँ, वैसे शरीर के रजकण पृथक् पड़कर उड़ जाते हैं।

शरीर पर अच्छे वस्त्र-गहने आदि पहने हों, बिन्दी लगाई हो, होठ लाल किये हों, हाथ-पैर में मेहंदी लगाई हो, नख रंगे हों तो दिखने में अच्छे लगे; स्त्री-पुत्र, बंगला इज्जत के बीच मस्त होकर घूमता हो तो मानों सायंकाल की सन्ध्या खिले वैसा खिलता दिखता है परन्तु क्षण में सन्ध्या अन्धकार में बदल जाती है, वैसे ही सब पलट जाता है। संयोग एक समान नहीं रहते हैं।

मोहके अनल दगे... अज्ञानी, मोह की अग्नि में जलता है, घर में अपनेपन की बुद्धिरूप मोह-राग और द्वेष की अग्नि में स्वयं जलता है, फिर भी माया की ममता नहीं छूटती। घास पर पड़ी हुई ओस की बिन्दु क्षण में नष्ट हो जाती है, वैसे ही शरीर और समस्त संयोग क्षण में नाश हो जाते हैं। विवाह करने जाए, तब सिर पर कलगी लगावे, पाऊडर लगाये.... किसी प्रकार तैयार हो परन्तु वह कितने समय के लिए?

धरमकी बूझ नांहि.... एक आत्मा कौन है? इसकी उसे खबर नहीं है। बाहर की खबर में रचा-पचा रहता है और स्वभाव के ज्ञान को भूल गया है। प्लेग के चूहों की तरह चल नहीं सकता तुरन्त मर जाता है। तीन सौ वर्ष पहले भी प्लेग का रोग होगा, इसलिए देखो न! बनारसीदासजी ने प्लेग के चूहों का दृष्टान्त दिया है। बड़े-बड़े चूहे हों परन्तु जहाँ जहाँ प्लेग के रोग का आक्रमण होता है वहाँ - चूहों को नाचने का तो उस समय कहाँ हो? परन्तु रोग की आक्रामकता से ऊँचे-नीचे होते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी रोग, मरण आदि की पीड़ा से पीड़ित होता हुआ देह छोड़ देता है।

www.vitragvani.com

श्रोता : जगत के जीव जो करते हैं वह सब उलटा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सब उलटा है। आत्मा का नहीं करते और दूसरा जो सब करते हैं, वह उलटा है।

अब, ४४ वें पद्य में धन-सम्पत्ति का मोह दूर करने का उपदेश देते हैं।

धन-सम्पत्ति से मोह हटाने का उपदेश

(सवैया इकतीसा)

जासौं तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ,
साधनि अडारी ऐसैं जैसै नाक सिनकी।
ताहि तू कहत याहि पुन्नजोग पाई सो तौ,
नरककी साई है बड़ाई डेढ़ दिनकी॥
घेरा मांहि पर्‌यौ तू विचारै सुख आंखिनकौ,
माखिन के चूटत मिठाई जैसै भिनकी।
एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव,
जगमैं असाता है न साता एक छिनकी॥ ४४॥

अर्थ – हे संसारी जीवो ! जिसे तुम कहते हो कि यह हमारा धन है, उसे साधुजन इस तरह छोड़ देते हैं, जिस तरह कि नाक का मैल छिनक दिया जाता है और फिर ग्रहण नहीं किया जाता। जिस धन के लिए तुम कहते हो कि पुण्य के निमित्त से पाया है सो डेढ़ दिन का बड़प्पन है पीछे नरकों में पटकनेवाला है, अर्थात् पापरूप है। तुम्हें इससे आँखों का सुख दिखता है, इसके कारण तुम कुटुम्बीजन आदि से ऐसे घिर रहे हो जैसे मिठाई के ऊपर मक्खियाँ भिनभिनाती हैं। आश्चर्य है कि इतने पर भी संसारी जीव संसार से विरक्त नहीं होते, सच पूछो तो संसार में असाता ही असाता है क्षणमात्र को भी साता नहीं है।

काव्य-४४ पर प्रवचन

जिसे तू तेरी सम्पदा मानता है, उस सम्पदा को साधुजन नाक के मैल की तरह छोड़ देते हैं। छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती समस्त सम्पत्ति को एक क्षण में जैसे कफ छोड़ देते हैं, वैसे छोड़ देता है। वह जानता है कि जहाँ मैं हूँ, वहाँ यह सम्पत्ति नहीं है और

www.vitragvani.com

जहाँ यह सम्पत्ति आती है, वहाँ मैं नहीं हूँ। अपने स्वरूप का साधन करने के लिए ज्ञानी समस्त वैभव को नाक के मैल की तरह छोड़कर ऐसे चले जाते हैं कि फिर कभी सन्मुख देखने को भी नहीं आते हैं।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह सब धन-सम्पत्ति मुझे मेरे पुण्य से प्राप्त हुई है; इसलिए मेरी ही है परन्तु उसे पता नहीं है कि पुण्य या पैसा कोई मेरा नहीं है। पैसे की ममता करके तो जीव नरक में चला जाता है। पैसा तो जड़ है, वह जीव का कैसे होगा? जीव जड़ को कमाता नहीं, परन्तु उसकी ममता से पाप की कमाई करता है। पुण्य का भाव स्वयं विकार है, उसके निमित्त से कर्म बँधे वे जड़ हैं और उसके फल में अनुकूल संयोग प्राप्त हों वे भी जड़ हैं; इसलिए ये तीनों ही तेरी चीज नहीं हैं।

पुण्य के कारण इसकी कुर्सी अलग रखी जाये, दान दे तो इसका नाम आगे बोला जाए, इसलिए यह जीव प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है परन्तु भाई! यह सब बड़प्पन डेढ़ दिन का है, फिर तो नीचे नरक में चला जाएगा। कुटुम्ब परिवार के बीच बैठा हुआ यह अभी तो अपने को चक्रवर्ती जैसा सुखी मानता है परन्तु यह सब आँख का सुख देखनेमात्र है। जैसे मिठाई के ऊपर मक्खी बैठती है, वैसे ही तेरे पास जो सब इकट्ठे होते हैं, वे अपने स्वार्थ के लिए आई हुई लुटेरों की टोली है। नियमसार में आता है कि यह स्त्री-पुत्रादिक सब लुटेरों की टोली है।

श्रोता : स्वयं लुटाये तो न!

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं लुटता ही है न! स्वयं मेहनत की, स्वयं समय बिगाड़कर कमाये और कमाकर लड़के की पढ़ाई में या मकान आदि बनाने में खर्च करता है। यह क्या है?

एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव — वास्तव में संसार में अकेली असाता ही है, क्षणमात्र भी साता नहीं है। फिर भी संसारी जीव, संसार से विरक्त होकर निजस्वरूप की सम्हाल नहीं लेता - यह आश्चर्य है।

श्रीसमयसार नाटक ग्रन्थ के बन्ध द्वार में ४५ वाँ बोल है। उसमें बनारसीदासजी

www.vitragvani.com

ने लौकिकजनों का मोह दूर करने का उपदेश दिया है। पर के साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है – ऐसा सिद्ध करते हैं।

लौकिकजनों से मोह हटाने का उपदेश

(दोहा)

ए जगवासी यह जगत्, इन्हसौं तोहि न काज।
तैरै घटमैं जग बसै, तामैं तेरौ राज॥ ४५॥

अर्थ – हे भव्य! ये संसारी जीव और इस संसार से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तुम्हारे ज्ञानघट में समस्त संसार का समावेश है और उसमें तुम्हारा ही राज्य है।

काव्य-४५ पर प्रवचन

हे जगतवासी जीव! तू आत्मा है, तुझे जगत के साथ अर्थात् शरीर, कर्म, घर, दुकान आदि परवस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर और कर्म आदि तो जड़ हैं, इसलिए आत्मा से भिन्न हैं और दूसरे जीव भी तेरे आत्मा से भिन्न होने से पर हैं। उनके साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न : जगत् के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस सम्बन्ध का क्या काम है? तेरे ज्ञान-आनन्द-सुख आदि सब तेरे कारण से तुझमें होते हैं, कहीं पर से नहीं होते हैं; अतः पर का तुझे क्या काम है? जगत् का ज्ञान तो तेरे आत्मा में बसता है और उस ज्ञान का तू राजा है।

तेरी सुलटी या उलटी दशा तुझमें है, तुझसे बाहर कुछ नहीं है। भाई! तू अनादि अनन्त एक आत्मवस्तु है; इसलिए तेरे गुण और पर्यायें तुझमें तेरे कारण से तेरे से हैं, पर के कारण से कुछ नहीं है। तेरी धर्मदशा या विकारीदशा तेरे आधीन है, गुरु के कारण या स्त्री-पुत्रादिक के कारण तेरी दशा नहीं है और दूसरे जीव तथा पुद्गलों की अवस्था तेरे आधीन नहीं है।

श्रोता : घर के सब जीव धर्म प्राप्त करें तो अच्छा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : घर के लोगों में योग्यता हो तो धर्म प्राप्त करते हैं। उन्हें धर्म

www.vitragvani.com

प्राप्त करना या न प्राप्त करना, तेरे कारण से नहीं है। धर्म समझे या अधर्म करे, वह सब जीव के अपने कारण से है, पर के कारण से कुछ नहीं है।

यह बन्ध अधिकार है न! इसलिए पर में तेरा बन्धपना बिल्कुल नहीं है, यह समझाते हैं। तेरा ज्ञान या अज्ञान, धर्म या अधर्म, वह तेरे कारण से तुझमें है; पर के कारण से कुछ नहीं है। पर का और तेरा वास्तव में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। लोकालोक का जानना होता है, वह तेरे ज्ञानस्वभाव के कारण से है। पर के साथ जानने के अतिरिक्त तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। पर से तुझमें कुछ हो या तुझसे पर में कुछ हो – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। शरीर, पैसे के रजकणों के साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो जगत् की चीजें जगत् में है, तेरे तत्त्व के साथ उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है। तेरा और उनका तत्त्व ही अलग है।

शरीर में त्रिलोक के विलास गर्भित हैं (सवैया इकतीसा)

याही नर-पिण्डमैं विराजै त्रिभुवन थिति,
याहीमैं त्रिविधि-परिनामरूप सृष्टि है।
याहीमैं करमकी उपाधि दुख दावानल,
याहीमैं समाधि सुख वारिदकी वृष्टि है॥
याहीमैं करतार करतूतिहीमैं विभूति,
यामैं भोग याहीमैं वियोग यामैं घृष्टि है।
याहीमैं विलास सब गर्भित गुपतरूप,
ताहीकौं प्रगट जाके अंतर सुदृष्टि है॥ ४६॥

अर्थ – इसी मनुष्य-शरीर में तीन लोक मौजूद हैं, इसी में तीनों प्रकार के परिणाम हैं, इसी में कर्म-उपाधिजनित दुखरूप अग्नि है, इसी में आत्मध्यानरूप सुख की मेघवृष्टि हैं, इसमें कर्म का कर्ता आत्मा है, इसी में उसकी क्रिया है, इसी में ज्ञान-सम्पदा है, इसी में कर्म का भोग वा वियोग है, इसी में भले-बुरे गुणों का संघर्षण है और इसी देह में सब विलास गुप्तरूप गर्भित हैं परन्तु जिसके अन्तरंग में सम्यग्ज्ञान है, उसे ही सब विलास विदित होते हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-४६ पर प्रवचन

जिसे आत्मा, शरीर और कर्म से भिन्न है – ऐसा भान होता है, उसे यह सब स्थिति अन्दर में मुझमें है – ऐसा ज्ञात होता है। ऊर्ध्व, मध्य, और अधो अथवा पाताल या तीनों लोक तुझमें है। शरीर का कोई परमाणु तुझमें नहीं है। तुझे और शरीर के परमाणु के कोई सम्बन्ध नहीं है। आगे तो यहाँ तक लेंगे कि देव-शास्त्र और गुरु भी तेरे लिए परचीज है। परचीज में से तुझे कुछ मिले – ऐसा नहीं है और पर तुझे कुछ दे – ऐसा नहीं है। तुझमें तेरा धर्म है, तुझमें तेरा अधर्म है, तुझमें तेरा तीन लोक है। तू भगवान के दर्शन के लिए पहाड़ पर जाता है परन्तु वहाँ कहाँ तेरे भगवान थे? तेरे भगवान तो तुझमें है। सम्मेदशिखर या शत्रुंजय पर तेरे भगवान नहीं हैं। जहाँ तेरा भगवान है, वहाँ तो तू ढूँढ़ता नहीं और बाहर में भगवान का दर्शन करने जाता है। शुभभाव में भगवान के दर्शन-भक्ति आदि का भाव आये परन्तु वह पुण्यबन्ध है, उससे धर्म हो – ऐसा नहीं है। भगवान कहते हैं कि तू तेरे सन्मुख देख तो तुझे इस तेरे भगवान की प्राप्ति होगी, हमारे पास तेरा भगवान नहीं है।

अन्दर में शुद्ध सच्चिदानन्द प्रभु निर्मल शुद्ध आनन्द का धाम तुझमें है, वहाँ नजर कर तो वहाँ से मिलेगा; बाकी बाहर से कुछ मिले – ऐसा नहीं है। अशुभ से बचने के लिए शुभभाव में यात्रा आदि का शुभभाव होता है परन्तु उससे आत्मा को धर्म की प्राप्ति होती है – ऐसा नहीं है।

मेरा धनी मुझसे दूर देशान्तर में नहीं है। सर्वज्ञस्वभावी आत्मा मैं स्वयं मेरा भगवान हूँ – ऐसा अन्दर में देखने से अपना भगवान अपने में / अन्तर में भासित होता है; इसलिए कहा है कि तीन लोक की सृष्टि तुझमें है। तेरे उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीनों तुझमें है। तू विकारीदशा का या निर्मलदशा का उत्पाद कर और पूर्व की पर्याय का व्यय हो तथा तेरा तत्त्व ध्रुव रहे, यह सब तेरा तुझमें है। कोई दूसरा तेरे परिणाम उत्पन्न करा दे या तुझे टिका रखे – ऐसा नहीं है। भेद से कहो तो उत्पाद-व्यय और ध्रुव, यह तीनों ही तुझसे तुझमें हैं। परद्रव्य के लक्ष्य से तुझे राग होता है, वह भी तुझसे हुआ है; पर के कारण नहीं हुआ है तथा धर्म होता है, वह भी तेरे चैतन्य के आश्रय के कारण होता है, पर के कारण नहीं होता है। साक्षात् तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजमान हों, वे भी तेरे परिणाम उत्पन्न नहीं कर देते।

www.vitragvani.com

श्रोता : तो फिर भगवान को मानने से लाभ क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान को मानने से पुण्य होता है, धर्म नहीं होता। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। लोगों ने सुना नहीं है, इसलिए कहीं वस्तु के स्वरूप में अन्तर पड़ जाएगा ? भगवान कहते हैं कि मैं तो तेरे लिए ज्ञेय हूँ, उपादेय तो तुझे तेरा तत्त्व है।

आज श्रावण कृष्ण एकम् के दिन विपुलाचल पर्वत पर भगवान की दिव्यध्वनि खिरी थी, उसमें यह आया है कि मेरे कारण से तुझमें कुछ नहीं होता है। मेरा और तेरा तत्त्व भिन्न है, तुझमें अज्ञान के कारण से दु:ख का दावानल सुलगता है। कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में शुभाशुभभाव की अग्नि जलती है। जगत के जीव धर्म की समझ बिना अन्धे की तरह चले जाते हैं। भगवान कहते हैं कि हमारे प्रति तुझे जो राग होता है, वह भी अग्नि है; वह तुझसे हुई है, हमारे से नहीं।

यह तो वीतरागमार्ग है। वीतरागमार्ग में राग का अंश भी नहीं होता। अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आता है परन्तु वह अग्नि है, दु:ख है। सुख तो तेरे स्वभाव का आश्रय लेकर जितनी शुद्धता प्रगट की है, उतना सुख है। शुभाशुभभाव आते हैं, उसमें दु:ख है – ऐसा धर्मी का ज्ञान जानता है। अज्ञानी को उसका भान नहीं होता है।

याहीमैं समाधि सुख... रागरहित शान्ति और समाधि भी तेरी तुझमें है। उसमें सुखरूपी वर्षा की वृष्टि होती है। झरमर-झरमर सुख बरसता है, वह स्वयं से स्वयं में बरसता है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ है, उसकी अन्तर्दृष्टि होने पर समाधिसुख की वर्षा बरसती है, वह भी तुझसे तुझमें है, कहीं पर के कारण नहीं है। बादल पानी से भरा होता है, इस कारण बरसता है। इसी प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है, इस कारण अन्तरदृष्टि करने से अतीन्द्रिय आनन्द बरसता है।

व्यवहार की बात पर तो यहाँ शून्य रखते हैं। तू शून्य रखेगा तब धर्म होगा।

याहीमैं करतार करतूति... ज्ञानी जानता है कि मेरी क्रिया का कर्ता मैं हूँ। राग का परिणमन होता है, वह भी मेरा मुझसे हुआ परिणमन है। सैंतालीस नय में यह नय आता है। धर्म की क्रिया भी स्वयं की स्वयं में है, वह क्रिया कर्म या शरीर की नहीं है और कर्म या शरीरादिक के कारण नहीं होती है। ज्ञान की सम्पत्ति की विभूति भी स्वयं की स्वयं में है,

www.vitragvani.com

स्वयं का आश्रय लेकर वह प्रगट होती है; वाणी सुनने से ज्ञान नहीं होता है क्योंकि वाणी आदि सब जगत के तत्त्व में जाता है। तू तो उनसे भिन्न हूँ। तेरा धर्म और अधर्मरूपी कार्य तुझमें है, पर के कारण नहीं है।

धर्मी यह सब भलीभाँति जानता है कि मेरी क्रिया मुझमें, मेरे कारण से, मेरे लिए है। इसलिए कहते हैं कि हे जगवासी! जगत् के साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। बनारसीदासजी ने बन्ध द्वार में स्वतन्त्र श्लोक रचकर अच्छा स्पष्ट किया है।

बँगला और फर्नीचर, वह तेरी विभूति नहीं है, उनसे तेरी शोभा नहीं है। ज्ञानी उसे अपनी विभूति नहीं मानता है, उनसे अपने को सुख नहीं मानता है। सुख की कल्पना होती है, उसे ज्ञानी दुःखरूप जानता है। धर्मी को पाँच इन्द्रियों के विषय भोगने की कल्पना आती है परन्तु उसे दुःखरूप जानता है और अधर्मी उसे सुखरूप जानता है। दोनों की दृष्टि में इतना अन्तर है। शरीर, इन्द्रिय, पैसा आदि का भोग आत्मा तीन काल कभी नहीं कर सकता क्योंकि वे तो परवस्तु हैं। उनके प्रति राग होता है, उसे स्वयं भोगता है। राग का भोग भी मेरा मुझसे है – ऐसा धर्मी जानता है और राग का वियोग अर्थात् राग का जितना अभाव होता है, वह भी मुझसे मुझमें है। जितना सुख का वियोग वर्तता है, वह भी स्वयं के कारण से है; जितना आनन्द आता है, वह स्वयं के कारण से है। इस प्रकार जितना आनन्द का वियोग रहता है, वह भी स्वयं में स्वयं के कारण से है; कर्म के उदय के कारण आनन्द का वियोग वर्तता है – ऐसा नहीं है।

घृष्टि अर्थात् घर्षण... वह भी स्वयं के कारण से होता है। राग के कारण से घर्षण होता है, वह भी तेरा तुझमें है और घर्षण छोड़कर निर्मलता होती है, वह भी तेरी तुझमें है।

यह बात सुनकर भी स्वीकार नहीं होता, इसलिए व्रत, तप, जप, यात्रा, भक्ति आदि करके धर्म करना चाहता है परन्तु यहाँ कहते हैं कि लाख रुपये दान में दे या करोड़ दे परन्तु धर्म होता है – ऐसा नहीं है। तप कर-करके मर जा, तो भी धर्म हो – ऐसा नहीं है। धर्म तो अपने आश्रय से अपने अन्दर होता है। वीतराग का मार्ग तो ऐसा कहता है। तुझे मानने में न आवे इससे कहीं वस्तु पलट नहीं जाती है। कर्म के कारण गुण को आवरण होता है

www.vitragvani.com

और कर्म हटें तो गुण प्रगट होता है – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की दिव्यध्वनि में आई हुई यह बात है।

याहीमैं विलास सब गर्भित गुपतरूप.... इस देह के अन्दर सब विलास गुप्त गर्भित है। विकार का होना, घर्षण होना, विकार का मिटना, शुद्धता का होना, यह सब तेरा तेरी पर्याय में तेरे अस्तित्त्व में है; पर के अस्तित्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रोता : गुप्तरूप है अर्थात् क्या शक्तिरूप है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में जो कुछ तेरा विलास प्रगट होता है, उसकी बात है, शक्ति की बात नहीं। शरीर और वाणी की अपेक्षा से उसे गुप्तरूप कहा है। ध्रुव की बात नहीं है, पर्याय की बात है। ध्रुव की धुन लगे, उसे ऐसी पर्याय का भी भान होता है। मेरी पर्याय मुझमें मेरे कारण से है परन्तु वह शरीर और वाणी की तरह बाह्य से दिखाई नहीं देती, इसलिए गुप्त कहा है। जिसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है, वह सब इस प्रकार जानता है। अज्ञानी तो पर से अपना विलास मानता है।

एक तो अभी व्यापार की प्रवृत्ति के कारण शुभभाव करने के लिए भी निवृत्त नहीं होता, उसमें ऐसी बात सुने कि शुभ से धर्म नहीं है तो वह शुभभाव भी नहीं करे – ऐसा नहीं है। अशुभ से बचने के लिए कहो या उस काल में होने योग्य है – ऐसा कहो; शुभभाव आते हैं परन्तु वह धर्म नहीं है, पुण्यबन्ध का कारण है।

मेरा समस्त विलास – उलटी या सीधी सभी पर्यायें मेरी, मुझमें, मुझसे है – ऐसा आत्मदृष्टिवन्त सम्यग्दृष्टि भलीभाँति जानता है। अपनी पर्याय पर से हुई – ऐसा नहीं मानता है। शुभभाव का होना, मुझसे मुझमें है। अशुभभाव का होना मुझसे मुझमें है। स्त्री, परिवार, कुटुम्ब के कारण या भोग की क्रिया के कारण अशुभभाव होता है – ऐसा नहीं है। यह शास्त्र सुनता है, इसलिए शुभभाव शास्त्र के कारण होता है – ऐसा नहीं है।

वीतराग की बात ऐसी है। शुभभाव से धर्म तो सब मानते हैं, यही बात वीतरागदेव कहें तो वीतरागी में और रागी में अन्तर कहाँ रहेगा ? वीतराग की वाणी तो अपूर्व है, आहा...हा... !

जीव का राग में जुड़ान हो, उतना घर्षण है और जितना स्वभाव में जुड़ान हो, उतना

www.vitragvani.com

विकास है। यह सब स्वयं का स्वयं के कारण है। कर्म के कारण विकार होता है और कर्म घटें तो विकार घटे – ऐसा ज्ञानी नहीं मानते हैं। मेरे पुरुषार्थ की कमी के कारण राग होता है – ऐसा ज्ञानी जानता है और राग को दु:खरूप मानता है।

अब आत्मविलास जानने का उपदेश ४७वें श्लोक में देते हैं।

आत्मविलास जानने का उपदेश (सवैया तेईसा)

रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु,
तू अपना पद बूझत नांही।
खोजु हियें निज चेतन लच्छन,
है निजमैं निज गूझत नांही॥
सुद्ध सुछंद सदा अति उज्जल,
मायाके फंद अरूझत नांही।
तेरौ सरूप न दुंदकी दोहीमैं,
तोहीमैं है तोहि सूझत नांही॥ ४७॥

अर्थ – श्रीगुरु बुला करके कहते हैं कि हे भव्य! तुम अपने स्वरूप को पहचानते नहीं हो, अपने घट में चैतन्य-चिह्न ढूँढ़ो, वह अपने ही में है, अपने से उलझता नहीं है, तुम शुद्ध स्वाधीन और अत्यन्त निर्विकार हो, तुम्हारी आत्मसत्ता पर माया का प्रवेश नहीं है। तुम्हारा स्वरूप भ्रमजाल और दुविधा से रहित है जो तुम्हें सूझता नहीं है।

काव्य-४७ पर प्रवचन

भगवान! तेरा आनन्दस्वरूप तुझमें ही है परन्तु भाई! तू तेरा स्वरूप नहीं जानता है। तेरा स्वरूप शरीर, वाणी और मन से तो पृथक् है ही परन्तु शुभ-अशुभ विकल्प जाल से भी तेरा स्वरूप पृथक् है – ऐसे तेरे स्वरूप को – निज पद को तू नहीं जानता है। भगवान और भगवान का स्वरूप तो भगवान के पास रहा परन्तु तू तो तेरे स्वरूप को भी नहीं जानता है। इसलिए अब अन्तर में तेरे चैतन्य लक्षण से तू तुझे ढूँढ़! यह जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... है, वह तू है। राग होता है, वह तो बन्धभाव है; वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है।

www.vitragvani.com

भगवान आत्मा शुद्ध और स्वतन्त्र है, त्रिकाल निर्मलानन्द प्रभु है। ऐसी अध्यात्म की बातें व्यवहार की रुचिवाले को श्रद्धा में नहीं जमती है। व्यवहार के द्वारा परमार्थ को समझना चाहे तो समझ सकता है परन्तु यदि व्यवहार की ही रुचि है तो वह अध्यात्म की बात सुनने के योग्य भी नहीं है, क्योंकि शास्त्र में व्यवहार से बात तो आयेगी और तुझे उसका प्रेम है, इसलिए आत्मा व्यवहार से रहित है, यह बात तुझे रुचेगी नहीं।

जैसे सरोवर निर्मल जल से भरपूर है; इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञान के निर्मल भाव से भरपूर है, परन्तु उस पर नजर नहीं है और भगवान आत्मा में जो भरा हुआ नहीं है – ऐसे शुभाशुभभाव पर नजर है; इसलिए निर्मलता से भरपूर भगवान दिखाई नहीं देता है।

मायाके फंद... अर्थात् विकल्प के प्रेम को नहीं छोड़ता, इसलिए तुझे भगवान दिखाई नहीं देता। तेरे स्वरूप में माया का अर्थात् शुभाशुभविकल्प का प्रवेश नहीं है। भ्रम से भी रहित तेरा स्वरूप है। पुण्य और पाप की दुविधा से भी तू रहित है परन्तु तेरा स्वरूप तुझे सूझता नहीं है। तुझे ऐसा है कि व्यवहार करूँगा तो निश्चय प्राप्त होगा। वस्तुतः यह तेरी भूल है। तू व्यवहार से भिन्न है, इसलिए ज्ञान में भिन्न कर तो निर्मलता प्राप्त करेगा।

ज्ञानानन्द, सहजानन्द मूर्ति अनादि अनन्त वस्तु तू स्वयं है परन्तु तू तुझे दिखता नहीं है, राग की रुचि में रुक गया है, व्यवहार की रुचि छोड़कर ज्ञान में आ तो लाभ होगा। व्यवहार – राग से आत्मा को लाभ नहीं होगा। इस कारण अब ४८ वें श्लोक में कहते हैं कि ज्ञान से आत्मा पहचाना जाता है अर्थात् आत्मस्वरूप की पहचान ज्ञान से होती है।

आत्मस्वरूप की पहचान ज्ञान से होती है (सवैया तेईसा)

केई उदास रहैं प्रभु कारन,
केई कहैं उठि जांहि कहींकै।
केई प्रनाम करैं गढ़ि मूरति,
केई पहार चढैं चढ़ि छींकै॥

www.vitragvani.com

केई कहैं असमानके ऊपरि,
केई कहैं प्रभु हेठि जमींकै।
मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर,
मोहीमैं है मोहि सूझत नीकै॥ ४८॥

अर्थ – आत्मा को जानने अर्थात् ईश्वर की खोज करने के लिए कोई तो बाबाजी बन गये हैं, कोई दूसरे क्षेत्र में यात्रा आदि को जाते हैं, कोई प्रतिमा बनाकर नमन-पूजन करते हैं, कोई छींके पर बैठ पहाड़ों पर चढ़ते हैं, कोई कहते हैं कि ईश्वर आसमान में है और कोई कहते हैं कि पाताल में हैं परन्तु हमारा प्रभु दूर देश में नहीं है – हम ही में है, सो हमें भले प्रकार अनुभव में आता है।

काव्य-४८ पर प्रवचन

यहाँ तो राग का संग छोड़कर स्वभाव का संग करने की बात है। आत्मा क्या चीज है? उसके ज्ञान बिना स्त्री-पुत्रादिक छोड़कर त्यागी हो जाये, उदास रहे, बाबा होकर जंगल में रहे, इससे कहीं आत्म-प्राप्ति नहीं हो जाती है। ज्ञान के बिना आत्म-प्राप्ति नहीं होती है।

भगवान सर्वज्ञदेव ने आत्मा का स्वरूप जैसा सद्चिदानन्दस्वरूप कहा है, वैसा पहचानकर उसकी श्रद्धा करे और उसमें रमणता करे तो आत्मा प्राप्त होता है। इसलिए प्रथम आत्मा का ज्ञान तो करे! उसे ज्ञान को सुधारने का लक्ष्य नहीं है और बाह्य से क्रिया करके आत्मा चाहिए है तो कैसे मिलेगा? ज्ञान का परिणमन, जो राग की एकता में है और परसन्मुखता के झुकाव में है, वह ज्ञान बिगड़ा हुआ है, उसे पर और राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप देखना, अनुभव करना, इस ज्ञान से आत्मा की प्राप्ति होती है।

कोई आत्मा की प्राप्ति के लिए सम्मेदशिखर आदि सिद्धक्षेत्र की यात्रा करने जाता है परन्तु वहाँ तेरा आत्मा कहाँ है कि वहाँ से आत्मा प्राप्त हो? यात्रा करने का शुभभाव होता है, वह अलग बात है परन्तु यात्रा करने से धर्म होता है या जन्म-मरण मिटता है, यह बात शक्य नहीं है। योगसार में तो योगीन्दुदेव कहते हैं कि तन मन्दिर में ही देव विराजमान हैं; मन्दिर और मूर्ति में देव नहीं है।

www.vitragvani.com

अनन्त... अनन्त ज्ञान-दर्शन, आनन्द से भरपूर आत्मा को पहचाने, अनुभव करे तो आत्मा की प्राप्ति होती है, उसे धर्म हुआ कहा जाता है। अपने गुण की दशा सुधारना ही धर्म की क्रिया है। शरीर की क्रिया तो जड़ की है, उससे धर्म नहीं होता। सिद्धगिरि आत्मा स्वयं ही है।

केई पहार चढैं चढ़ि छींकै... कोई धर्म प्राप्ति के लिए यात्रा करने जाता है, डोली में बैठकर पहाड़ चढ़ता है। पहले तो लोग गाड़ी में बैठकर यात्रा करने निकलते थे। दो-चार महीने में वापस आयें, तब गाँव के लोग उत्सव करते थे। ऐसा शुभभाव भले आवे परन्तु उससे धर्म नहीं होता है। यहाँ तो कहते हैं कि लाख बार शिखरजी चला जाए तो भी उससे धर्म नहीं होता। राग की समीपता छोड़कर स्वभाव के समीप जाए तो धर्म होता है। कितने ही लोगों को ऐसा लगता है कि यह महाराज स्थानकवासी में से आये हैं, वहाँ मूर्ति को नहीं मानते थे, इसलिए यहाँ भी वही बात करते हैं कि मूर्ति को मानने से धर्म नहीं होता... भाई! मूर्ति को मानना, वह शुभभाव है - ऐसा भाव होता है परन्तु उससे धर्म नहीं होता। मूर्ति को बिल्कुल नहीं मानना, यह तो दृष्टि ही मिथ्या है परन्तु मूर्ति की पूजा से धर्म होता है - ऐसा मानना भी मिथ्यादृष्टि है।

अन्यमती ऐसा मानते हैं कि काशी में करवत लेने से वह बैकुण्ठ में जाता है। इसी प्रकार यह कहता है कि सिद्धगिरि में मरण हो तो उसकी मुक्ति होती है। अरे! सिद्धगिरि में बहुत से कौवे, कुत्ते, चीटिंयाँ मरती हैं तो क्या उनका मोक्ष होता है?

श्रोता : वे कहाँ यात्रा करने आये थे, यात्रा करने जाए और मरे तो उसका मोक्ष होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! यात्रा करने आये हों, वह भी शुभभाव है, वह भाव लेकर मरे तो स्वर्ग में जाए परन्तु मोक्ष कहाँ से होगा?

ज्ञानानन्द-चिदानन्द भगवान आत्मा पर आरूढ़ होनेवाले ने वास्तविक यात्रा की है। कोई मन्दिर बनाकर मूर्ति पधरावे और शिवपद माँगे, इससे कहीं शिवपद नहीं हो जाता। भगवान की मूर्ति या साक्षात् भगवान की भक्ति का शुभभाव आता है... परन्तु वह परद्रव्यानुसारी भाव है, इसलिए राग ही है। परद्रव्यानुसारी वृत्ति राग की ही होती है,

www.vitragvani.com

धर्म की नहीं होती। स्व चैतन्यद्रव्य के अनुसार परिणाम होता है, वही धर्म है, उससे शिवपद प्राप्त होता है। यह बात ख्याल में लेकर उसकी पहले श्रद्धा तो करे! वह व्यवहारश्रद्धा सच्ची है।

परद्रव्य का अनुसरण करने से मुझे धर्म होता है, यह मिथ्यात्व का महाशल्य है। बाहर में भगवान को मिलने जाता है परन्तु तेरा भगवान तो अन्दर में बैठा है, उसे तो पहचान! ज्ञानानन्दमूर्ति अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा स्वयं है, उसकी श्रद्धा करे, ज्ञान करे, उसमें स्थिर हो वह धर्म है परन्तु यह 'करना' तो इसे सूझता नहीं... भासता नहीं। सम्मेदशिखर, गिरनार, पावापुरी, चम्पापुरी, इत्यादि की यात्रा करके आएँ तो कुछ किया ऐसा लगता है। हम भी इन सब तीर्थों की यात्रा कर आये हैं – ऐसा भक्ति का शुभभाव आता है। अशुभ से बचने के लिए ऐसा शुभभाव होता है तो हो परन्तु उससे धर्म हो जाता है या वह करते-करते कल्याण हो जाएगा – ऐसा नहीं है। सम्यक्त्वी को या अज्ञानी को ऐसे भाव आवें परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि उनसे पुण्य है, धर्म नहीं।

एक पन्थ ने मूर्ति, मन्दिर का उत्थापन किया और एक पन्थ ने उसमें ही धर्म है – ऐसी स्थापना कर दी। इसमें सामान्य लोगों को खींचतान होती है कि सत्य क्या है? परन्तु वास्तव में दोनों की बात मिथ्या है।

अन्तर चैतन्यस्वरूप ज्ञान और आनन्द का सागर है, उसका ज्ञान करे अर्थात् ज्ञान का ज्ञान करे – आत्मा का ज्ञान करे, आत्मा की श्रद्धा करे और आत्मा में स्थिर हो, वह धर्म है। उसके साथ भगवान की श्रद्धा-भक्ति का भाव आवे, व्रत-तपादि का भाव भी आवे परन्तु वह शुभभाव है, परद्रव्य की ओर की वृत्ति है, पुण्य-बन्ध का कारण है परन्तु धर्म नहीं है।

कोई कहता है कि भगवान आसमान से ऊपर है तो कुरानवाले मुसलमान ऐसा कहते हैं कि भगवान जमीन के नीचे है परन्तु यहाँ कहते हैं कि **मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर।** मेरा धनी – मेरा प्रभु मुझसे दूर नहीं है। दिसन्तर अर्थात् शिखरजी आदि क्षेत्रों में मेरा प्रभु नहीं है। इसलिए एक बार शिखरजी सिद्धक्षेत्र के दर्शन कर आयें तो जन्म सफल हो जाने की मान्यता मिथ्या है।

www.vitragvani.com

वीतराग परमेश्वर तीर्थंकर केवली अनादि से ऐसा कहते आये हैं। मार्ग अनादि का है, नया नहीं। मेरा प्रभु मुझमें ही है, मैं स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वभावी ईश्वर हूँ – ऐसा मेरे ज्ञान में मुझे ठीक से भासित होता है। राग और पर के अनुभव में आत्मा नहीं परन्तु यदि स्वयं स्वभाव का अनुभव करे तो उसमें आत्मा जानने में आता है। उसका नाम स्वसन्मुख ज्ञान और श्रद्धा हुई कही जाती है परन्तु इसे दिशा बदलना बहुत कठिन काम है। अन्तर्मुख देखने से ज्ञान में 'यही आत्मा मैं हूँ' – ऐसा ठीक से अनुभव में आता है। यह ४८वाँ पद्य हुआ। अब, ४९ वें पद्य में क्या कहते हैं ?

पुनः (दोहा)

कहै सुगरु जो समकिती, परम उदासी होइ।
सुथिर चित्त अनुभौ करै, प्रभुपद परसै सोइ॥ ४९॥

अर्थ – श्री गुरु कहते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि अत्यन्त वीतरागी होकर, मन को खूब स्थिर करके आत्म-अनुभव करता है, वही आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है।

काव्य-४९ पर प्रवचन

पूर्व के पद्य में उदास कहा था, यहाँ परम उदास होकर जो मन स्थिर करके आत्मानुभव करता है, वैसे सम्यग्दृष्टि की बात कही है। राग और निमित्त से परम उदासीन होकर ज्ञानानन्द का अनुभव करता है, उसे प्रभु पद का स्पर्श होता है, प्रभु स्वयं उसे स्पर्शते हैं। यह जगत से अलग प्रकार की बात है।

ज्ञानानन्दी भगवान आत्मा की कोई रक्षा करे तो रहे और न करे तो न रहे – ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। राग के विकल्पमात्र से भी पृथक् – ऐसा वस्तु का स्वरूप है। वह इसे विकल्पसहित ज्ञान में भी अभी नहीं जमता, विश्वास नहीं आता। जो दिखता है, उसे मानता है परन्तु देखनेवाला स्वयं कैसा है और कितना है ? उसका विश्वास नहीं है। अपने स्वभाव के ज्ञान और विश्वास बिना साधु होकर मन्दिर आदि बनावे, दातार के नाम उत्कीर्ण करावे – ऐसी समस्त प्रवृत्तियाँ करके धर्म हुआ मनवावे... अरे... ! कहाँ भटकता है और मनवाता है कि हम धर्म करते हैं और कराते हैं !

www.vitragvani.com

भरत चक्रवर्ती ने तीन काल की तीन चौबीसी के बहरत्तर स्वर्णमयी बिम्ब बनाये थे तो उससे क्या हो गया? शुभभाव था परन्तु वह धर्म नहीं था।

भरतेशवैभव में एक बात आती है कि भरत के पुत्र मामा के घर आये थे, वे चर्चा करते हुए कहते हैं कि अभेदरत्नत्रय से ही धर्म है, साक्षात् भगवान को मानने से धर्म नहीं है... यह बात पुत्रों को मान्य थी, फिर भी भरत कहते हैं कि अपने दादा जो ऋषभदेव तीर्थंकर हैं, उनकी पूजा करने से धर्म क्यों नहीं होता? पुत्र कहते हैं कि नहीं, भेदरत्नत्रय से धर्म नहीं होता। ऐसी चर्चा-वार्ता भरतेशवैभव में आती है। दादा केवली हो गये हैं, उन्हें मानते हैं परन्तु वह शुभराग है, उससे धर्म नहीं होता - ऐसी उन बालकों को भी श्रद्धा होगी, तब ऐसा जबाव देते होंगे न! यहाँ तो बड़े-बड़ों को भी ऐसी श्रद्धा और ज्ञान नहीं होता है।

भगवान को मानने से धर्म होता है परन्तु वह कौन सा भगवान? - पर भगवान या यह भगवान?

ज्ञानी सुगुरु ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि परनिमित्त और राग से उदासीन होकर तथा अन्तर में स्थिर होकर आत्मा का अनुभव करते हैं। **प्रभुपद परसै सोइ** - निज भगवान आत्मा का अनुभव करता है, उसे भगवान धर्म कहते हैं। यह वीतरागमार्ग है, इससे विरुद्ध कहें, वे गुरु नहीं, वे शास्त्र नहीं, और वह धर्म नहीं। इतना तो प्रथम निर्णय करना चाहिए।

लोग ऐसा कहते हैं कि व्यवहार, वह पहली (कक्षा) के स्थान पर है और निश्चय, वह एम.ए. की पढ़ाई के स्थान पर है। इसलिए पहली कक्षा के बिना एम.ए. की पढ़ाई नहीं होती। व्यवहार सीखे बिना निश्चय नहीं होता... भाई! व्यवहार तो जीव अनादि से सीखा हुआ ही है। उस व्यवहार के विकल्प और निमित्त की दृष्टि छोड़कर आत्मा पर दृष्टि करने से आत्मा का अनुभव होता है, इसके बिना दया, दान, व्रत, तप, यात्रा आदि लाख क्रिया करे और मर जाए तो भी धर्म नहीं होता। दौड़-दौड़ कर अन्य भगवान के पास पहुँच जाए और भगवान का विनय करे कि प्रभु! मुझे मुक्ति दो... तो भगवान कहते हैं कि तेरी मुक्ति तेरे पास ही है, मेरे पास तेरी मुक्ति नहीं है; इसलिए मेरे सन्मुख देखने से तुझे मुक्ति मिले - ऐसा नहीं है।

www.vitragvani.com

मैं एक जानने-देखनेवाला चैतन्य तत्त्व हूँ, बस! उसका अनुभव करते हैं, वह प्रभु पद का स्पर्श है, प्रभु अर्थात् आत्मा को प्राप्त करता है।

अब, ४९ वें पद्य में कहते हैं कि व्यवहार में तो मन की चंचलता खड़ी होती है, इस चंचलता को रोके और स्वरूप में दृष्टि करे तो धर्म होता है।

मन की चंचलता (सवैया इकतीसा)

छिनमैं प्रवीन छिनहीमैं मायासौं मलीन,
छिनकमैं दीन छिनमांहि जैसौ सक्र है।
लियैं दौरधूप छिन छिनमैं अनंतरूप,
कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है॥
नटकौसौ थार किधौं हार है रहटकौसौ,
धारकौसौ भौंर कि कुंभारकौसौ चक्र है।
ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसै होई,
ओरहीकौ चंचल अनादिहीकौ वक्र है॥ ५०॥

अर्थ - यह मन क्षणभर में पण्डित बन जाता है, क्षणभर में माया से मलिन हो जाता है, क्षणभर में विषयों के लिए दीन होता है, क्षणभर में गर्व से इन्द्र जैसा बन जाता है, क्षणभर में जहाँ-तहाँ दौड़ लगाता है और क्षणभर में अनेक वेष बनाता है। जिस प्रकार दही विलोवने पर छाँछ की गड़गड़ी होती है, वैसा कोलाहल मचाता है; नट का थाल, रहट की माला, नदी की धार का भँवर अथवा कुम्हार के चाक के समान घूमता ही रहता है। ऐसा भ्रमण करनेवाला मन आज कैसे स्थिर हो सकता है, जो स्वभाव से ही चंचल और अनादि काल से वक्र है।

काव्य-५० पर प्रवचन

कितने दृष्टान्त दिये हैं! पर की ओर के भ्रमण में मन की चंचलता ही होती है, वहाँ मन की स्थिरता हो - ऐसा नहीं होता, यह कहना है। भगवान की प्रतिमा के सन्मुख देखता रहे तो भी वह विकल्प है क्योंकि परद्रव्य की ओर लक्ष्य है; उसमें भी अंगी किये हुए भगवान को देखता रहे, वहाँ तो सिर पर लाखों का मुकुट पहनाया हो, हाथ में बाजूबन्ध

www.vitragvani.com

पहनाया हो, इत्र लगाया हो कि जिस इत्र की एक बूँद में भी महापाप है। यहाँ तो अकेली वीतराग मुद्रा हो, उसके दर्शन से भी शुभभाव है, धर्म नहीं; तो प्रश्न होता है कि वह राग तो प्रशस्त है न ? अच्छा है न ? भाई ! अशुभ की अपेक्षा से शुभराग को प्रशस्त कहा है परन्तु धर्म की अपेक्षा से वह अच्छा नहीं है, वह भी अशुभ है।

अरे ! जीवन चला जा रहा है, इसे कोई मदद करनेवाला नहीं है। धर्म के नाम पर भी लुटता है। उसमें यदि सत्य बात समझकर अनुभव नहीं किया तो सब निष्फल है। इन लाखों लोगों को मैंने धर्म प्राप्त कराया – ऐसा मानता हो कि मैंने सवा लाख जिनबिम्ब पधराये – ऐसा कहता हो तो राग की मन्दता है, उतना शुभभाव है परन्तु उसमें धर्म मानता है; इसलिए मिथ्यात्व का पोषण होता है। मन्दिर आदि किसी के बनाने से नहीं बनते हैं। यह देखो न ! परमागम मन्दिर बनता है... हमने कुछ कहा नहीं, मुम्बईवालों को भाव हुआ कि अस्सीवीं जन्मजयन्ती मनाई है, उस निमित्त से सोनगढ़ में एक मन्दिर बनाना है। तीन लाख का बनाना था, उसके बदले बारह लाख तो खर्च हो गये और अभी जितना हो उतना ठीक... तो यह मन्दिर किसी के बनाने से होता है क्या ? परद्रव्य की क्रिया का कर्ता होता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है।

छिनमैं प्रवीन... मन क्षण में पण्डित बन जाये तो क्षण में मलिन हो जाता है। ज्ञान में पण्डित बना हो, उसकी बात नहीं है, मन से पण्डिताई करे वह टिकती नहीं है। क्षण में स्त्री–पुत्रादिक के राग में लीन हो जाता है, क्षण में पण्डित और मूर्ख हो जाता है। यह सभी मन की चंचलता है। आत्मा में दृष्टि को स्थिर करना, वह सम्यग्दर्शन है। प्रथम करने योग्य क्रिया तो यह है। साथ में यह श्रवण आदि का शुभभाव होता है, नहीं होता – ऐसा नहीं है। सुनने के विकल्प से भी मैं पृथक् चीज हूँ – ऐसी अन्तर्दृष्टि करे, राग से पृथक् पड़े, तब धर्म होता है।

छिनकमैं दीन... विषयों के लिए क्षण में दीन होकर मुझे यह पाँच इन्द्रियों के विषय मिलें, इज्जत मिले, धन मिले... ऐसी दीनता करता है तो फिर क्षण में इन्द्र जैसा अभिमानी हो जाता है कि मेरे पास तो सब है; मुझे किसी से कुछ नहीं चाहिए, यह सब मन से होता है, वह धर्म नहीं है।

www.vitragvani.com

लियैं दौरधूप... व्यापार-धन्धा आदि के लिए दौड़-धूप करता है। विदेश जाता है, फिर वापस आता है, इतना पैसा रोकेंगे तो ऐसा होगा... पूर्व के पुण्य अनुसार आना हो वे धनादिक आते हैं, यह तो व्यर्थ दौड़-धूप करता है। प्लेन में आया-जाया करे तो जल्दी दौड़ सकूँ परन्तु इसमें कुछ सार नहीं है। अनेक विकल्पों को वेग धारण करता है।

कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है। जैसे, दही की छाछ बनाने पर बिलौनी घुमती है, वहाँ अन्दर उथल-पुथल होती है, इसी प्रकार मन में ऐसी उथल-पुथल चलती है। स्वप्न वैसे आते हैं, कल्पनाएँ होती हैं... अरे! तू तो ज्ञानस्वरूप भगवान होकर किस कल्पना के रास्ते कहाँ चढ़ गया! बिलौनी छाछ में घूमा करती है, उसी प्रकार मन भटका करता है, स्थिरता नहीं होती है।

मन की चंचलता किया करता है परन्तु आत्मा में स्थिरता करना हो तो 'यह हमारा काम नहीं' - ऐसा इसे लगता है। जैसे, नट की थाली फिरा करती है, वैसे मन फिरा करता है। नट तो प्रदर्शन करता है, थाली तो स्वयं के कारण फिरती है। रहट चक्र की माल में एक ओर पानी भरता जाता है और दूसरी ओर से गिरता जाता है। इसी तरह मन के चक्र की माला घुमा ही करती है। एक विकल्प जाए, वहाँ दूसरा आता है और दूसरा जाए, वहाँ तीसरा आता है। तकली में रुई को काँतते हैं, वैसे ही अज्ञानी विकल्पों को काँता करता है; तार टूटने नहीं देता।

धारकौसौ भौंर... नदी के पानी में पानी भँवरी खाता है अर्थात् भँवर होता है न। इसी प्रकार मन चक्री खाता है। क्षण में कुछ तो फिर क्षण में कुछ दूसरा...। मेरी स्त्री, बहू अच्छी... पुत्र बहुत अच्छा... ऐसे कल्पना के घोड़े दौड़ाकर मन को चंचल करता है, अस्थिर करता है, बन्धभाव प्रगट करता है - ऐसा कहते हैं। कुम्हार का चक्र गोल घुमा ही करता है; इसी प्रकार मन भी घुमा ही करता है, स्थिर नहीं होता। प्रभु का स्वभाव तो ज्ञान करके स्थिरता करने का है, उसके बदले मन को चंचल करके अस्थिर हो जाता है।

ऐसौ मन... ऐसा भ्रामक अर्थात् भ्रमण करनेवाला मन अज्ञान है, तब तक स्थिर नहीं होता। ज्ञान करे तब ही स्थिर होता है, भेदज्ञान करे कि यह चंचल कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं पर का कुछ नहीं कर सकता, मैं तो ज्ञानस्वरूप चैतन्य

www.vitragvani.com

हूँ – ऐसी दृष्टि करे, स्थिर हो तो स्थिर हो सकता है, बाकी मन तो अनादि का चंचल ही है, वक्र है। आनन्दघनजी में आता है कि मनडू किमहिन बाजे...।

अब कहेंगे कि मन की चंचलता पर ज्ञान का प्रभाव पड़ता है। **ग्यानके जगेसौं निरवाण पथ धसा है।** ऐसा सिद्ध करते हैं। ज्ञान होने पर वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है। अज्ञान में वह कल्पना का ही स्वामी हो जाता है।

मन की चंचलता पर ज्ञान का प्रभाव (सवैया इकतीसा)

धायौ सदा काल पै न पायौ कहूं सांचौ सुख,
रूपसौं विमुख दुखकूपवास बसा है।
धरमकौ घाती अधरमकौ संघाती महा,
कुरापाती जाकी संनिपातकीसी दसा है॥
मायाकौं झपटि गहै कायासौं लपटि रहै,
भूल्यौ भ्रम-भीरमैं बहीरकौसौ ससा है।
ऐसौ मन चंचल पताकासौ अंचल सु,
ग्यानके जगेसौं निरवाण पथ धसा है॥ ५१॥

अर्थ – यह मन सुख के लिये हमेशा से ही भटकता रहा है, पर कहीं सच्चा सुख नहीं पाया। अपने स्वानुभव के सुख से विरुद्ध हुआ दुःखों के कुए में पड़ रहा है। धर्म का घाती, अधर्म का संगाती, महा उपद्रवी, सन्निपात के रोगी के समान असावधान हो रहा है। धन-सम्पत्ति आदि को फुर्ती के साथ ग्रहण करता है और शरीर से मुहब्बत लगाता है, भ्रमजाल में पड़ा हुआ ऐसा भूल रहा है, जैसा शिकारी के घेरे में खरगोश भ्रमण करता है। यह मन पताका के वस्त्र के समान चंचल है, वह ज्ञान का उदय होने से मोक्षमार्ग में प्रवेश करता है।

काव्य-५१ पर प्रवचन

आत्मा और रागादि का भेदज्ञान करे, तभी मन की चंचलता का नाश होता है।

धायौ सदा काल... अपने आत्मा में ही सुख है परन्तु उसकी श्रद्धा-ज्ञान नहीं करता और बाहर से सुख लेने के लिए भटका करता है। **रूपसौं विमुख...** अपने स्वरूप

www.vitragvani.com

से विमुख दु:ख के महाकूप में पड़ा है। पर में सुख नहीं है, फिर भी सुख मानकर कल्पनाएँ किया करता है। समाज में मेरी कुर्सी पहली पड़े तो मुझे सुख, बहुत पैसा हो तो सुख, पंचों में पूछताछ हो तो सुख, परिवार और समधी इत्यादि पैसेवाले हों तो सुख – ऐसे अनेक स्थानों पर यह सुख की कल्पना करके पड़ा है। बड़ा वेतनदार, पदवीधारी, अधिकारी हो तो उसे सुखी कहते हैं न! ऐसे अभिमान के प्याले फट गये हों! इसका एक गाँव में प्रसंग बना था... लड़का बड़ा आफीसर, इसलिए ऊँट पर बैठकर बाहर गाँव जाता था और साथ में अपना पिता भी था परन्तु सामनेवाले ने पूछा कि तुम्हारे साथ कौन है तो लड़का कहता है कि एक व्यक्ति मेरे साथ है। देखो, उसे मेरा पिता साथ है, यह बोलने में शर्म लगी। बाप को बहुत अपमान लगा तो कहने लगा कि मैं इसका व्यक्ति नहीं, मैं इसकी माँ का पति हूँ... ऐसे अभिमानी विवेक भी भूल जाते हैं।

इस प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभादिक भावों में पड़े हुए अज्ञानी दु:ख के कुएँ में ही पड़े हैं, सुखी नहीं। वह धर्म का तो घात करनेवाला है। शुभाशुभ दोनों चंचल भाव, धर्म का घात करनेवाले हैं; इसलिए मन का संग छोड़कर आत्मा का संग करे तो ही धर्म होता है। बाहर की पदवी के या धनादि के अभिमान में चढ़ गये लोगों को यह मानना बहुत कठिन पड़ जाए ऐसा है। हमने तो मन्दिर बनाया है और दान में बहुत पैसा खर्च किया है – ऐसा अभिमान में मर जाएगा तो निगोद में चला जाएगा। वस्तु के स्वभाव से विरुद्ध माननेवाले को कोई तत्त्व मिल जाएगा?

मन का संग होने पर जो शुभाशुभभाव होते हैं, वे दोनों अधर्म का संग है। भगवान आत्मा की अन्तर्दृष्टि करने में ही सुख है, उसमें ही शान्ति है और धर्म है। मन के विकल्प में कहीं धर्म नहीं है। **संघाती महा, कुरापाती...** कहकर, महा उपद्रवी-विपरीत स्वभाववाला कहा है। शुभाशुभभाव में महाउपद्रव है। भगवान आत्मा, मन के संगरहित असंगी है, उस असंगी का संग करने से धर्म होता है।

अब, ५१ वें पद्य में बनारसीदासजी कहते हैं कि आत्मा जब मन के सम्बन्ध में जुड़ता है, तब विकल्प होते हैं। अन्त में कहेंगे कि ज्ञान के प्रभाव से वे सब विकल्प छूट जाते हैं।

www.vitragvani.com

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप होने पर भी, मन के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पना जाल में फँस गया है। शरीर में, इज्जत में, इन्द्रियों में, विषयों इत्यादि में सुख है – ऐसी कल्पना करके मन उस तरफ दौड़ता है परन्तु उसमें तो सुख नहीं है, मन के सम्बन्ध से होनेवाली कल्पना आत्मा के निज स्वरूप से विमुख है।

कल एक भाई कहते थे कि धर्म प्राप्त करने के लिए पहले गुरु चाहिए न! गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता... उनसे कहा कि गुरु होते हैं परन्तु गुरु से ज्ञान नहीं होता।

मन का धर्म ही ऐसा है कि वह विकल्प ही खड़े करता है। भले ही देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी विकल्प हो या स्त्री, पुत्र, व्यापारादिक का विकल्प हो परन्तु मन के सम्बन्ध से विकल्प ही उत्पन्न होते हैं और उनसे बन्ध होता है। जहाँ सुख नहीं है, वहाँ सुख मानता है; इसलिए कहीं सुख नहीं होता, केवल बन्ध होता है।

शुभ और अशुभ संकल्प-विकल्प है, वह दुःख का कुँआ है। भगवान की भक्ति करें और कल्याण न हो, यह बात मानना लोगों को बहुत कठिन लगती है परन्तु तेरा गुरु तो तू ही है। तेरा स्वरूप समझ और स्वयं को समझ में आये तो तेरा कल्याण होता है। 'मैं तो एक ज्ञान और आनन्दस्वरूप वस्तु हूँ, पर के सम्बन्ध से रहित हूँ' – ऐसा स्वयं अपने को समझ में नहीं आवे, तब तक गुरु के द्वारा कही गयी बात उसकी श्रद्धा में नहीं बैठती है।

मन के सम्बन्ध से जितनी परसन्मुखता की वृत्तियाँ होती हैं, वे धर्म का घात करनेवाली हैं। अशुभवृत्तियों से तो धर्म का घात होता है परन्तु शुभवृत्तियाँ, वे भले ही देव-गुरु की भक्ति सम्बन्धी हों, वे भी धर्म का घात करनेवाली है, बन्ध करनेवाली है। बन्ध अधिकार है न! मन का सम्बन्ध होता है तो पर तरफ ही लक्ष्य जाता है और इससे अधर्म होता है, धर्म नहीं होता। मन को अधर्म की संगति है; इसलिए मन का सम्बन्ध छोड़कर ज्ञानानन्दस्वरूप का सम्बन्ध करे तो धर्म होता है। अन्तर्मुख होकर स्वभाव का अनुसरण करके परिणाम करना, वह धर्म है।

भगवान आत्मा का संग छोड़कर मन का संग करना, वह उपद्रव का कारण है; चैतन्य की शान्ति को जलानेवाला वह भाव है। परद्रव्य की दया का भाव या परद्रव्य की

www.vitragvani.com

भक्ति का भाव, स्वद्रव्य को उपद्रव करनेवाले हैं। परसन्मुख के भाव में लीन रहता है, उसकी दशा सन्निपात के रोगी जैसी है।

श्रोता : मन्दिर के लिए पैसा खर्च करनेवाले को आप ऐसा कहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपया खर्च करता है, वे रुपये कहाँ इसके हैं? वे तो जड़ के हैं। मैंने रुपये दान में दिये – ऐसा जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह स्वरूप में उपद्रव करनेवाला है। वीतरागमार्ग तो वीतरागभाव से उत्पन्न होता है; कहीं राग से वीतरागमार्ग की उत्पत्ति नहीं होती।

चेतनस्वरूप आत्मा, मन और मन के विकल्प से अत्यन्त भिन्न स्वरूप है – ऐसे स्वरूप का स्वीकार और दृष्टि न करके, मन की सन्मुखतावाले भाव का स्वीकार करना उपद्रव है। इससे धर्मी को अशुभभाव तो उपद्रव लगता है परन्तु शुभभाव भी उपद्रव लगता है। दोनों भाव बन्ध के कारण हैं – ऐसा धर्मी जानता है।

धर्मी तो अपनी धर्मदशा से आत्मा को ग्रहण करता है, जबकि मन के विकल्प तो माया को शीघ्रता से ग्रहण करते हैं। **मायाकौं झपटि गहै....** अर्थात् मुझे यह ठीक है... यह ठीक है। इस प्रकार पर में ठीकपने की कल्पना करता है। भगवान आत्मा मन से और विकल्प से भिन्न है, उसकी महासत्ता का स्वीकार न करके, पर के सम्बन्धवाले विकल्प का ही स्वीकार करता है, उसने माया को पकड़ा है और शरीर में तो वह एकाकार होकर रहता है। मानो शरीर ही मैं हूँ, इस शरीर के काम मैं करता हूँ... परन्तु शरीर तो जड़ है, मुझसे भिन्न तत्त्व है – ऐसा नहीं मानता है।

प्रात: काल एक बड़ी गाय को जाते हुए देखकर लगा कि इस गाय को किसी पर्याय के अंश का पता नहीं, इसे तो यह खाने को मिले और लट्ठ जैसा शरीर है, वही मैं हूँ – ऐसा वेदन है। इसे दूसरा कुछ पता नहीं है परन्तु अंश में अटकना तो इसे होता है कि जो जीव ज्ञान में आगे बढ़कर अंश को पकड़कर उसमें ही अटक जाता है, मन के सम्बन्ध से बन्ध ही होता है और उसका सम्बन्ध छोड़े तो अबन्धदशा प्रगट होती है।

अज्ञानदशा में रूपवान शरीर आदि संयोग में ही अपना सर्वस्व है – ऐसा जीव मान

www.vitragvani.com

लेता है। उसे मन के साथ सम्बन्ध है, यह मन उसे बाहर ही ले जाता है। मन, स्व में सम्बन्ध नहीं कराता है।

भूल्यौ भ्रम-भीरमैं... भीर अर्थात् जाल। भ्रम की जाल में भ्रमित हो गया है। जैसे, शिकारी के घेरे में खरगोश इधर से उधर भागता है, वैसे ही अज्ञानदशा में जीव भ्रम से ऐसा करूँ तो मुझे कीर्ति मिले, ऐसा करूँ तो मुझे धन मिले, ऐसा करूँ तो मेरा भला हो, इस प्रकार भ्रम से भटका करता है। धन कमाऊँ, बड़ा गिना जाऊँ, धन खर्च करूँ वह प्रसिद्ध हो... इस प्रकार मन को इधर से उधर दौड़ाकर प्रसन्न होता है।

ऐसौ मन चंचल पताकासौ अंचल.... ध्वजा का पतला कोना हवा के अनुसार फरफर फिरा ही करता है। उसी तरह मन भी उदयानुसार फिरा ही करता है। स्वरूप की दृष्टि और अनुभव के बिना मन के सम्बन्ध में परिणाम चंचल हुआ करते हैं।

ग्यानके जगेसौं निरवाण पथ धसा है... मेरा धर्म और मेरा सुख मुझमें है। इसलिए मुझमें से ही धर्म और सुख आता है। शुभाशुभभाव में से मेरा धर्म या सुख नहीं आता... ऐसा स्वरूप का ज्ञान होने पर जीव की गति निर्वाण की ओर होती है। संसार की ओर गति थी, उसके बदले अरे! मैं तो आत्मा हूँ; शरीर और कर्म तो मैं नहीं परन्तु मन के विकल्प भी मैं नहीं हूँ – ऐसा मेरा वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार जहाँ अन्तरज्ञान होता है, वहाँ उसकी गति की दिशा निर्वाण अर्थात् मोक्ष की तरफ हो जाती है। अब उसकी डोर राग से छूटने की ओर है। इस प्रकार ज्ञान का उदय होने से मोक्षमार्ग में प्रवेश होता है।

यह बन्धद्वार है न! मन के सम्बन्ध से जो कुछ संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे बन्ध के कारण हैं, मन की चंचलता है परन्तु मैं तो उनसे रहित ज्ञान और आनन्दरूप शाश्वत वस्तु हूँ – ऐसा अन्तर में ज्ञान होने पर उसकी गति राग से छूटने की ओर होने लगती है। क्रियाकाण्ड का भाव छूटकर ज्ञानकाण्ड शुरु हो जाता है।

शरीर और कर्म तो अजीवतत्त्व है और शुभाशुभ संकल्प-विकल्प आस्रवतत्त्व है, उनसे पृथक् मैं ज्ञानानन्दमय चैतन्यतत्त्व हूँ – ऐसी दृष्टि होने पर धर्मी की गति मोक्ष की ओर हो जाती है।

www.vitragvani.com

अब, ५२ वें पद्य में मन की स्थिरता का प्रयत्न बताते हैं।

मन की स्थिरता का प्रयत्न (दोहा)

जो मन विषै-कषायमैं, बरतै चंचल सोइ।
जो मन ध्यान विचारसौं, रुकै सु अविचल होइ॥ ५२॥

अर्थ - जो मन विषय-कषाय आदि में वर्तता है, वह चंचल रहता है और जो आत्मस्वरूप के चिन्तवन में लगा रहता है, वह स्थिर हो जाता है।

काव्य-५२ पर प्रवचन

अनेक प्रकार के विषय और कषाय में मन चंचल रहता है। यदि उसी मन को स्वरूप के ज्ञान में और स्वरूप के ध्यान में लगाओ तो मन स्थिर हो जाता है अर्थात् वहाँ मन का विकल्प नहीं होता है - ऐसा वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार इसे पहले जानकर प्रतीति करनी पड़ेगी, तत्पश्चात् इसे अनुभव में ले तब धर्म होता है।

अज्ञानदशा में भगवान की भक्ति उछल-उछल कर करता हो, हाथ में करताल लेकर करता हो तो भी क्या! उससे धर्म नहीं होता तथा उसके मन में ऐसा होता हो कि मैं कितने रस से भक्ति करता हूँ यह दूसरे लोग देखें तो सही! ऐसे भाव से स्वयं ही अपने को ठग कर सुखी होता है।

पुनः विशेष ५३ वें पद्य में कहते हैं।

पुनः (दोहा)

तातैं विषै - कषायसौं, फेरि सु मनकी बांनि।
सुद्धातम अनुभौविषै, कीजै अविचल आनि॥ ५३॥

अर्थ - इससे मन की प्रवृत्ति विषय कषाय से हटाकर, उसे शुद्ध आत्म-अनुभव की ओर लाओ और स्थिर करो।

काव्य-५३ पर प्रवचन

ज्ञान आनन्द ऐसा जो आत्मा का अविनाशी - नित्य स्वभाव है, उसका अनुभव करके उसमें स्थिर होओ। इसका नाम अबन्धपरिणाम और मोक्ष का मार्ग है।

www.vitragvani.com

श्रोता : हम साधारण प्राणी ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता नहीं कर सकें तो दूसरा कोई मार्ग तो होगा न? भगवान की भक्ति करते-करते आगे बढ़ा जा सकेगा या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! राग करते-करते आगे बढ़ा जाता है या राग छोड़ते-छोड़ते आगे बढ़ा जाता है? लोगों को सुनने को न मिला हो, इसलिए चोट लगती है कि यह तो सब उत्थापित कर देते हैं।

भले शुभराग हो, वह भी बन्ध का ही कारण है। मोक्षमार्ग में उसकी कुछ मदद नहीं है। ज्ञानी को भी शुभभाव होता है परन्तु वह समझता है कि मेरे स्वभाव की शान्ति को यह भाव मददगार नहीं है, बन्ध का ही कारण है।

इस शास्त्र में भी देखो न! शुभराग को बन्ध का कारण कहा है न? यह शास्त्र कहाँ सोनगढ़ का है? इसके अक्षर-अक्षर मिला लो। स्वर्ण तो डेढ के घर का हो या साहूकार के घर का हो, स्वर्ण की जाति में कोई अन्तर नहीं होता है।

परमात्मा कहते हैं कि पुण्य-पाप के विकल्प की जाति को छोड़ दे और अन्तर में आ! यह न हो, तब तक प्रथम निर्णय तो कर कि विकल्पमात्र छोड़ने योग्य है और अन्तर में जाने योग्य है। अन्तर में आरूढ़ हुए बिना सुख और शान्ति प्रगट नहीं हो सकती। दुनिया तुझे सुख नहीं दे देती। मरने के समय सब छोड़कर चले जाना पड़ेगा। शरीर के सभी रजकण यहीं पड़े रहेंगे। स्त्री, पुत्र रोते रह जाएँगे।

एक रे दिवस ऐवो आवशे जाणे जन्म्यौ नौ तो रे!
सगी रे नारी तारी कामिनी, ऊभि धुसके धुसके रोए रे...

एक दिन ऐसा आयेगा, जरूर आयेगा ही! इसमें अन्तर नहीं पड़ेगा। रोग हो उसे ही मरण आयेगा - ऐसा नहीं है। निरोग लट्ठ जैसा शरीर हो और क्षण में फेरफार हो जाता है। हमने नजरों से देखा है न! शिवा पटेल समिति में भोजन करके आये और श्वाँस चढ़ा, मैंने कहा - क्या हुआ पटेल? तो कहने लगा - अन्त क्रिया! नाभि में से श्वाँस छूट गया। ३६ घण्टे में देह छोड़ दिया। इंजैक्शन दिया परन्तु किस काम का? सबकी देह अवश्य छूटेगी ही; देह तो छूटी हुई चीज ही है, वह कहीं तुझमें आयी नहीं है, तेरी

www.vitragvani.com

हुई नहीं है; एक क्षेत्र में साथ रहती है, वह छूटे तब ऐसा हो जाता है कि हम मर गये! परन्तु तू कहाँ मरा है? तेरे द्वारा एकत्रित किये हुए स्त्री, पुत्रादि रोते रह जाएंगे और सब कहेंगे निकालो... निकालो...।

ऊँचा रे मन्दिर ऊँचा मालिया, सोड़ ताणी ने सूतो,
काढ़ो रे काढ़ो ऐने सोहु कहे, जाणे जन्म्यो नौ तो रे...

'सज्जायमाला' में यह गीत आता है। हम तो दुकान पर बैठे-बैठे फुरसत में हों तो पढ़ते थे। श्वेताम्बर में चार 'सज्जायमाला' आती है। ये चारों ही दुकान में बैठे-बैठे (संवत्) १९६६-६७ में पढ़ी है। एक रजकण भी तेरा नहीं है। भाई! अरे! राग का कण भी तेरा नहीं है। तेरा हो तो वह पृथक कैसे पड़ेगा? रागरहित चीज को अन्तर से देखने पर जो ज्ञान जागृत हुआ, उसे पर से हटाकर स्वरूप में स्थिर कर! यही मोक्ष का उपाय और धर्म है।

आत्मानुभव करने का उपदेश (सवैया इकतीसा)

अलख अमूरति अरूपी अविनासी अज,
निराधार निगम निरंजन निरंध है।
नानारूप भेस धरै भेसकौ न लेस धरै,
चेतन प्रदेस धरै चेतनकौ खंध है॥
मोह धरै मोहीसौ विराजै तोमैं तोहीसौ,
न तोहीसौ न मोहीसौ न रागी निरबंध है।
ऐसौ चिदानंद याही घटमैं निकट तेरे,
ताहि तू विचारु मन और सब धंध है॥ ५४॥

अर्थ - यह आत्मा अलख, अमूर्तीक, अरूपी, नित्य, अजन्मा, निराधार, ज्ञानी निर्विकार और अखण्ड है। अनेक शरीर धारण करता है पर उन शरीरों के किसी अंशरूप नहीं हो जाता; चेतन प्रदेशों को धारण किये हुए चैतन्य का पिण्ड ही है। जब आत्मा, शरीर आदि से मोह करता है, तब मोही हो जाता है और जब अन्य वस्तुओं में राग करता है, तब उनरूप हो जाता है, वास्तव में न शरीररूप है और न अन्य वस्तुओं रूप है, वह बिलकुल

www.vitragvani.com

वीतरागी और कर्मबन्ध से रहित है। हे मन! ऐसा चिदानन्द इसी घट में तेरे निकट है, उसका तू विचार कर, उसके सिवाय और सब जंजाल है।

काव्य-५४ पर प्रवचन

आत्मा कैसा है ? — अलख है। **अलख** अर्थात् इन्द्रियों से कहा जाए - ऐसा नहीं है। पुण्य का परिणाम और इन्द्रियों से आत्मा ज्ञात नहीं होता, इसलिए आत्मा अलख है। श्रीमद् ने भी 'अलख देदार देख्या...' ऐसी लाईन लिखी है। आत्मा इन्द्रियों से, राग से, या व्यवहार से ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। वह तो उसके ही - आत्मा के ही निर्मल अंश द्वारा ज्ञात होने योग्य है।

तत्त्वज्ञान तरंगिणी में दृष्टान्त दिया है कि लकड़ी के द्वारा शरीर का स्पर्श करो तो शरीर ठण्डा है या गरम यह ज्ञात नहीं होता, क्योंकि लकड़ी अलग वस्तु है तथा बड़े हुए नाखून से भी शरीर की ठण्डा-गरम अवस्था ज्ञात नहीं होती परन्तु हाथ लगाओ तो तुरन्त ज्ञात होगी, क्योंकि वह उसका अवयव है। इसी प्रकार आत्मा को जानने के लिए शरीर-वाणी तो लकड़ी की तरह भिन्न है, शुभाशुभ विकल्प बड़े हुए नाखून की तरह है, उनसे भी आत्मा ज्ञात नहीं होता; आत्मा एक अपने रागरहित ज्ञान के अंश द्वारा ज्ञात होगा क्योंकि वह उसका अवयव है।

सोनगढ़ ने यह नया धर्म निकाला है - ऐसा सम्प्रदायवालों को लगता है परन्तु सोनगढ़ ने कुछ नया नहीं निकाला है, यह तो अनादि का धर्म है। वीतराग का अनादि का यह मार्ग है, नया नहीं है भगवान! बिल्ली के बच्चे को आँख खुले, तब दुनिया दिखती है कि अरे, यह जगत है! परन्तु जगत तो पहले भी था, इसी तरह आत्मा का स्वभाव तो अनादि का है। तुझे ज्ञात हो, तब तुझे ख्याल में आयेगा परन्तु आत्मा तो अलख अनादि का है।

अमूर्तिक अर्थात् आत्मा में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं - ऐसा अमूर्तिक है। अलख तो परमाणु को भी कहा जाता है क्योंकि परमाणु भी इन्द्रिय या राग का विषय नहीं है परन्तु परमाणु अमूर्तिक नहीं, मूर्तिक है और आत्मा अमूर्तिक है। जब तक जीव को कर्म के साथ सम्बन्ध है, तब तक जीव को मूर्तिक कहा जाता है परन्तु जीव स्वयं मूर्तिक नहीं है।

www.vitragvani.com

अरूपी चीज है, उसे रूप कैसा ? अरूपी को रूप नहीं होने पर भी वह वस्तु है। रूप नहीं है, इसलिए वस्तु ही नहीं है – ऐसा नहीं है। चैतन्यघन — आनन्दघन आत्मा अविनाशी वस्तु है। उसकी दृष्टि कर, उसका ज्ञान कर और उसमें रमणता कर! यह करने योग्य है।

अज.... आत्मा को जन्म नहीं है, इसलिए वह अजन्म है। अनादि-अनन्त वस्तु का जन्म कैसा ? आत्मा में पर्याय होती है, उसे उत्पाद अथवा जन्म कहो तो कहो परन्तु वस्तु का जन्म नहीं होता, वस्तु तो त्रिकाल है। समन्तभद्रस्वामी कहते हैं न! प्रभु, एक समय में उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों को जानते हैं, इसलिए सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञ के अतिरिक्त एक समय में तीन को कोई जान नहीं सकता। समय अर्थात् कितना ? कि 'क' बोलो उसमें तो असंख्य समय चले जाते हैं – ऐसे सूक्ष्म समय में भगवान उत्पाद-व्यय-ध्रुव को जान लेते हैं, यह सर्वज्ञ का लक्षण है। पूर्णज्ञान ऐसे सर्वज्ञ के अतिरिक्त नहीं हो सकता, ऐसा विश्वास में आना चाहिए। ऐसा का ऐसा भगवान को मान ले, उसने भगवान को पहचाना नहीं है। भगवान का स्वरूप अपने भावभासन में आना चाहिए।

निराधार.... आत्मा को किसी का आधार नहीं है, इसलिए आत्मा निराधार है। अनादि-अनन्त वस्तु निरालम्बी है। आत्मा, शरीर या कर्म के आधार से भी नहीं रहा है। आत्मा जहाँ-जहाँ है, वहाँ निराधार और निजाधार रहा है अर्थात् पर के आधार बिना, अपने आधार से रहा है। प्रत्येक आत्मा की जाति ही ऐसी है कि वह स्वयं के आधार से ही रहता है।

आत्मा **निगम** अर्थात् ज्ञानी, ज्ञानस्वरूप है। अगम – निगम की बात कहलाती है न! उसमें अगम अर्थात् इन्द्रियों से गम्य न हो ऐसा। निगम अर्थात् ज्ञानस्वरूपी है – ऐसे आत्मा की बात कहलाती है। आत्मा **निरंजन** अर्थात् निर्विकार है, आत्मा को राग-द्वेष का मेल नहीं है – ऐसा आत्मा इस देहघट में विराजमान प्रभु तू स्वयं है परन्तु तुझे तेरा पता नहीं है और दुनिया की खबर लेने निकला है। 'घर के लड़के चक्की चाटे और पड़ोसी को आटा' उसके जैसी तेरी दशा हो रही है। दुनिया के बातें करने बैठे तो खत्म नहीं हो इतनी बात करे, मानो चतुरवान का पुत्र स्वयं ही हो।

निरंध अर्थात् आत्मा अखण्ड एक है, दोपने नहीं। पर के साथ आत्मा का कुछ

www.vitragvani.com

सम्बन्ध नहीं है। पहले ४५ वें श्लोक में आ गया है कि अरे जगवासी प्राणी! तुझे इस जगत के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। लोग भले ही बातें करें कि 'सौ हाथीवाले को भी कभी एक हाथीवाले की आवश्यकता पड़ती है;' 'अकेला व्यक्ति सुशोभित नहीं होता...' इत्यादि... परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा अकेला ही शोभित होता है। स्त्री, पुत्र, परिवारादिक से उसकी शोभा नहीं है। आत्मा को पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का राज आत्मा में है, बाहर में नहीं। आत्मा अनेक शरीर के भेष धारण करता होने पर भी किसी शरीररूप नहीं हो जाता। चैतन्य प्रदेश में ही सदा बसनेवाला आत्मा अन्य किसी मकान में नहीं बसता। शरीर, वाणी, मन में भी नहीं बसता और राग-द्वेष में भी आत्मा नहीं बसता। चैतन्य पिण्ड आत्मा अपनी चेतना में बसता है अर्थात् अपने असंख्य प्रदेश में बसता है। अन्यमती आत्मा को प्रदेश नहीं मानते, वे तो सर्व व्यापक अथवा दूसरे प्रकार से मानते हैं। उसका निषेध करने के लिए यहाँ आत्मा को असंख्य प्रदेशी सिद्ध किया है। **चेतनकौ खंध** अर्थात् चेतन का पिण्ड है। परमाणु दो से अधिक इकट्ठे होकर स्कन्ध होता है - ऐसा आत्मा स्कन्ध नहीं है।

आत्मा भले अरूपी हो परन्तु पदार्थ है न, अस्ति है न, अविनाशी वस्तु है। वह जब शरीरादिक में मोह करता है, तब मोही हो जाता है और पर में राग करता है, तब रागी हो जाता है। मोह के कारण वह ऐसा मानता है कि मैं रागी, द्वेषी और मोही हूँ परन्तु आत्मा उस स्वरूप नहीं है।

न तोहीसौ न मोहीसौ न रागी निरबंध है - वस्तु स्वयं वीतरागस्वरूप है। यदि वीतरागस्वरूप न हो तो वीतरागी पर्याय कहाँ से आयेगी? आत्मा निर्ग्रन्थस्वरूप है। कर्म के बन्धरहित वस्तु है। तेरा स्वरूप तुझसे एक समय भी दूर नहीं है, तू स्वयं है। अतीन्द्रिय आनन्द की प्रभुता का पिण्ड तू स्वयं ही है। **ताहि तू विचारु मन....** अरे मन! तू इस वस्तु का ध्यान कर न! दूसरी सब जंजाल छोड़ दे।

अब, समयसार नाटक के बन्ध द्वार में ५५ वें पद्य में आत्मा अनुभव करने की विधि बतलाते हैं। (यह विधि वीरजीभाई वकील को बहुत प्रिय थी...)। बन्ध से भिन्न पड़ने की कला बताते हैं।

www.vitragvani.com

आत्मानुभव करने की विधि (सवैया इकतीसा)

प्रथम सुद्रिष्टिसौं सरीररूप कीजै भिन्न,
तामैं और सूच्छम सरीर भिन्न मानिये।
अष्टकर्म भावकी उपाधि सोऊ कीजै भिन्न,
ताहूमैं सुबुद्धिकौ विलास भिन्न जानिये॥
तामैं प्रभु चेतन विराजत अखंडरूप,
वहै श्रुतग्यानके प्रवांन उर आनिये।
वाहीकौ विचार करि वाहीमैं मगन हूजै,
वाकौ पद साधिबेकौं ऐसी विधि ठानिये॥ ५५॥

अर्थ – पहले भेदविज्ञान से स्थूल शरीर को आत्मा से भिन्न मानना चाहिए, फिर उस स्थूल शरीर में तैजस, कार्मण सूक्ष्म शरीर हैं, उन्हें भिन्न जानना चाहिए। पश्चात् अष्ट कर्म की उपाधिजनित राग-द्वेषों को भिन्न करना और फिर भेदविज्ञान को भी भिन्न मानना चाहिए। उस भेदविज्ञान में अखण्ड आत्मा विराजमान है, उसे श्रुतज्ञानप्रमाण वा नय-निक्षेप आदि से निश्चित करके उसी का विचार करना और उसी में लीन होना चाहिए। मोक्षपद पाने की निरन्तर ऐसी ही रीति है।

काव्य-५५ पर प्रवचन

धर्म करने की और सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की यह विधि है। आत्मा को पर से भिन्न करके स्वसन्मुख होने की विधि की यह बात है।

प्रथम सुद्रिष्टिसौं... प्रथम तो इन औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों से आत्मा भिन्न है – ऐसा निर्णय करना। पश्चात् तैजस और कार्माण जो सूक्ष्म शरीर हैं, उनसे आत्मा को भिन्न जानना – यह भगवान को प्राप्त करने की विधि है। व्रत पालन करना और तप करना, यह विधि नहीं है क्योंकि यह तो पर की ओर के विकल्प हैं। आठ कर्मों के निमित्त से होनेवाले भावों से भी मैं आत्मा भिन्न हूँ। प्रथम स्थूल शरीर से, फिर द्रव्यकर्म से और तत्पश्चात् भावकर्म से भेदज्ञान करना, यह आत्मानुभव की विधि है।

www.vitragvani.com

इसमें कितनी धीरज चाहिए! जहाँ वस्तु है, वहाँ नजर करना और पर से भिन्न पड़कर निजवस्तु को ग्रहण करना, शुभाशुभविकल्प उत्पन्न होते हैं, उनसे भी मेरा स्वरूप पृथक् है – ऐसा अन्तर में विचार करना।

राग है वह मैं नहीं हूँ; मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ – ऐसा जो भेदज्ञान का विकल्प उत्पन्न होता है, उससे भी आत्मा को भिन्न जानना। कर्म की उपाधिरूप भावकर्म से तो भेदज्ञान कराया परन्तु एक सूक्ष्म भावकर्म है – 'भेदज्ञान का विकल्प' उससे भी मैं पृथक् हूँ क्योंकि विकल्प से आत्मा का अनुभव नहीं होता; विकल्प से पृथक् पड़ने पर ही आत्मा का अनुभव होता है। व्यवहार को साधन कहा है, हेतु कहा है, कारण कहा है, यह सब कहने की बातें हैं।

श्रुतज्ञान प्रमाण से आत्मा को पकड़ना। यह अपना माल कैसे पकड़ में आये – उसकी विधि कही जाती है। हलुआ बनाना हो तो प्रथम विधि जानते हैं न? इसी प्रकार आत्मा की शान्ति के लिए अनुभव का कार्य करना हो, उसे यह विधि अपनाना चाहिए – ऐसा कहते हैं। अन्तर में चैतन्य प्रभु अखण्ड स्वरूप से विराजमान है, उसे भाव ज्ञान–श्रुतप्रमाण द्वारा पकड़ना, उसके सन्मुख का विचार करके उसमें ही मग्न हो जाना चाहिए। अखण्डानन्द चैतन्यस्वरूप को ज्ञान में ग्रहण करके उसमें ही लीन हो जाना, वह धर्म प्राप्त करने की विधि है। बहुत संक्षिप्त शब्दों में भी गहरे भाव हैं।

श्रोता : संक्षिप्त विधि में कुछ समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें लम्बा कुछ होता ही नहीं। शरीर और कर्म से अपने को भिन्न जानकर, विकल्प से भी भिन्न करना, यह संक्षिप्त में संक्षिप्त विधि है। जिसे आत्मा की शान्ति चाहिए हो, उसे यह करने से ही छुटकारा है। स्वयं अपना गुरु होकर स्वयं को समझाये और स्वयं समझे, तब बाह्य के गुरु को 'गुरु' कहा जाता है। गुरु या भगवान के सन्मुख देखकर आत्मा प्राप्त नहीं होता है।

भाई! तेरा कार्य तो तुझसे होता है न! विकल्प तो पर है, इसके द्वारा तेरा कार्य सिद्ध नहीं होता। सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ के पन्थ में धर्म प्राप्त करने की यह विधि है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ'। रे! जगवासी जीव! जगत् से तुझे क्या काम है?

www.vitragvani.com

परद्रव्य के साथ तेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। दुनिया प्रशंसा या निन्दा करे उसके साथ तेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। तेरे घट में तेरा सब कुछ है।

आत्मानुभव से कर्मबन्ध नहीं होता (चौपाई)

इहि विधि वस्तु व्यवस्था जानै।
रागादिक निजरूप न मानै॥
तातैं ग्यानवंत जगमांही।
करम बंधकौ करता नांही॥ ५६॥

अर्थ – संसार में सम्यग्दृष्टि जीव ऊपर कहे अनुसार आत्मा का स्वरूप जानता है और राग-द्वेष आदि को अपना स्वरूप नहीं मानता, इससे वह कर्मबन्ध करता नहीं है।

काव्य-५६ पर प्रवचन

ज्ञानी, राग-द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानते हैं। धर्मी तो अपने ज्ञानानन्द को ही अपना स्वरूप मानते हैं; इसलिए धर्मी को कर्म का बन्ध नहीं होता है। बन्धभाव न हो, वहाँ बन्ध भी कहाँ से होगा?

अब, आचार्यदेव के १६ वें कलश पर बनारसीदासजी ५७ वाँ पद्य कहते हैं।

भेदज्ञानी की क्रिया (सवैया इकतीसा)

ग्यानी भेदग्यानसौं विलेछि पुदगल कर्म,
आतमीक धर्मसौं निरालौ करि मानतौ।
ताकौ मूल कारन असुद्ध रागभाव ताके,
नासिबेकौं सुद्ध अनुभौ अभ्यास ठानतौ॥
याही अनुक्रम पररूप सनबंध त्यागि,
आपमांहि अपनौ सुभाव गहि आनतौ।
साधि सिवचाल निरबंध होत तिहूं काल,
केवल विलोक पाइ लोकालोक जानतौ॥ ५७॥

अर्थ – ज्ञानी जीव भेदविज्ञान के प्रभाव से पुद्गलकर्म को जुदा जानता है और आत्मस्वभाव से भिन्न मानता है। उन पुद्गल कर्मों के मूलकारण राग-द्वेष-मोह आदि

www.vitragvani.com

विभाव हैं, उन्हें नष्ट करने के लिये शुद्ध अनुभव का अभ्यास करता है और ५४ वें कवित्त में कही हुई रीति से पररूप तथा आत्मस्वभाव से भिन्न बन्ध पद्धति को हटाकर अपने ही में अपने ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करता है। इस प्रकार वह सदैव मोक्षमार्ग का साधन करके बन्धनरहित होता है और केवलज्ञान प्राप्त करके लोकालोक का ज्ञायक होता है।

काव्य-५७ पर प्रवचन

ज्ञानी को भेदविज्ञान होने से वह 'मेरे ज्ञायकस्वभाव से रागादि का भाव अत्यन्त भिन्न है' – ऐसा जानता है। व्यवहार के विकल्प हैं, वह भी मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिए अनात्मा है – ऐसा जानता है।

भाई! धीरज से अन्तर्मुख हुए बिना वस्तु प्राप्त नहीं होती – ऐसी चीज है। उसे बाहर से ढूँढ़ने जाए तो कहाँ से मिलेगी?

कर्मबन्ध का मूल कारण अशुद्धभाव है। अशुद्धभाव में प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों भाव आ जाते हैं, उनका नाश करने के लिए ज्ञानी शुद्ध अनुभव का अभ्यास करता है। बन्धभाव और स्वभाव दोनों भिन्न हैं, इस कारण स्वभाव में आरूढ़ होने से बन्धभाव छूट जाता है। **सुभाव गहि आनतौ** – अपने ज्ञानस्वभाव को ग्रहण करता है और बन्धपद्धति से छूट जाता है।

इसमें कितनी धीरज चाहिए! उतावल करने से आम पके – ऐसा नहीं है। चक्रवर्ती की बात अलग है : सवेरे गेहूँ और आम बोये और दस बजे तो तैयार हो जाता है। चक्रवर्ती वह आम और रोटी भोजन में प्रयोग करता है। भरत चक्रवर्ती सात दिन तक म्लेच्छों के देश में रहे थे, सातों ही दिन बहुत वर्षा हुई, फिर भी चक्रवर्ती के लिए ऐसा भोजन वहाँ भी तैयार हो जाता था। अब चक्रवर्ती को पुण्य की ऐसी सामग्री होती है तो आत्मा में तो पवित्रता की सामग्री है! चक्रवर्ती को तो सबेरे बोया हुआ अनाज दोपहर में मिलता है, जबकि आत्मा में एकाग्र हो, उसे उसी क्षण अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है।

इस प्रकार हमेशा मोक्षमार्ग को साधता हुआ ज्ञानी तीनों ही काल के लिए बन्धरहित होता है। आत्मा द्रव्यस्वभाव से तो बन्धरहित ही था परन्तु कर्म का सम्बन्ध पर्याय में था,

www.vitragvani.com

वह भी छूट गया। अन्तर्मुख दृष्टि से मोक्ष के मार्ग में आया, वहाँ सदैव बन्धन से रहित हुआ, यह धर्मी की क्रिया है।

आहा...! प्रतिक्षण देह, मृत्यु की समीप जा रही है। अन्तर में एकाग्र हुए बिना आत्मा को देह से भिन्नपना नहीं हो सकता है।

धर्मी, मोक्ष के मार्ग में चलता हुआ राग से भिन्न प्रवर्तता हुआ – **निरबंध होत तिहूं काल** – केवलज्ञान प्राप्त करके लोकालोक का ज्ञायक हो जाता है। पूर्णदशा को प्राप्त होता है। लोगों को ज्ञान की पर्याय का माहात्म्य बतलाने के लिए लोकालोक को जानता है – ऐसा कहा है, वरना पर्याय पूर्ण होती है, वहाँ कुछ बाकी नहीं रहता। ज्ञान भी पूरा और आनन्द भी पूरा, उसमें अपने द्रव्य-गुण-पर्यायसहित पूरा विश्व ज्ञात हो जाता है।

लो, यह बन्धरहित होने की कला और बन्धरहित होने पर कैसी दशा होती है – यह बतलाया है। अब इस अधिकार का अन्तिम कलश **रागादीनामुदयमदयं...** आचार्यदेव कहते हैं उसमें अट्ठावनवें पद्य द्वारा बनारसीदासजी भेदज्ञानी का पराक्रम बतलाते हैं।

भेदज्ञानी का पराक्रम (सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान,
खोदि मूल वृच्छकौ उखारै गहि बाहूसौं।
तैसैं मतिमान दर्वकर्म भावकर्म त्यागि,
ह्वै रहै अतीत मति ग्यानकी दशाहूसौं॥
याही क्रिया अनुसार मिटै मोह अंधकार,
जगै जोति केवल प्रधान सविताहूसौं।
चुकै न सकतीसौं लुकै न पुदगल मांहि,
धुकै मोख थलकौं रुकै न फिर काहूसौं॥ ५८॥

अर्थ – जिस प्रकार कोई अजान महाबलवान मनुष्य अपने बाहुबल से किसी वृक्ष को जड़ से उखाड़ डालता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानी मनुष्य ज्ञान की शक्ति से द्रव्यकर्म और भावकर्म को हटाकर हलके हो जाते हैं। इस रीति से मोह अन्धकार नष्ट हो जाता है और सूर्य से भी श्रेष्ठ केवलज्ञान की ज्योति जागती है, फिर कर्म, नोकर्म से नहीं छिप

www.vitragvani.com

सकने योग्य अनन्त शक्ति प्रगट होती है, जिससे वह सीधा मोक्ष को जाता है और किसी का रोका नहीं रुकता।

काव्य-५८ पर प्रवचन

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बाहुबल से वृक्ष को उसके मूलसहित उखाड़ देता है – ऐसा पराक्रमी मनुष्य भी होता है न! ७०-७२ वर्ष पहले की बात है। मेरा उम्र छोटी थी परन्तु ठीक से याद है कि घर में बहुत पुराना एक बड़ा नीम का वृक्ष था। एक दिन एक धाँची घर में किसी काम के लिए आया, उसने नीम को हाथ लगाया तो पूरा नीम धड़ में से हिल गया, टूटने की तैयारीवाला था तो मूल से हिल गया। इसी प्रकार ज्ञानी एक बार जहाँ अपने पुरुषार्थ से स्वरूप में एकाग्र होता है, वहाँ कर्म का वृक्ष मूल से उखड़ जाता है। जैसे नीम कड़वा होता है, वैसे ही यह कर्म का वृक्ष भी विषवृक्ष ही है न! उसे मतिमान-ज्ञानी उखाड़ फेंक देते हैं और चैतन्य प्रभु को मूल में से पकड़ लेते हैं।

मतिमान अर्थात् ज्ञानी; ज्ञान की शक्ति से द्रव्यकर्म और भावकर्म को दूर करके हलके फुलके हो जाते हैं। इस प्रकार भेदज्ञान के पराक्रम से राग से भिन्न पड़कर, स्वरूप की क्रिया करते हुए मोह का अन्धकार मिट जाता है और केवलज्ञान की ज्योति जगमगाने लगती है। अन्तर में आनन्द की क्रिया से मोह का नाश होता है और जैसे सूर्य प्रकाशित होता है, वैसे सूर्य से भी श्रेष्ठ ऐसे केवलज्ञान की ज्योति प्रकाशित होती है।

बनारसीदासजी को भी अन्दर में कितना प्रमोद है!

देखो, यह भेदविज्ञान का पराक्रम प्रगट करना, वह करने योग्य एकमात्र कार्य है, बाकी किसी को समझाना आवे या न आवे, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। शास्त्र का ज्ञान तो परलक्ष्यी ज्ञान है, वह कहीं मूल वस्तु का स्वभाव नहीं है। अन्दर में पर से भिन्न पड़कर विज्ञान प्रगट करना ही ज्ञान है। उसके फल में शान्ति और आनन्द प्रगट होते हैं।

जंगल में सिंह होता है, वह सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे कहाँ दूसरे को समझाना आता है! अन्तरसन्मुख होकर ध्रुव पर थाप मारकर मोह का नाश करता है। उसे केवल सूर्य का प्रकाश जगमगा उठता है। केवलज्ञान भी कैसा! उसे धारण करनेवाले केवली तीन

www.vitragvani.com

काल-तीन लोक को भलीभाँति जानते हैं परन्तु किसी का कुछ करते नहीं। किसी का साथ लेते नहीं, किसी का तोड़ते नहीं या किसी का ग्रहण नहीं करते; मात्र सबको जानते हैं।

अध्यात्म की बात अन्तर में नहीं बैठती, इसलिए फिर जीव दूसरे रास्ते चढ़ जाते हैं। दूसरों को समझाऊँगा तो अपने को लाभ होगा - ऐसा मानकर समझाने में दौड़ जाते हैं। शास्त्र की रचना करे... उससे ज्ञान होगा - ऐसा मानते हैं परन्तु वह ज्ञान का उपाय नहीं है। इस प्रकार एकाग्र होने पर ज्ञानशक्ति प्रगट होती है, फिर वह अब अपनी ज्ञान और आनन्दशक्ति से चूकता नहीं है; इसलिए सीधा मोक्ष में चला जाता है, किसी से रुकता नहीं है।

बरसो - वर्ष चतुर्मास में ऐसे ऊपर आकाश में देखे कि वर्षा कब आयेगी ? कितनी आयेगी ? इसी प्रकार यदि एक बार आत्मा में एकाग्र होकर देखे कि केवलज्ञान कब आयेगा ? तो भव भ्रमण का दु:ख मिट जाएगा। वर्षा के दृष्टान्त में तो वर्षा अधिक आवे तो अरुचिकर लगती है, अपनी व्यवस्था में अव्यवस्था पड़े तो भी अरुचि लगती है। होंशवाला होकर बैठा है, उससे अधिक उकता जाता है। एक बार अन्दर में देख तो आनन्द की अविरल धारा बहेगी, तू सुखी हो जाएगा, आनन्दित हो जाएगा, तेरे मोक्ष को कोई रोक नहीं सकेगा - ऐसे तेरे आनन्द के अनुभव की क्या बात करना ! जिसकी बात सुनने से भी प्रमोद आवे - ऐसे अनुभव के आनन्द का क्या कहना !! करने योग्य हो तो यह कार्य है, बाकी सब भटककर मरने के रास्ते हैं।

बाहर में इज्जत बढ़ गयी हो, बड़ा महन्त कहलाता हो, आशुकवि हो, उससे तुझे क्या लाभ है ? तू तो अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर ले - ऐसा शीघ्र केवली हो तो तुझे लाभ है।

अब, आठवें अधिकार का सार

यद्यपि सिद्धालय में अनन्त कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं तो भी सिद्ध भगवान को कर्मबन्ध नहीं होता; अरहन्त भगवान योगसहित होने पर अबन्ध रहते हैं; प्रमत्तरहित हिंसा हो जाने पर मुनियों को बन्ध नहीं होता; सम्यग्दृष्टि जीव असंयमी होने पर भी बन्ध से

www.vitragvani.com

रहित हैं। इससे स्पष्ट है कि कार्मणवर्गणाओं, योग, हिंसा और असंयम से बन्ध नहीं होता, केवल शुभ-अशुभ अशुद्धोपयोग ही बन्ध का कारण है। अशुद्ध उपयोग राग-द्वेष-मोहरूप है, और राग-द्वेष-मोह का अभाव सम्यग्दर्शन है, अत: बन्ध का अभाव करने के लिये सम्यग्दर्शन ही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष - चारों पुरुषार्थों का दाता है। यह सम्यग्दर्शन विपरीत अभिनिवेशरहित होता है। मैंने किया, मेरा है, मैं चाहूँ सो करूँगा, यह मिथ्याभाव सम्यग्दर्शन में नहीं होता, इसमें शरीर-धन-कुटुम्ब व विषय-भोग से विरक्तभाव रहते हैं और चंचल चित्त को विश्राम मिलता है। सम्यग्दर्शन जगने पर व्यवहार की तल्लीनता नहीं रहती, निश्चयनय के विषयभूत निर्विकल्प और निरुपाधि आत्माराम का स्वरूप-चिन्तवन होता है, और मिथ्यात्व के आधीन होकर संसारी आत्मा जो अनादि काल से कोल्हू के बैल के समान संसार में चक्कर काट रहा था, उसे विलक्षण शान्ति मिलती है। सम्यग्ज्ञानियों को अपना ईश्वर अपने ही में दिखता है और बन्ध के कारणों का अभाव होने से उन्हें परमेश्वर पद प्राप्त होता है।

सार पर प्रवचन

यद्यपि सिद्धालय में अनन्त कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं तो भी सिद्ध भगवान को कर्म का बन्ध नहीं होता क्योंकि कर्म की वर्गणा कहीं बन्ध का कारण नहीं है। जहाँ सिद्ध भगवान विराजमान हैं, वहाँ उसी क्षेत्र में अनन्त निगोद के जीव भी हैं परन्तु एक-दूसरे को कोई सम्बन्ध नहीं है। सिद्ध भगवान, अनन्त आनन्द का अनुभव करते हैं तो निगोद का जीव अनन्त दु:ख का अनुभव करता है और वहीं रही हुई कर्मवर्गणायें को पुद्गल हैं। सभी द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायरूप से परिणमित होते हैं। एक क्षेत्र में रहने से कहीं कर्मवर्गणा बन्ध का कारण नहीं हो जाती है।

अरहन्तभगवान योगसहित होने पर भी अबन्ध रहते हैं, इसलिए योग भी बन्ध का कारण नहीं है तथा परजीव की हिंसा भी मारने के अभिप्राय के बिना और प्रमाद के बिना हिंसा का कारण नहीं होती। मुनिराज सावधानरूप से चले जा रहे हों और अचानक कोई जीव पैर के नीचे आकर दब जाये तो मुनिराज को हिंसा का दोष नहीं लगता। यदि पर की हिंसा से ही बन्ध होता हो तो मुनि को भी बन्ध होना चाहिए।

www.vitragvani.com

सम्यग्दृष्टि जीव असंयमी होने पर भी उन्हें बन्ध नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि कार्मणवर्गणाएँ, योग, हिंसा, और असंयम से बन्ध नहीं होता है।

आत्मा के अनुभव के बिना केवल शब्दों के ज्ञान से, प्रश्न के उत्तर देना आ जाने से या किसी के द्वारा अपने ज्ञान की महिमा होने से अपने को ज्ञान होना मानकर 'मैं भी अबन्ध हूँ' – ऐसा मान लेने से अबन्ध नहीं हुआ जाता है। जिस ज्ञान के साथ अतीन्द्रिय आनन्द आता है, वही ज्ञान, बन्ध का कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि तो अपने को सम्पूर्ण जगत से भिन्न अनुभव करता है। असंयतभाव और अव्रतभाव से भी जिसकी दृष्टि उठ गयी है, उसे बन्ध नहीं होता है।

असंयतभाव दु:खरूप है, आत्मा आनन्दरूप है – जिसे ऐसे आनन्द की दशा प्रगट हुई है, वह तो अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेता है और उसे असंयमभाव से बन्ध नहीं होता है परन्तु जिसे अभी अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद नहीं आया, वर्तमान में अनुभव नहीं है और 'मुझे बन्ध नहीं है' – ऐसा कहता हो तो वह मिथ्या है। जब तक पर में एकत्वबुद्धि है, तब तक बन्ध होता ही है। जिसे एकताबुद्धि छूटती है, उसे बन्ध नहीं होता है।

केवल शुभ-अशुभ अशुद्धोपयोग ही बन्ध का कारण है, क्योंकि उसने शुभ-अशुभ परिणाम को अपने चैतन्य पुञ्ज के साथ एकत्व किया है। अपने ज्ञानानन्द उपयोग में उसने राग को मिलाया है। उपयोगभूमि में अशुद्धता को लाया है, वही बन्ध का कारण है। समझ में आया?

अशुद्ध उपयोग राग, द्वेष, मोहरूप है और राग-द्वेष-मोह का अभाव सम्यग्दर्शन है; इसलिए बन्ध का अभाव करने के लिए सम्यग्दर्शन की सम्हाल करनी चाहिए। श्रद्धा, ज्ञान का सम्यक्रूप से परिणमना – ऐसा जो सम्यग्दर्शन है, वह मोह, राग, द्वेष से रहित है। मोह में पर में सावधानी है, वह मिथ्यादर्शन है। अन्तर्मुख होने पर राग के विकल्प से भी भिन्न पड़ जाता है; इसलिए ज्ञानी को राग नहीं है। राग से भिन्न पड़े हुए भाव के कारण ज्ञानी को राग नहीं है। हमारे राग नहीं है – ऐसा बोलनेमात्र से रागरहित नहीं हो जाता है।

आत्मा, आत्मा के गुण और आत्मा की सम्यग्दर्शन पर्याय – तीनों ही राग-द्वेष-

www.vitragvani.com

मोह से रहित है। यदि राग से रहित न हो तो वह सम्यग्दर्शन नहीं है। 'मैं राग से सहित हूँ' – ऐसी दृष्टि तो मिथ्यादर्शन है। इसलिए मोह का अभाव करने के लिए स्वरूप का दर्शन, स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप में स्थिरता करना, वह सम्हाल है। बाह्य क्रिया की सम्हाल रखना, वह सम्हाल नहीं है।

प्रथम यह करना है। बन्ध का अभाव करने के लिए सम्यग्दर्शन की सम्हाल करनी चाहिए। उसमें प्रमाद करना उचित नहीं है। प्रमाद हो वह अलग बात है परन्तु प्रमाद को अपने स्वरूप में मिलाकर अकेले प्रमादमय आत्मा को मानना, वह मिथ्यात्व है। वर्तमान पर्याय अन्तर्मुख होती है, तब राग / बहिर्मुख वृत्ति भिन्न रह जाती है। सम्यग्दर्शन ही धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष – इन चारों ही पुरुषार्थ का दाता है। धर्म अर्थात् पुण्य अर्थात् शुभ अर्थात् भला – ऐसा मोक्षमार्ग सम्यक्त्व में ही है। धर्म यह वस्तु का स्वभाव; अर्थ अर्थात् द्रव्य; काम अर्थात् निस्पृहता और मोक्ष यह चारों ही अपने में हैं।

पुण्य–पाप अधिकार में मोक्षमार्ग को शुभ कहा है। वहाँ शुद्ध के अर्थ में शुभ अर्थात् भला कहा है। सम्यग्दर्शन ही आत्मस्वभाव है, सम्यग्दर्शन ही आत्मद्रव्य है, सम्यग्दर्शन ही निस्पृहता है, और सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का कारण है। इस प्रकार चारों ही पुरुषार्थ सम्यग्दर्शन में समाहित हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन विपरीत अभिप्राय से रहित होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात् राग और विकल्प से पृथक् पड़ी हुई आत्मा की पवित्रदशा, कि जिसमें आत्मा के अनुभवसहित उसकी प्रतीति होती है और समस्त विपरीत अभिप्राय मिट जाते हैं।

सुख आत्मा में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं। शुभाशुभभाव में या किसी भी बाह्य संयोग में – इज्जत, कीर्ति आदि में सुख नहीं है। धर्मी को सम्यग्दर्शन में ऐसा आनन्द भासित होता है कि अन्यत्र कहीं ऐसा आनन्द दिखाई नहीं देता।

मैंने किया, मेरा है, मैं चाहूँगा वह करूँगा – ऐसे मिथ्याभाव, सम्यग्दर्शन में नहीं होते। ये सभी विपरीत अभिनिवेश हैं, सम्यग्दर्शन उनसे रहित होता है। शरीर, धन, परिवार अथवा विषयभोगों से विरक्तभाव रहता है। रागादिक में रक्तभाव, वह मिथ्यात्व है, उसका सम्यग्दर्शन में अभाव है। विषयभोग में यह भोग मुझे ठीक लगते हैं

www.vitragvani.com

– ऐसा अभिप्राय और यह मेरा शरीर तथा कुटुम्बीजन भी मेरे हैं – ऐसे अभिप्राय से सम्यग्दृष्टि विरक्त हैं।

मैं कुछ करूँ, कुछ कराऊँ... इत्यादि द्वारा चित्त चंचल होता है परन्तु धर्मी को ऐसी बुद्धि नहीं होने से चंचल चित्त को विश्राम मिलता है। जो अपना है, उसमें स्थिर होता है, इसलिए बाहर में कहीं स्थिरता योग्य नहीं लगता है।

सम्यग्दर्शन जागृत होने पर व्यवहार की तल्लीनता नहीं रहती है। राग में एकता तो मिथ्यात्व है और राग की एकत्वबुद्धिरहित आत्मा का अनुभव, वह सम्यग्दर्शन है। निश्चयनय के विषयभूत निर्विकल्प और निरुपाधि आत्माराम का स्वरूप चिन्तवन होता है। चिन्तवन अर्थात् एकाग्रता। धर्मी को अन्तरस्वरूप में एकाग्रता होती है, राग में एकाग्रता नहीं होती तो शरीर, इन्द्रिय और इज्जत – कीर्ति आदि तो जड़ है, उनकी एकता और आकाँक्षा धर्मी को कहाँ से होगी ?

शुभाशुभभाव, शरीर, कर्म, संयोग, आदि को अपना मानना मिथ्यात्व है। उस मिथ्यात्व के आधीन होकर संसारी आत्मा अनादि काल से घानी के बैल की तरह संसार की चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा था। कभी कुत्ते का भव तो कभी चींटी का भव तो कभी कौअे का भव, इस प्रकार भव... भव में भटकता था। उसे अब समयग्दर्शन होने पर विलक्षण शान्ति मिलती है। कषाय की अशान्ति मिटकर अकषाय शान्ति का अनुभव होता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव हुआ है, इतनी शान्ति धर्मी की निरन्तर वर्तती है।

सम्यग्ज्ञानियों को अपना ईश्वर अपने में ही दिखता है। पूर्व में आ गया था कि अज्ञानी कोई तो मूर्ति बनाकर उसको प्रणाम करते हैं परन्तु वहाँ भगवान कहाँ है ? शुभभाव में स्थापना निक्षेप पर लक्ष्य जाये परन्तु वास्तविक ईश्वर तो तन मन्दिर में है, उसे ज्ञानियों ने देख लिया है। ऐसे निज शुद्धात्मा का भान होने से ज्ञानियों को बन्ध के कारणों का अभाव होने से उन्हें परमेश्वर पद प्राप्त होता है। अबन्धपरिणाम की उत्कृष्टदशा परमेश्वरपना है, वह उन्हें प्राप्त होता है। यह बन्ध अधिकार का सार है। यह अधिकार पूरा हुआ। अब मोक्षद्वार कहेंगे।

९ मोक्ष द्वार

प्रतिज्ञा (दोहा)

बंधद्वार पूरौ भयौ, जो दुख दोष निदान।
अब बरनौं संक्षेपसौं, मोखद्वार सुखथान॥ १॥

अर्थ – दु:खों और दोषों के कारणभूत बन्ध का अधिकार समाप्त हुआ। अब थोड़े में सुख का स्थानरूप मोक्ष अधिकार का वर्णन करता हूँ।

काव्य-१ पर प्रवचन

बन्धभाव तो दोष और दु:ख का कारण है। जबकि परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष है, वह सुख का कारण है – सुख का स्थान है। अब उसका वर्णन करते हैं। प्रथम अमृतचन्द्राचार्य मङ्गलाचरण का श्लोक कहते हैं।

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ,
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहजपरमानन्दसरसं,
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥ १॥

मङ्गलाचरण (सवैया इकतीसा)

भेदग्यान आरासौं दुफारा करै ग्यानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचै।
अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै,
करम भरमकौ खजानौ खोलि खरचै॥

www.vitragvani.com

यौही मोख मुख धावै केवल निकट आवै,
पूरन समाधि लहै परमकौ परचै।
भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और,
ऐसौ विश्वनाथ ताहि बनारसी अरचै॥ २॥

अर्थ – ज्ञानी जीव भेदविज्ञान की करौंत से आत्मपरिणति और कर्म परिणति को पृथक् करके उन्हें जुदी-जुदी जानता है और अनुभव का अभ्यास तथा रत्नत्रय ग्रहण करके ज्ञानावरणादि कर्म वा राग-द्वेष आदि विभाव का खजाना खाली कर देता है। इस रीति से वह मोक्ष के सन्मुख दौड़ता है। जब केवलज्ञान उसके समीप आता है, तब पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा बन जाता है और संसार की भटकना मिट जाती है तथा करने को कुछ बाकी नहीं रह जाता अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे त्रिलोकीनाथ को पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

काव्य-२ पर प्रवचन

आत्मा को विश्व का नाथ कहा है। देखा? **भेदग्यान आरासौं...** भेदज्ञानरूपी करौंत द्वारा विकल्प और निर्विकल्प परिणति को भिन्न करना, यह करने योग्य है। यह करने के फल में मोक्ष निश्चित है। मैं शरीर से, कर्म से, और राग से भिन्न हूँ। मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ और विकल्पादि कर्मस्वरूप है – कर्म की धारा है। मैं उनसे भिन्न हूँ; इस प्रकार दोनों को भिन्न जानकर ज्ञानी, आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है। ज्ञानी का कर्तव्य यही है।

अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै – अनुभव का अभ्यास करते-करते ज्ञानी रत्नत्रय को ग्रहण करता है और कर्म को तथा भ्रम के खजाने को खाली कर डालता है – नाश कर देता है। **यौही मोख मुख धावै...** इस प्रकार वह मोक्ष के सन्मुख दौड़ता है। अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान का स्पर्श करके – वेदन करके पूर्णानन्दरूप मुक्ति की तरफ दौड़ता है अर्थात् परिणमन उग्र करता है।

शुद्ध आनन्द भगवान के समीप बसना, वह उपवास है, उसके बिना सब लंघन है। शास्त्र तो स्पष्ट बात करता है कि जो आत्मा, राग का और पर का कर्ता होता है, वह

www.vitragvani.com

मिथ्यादृष्टि है। मैं छहकाय के जीवों की रक्षा करूँ – ऐसा अभिप्राय भी मिथ्यात्व है। दुनिया प्रसन्न हो, मुझे अच्छा कहे; इसलिए कुछ करने का भाव रहे... श्रीमद् कहते हैं न! जगत को अच्छा दिखाने के लिए अनन्त बार कर्तव्य किया परन्तु अच्छा हुआ नहीं। दुनिया तो पागल है; अतः तुझे जरा बोलना आता होगा तो वाह... वाह... करेगी परन्तु इससे तुझे क्या लाभ होगा? अन्दर में आत्मा मुक्ति की ओर दौड़े तो तुझे लाभ है। स्वयं परमात्मा विकल्प से भिन्न पड़कर, निर्विकल्प धारा में आगे बढ़े, वह तेरा कर्तव्य है – ऐसा कर तो केवलज्ञान समीप आयेगा।

अनुभव का अभ्यास करे, परमानन्दस्वरूप को ग्रहे, कर्म का खजाना खाली करे अर्थात् कर्म उदय में आकर फिर जाये तो मोक्ष की ओर दौड़ते हुए ज्ञानी को केवलज्ञान समीप आ जाता है और अकषायभाव की धारा से पूर्ण समाधि-शान्ति प्राप्त करता है। **परमकौ परचै...** ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा बन जाता है फिर उसे कुछ करने को नहीं रहता; संसार में भटकना भी मिट जाता है। वीतरागभाव के फल में ही ऐसी दशा प्राप्त होती है, राग के फल में ऐसी दशा नहीं होती। जो कोई परमात्मा हुए, उन्होंने इसी विधि से केवलज्ञान और पूर्ण शान्ति प्राप्त की है।

इस प्रकार भेदज्ञान द्वारा स्व-पर को भिन्न जानकर, स्व में स्थिर होकर, आगे बढ़ते हुए केवलज्ञान प्राप्त हुआ-पूर्ण हुआ-विश्वनाथ अर्थात् विश्व का साक्षी हुआ – ऐसे आत्मा को मैं नमस्कार करता हूँ – ऐसा कहकर बनारसीदास ने यह मङ्गलाचरण किया है। भगवान आत्मा अपने घर में पूर्णानन्द की प्राप्ति करे, यही मङ्गलाचरण और यही विजय है। अमृतचन्दाचार्य ने कलश में **विजयते** शब्द प्रयोग किया है। अनादि से राग में आत्मा पराजित हो जाता था, विकार का जप होता था, वह अब पुरुषार्थ से आत्मा के आनन्दस्वभाव की ओर झुकने से निर्मल दशा हुई, उसकी विजय हुई। यह विजय हुई सो हुई, सादि अनन्त काल के लिए! इसके लिए प्रथम क्या करना? वह यहाँ कहा कि भेदज्ञानरूपी करौंत द्वारा आत्म-परिणति और कर्म-परिणति को भिन्न करना। राग से भी भिन्न पड़कर स्वरूप के अनुभव में रहे तो केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त करे, इतने में सब आ जाता है।

www.vitragvani.com

अरे! अनादि के दु:खी जीव को दु:ख से छूटने का यह पन्थ है। पुण्य-पापभाव में तो स्वयं दु:खी है तो उससे दु:ख मिटेगा कैसे? शुभाशुभ दोनों भाव हेय है अर्थात् मिटाने योग्य है - ऐसा श्रद्धा में नहीं आवे, तब तक अनुभव नहीं होता; अनुभव के बिना स्वरूप में स्थिरता नहीं हो सकती और स्थिरता के बिना केवलज्ञान तथा वीतरागता नहीं होती।

'द्रव्यदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि' है परन्तु द्रव्य की दृष्टि करे तो न! वस्तु त्रिकाली है, उसकी अन्तर अनुभव में दृष्टि करे, वह सम्यग्दृष्टि है। उसे राग और पर्याय की बुद्धि छूट जाती है। आगे बढ़ने से विश्वनाथ अर्थात् विश्व का साक्षी - एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञाता स्वयं ही हो जाता है परन्तु यह कोई बातों से बड़ा होवे - ऐसा नहीं है।

सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा एक विकल्प का भी कर्ता नहीं है - ऐसा ही उसका स्वरूप है। ऐसे स्वस्वरूप की स्थिति को जाने बिना जो कुछ करना चाहे, उसमें कर्ताबुद्धि का मिथ्यात्व ही पुष्ट होता है। तब कोई कहता है कि ऐसा शुद्धभाव तो अभी नहीं होता... उसका अर्थ यह हुआ कि अभी धर्म नहीं होता - तो तू किसकी मेहनत करता है?

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणै: पातिता सावधानै,
सूक्ष्मेऽन्त:सन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्त:स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे,
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभित: कुर्वती भिन्नभिन्नौ॥ २॥

इसमें **अभित:** का अर्थ सर्वथा भिन्न कहा है। कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न नहीं कहा है। आत्मा स्वभाव से सर्वथा राग से भिन्न है (इस कलश पर तीसरा पद्य कहते हैं)।

सम्यग्ज्ञान से आत्मा की सिद्धि होती है (सवैया इकतीसा)

काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनी,
ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है।
पैठी नो करम भेदि दरव करम छेदि,
सुभाउ विभाउताकी संधि सोधि लीनी है॥

www.vitragvani.com

तहां मध्यपाती होय लखी तिन धारा दोय,
एक मुधामई एक सुधारस-भीनी है।
मुधासौं विरचि सुधासिंधुमैं मगन भई,
ऐती सब क्रिया एक समै बीचि कीनी है॥ ३॥

अर्थ – जैन शास्त्र के ज्ञाता एक जैनी ने बहुत ही सावधान होकर विवेकरूपी तेज छैनी अपने हृदय में डाल दी, जिसने प्रवेश करते ही नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म और निजस्वभाव का पृथक्करण कर दिया। वहाँ उस ज्ञाता ने बीच में पड़कर एक अज्ञानमय और एक ज्ञानसुधारसमय ऐसी दो धारा देखीं, तब वह अज्ञानधारा छोड़कर ज्ञानरूप अमृतसागर में मग्न हुआ। इतनी सब क्रिया उसने मात्र एक समय में ही की।

काव्य-३ पर प्रवचन

काहू एक जैनी सावधान ह्वै परम पैनी... कोई जैन शास्त्र का ज्ञाता – जो सावधानीपूर्वक परम पैनी अर्थात् तीक्ष्ण धारवाली / तीक्ष्ण भेदज्ञानरूपी छैनी अन्तर में डालता है कि जो स्व-पर को और स्वभाव-विभाव को पृथक् कर देती है। स्व और पर तो भिन्न ही है परन्तु स्वभाव जो ज्ञानानन्दस्वरूप और विभाव, ऐसे रागादि भी निःसन्धि अर्थात् एकमेक नहीं हो गये हैं। दो के बीच सन्धि है – भिन्नता है। यदि एक हो जाएँ, तब तो भिन्न कैसे होंगे? दो धारा धर्मी को दिखने लगती है। एक तो अज्ञानमय और एक सुधारसमय – ज्ञानमय धारा वर्तती है। अज्ञानमय धारा की ओर से दिशा बदलकर, लक्ष्य बदलकर स्व-दिशा में देखता है तो एक समयमात्र में ज्ञानमय धारा परिणमति हुई अनुभव में आती है, उसमें धर्मी मग्न हो जाता है।

जो अज्ञान और राग-द्वेष को जीतने के लिए तैयार हुआ है, वह जैनी है, वह वीतराग के शास्त्र का ज्ञाता है, वही तीक्ष्ण बुद्धि अर्थात् राग और स्वभाव में भेद डालकर स्वभावसन्मुख हो – ऐसी बुद्धि है, उसे दूसरा ज्ञान भले ही कम हो और दूसरे को कहना भी न आता हो, फिर भी वह भेदज्ञान कर सकता है। जबकि कितने ही लोगों को बोलना बहुत आता है, छटा से बात करते हैं मानो ऐसा लगता है कि मैं सबको समझा देता हूँ -यह मीठा जहर है। स्वयं मीठा जहर पीते हैं और मानते हैं कि हम दूसरे को धर्म प्राप्त कराते हैं।

www.vitragvani.com

यह तो बहुत ही सावधानीपूर्वक, विवेकरूपी तेज छैनी जो अपने अन्तर में डालता है... उसे सम्यग्ज्ञानरूपी शस्त्र, राग से भिन्न कराकर आत्मा का अनुभव कराता है। ज्ञान की तीक्ष्ण धारा अर्थात् प्रथम शास्त्र द्वारा जो धारणा की थी, उसे अन्तर में प्रयोग में रखी तो उसने नौ कर्म से आत्मा को भिन्न दिखाया, द्रव्यकर्म भी मुझमें नहीं और स्वभाव-विभाव तो एक जैसे दिखते होने पर भी एक नहीं हैं। दोनों के बीच में सन्धि है, उसे भेदज्ञान द्वारा भिन्न कर देता है। स्वभाव सुखरूप है और विभाव दु:खरूप है - ऐसा जानकर दोनों का पृथक्करण कर डालता है। इस प्रकार नव कर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्म तीनों को ही स्वभाव से भिन्न जान लेता है।

तहां मध्यपाती होय... वहाँ प्रज्ञाछैनी ज्ञानमय और अज्ञानमय दो धारा के मध्य पड़कर ज्ञानमय धारा को ग्रहण करके उसमें लीन होती है और अज्ञानमय धारा से विरक्त हो जाती है। शास्त्र में राग के तीन प्रकार कहे हैं। एक तो क्रिया का राग, दूसरा भक्ति का राग और तीसरा गुणगुणी के भेद का राग - इस समस्त प्रकार के राग से आत्मा को भिन्न जानता है। रागभाव अज्ञानमय है, जबकि आत्मभाव-ज्ञायकभाव है। मुधामई-अज्ञानमय भाव में ज्ञान का अभाव है। आत्मा की ज्ञानधारा आनन्दमय है, इसलिए दोनों धाराओं को पृथक् करके सुधारसमय ज्ञानधारा का अनुभव करता है और उसमें ही धर्मी लीन हो जाता है। एक समयमात्र में यह सब क्रिया हो जाती है। ज्ञान को परतरफ की दिशा से हटाकर स्वतरफ ज्ञान की दिशा कर डालता है। परतरफ के लक्ष्य को छोड़कर, ज्ञान को स्वलक्ष्य में लाता है, यह कार्य एक समयमात्र में होता है, बोलने में क्रम पड़ता है, देरी लगती है परन्तु कार्य में क्रम नहीं पड़ता, देरी नहीं लगती।

सत्य तो यह है। सत्यरूप से परिणमित करने से ही जन्म-मरण का अन्त आनेवाला है, दूसरा कोई रास्ता नहीं है। मन्दिर बनाओ, पूजा करो, भक्ति करो, विधि से करो, राग से गाओ, हारमोनियम के साथ गाओ... यह सब धमाधम करो - धुन लगाओ, तो भी वह राग है, धर्म नहीं। ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को शान्तरस द्वारा पकड़कर उसमें मग्न होना, वह धर्म है; राग में मग्न होना (धर्म) नहीं है। राग की रुचि से गुलाँट मारकर अन्तर आत्मा की रुचि सहित अनुभव करना, वह एक समय का काम है।

www.vitragvani.com

एक समय का संसार है। द्रव्य, गुण में संसार नहीं है। त्रिकाल स्वभाव पर दृष्टि देने से संसार दृष्टि में से छूट जाता है। मेरे स्वरूप में संसार है ही नहीं। सम्यग्दर्शन प्रगट करने में एक समय लगता है परन्तु अरे! इसका अनन्त काल राग की रुचि में निरर्थक गया, दुःख में काल व्यतीत किया।

जैनी को शास्त्र का ज्ञान है। उस शास्त्र में ऐसा कहा है कि भगवान आत्मा, राग से पृथक् है – ऐसे आत्मा का अनुभव करना, वह जैनी का कार्य है। इसका नाम सम्यग्दर्शन है और यही मोक्ष का मार्ग है – ऐसा इस मोक्षद्वार में कहते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, देव, शास्त्र, गुरु का राग यह सब भाव अज्ञानमय है अर्थात् उसमें ज्ञान नहीं है। राग में ज्ञानस्वभाव कैसे होगा? व्यवहार तो राग है। राग से भिन्न पड़ने का कार्य राग से किस प्रकार होगा? व्यवहार की सहायता से राग से पृथक् पड़ने का कार्य नहीं होता है, ज्ञान द्वारा ही ज्ञाताधारा प्रगट करके रागधारा से विरक्त होने का कार्य एक समयमात्र में होता है।

पुनः (दोहा)

जैसै छैनी लोहकी, करै एकसौं दोइ।
जड़ चेतनकी भिन्नता, त्यौं सुबुद्धिसौं होइ॥ ४॥

अर्थ – जिस प्रकार लोहे की छैनी काष्ठ आदि वस्तु के दो खण्ड कर देती है, उसी प्रकार चेतन-अचेतन का पृथक्करण भेदविज्ञान से होता है।

काव्य-४ पर प्रवचन

अभी तो ऐसे हथियार निकले हैं कि लोहे के टुकड़े कर डालते हैं। बड़े दलवाले लोहखण्ड के एक क्षण में दो टुकड़े कर डालते हैं। हीरा की कणी द्वारा दलवाले काँच के दो टुकड़े होते हैं। इसी प्रकार प्रज्ञाछैनी रूपी हीरा की कणी द्वारा राग और आत्मा को क्षणमात्र में पृथक् किया जा सकता है।

अब, मोक्षद्वार के पाँचवें पद्य में बनारसीदासजी, मोक्ष जानेवाले की सुबुद्धि का विलास बतलाते हैं। मोक्षगामी का सम्यग्ज्ञान कैसा होता है, वह बतलाते हैं।

www.vitragvani.com

सुबुद्धि का विलास (सर्व वर्ण लघु, चित्रकाव्य घनाक्षरी)

धरति धरम फल हरति करम मल,
मन वच तन बल करति समरपन।
भखति असन सित चखति रसन रित,
लखति अमित वित करि चित दरपन॥
कहति मरम धुर दहति भरम पुर,
गहति परम गुर उर उपसरपन।
रहति जगति हित लहति भगति रति,
चहति अगति गति यह मति परपन॥ ५॥

अर्थ – सुबुद्धि धर्मरूप फल को धारण करती है, कर्ममल को हरती है, मन-वचन-काय तीनों बलों को मोक्षमार्ग में लगाती है, जीभ से स्वाद लिये बिना उज्ज्वल ज्ञान का भोजन खाती है, अपनी अनन्त ज्ञानरूप सम्पत्ति चित्तरूप दर्पण में देखती है, मर्म की बात अर्थात् आत्मा का स्वरूप बतलाती है, मिथ्यात्वरूप नगर को भस्म करती है, सद्गुरु की वाणी ग्रहण करती है, चित्त में स्थिरता लाती है, जगत की हितकारी बनकर रहती है, त्रिलोकनाथ की भक्ति में अनुराग करती है, मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न करती है; ऐसा सुबुद्धि का विलास है।

काव्य-५ पर प्रवचन

धर्मी की सुबुद्धि ऐसी होती है कि जो धर्मरूपी फल को धारण करती है, राग और पुण्य को धारण नहीं करती। चैतन्य का ज्ञान होने पर वह सुबुद्धि क्या करती है? उसका यह उत्तर है कि वह धर्मरूपी फल को धारण करती है और रागादिक मल को मिटाती है। मन, वचन, काया तीनों के बल को मोक्षमार्ग में लगाती है, मन, वचन, काया का झुकाव / समर्पण सब मोक्षमार्ग की ओर हो जाता है – ऐसी सुबुद्धि को सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

सुबुद्धि किसका भोजन करती है? शीतल ज्ञानस्वभाव उज्ज्वल ज्ञान का भोजन

www.vitragvani.com

करती है, शुभाशुभराग को सुबुद्धि नहीं खाती है। दाल, चावल, लड्डू का भोजन तो नहीं परन्तु राग के भोजन को भी वह नहीं करती है। भगवान आत्मा नित्यानन्द भोजी है, जीभ के स्वाद बिना आत्मानन्द को भोगती है।

लखति अमित वित - सुबुद्धि अपनी अनन्त ज्ञानरूप सम्पत्ति कि जिसकी कोई मर्यादा नहीं है - ऐसी चैतन्य लक्ष्मी को जानती है, अर्थात् चित्तरूपी दर्पण में अपने अनन्त ज्ञानादिक स्वभाव को देखती है। मर्म को बतलाती है अर्थात् आत्मा के स्वरूप को - आनन्द को अनुभव करती है और मिथ्यात्वरूपी भ्रम के नगर को तो जलाकर भस्म कर देती है।

देखो, यह बनारसीदास! शृंगार की पुस्तकें बनायी थीं, उन्हें तो गोमती में डाल दिया और आत्मधर्म की पुस्तकें बनायी हैं। जहाँ-तहाँ सुख मानना, दूसरे से सहायता मानना, पर में अपनापन करना - ऐसी अनेक मिथ्याभ्रमणाओं को सुबुद्धि भस्म कर डालती है। सद्गुरु की वाणी सत्य है, उसे ही सुबुद्धि ग्रहण करती है।

सम्यग्ज्ञानरूप सुबुद्धि, जगत को हितकारी होकर रहती है, अर्थात् किसी का अहित नहीं करती है तथा सम्यग्ज्ञान का प्रेम कहाँ रहता है? त्रिलोकनाथ की भक्ति में उसे प्रेम बहता है, भगवान के प्रति प्रेम है, इसलिए विकल्प उत्पन्न होता है तो भगवान की भक्ति का उत्पन्न होता है।

सुबुद्धि कैसी है? **चहति अगति गति....** जहाँ से वापिस फिरना नहीं पड़े - ऐसी अगति-गति को सुबुद्धि चाहती है। मोक्ष के अतिरिक्त किसी गति को नहीं चाहती है। राग को नहीं, स्वर्ग को नहीं, व्यवहार को नहीं, किसी को सुबुद्धि नहीं चाहती है - ऐसा सुबुद्धि का **परपन** - विलास है। सुबुद्धि जीव का ज्ञान जगत को हित का कारण होता है। सुबुद्धि को विशेष ज्ञानी गुरु की वाणी सुनने का राग आता अवश्य है परन्तु वह व्यवहार को नहीं चाहती है; उसे एकमात्र मुक्ति की इच्छा है। ज्ञानी जानते हैं कि वीतराग परिणति से ही मुक्ति होगी।

यह तो शान्ति का काम है, दौड़ा-दौड़ी से मिले - ऐसी चीज यह नहीं है।

www.vitragvani.com

सम्यग्ज्ञानी का महत्व (सब वर्ण गुरु, सवैया इकतीसा)

राणाकौसौ बाना लीनै आपा साधै थाना चीनै,
दानाअंगी नानारंगी खाना जंगी जोधा है।
मायाबेली जेती तेती रेतैमैं धारेती सेती,
फंदाहीकौ कंदा खोदै खेतीकौसौ लोधा है॥
बाधासेती हांता लोरै राधासेती तांता जोरै,
बांदीसेती नाता तोरै चांदीकौसौ सोधा है।
जानै जाही ताही नीकै मानै राही पाही पीकै,
ठानै बातैं डाही ऐसौ धारावाही बोधा है॥ ६॥

अर्थ – भेदविज्ञानी ज्ञाता, राजा जैसा रूप बनाये हुए है। वह अपने आत्मरूप स्वदेश की रक्षा के लिए परिणामों की सम्हाल रखता है और आत्मसत्ता भूमिरूप स्थान को पहचानता है; प्रशम, संवेग, अनुकम्पा आदि की सेना सम्हालने में दाना अर्थात् प्रवीण होता है; शाम, दाम, दण्ड, भेद आदि कलाओं में कुशल राजा के समान है; तप, समिति, गुप्ति, परीषहजय, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि अनेक रंग धारण करता है; कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने में बड़ा बहादुर होता है। मायारूपी जितना लोहा है, उस सबको चूर-चूर करने को रेती के समान है; कर्म के फंदेरूप काँसे को जड़ से उखाड़ने के लिए किसान के समान है, कर्मबन्ध के दु:खों से बचानेवाला है; सुमति राधिका से प्रीति जोड़ता है; कुमतिरूप दासी से सम्बन्ध तोड़ता है; आत्मपदार्थरूप चाँदी को ग्रहण करने और पर-पदार्थरूप धूल को छोड़ने में रजत-सोधा (सुनार) के समान है। पदार्थ को जैसा जानता है, वैसा ही मानता है। भाव यह है कि हेय को हेय जानता और हेय मानता है; उपादेय को उपादेय जानता और उपादेय मानता है – ऐसी उत्तम बातों का आराधक धाराप्रवाही ज्ञाता है।

काव्य-६ पर प्रवचन

बनारसीदास ने भी अपने कवित्व को इसमें बराबर रखा है। शब्द कैसे लिये हैं ? क्षयोपशम को अन्तर में प्रयुक्त किया है। सम्यग्दृष्टि होने से पहले मनुष्यगति की आयु बँध गयी हो तो वह जीव युगलिया में जाता है, वहाँ जीव बहुत भद्र होते हैं, आयु भी बहुत

www.vitragvani.com

लम्बी होती है, एक, दो अथवा तीन पल्य की आयु होती है अर्थात् असंख्य अरब वर्ष होते हैं। शरीर की ऊँचाई भी आयु के प्रमाण एक, दो अथवा तीन कोस की होती है। क्षायिक सम्यक्त्व लेकर भी जीव वहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ की आयु पूर्ण करके फिर स्वर्ग में ही जाता है।

क्षायिक सम्यक्त्वी को, भोगभूमि में, तीन पल्य की आयु में कल्पवृक्ष के फलों को भोगता हो, उपाधि तो कुछ न हो, एकत्रित होकर चर्चा-वार्ता करते हों। ऋषभदेव के चरित्र में आता है कि ऋषभदेव आदि छह जीव पूर्व में भोगभूमि में थे, वहाँ ऊपर आकाश में विहार कर रहे मुनिराज, इन जीवों को देखकर नीचे उतरते हैं और कहते हैं कि तुम्हारे सम्यक्त्व प्राप्ति का यह काल है। देखो तो सही, गजब है न! ऊपर से मुनिराज इन जीवों को ऊँचे चढ़ाने के लिए स्वयं नीचे उतरे... तुम्हारे सम्यक्त्व प्राप्ति का यह काल है, कितनी पात्रता! कितनी योग्यता! सरलता और भद्रता कितनी! युगलिया में ऐसे ही होते हैं, वे भी मनुष्य ही होते हैं परन्तु दो जीव साथ में उत्पन्न होते हैं और साथ में मरते हैं; इसलिए युगलिया कहलाते हैं। भाई-बहन साथ में उपजे और वे ही पति-पत्नी होते हैं, फिर भी कषाय की बहुत मन्दता होती है। यहाँ यदि ऐसा होवे तो उसे तीव्र कषाय होती है, वहाँ तो इतनी मन्दकषाय है कि मरकर स्वर्ग में ही जाते हैं। ऋषभदेव का जीव और दूसरे जीव भी वहाँ से मरकर स्वर्ग में जाते हैं।

यह तो बनारसीदास जैसा कवित्त आदि सभी सम्यग्दृष्टि जीवों को नहीं होता। इस पर से यह विचार आया कि युगलिया तो अत्यन्त भद्र होते हैं, फिर भी कोई क्षायिक सम्यक्त्व लेकर आया होता है और कोई जीव तो वहाँ भी सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं। ऋषभदेव आदि जीव सम्यक्त्व लेकर आये नहीं थे, परन्तु मुनि का सम्बोधन प्राप्त करके सम्यक्त्व प्राप्त किया था। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि जीव का क्षयोपशम एक समय नहीं होता।

यहाँ छठवें पद्य में सम्यग्ज्ञानी का महत्त्व समझाने के लिए ज्ञानी को बादशाह का रूप दिया है। **राणाकौसौ बाना लीनै....** भेदज्ञानी राजा अपने स्वक्षेत्र की रक्षा के लिए अपने परिणाम की सम्हाल रखता है। शुद्धपरिणाम को देखता है, अपनी सत्ता को भलीभाँति पहचानता है। आनन्दस्वरूप का बादशाह ज्ञानी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्था आदि

www.vitragvani.com

गुणों की सेना को सम्हालने में प्रवीण होता है। धन कमाने में होशियार है – ऐसा नहीं कहा परन्तु अपने चैतन्यराजा की सेना सम्हालने में प्रवीण है। नानारंगी अर्थात् साम, दाम, दण्ड, भेद आदि कलाओं में ज्ञानी कुशल राजा जैसा होता है। अपने उपशम आदि गुणों में प्रवीण होता है और तप, समिति, गुप्ति, परीषहजय, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि अनेक भावों को धर्मी धारण करता है। बारह प्रकार के तप तो मुनि धारण करते हैं न? पाँच समिति, तीन गुप्ति, बाईस परीषहजय, दस प्रकार के धर्म, और बारह भावना जैसे अनेक रंगों को धर्मी बादशाह धारण करता है।

धर्मी जीव, कर्म शत्रु को जीतने में बहुत बहादुर होता है। अरि का अर्थ दुश्मन होता है न! इसलिए एक मासिक (समाचार-पत्र) में आया था कि अरिहन्त न कहना, अरहन्त कहना? अरे भाई! अरहन्त कहो या अरिहन्त कहो या अरहत कहो – सबका भाव एक ही है। नाम चाहे जो हो उससे वस्तु में कुछ अन्तर नहीं पड़ता है।

जैसे, लोहखण्ड को रेती से घिसकर साफ करते हैं, उसी प्रकार धर्मी जीव मायारूपी लोहखण्ड के लिए रेती के समान हैं; माया को साफ कर डालते हैं। घास-फूस को किसान तो मूल में से निकालकर फेंक देता है; इसी प्रकार धर्मी जीव कर्म के फंदे को मूल से उखाड़ कर फेंक देते हैं। धर्मी अपने आनन्दादि गुणों की खेती को सम्हालने में शक्तिशाली है। बीच में आनेवाले विघ्नों को दूर से ही तोड़ डालता है। सम्यग्ज्ञानी बादशाह क्लेश को अलग कर डालता है और सुमतिरूपी राधा के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, कुमतिरूपी दासी के साथ का सम्बन्ध तोड़ डालता है। सुमति द्वारा कुमति को तोड़ डालता है।

जैसे, धूल धोया, धूल में से सोना ले लेता है और धूल को छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानी, आत्मा के आनन्द को ले लेता है और पुण्य-पाप के विकल्पों को छोड़ देता है। आत्मानन्दरूप चाँदी को ले लेता है और परपदार्थरूप धूल को छोड़ने में धर्मी सोनी जैसा है।

जानै जाही ताही नीकै – सम्यग्ज्ञान से जिस ज्ञान को भलीभाँति जानता है, उसे वैसे ही मानता है। जो उपादेय है, उसे उपादेय मानता है और पुण्य-पाप हेय है,

www.vitragvani.com

उन्हें हेय मानता है। शुभाशुभभाव को हेय माननेवाला मिथ्यादृष्टि है – ऐसा अभी चलता है, वह बात मिथ्या है।

ऐसी उत्तम बातों के आराधक धाराप्रवाही ज्ञाता हैं। आत्मा उड़द की दाल की तरह उपादेय है और छिलके की तरह शरीरादि हेय है। इस प्रकार धर्मी जैसा है, वैसा जानता है और वैसी ही श्रद्धा करता है।

सुबुद्धि का विलास बतलाया, ज्ञानी की बादशाही कहकर महिमा बतलाई। अब कहते हैं कि धर्मी जीव ही चक्रवर्ती है, सम्यग्ज्ञानी धर्म के चक्रवर्ती हैं।

ज्ञानी जीव ही चक्रवर्ती है (सवैया इकतीसा)

जिन्हकै दरब मिति साधन छखंड थिति,
बिनसै विभाव अरि पंकति पतन हैं।
जिन्हकै भगतिको विधान एई नौ निधान,
त्रिगुनके भेद मानौ चौदह रतन हैं॥
जिन्हकै सुबुद्धिरानी चूरै महा मोह वज्र,
पूरै मंगलीक जे जे मोखके जतन हैं।
जिन्हकै प्रमान अंग सोहै चमू चतुरंग,
तेई चक्रवर्ती तनु धरैं पै अतन हैं॥ ७॥

अर्थ – ज्ञानी जीव चक्रवर्ती के समान हैं, क्योंकि चक्रवर्ती छह खण्ड पृथ्वी साधते-जीतते हैं, ज्ञानी छह द्रव्यों को साधते हैं; चक्रवर्ती शत्रु-समूह को नष्ट करते हैं, ज्ञानी जीव विभाव परिणति का विनाश करते हैं; चक्रवर्ती के नवनिधि होती हैं, ज्ञानी नवभक्ति धारण करते हैं; चक्रवर्ती के चौदह रत्न होते हैं, ज्ञानियों के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेदरूप चौदह रत्न होते हैं; चक्रवर्ती की पटरानी दिग्विजय को जाने के अवसर पर चुटकी से वज्र-रत्नों का चूर्ण करके चौक पूरती है, ज्ञानी जीवों की सुबुद्धिरूप पटरानी मोक्ष जाने का शकुन करने को महा-महोरूप वज्र को चूर्ण करती है; चक्रवर्ती के हाथी, घोड़े, रथ, पैदल ऐसी चतुरंगिनी सेना रहती है, ज्ञानी जीवों के प्रत्यक्ष, परोक्ष, प्रमाण, नय और निक्षेप होते हैं। विशेष यह है कि चक्रवर्ती के शरीर होता

www.vitragvani.com

है, पर ज्ञानी जीव देह से विरक्त होने के कारण शरीररहित होते हैं, इसलिए ज्ञानी जीवों का पराक्रम चक्रवर्ती के समान है।

नव भक्ति के नाम (दोहा)

श्रवन कीरतन चिंतवन, सेवन बंदन ध्यान।
लघुता समता एकता, नौधा भक्ति प्रवान॥ ८॥

अर्थ – श्रवण, कीर्तन, चिन्तवन, सेवन, वंदन, ध्यान, लघुता, समता, एकता ये नव प्रकार की भक्ति हैं, जो ज्ञानी जीव करते हैं।

काव्य- ७-८ पर प्रवचन

श्रोता का मन इसमें एकाग्र हो, अन्यत्र कहीं मन न जाये तो यह समझ में आ सके ऐसा है। यह तो धर्म के चक्रवर्ती की बातें हैं, भाई!

'णमोत्थानु' में आता है कि चार गति का अन्त करने के लिए भगवान, चक्रवर्ती के समान हैं। यहाँ तो सम्यग्ज्ञानी को चक्रवर्ती की उपमा दी है।

चक्रवर्ती तो छह खण्ड को साधता है, वैसे ही ज्ञानी छह द्रव्यों को साधता है अथवा तो सोगानीजी ने कहा तद्नुसार ज्ञानी अपने अखण्ड आत्मा को साधता है। चिदानन्द अखण्ड आनन्दप्रभु को साधे, उसे चक्रवर्ती कहते हैं। चक्रवर्ती अपने विरोधी राजाओं का नाश करता है, वैसे ही धर्मी अपने विरोधी ऐसे विभाव का नाश करता है। शुभ और अशुभ दोनों परिणति विभाव है, उनका धर्मी विनाश करता है, रक्षा नहीं करता है। विभावरूपी अरि की पंक्ति का नाश करता है। चक्रवर्ती को नवनिधि होती है वैसे ही धर्मी को नवधाभक्तिरूपी नवनिधान होते हैं। नवभक्ति ही धर्मी की नवनिधि है।

चक्रवर्ती की नवनिधि के नाम फुटनोट में दिये गये हैं और ज्ञानी की नवनिधिरूप नव भक्ति के नाम इससे आगे के पद्य में आते हैं। **१. श्रवण** – उपादेय गुणों का सुनना, आत्मा अखण्डानन्द उपादेय है, उसे सुनने का विकल्प है, उसे यहाँ श्रवण नामक निधान में गिना गया है। **२. कीर्तन** – गुणों की व्याख्या करना, वह भी एक निधान है। **३. चिन्तवन** – गुणों का विचार करना, वह भी एक निधि है। **४. सेवन** – गुणों का अध्ययन करना, वह

www.vitragvani.com

सेवन विधि है। **५. वन्दन** – गुणों की स्तुति करना, वह, – अनन्त आदि गुणों की स्तुति करना, वह निधान है। **६. ध्यान** – गुणों का स्मरण करना, वह ध्यानरूप निधान है। **७. लघुता** – गुणों का गर्व न करना भी गुण है। गर्व किसका करना होता है ? **८. समता** – सबके प्रति एक समान दृष्टि रखना। **९. एकता** – एक आत्मा को ही अपना मानना, शरीरादिक को पर मानना – ऐसी एकता भी निधान है।

इस प्रकार की नवधाभक्ति, वह सम्यग्ज्ञानी चक्रवर्ती के नवनिधान के समान है। धन, पुत्र, मकान आदि होते हैं, वे ज्ञानी के निधान नहीं हैं, वे तो जड़ हैं।

त्रिगुनके भेद मानौ चौदह रतन हैं – सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन के, ज्ञान के, और चारित्र के मिलकर चौदह रत्न है – ऐसा कवि ने भेदों को रत्न की उपमा दी है। उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक – यह तीन सम्यग्दर्शन के भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, और केवलज्ञान – यह सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं और सामायिक, क्षेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय और संयमासंयम – यह छह सम्यक्चारित्र के भेद हैं। कुल चौदह भेद हैं, वे चौदह रत्न हैं। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह रत्नत्रय है, इसलिए उसके भेद भी रत्न ही है।

जब चक्रवर्ती राजगद्दी पर बैठनेवाले हों, तब मंगलाचार के रूप में चक्रवर्ती की रानी हाथ से हीरा पीसकर रंगोली बनाती है। इसी प्रकार ज्ञानी की सुबुद्धिरानी मोक्ष जाने के शगुन के लिए मोहरूपी वज्र का चूर्ण करती है – मोह को तोड़ डालती है। मिथ्यात्व और रागादि का चूर्ण कर डालना, वह मोक्ष के लिए मांगलिक है। जो मोक्ष का उपाय है, उसे यहाँ मांगलिकरूप से गिना है।

चक्रवर्ती को चतुरंगिनी सेना होती है, इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी के प्रमाणज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष, यह दो भेद तथा नय और निक्षेप – ऐसी चार सेना से ज्ञानी शोभित होता है। बनारसीदासजी ने ऐसा सब मैल स्वतन्त्ररूप से स्वयं उतारा है। अन्त में लेते हैं कि चक्रवर्ती को तो शरीर है परन्तु ज्ञानी तो शरीरसहित दिखता होने पर भी शरीररहित होता है। शरीर से तो रहित परन्तु ज्ञानी राग से भी रहित है, क्योंकि ज्ञानी को शरीर और राग के प्रति विरक्ति होती है। इस प्रकार ज्ञानी जीवों का पराक्रम चक्रवर्ती के समान है।

www.vitragvani.com

नीचे फुटनोट में चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के नाम दिये हैं। उनमें सात सजीव रत्न हैं और सात अजीव हैं।

सेनापति ग्रहपति थपित, प्रोहित नाग तुरंग।
बनिता मिलि सातौं रतन, हैं सजीव सरवंग॥
चक्र छत्र असि दंड मणि, चर्म कांकणी नाम।
ये अजीव सातौं रतन, चक्रवर्त्ति के धाम॥

लौकिक चक्रवर्ती छह खण्ड को इन चौदह रत्नों से साधता है। जबकि यह अलौकिक चक्रवर्ती रत्नत्रय द्वारा अखण्ड को साधता है और छह द्रव्य का ज्ञान करता है। एक समय की पर्याय में छह द्रव्यों का ज्ञान करने को छह द्रव्य का साधना कहा है। छह द्रव्य से अपने को भिन्न जानकर अकेले चैतन्यमूर्ति निज भगवान आत्मा में एकाग्रता करना, वह धर्मी का कर्तव्य है। राग करना, वह धर्मी का कर्तव्य नहीं है; स्वभाव का साधन करना, वह धर्मी का कार्य है।

अब, तीसरा कलश (मोक्ष अधिकार का तीसरा) आता है।

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्धेत्तुं हि यच्छक्यते।
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यहि वा धर्मा गुणा वा यदि
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति॥

इसमें **विभो** शब्द आया है, उसका अर्थ आगे आएगा।

समयसार नाटक का नौवाँ मोक्षद्वार अधिकार है, उसमें तीसरे कलश के पद्य में ज्ञानी जीवों की विचारधारा बतलायी है।

ज्ञानी जीवों का मन्तव्य (सवैया इकतीसा)

कोऊ अनुभवी जीव कहै मेरे अनुभौमैं,
लक्षन विभेद भिन्न करमकौ जाल है।
जानै आपा आपुकौं जु आपुकरि आपुविषैं,
उतपति नास ध्रुव धारा असराल है॥

www.vitragvani.com

सारे विकलप मोसौं न्यारे सरवथा मेरौ,
निहचै सुभाव यह विवहार चाल है।
मैं तौ सुद्ध चेतन अनंत चिनमुद्रा धारी,
प्रभुता हमारी एकरूप तिहुं काल है॥ ९॥

अर्थ – आत्म-अनुभवी जीव कहते हैं कि हमारे अनुभव में आत्मस्वभाव से विरुद्ध चिह्नों का धारक कर्मों का फंदा हमसे पृथक् है, वे आप अपने को अपने द्वारा अपने में जानते हैं। द्रव्य की उत्पाद, व्यय और ध्रुव यह त्रिगुण धारा जो मुझमें बहती हैं, सो ये विकल्प, व्यवहारनय से हैं, मुझसे सर्वथा भिन्न हैं; मैं तो निश्चयनय का विषयभूत शुद्ध और अनन्त चैतन्यमूर्ति का धारक हूँ, मेरा यह सामर्थ्य सदा एक-सा रहता है; कभी घटता-बढ़ता नहीं है।

काव्य-९ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि को अनुभव में इस प्रकार होता है, वह कहते हैं। अनादि से जो दु:ख का और विकार का -विभाव का अनुभव करता था, वह मिथ्यादृष्टि था। जब उसे स्वरूप का अनुभव होता है, वह ऐसा मानता है कि मैं तो चैतन्य लक्षण जीव हूँ। पुण्य-पाप के विकल्प हैं, वे तो कर्म की जाल है। अहो! ज्ञानानन्दस्वभावरूप अनुभव में आता है, वह मैं हूँ। राग उत्पन्न होता है, वह मेरी चीज नहीं है, यह धर्मी का मन्तव्य है और यही धर्मी का हृदय है।

जानै आपा.... मैं जाननेवाला और जानना, वह मेरा कार्य – ऐसा भेद भी मुझमें नहीं है। मैं राग द्वारा नहीं, पुण्य द्वारा नहीं, परन्तु मैं मेरे द्वारा ही मेरा कार्य उत्पन्न करता हूँ – ऐसा भेद भी ज्ञानी को अनुभव में नहीं होता है।

मैं कर्ता, वीतरागी परिणाम मेरा कार्य, वीतरागी स्वभाव द्वारा मेरे वीतरागी परिणाम होते हैं, वीतरागी त्रिकाल स्वभाव के आधार से मेरा कार्य होता है, मेरा कार्य मुझमें से होता है और कार्य करके मैं मुझे ही देता हूँ – ऐसे छह कारक के भेद पड़ते हैं, वह सब व्यवहार जाल है। समयसार में ७३ वीं गाथा में आता है कि षट्कारक की अनुभूति से मैं भिन्न हूँ। यह अपने षट्कारक की बात है। राग से मेरा कार्य होता है, यह बात तो है ही

www.vitragvani.com

नहीं, क्योंकि वह तो कर्म जाल है। विकल्पदशा है वह मेरे स्वरूप में नहीं है और मेरा कार्य भी नहीं है।

यह तो आत्मार्थी की बात है, भाई! जिसे आत्मा सिद्ध करना है, उसे इस प्रकार सिद्ध हो सकता है। यह मोक्ष अधिकार है न! इसलिए इसमें सिद्ध होने की बात है। इसमें प्रथम आत्मा को उसके लक्षण से निर्णय करते हैं कि मैं तो ज्ञान और आनन्द लक्षण से लक्षित हूँ और विकार तो दु:ख लक्षण से लक्षित है, इसलिए इन दो में भेद है और आत्मा में षट्कारक के भेद पड़ते हैं, वह भी व्यवहार की जाल है, वस्तु अभेद है।

आत्मा 'कर्ता'; स्वभाव उसका 'कार्य'; स्वभाव द्वारा कार्य करता है, इसलिए स्वभाव ही 'करण'; स्वभाव में से कार्य होता है, स्वभाव के आधार से कार्य होता है और स्वभाव का कार्य स्वभाव में ही रहता है – ऐसी छह प्रकार की जाल व्यवहार है। अभी तो व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प को हेय मानने में पसीना उतरता है, वहाँ यहाँ तो अभेद वस्तु के छह कारक के भेद करना भी व्यवहार है, हेय है – ऐसा समझाते हैं।

यह मोक्ष अधिकार है। मोक्ष के कारण में व्यवहाररत्नत्रयरूप विभाव तो कर्म जाल है और षट्कारक की प्रवृत्ति, वह व्यवहार जाल है, वह मैं नहीं। सामान्य व्यक्ति को ऐसा लगता है कि यह सब उत्थापते हैं। हाँ भाई! चैतन्य के अभेद अनुभव के अतिरिक्त दूसरा सब उत्थापित करने योग्य है। अभेद चैतन्य भगवान ही मोक्ष का कारण है; भेद डालना, वह मोक्ष का कारण नहीं है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव – ऐसे तीन भेद डालना भी व्यवहार है। पर्यायदृष्टि में यह तीन लक्ष्य में आते हैं, अभेदवस्तु की दृष्टि में ऐसे भेद लक्ष्य में नहीं आते हैं। अभेद के अनुभव में भेद लक्ष्य में नहीं आते हैं।

यह ज्ञानी जीवों का अन्तरहृदय है। **सारे विकल मोसौं न्यारे....** मेरा निश्चय स्वभाव त्रिकाल एकरूप है, इसके अतिरिक्त सब विकल्प व्यवहारचाल है, उसका लक्ष्य करने योग्य नहीं है। द्रव्य की अस्ति अभेद है, उसके अनुभव में भेद नहीं होते हैं। **मैं तौ सुद्ध चेतन अनंत चिनमुद्रा धारी...** कर्मजाल मुझसे भिन्न है, षट्कारक के भेद भी अभेदवस्तु में नहीं है। मेरी प्रभुता अभेद स्वभाव में है, मैं अद्वैत चैतन्य एकरूप हूँ, उसमें द्वैत नहीं; अकेला वीतराग का पिण्ड हूँ।

www.vitragvani.com

अरे! आत्मा के आँगन में जाना और उसका अभेद अनुभव करना, इसमें तो अनन्त पुरुषार्थ है, यह एक ही उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसे सरल कहो या यथार्थ कहो–जैसा है, वैसा कहो परन्तु उपाय यह एक ही है। उत्पाद–व्यय अनेक हैं, व्यवहार अनेक हैं, षट्कारक अनेक हैं परन्तु हमारी प्रभुता सदा काल एकरूप है। यही मेरी महिमा है, यही मेरा गौरव है।

बापू! यह तेरे घर की बात है। एकस्वरूप में तेरी महिमा है; भेद में तेरी महिमा नहीं है। जबकि तू तो लक्ष्मी और इज्जत आदि से अपनी महिमा मानता है, यह तो सब भटक कर मरने के धन्धे हैं। ध्रुवस्वरूप सदा एकरूप है, उसमें कभी हीनाधिकता होती ही नहीं है। केवलज्ञान होता है तो भी ध्रुव में कुछ नहीं बढ़ता है और अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान था, तब भी ध्रुव में से कुछ घटा नहीं था। वस्तुस्थिति ही ऐसी है। ऐसी वस्तु के अनुभव में भेदपना हमेशा हेयरूप ही रहता है, उपादेयरूप नहीं रहता है।

यह तीसरे कलश का अर्थ हुआ। अब चौथे कलश पर १० वाँ पद्य कहते हैं।

आत्मा के चेतन लक्षण का स्वरूप (सवैया इकतीसा)

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन,
साकार चेतना सुद्ध ज्ञान गुनसार है।
चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दरब मांहि,
सामान विशेष सत्ताहीकौ विसतार है॥
कोऊ कहै चेतना चिहन नांही आतमा मैं,
चेतनाके नास होत त्रिविध विकार है।
लक्षनकौ नास सत्ता नास मूल वस्तु नास,
तातै जीव दरबकौ चेतना आधार है॥ १०॥

अर्थ – चैतन्यपदार्थ एकरूप ही है, पर दर्शनगुण को निराकार चेतना और ज्ञानगुण को साकार चेतना कहते हैं। सो ये सामान्य और विशेष दोनों एक चैतन्य ही के विकल्प हैं, एक ही द्रव्य में रहते हैं। वैशेषिक आदि मतवाले आत्मा में चैतन्यगुण नहीं मानते हैं, सो उनसे जैनमतवालों का कहना है कि चेतना का अभाव मानने से तीन दोष उपजते हैं,

www.vitragvani.com

प्रथम तो लक्षण का नाश होता है; दूसरे, लक्षण का नाश होने से सत्ता का नाश होता है; तीसरे सत्ता का नाश होने से मूल वस्तु ही का नाश होता है। इसलिए जीवद्रव्य का स्वरूप जानने के लिए चैतन्य ही का अवलम्बन है।

काव्य-१० पर प्रवचन

आत्मा का लक्षण एक अद्वैत चेतन होने पर भी उस लक्षण के ज्ञान-दर्शन ऐसे दो भेद पड़ते हैं। यह चेतना ही द्रव्य का आधार है – ऐसा कहा है, क्योंकि चेतना का स्वरूप सिद्ध करना है न? प्रवचनसार में भी चेतना को आधार और द्रव्य को आधेय कहा है, पर्याय को 'कर्ता' और द्रव्य को 'कर्म' – ऐसा भी कहा जाता है। कथन की अपेक्षा समझनी चाहिए।

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन.... निराकार अर्थात् भेद नहीं, विशेष नहीं, अनेकता नहीं; एकरूप चेतना में निराकारपना परिणमित हो, उसे दर्शनगुण कहते हैं और जो भेद पाड़कर जानता है, उसे साकार चेतना अथवा ज्ञानगुण कहा जाता है। एक ही समय में निराकार चेतना द्वारा जीव अभेदपने देखता है और साकार चेतना द्वारा द्रव्य-गुण-पर्याय सबका भेद पाड़कर जानता है।

फुटनोट : पदार्थ को जानने के पहले पदार्थ के अस्तित्व का जो किंचित् भान होता है, वह दर्शन है, दर्शन यह नहीं जानता कि पदार्थ किस आकार व रंग का है, वह तो सामान्य अस्तित्व को ही देखता है। 'है' इतना मात्र जानता है, वह दर्शन है। 'यह है' ऐसा भेद भी उसमें नहीं है, इसीलिए दर्शनगुण निराकार और सामान्य है। इसमें महासत्ता अर्थात् सामान्य सत्ता का प्रतिभास होता है। आकार, रंग आदि का जानना ज्ञान है, इससे ज्ञान साकार है, सविकल्प है। सविकल्प अर्थात् स्व और पर, भेद और अभेद सबको जानता है। सविकल्प का अर्थ यहाँ राग नहीं लेना। विकल्प अर्थात् भेदसहित जानना – ऐसा ज्ञान का स्वरूप है। विशेषरूप से जाने वह ज्ञान है। इसमें अवांतर सत्ता अर्थात् विशेष सत्ता का प्रतिभास होता है। (विशेष समझने के लिए 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' की **जं सामण्णं गहणं,** आदि गाथाओं का अध्ययन करना चाहिए।)

साकार चेतना सुद्ध ज्ञान गुनसार है..... विविधतासहित ज्ञात हो, इसलिए वह

www.vitragvani.com

ज्ञान अशुद्ध है – ऐसा नहीं है। साकार चेतना अनेक को अनेकरूप से जानती है, इसलिए कहीं चेतना अशुद्ध नहीं हो जाती है। चेतना का स्वभाव ही ऐसा है। चेतना अद्वेत–एक है परन्तु यह दोनों भेद उसमें आ जाते हैं। सामान्य चेतना, वह दर्शन और विशेष चेतना, वह ज्ञान – यह दोनों एक चेतना के भेद हैं – विस्तार है।

कोई ऐसा कहता है कि आत्मा में चैतन्य लक्षण नहीं है तो ऐसा मानने में तीन बड़े दोष आते हैं। १. चेलना लक्षण का नाश होता है, २. लक्षण का नाश होने से वस्तु के अस्तित्व का ही अभाव होता है और इसलिए ३. मूलवस्तु का ही नाश होता है।

तातै जीव दरबकौ चेतना आधार है – यहाँ चेतना को व्यापक और आत्मा को व्याप्य कहा है; इसलिए व्यापक और व्याप्य का नाश हो जाता है। आत्मा व्यापक है और गुण–पर्याय उसके व्याप्य हैं, वह दूसरी बात है। यहाँ तो चेतना व्यापक है, और चैतन्य उसका व्याप्य है। व्यापक है, वह आधार है और व्याप्य है, वह आधेय है। चेतना के आधार से द्रव्य रहा हुआ है, इसलिए यदि चेतना कायम रहनेवाली न हो तो द्रव्य भी कायम नहीं रहेगा, लक्षण का नाश होने से द्रव्य का ही सत्यानाश हो जाएगा।

यह वस्तु की स्थिति है, उसकी मर्यादा बतलाते हैं – उसमें विकार नहीं है, कर्म–जाल नहीं है, अद्वैत एक है, फिर भी उसके दो भाग हैं – निराकार दर्शनचेतना और साकार ज्ञान चेतना। यदि यह लक्षण न हों तो वस्तु का ही नाश होगा। चेतना लक्षणवाली सत्ता के बिना सत्तावान आत्मा का ही अभाव सिद्ध होता है। ऐसी विचारणा में रहे तो कोई भी विवाद खड़ा नहीं होता। हमारा मार्ग ही सच्चा है – ऐसा मेरापन करके अधिकता मनवानी हो वहाँ झगड़ा खड़ा होता है। सर्वज्ञ भगवान ने कहा हुआ आत्मा का धर्म जो कि तीन काल–तीन लोक को जाननेवाला तत्त्व है, उसे जानना वह विश्वधर्म है; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई विश्व धर्म नहीं है। अपनी कल्पना से एक आत्मा अद्वैत है – ऐसा माने इससे कहीं वह धर्म नहीं हो जाता।

यह बात किसलिए समझाते हैं कि आत्मा सामान्य और विशेषरूप से जाननेवाली सत्ता है तो इन दो में से एक भी प्रकार को निकाल दो तो वस्तु ही नहीं रहती है। इसलिए जिसे आत्मा साधना हो उसने आत्मा एकरूप होने पर भी सामान्य–विशेष दोनों प्रकार से

www.vitragvani.com

जाननेवाला है – ऐसा स्वरूप उसे जानना चाहिए। आश्रय तो एकरूप भगवान आत्मा का करना है परन्तु उसका स्वरूप जैसा है, वैसा समझना चाहिए। आत्मा में कर्ता-कर्म समझना हो तो कर्ता, व्यापक है और कर्म उसका व्याप्य है परन्तु यहाँ तो चेतना द्वारा आत्मा को सिद्ध करना है, इसलिए चेतना व्यापक है और चेतन आत्मा व्याप्य है। चेतना कायम रहनेवाली है; इसलिए उसके आधार से द्रव्य रहा हुआ है। चेतना का नाश होवे तो द्रव्य का भी नाश होगा। इसलिए व्यापक ऐसी चेतना के आधार से व्याप्य ऐसा चैतन्य रहा हुआ है; इसलिए जीवद्रव्य का स्वरूप जानने के लिए चैतन्य का अवलम्बन है।

अब, ग्यारहवें पद्य में क्या कहते हैं ?

(दोहा)

चेतन लक्षन आतमा, आतम सत्ता मांहि।
सत्तापरिमित वस्तु है, भेद तिहूंमैं नांहि॥ ११॥

अर्थ – आत्मा का लक्षण चेतना है, और आत्मा सत्ता में है, क्योंकि सत्ता धर्म के बिना आत्मपदार्थ सिद्ध नहीं होता, और अपनी सत्ता प्रमाण वस्तु है, सो द्रव्य अपेक्षा तीनों में भेद नहीं है, एक ही है।

काव्य-११ पर प्रवचन

परिणामी द्रव्य, परिणाम उसका कर्म और परिणति वह क्रिया – ऐसे तीन नाम हैं परन्तु वस्तु एक है।

कर्ता परिणामी द्रव्य, कर्मरूप परिणाम,
क्रिया पर्याय की फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम।

परिणामी, परिणाम और परिणमने की क्रिया, यह तीनों ही एक वस्तु है।

आत्मा का लक्षण चेतना है और आत्मा उसकी सत्ता में है, इसलिए चेतना और आत्मा की सत्ता अलग नहीं है तथा सत्ता के प्रमाण में ही वस्तु है; इसलिए चैतन्य की सत्ता के प्रमाण में ही वस्तु की स्थिति है।

स्थूल बुद्धिवालों को यह सब समझ में नहीं आता, इसलिए वे लोग व्रत पालने,

www.vitragvani.com

तपस्या करने, यात्रा करना-कराना और दान देना इन सबमें धर्म मानकर अटक जाते हैं।

उपादान-निमित्त के दोहे में दया, दान, पूजा ये तीन नाम लिये हैं कि जिससे जगत का सुख मिलता है, परन्तु आत्मा का सुख उनसे नहीं मिलता है। पुण्य से संयोग मिलते हैं परन्तु उनमें कहीं सुख नहीं है। सुख की सत्ता तो आत्मा में है। जैसे चेतना की सत्ता आत्मा में है, वैसे सुख की सत्ता भी आत्मा में है। आत्मा में सुख नहीं माननेवाले ने आत्मा को भी नहीं माना है क्योंकि सुख और आत्मा दोनों एक ही चीज है। आत्मा, आत्मा का लक्षण और आत्मा की सत्ता - ये तीन वस्तु नहीं, एक ही वस्तु है।

अब, १२ वें पद्य में बनारसीदासजी स्वयं आत्मा का नित्यपना बतलाते हैं।

आत्मा नित्य है (सवैया तेईसा)

ज्यौं कलधौत सुनारकी संगति,
भूषन नाम कहै सब कोई।
कंचनता न मिटी तिहि हेतु,
वहै फिरि औटिकै कंचन होई॥
त्यौं यह जीव अजीव संजोग,
भयौ बहुरूप भयौ नहि दोई।
चेतनता न गई कबहूं,
तिहि कारन ब्रह्म कहावत सोई॥ १२॥

अर्थ - जिस प्रकार सुनार के द्वारा गढ़े जाने पर सोना गहने के रूप में हो जाता है, पर गलाने से फिर सुवर्ण ही कहलाता है; उसी प्रकार यह जीव, अजीवरूप कर्म के निमित्त से अनेक वेष धारण करता है, पर अन्यरूप नहीं हो जाता, क्योंकि चैतन्यगुण कहीं चला नहीं जाता; इसी कारण जीव को सब अवस्थाओं में ब्रह्म कहते हैं।

काव्य-१२ पर प्रवचन

जैसे, सोना आभषूणरूप होने पर भी उसका स्वर्णपना कहीं घट नहीं जाता, स्वर्णपना रखकर सोने के अलग-अलग आकार होते हैं; इसलिए उसे गलाने से सोना ही रहता है। इसी प्रकार यह जीव, जड़कर्मों के निमित्त से अनेकरूप को धारण करता है परन्तु

www.vitragvani.com

वह कोई जड़ नहीं हुआ या रागरूप भी नहीं हो गया है। जीव, शरीर में और राग में दिखने पर भी, उसकी चेतना कहीं गयी नहीं है; चेतना ऐसी की ऐसी रही है, इसीलिए जीव को ब्रह्म कहा जाता है। दूसरी अवस्थाएँ होने पर भी उसका ब्रह्मानन्दस्वभाव मिटा नहीं है – ऐसे चेतनास्वभाव को धरनेवाले चेतन का अनुभव करना, वह मोक्ष का कारण है – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

अब, मोक्षद्वार के १३ वें पद्य में अनुभूति सुबुद्धि सखी को ब्रह्म का स्वरूप समझाती हैं।

सुबुद्धि सखी को ब्रह्म का स्वरूप समझाते हैं (सवैया तेईसा)

देखु सखी यह ब्रह्म विराजित,
याकी दसा सब याहीकौ सोहै।
एकमैं एक अनेक अनेकमैं,
दुंद लियैं दुविधामह दो है॥
आपु संभारि लखै अपनौ पद,
आपु विसारिकै आपुहि मोहै।
व्यापकरूप यहै घट अंतर,
ग्यानमैं कौन अग्यानमैं को है॥ १३॥

अर्थ – सुबुद्धिरूप सखी से कहते हैं कि हे सखी, देख! यह अपना ईश्वर सुशोभित है, इसकी सब परिणति इसे ही शोभा देती है, ऐसी विचित्रता और दूसरे में नहीं है। इसे आत्मसत्ता में देखो तो एकरूप है, और परसत्ता में देखो तो अनेकरूप है, ज्ञानदशा में देखो तो ज्ञानरूप, अज्ञानदशा में देखो तो अज्ञानरूप, ऐसी दोनों दुविधाएँ इसमें हैं। कभी तो सचेत होकर अपनी शक्ति को सम्हालता है और कभी प्रमाद में पड़कर निज-स्वरूप को भूलता है, पर यह ईश्वर निजघट में व्यापक रहता है। अब विचार करो कि ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला कौन है और अज्ञानदशा में वर्तनेवाला कौन है ? अर्थात् वही है।

काव्य-१३ पर प्रवचन

आत्मा का अनुभव सुमति से कहता है कि हे सखी! देख, यह अपना ब्रह्मानन्द

www.vitragvani.com

भगवान अनन्त गुणों की निर्मल पर्यायों से सुशोभित है। इसकी दशा इसे ही शोभित है। सुलटी दशा हो या उलटी दशा हो, वे दोनों आत्मा की दशाएँ हैं; पर के कारण कोई दशा नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त परमाणु आदि में ऐसी दशा दिखाई नहीं देती। आत्मा सुलटा परिणमे तो आनन्द से शोभता है और उलटा परिणमे तो राग में दिखता है – जाननेवाला उसे भी जानता है।

आत्मा स्वरूप से देखें तो एक है और गुणभेद तथा पर्याय से देखें तो अनेकरूप दिखता है – ऐसा चैतन्य का साम्राज्य है। **दुंद लियैं दुविधामह दो है...** आत्मा सुलटी दशा करे तो भी उसकी है, और उलटी दशा करे तो वह भी उसकी है। उसमें उसे कर्म का कारण है – ऐसा भी यहाँ तो याद नहीं किया है। आत्मा अपनी स्वतन्त्र सत्ता में स्वरूप का अनुभव करे तो आनन्द का अनुभव करता है, शोभित होता है। अस्थिरतावश रागरूप से परिणमे तो रागी दिखता है और ज्ञान से हटकर अकेला अज्ञानरूप परिणमे तो भी स्वयं ही है। पर की सत्ता के साथ आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, वह तो यह बतलाता है कि दो द्रव्य के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है।

अपने ब्रह्मानन्द भगवान का आश्रय लेकर शुद्धरूप से परिणमे तो अपनी सच्ची शोभा है और विकार का अनुभव करे तो भी उसे कोई रोकनेवाला नहीं है। अपने अज्ञान के कारण ऐसी दशा है, परन्तु पर के कारण नहीं है।

आपु संभारि लखै अपनौ पद.... अपने ज्ञानानन्द पद को पहचान कर उसकी सम्हाल करे तो ज्ञान–आनन्द का लाभ होता है और यदि अपने को भूले तो राग–द्वेष–मोहरूप से परिणमित होता है। पर के कारण तो कुछ होता ही नहीं। सुलटी या उलटी दशा अपने में अपने कारण से होती है। आत्मा का स्वरूप मुक्त ही है, इसलिए यदि स्वयं मुक्तरूप से अनुभव करे तो मुक्ति ही दिखती है और उसे भूलकर अपने को रागवाला अनुभव करे तो राग दिखता है। अज्ञानदशा में कोई दूसरा द्रव्य कारण है – ऐसा नहीं है।

भगवान आत्मा ब्रह्मानन्द प्रभु की अनुभूति सुमति सखी से ऐसा कहती है कि तू देख तो सही! यह प्रभु आत्मा विपरीत पड़े तो भी स्वयं है और सुलटा हो तो भी स्वयं ही

www.vitragvani.com

है। विपरीतदशा में कोई दूसरा है और सुलटीदशा में स्वयं है – ऐसा नहीं है। दोनों दशा में आत्मा ही व्याप्त है।

अब, १४ वें पद्य में अनुभूति अपनी सखी को अनुभव का दृष्टान्त कहती है।

आत्म-अनुभव का दृष्टान्त (सवैया तेईसा)

ज्यौं नट एक धरै बहु भेख,
कला प्रगटै बहु कौतुक देखै।
आपु लखै अपनी करतूति,
वहै नट भिन्न विलोकत भेखै॥
त्यौं घटमैं नट चेतन राव,
विभाउ दसा धरि रूप विसेखै।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनौं पद,
दुंद विचारि दसा नहि लेखै॥ १४॥

अर्थ – जिस प्रकार नट अनेक स्वांग बनाता है, और उन स्वांगों के तमाशे देखकर लोग कौतूहल समझते हैं, पर वह नट अपने असलीरूप से कृत्रिम किये हुए वेष को भिन्न जानता है, उसी प्रकार यह नटरूप चेतनराजा, परद्रव्य के निमित्त से अनेक विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, परन्तु जब अन्तरङ्गदृष्टि खोलकर अपने सत्यरूप को देखता है, तब अन्य अवस्थाओं को अपनी नहीं मानता।

काव्य-१४ पर प्रवचन

ज्यौं नट.... दृष्टान्त दिया है कि जैसे एक ही नट अनेक वेष धारण करता है; कभी स्त्री का भेष तो कभी बालक का, पशु का, ऐसे अनेक वेष धारण करता है, और अपनी कला से अनेक प्रकार का कौतुक करके लोगों को बताता है तो देखनेवाले इसे जो वेष धारण किया है, उस रूप से देखते हैं परन्तु स्वयं तो जानता है कि मैं इस वेषरूप नहीं हूँ, मैं तो जो हूँ वह हूँ। मैं किसी वेषरूप नहीं हो गया हूँ, सभी वेष भी कृत्रिम हैं। मैं इनसे भिन्न हूँ – ऐसा नट समझता है। इसी प्रकार इस देहरूपी घट में चैतन्यरूप नट देह से पृथक् विराजमान है, वह अनेक प्रकार के विकार के वेष धारण करता है – अनेक विभाव पर्यायों

www.vitragvani.com

को प्राप्त होता है, परन्तु **खोलि सुदृष्टि....** यदि अन्तर्दृष्टि खोलकर अपने स्वरूप को देखता है तो स्वयं तो एकरूप ही है। राग, शरीर, वाणी, मन की अवस्था मेरी नहीं है – ऐसा समझता है।

वास्तव में आत्मा का पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा सुलटा परिणमे तो ज्ञान और आनन्द करता है और उलटा परिणमे तो राग-द्वेष करके दु:खी होता है; इसके अतिरिक्त आत्मा दूसरा कुछ नहीं कर सकता है। जहाँ अपनी सत्ता है, वहाँ उल्टा-सीधा करे परन्तु जहाँ अपनी सत्ता नहीं है – ऐसे परद्रव्य में वह क्या करेगा? स्वरूप को खोलकर देखे तो शान्ति और आनन्द है तथा स्वरूप को भूलकर देखे तो राग और द्वेष है। यद्यपि राग-द्वेष तो ज्ञानी को भी होते हैं परन्तु उन्हें ज्ञानी अपना स्वरूप नहीं मानते। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की स्थिति ऐसी है कि उसमें वह जीव, राग होने पर भी राग से पृथक् रहता है।

यह तो मोक्ष अधिकार है न! 'मैं मुक्तस्वरूप हूँ' इस प्रकार जहाँ अपनी अन्तर्दृष्टि खोलकर देखता है तो वह पर्याय में भी मुक्त है। राग-द्वेष के भाव को तो वह अपने स्वरूप में नहीं जानता है।

पूर्व के पद्य में ऐसा कहा था कि अज्ञान में या ज्ञान में आत्मा वही का वही है और यहाँ कहा है कि द्वन्द्वरूप दशा को वह अपनी नहीं जानता है।

अब, पाँचवें श्लोक के १५ वें पद्य में हेय-उपादेय भाव पर उपदेश देते हैं।

हेय-उपादेय भावों पर उपदेश (छन्द अडिल्ल)

जाके चेतन भाव, चिदानंद सोइ है।
और भाव जो धरै, सौ औरौ कोइ है॥
जो चिनमंडित भाउ, उपादे जाननैं।
त्याग जोग परभाव, पराये माननैं॥ १५॥

अर्थ – जिसमें चैतन्यभाव है, वह चिदात्मा है, और जिसमें अन्यभाव है, वह और ही अर्थात् अनात्मा है। चैतन्यभाव उपादेय हैं, परद्रव्यों के भाव पर हैं – त्यागने योग्य हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-१५ पर प्रवचन

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप और आनन्दमूर्ति है, उसे ही आत्मा कहा जाता है, बाकी अन्य जो कुछ भाव हैं, वे परभाव हैं। अनेक प्रकार के शुभाशुभभाव हैं, वे अनात्मा हैं – आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। धर्म के बहाने हुए विकल्प भी अनात्मा है, परभाव है; आत्मा का भाव नहीं है, इसलिए जो चिन्मण्डित भाव हैं – ज्ञानानन्दस्वभाव है, वही उपादेय है, अन्य कोई परभाव उपादेय नहीं है।

शुभभाव हो या अशुभभाव हो, वे सभी भाव विभाव हैं; इसलिए त्यागने योग्य है। वह परद्रव्य का भाव है, जीव का निजभाव नहीं है। चैतन्य का भाव तो ज्ञान और आनन्दमय होता है। शुभाशुभभाव तो पर के निमित्त से होते हैं, इसलिए पर के हैं। कर्म के निमित्त से हुए भाव कर्म के हैं। लोग पढ़ें और विचारें तो ख्याल में आता है, इसके बिना तो ऐसा लगता है कि 'यह तो शुभभाव को हेय कहते हैं और शुद्धभाव तो अभी है नहीं' परन्तु पूरा आत्मा है न! पूर्णानन्द प्रभु आत्मा का अन्तर में स्वीकार करे तो आत्मा पूरा शुद्ध ही है।

श्रोता : छठवें काल में शुभभाव उपादेय हो जाता होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जहर हो, वह कभी अमृत होता है? किसी काल में नहीं होता। बहुत भूख लगी हो और छींके में रोटी पड़ी हो, वहाँ सर्प जहर डाल गया हो तो वह खा सकते हैं न? (पुराने जमाने में रोटियाँ छींके में रखने का रिवाज था)। इसी प्रकार राग जहर है, व्यवहार की क्रिया का परिणाम जहर है, वह उपादेय कैसे होगा? वह तो हमेशा हेय ही होता है। व्यवहार भले शुभभाव को उपादेय और अशुभ को हेय कहे परन्तु निश्चय से विभावमात्र हेय ही है। ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वही उपादेय है। रागादि व्यवहार का विकल्प होता है, परन्तु वह उपादेय नहीं है, हेय है। चौथे गुणस्थान से ही वे भाव होने पर भी छोड़ने योग्य है – ऐसा धर्मी जानता है।

अन्तर आत्मा का शुद्धचैतन्य स्वभाव है, वह उपादेय है। बहिर्लक्ष्य से उत्पन्न हुए भाव हेय हैं, उन्हें अपना स्वरूप मानता है वह बहिरात्मा है। ज्ञानी को व्यवहार तो मुक्त है। ज्ञानी, व्यवहार को परज्ञेय के रूप में जानता है, स्वज्ञेय के रूप में नहीं जानता। इसमें

www.vitragvani.com

पुरुषार्थ तो अनन्त चाहिए। एक भाई कहता था कि पुरुषार्थ नहीं होता। भाई! पुरुषार्थ ऐसे नहीं होता, पहले अभ्यास चाहिए। आत्मा ऐसा है, यह राग है, यह स्वभाव है – ऐसा सब पहले समझ में ले, तब उसे उत्साह आता है कि अहो! चैतन्यस्वभाव जो स्थायी है, वह आदरणीय है; कृत्रिम रागादिक भाव आदरणीय नहीं है। नित्यानन्द भगवान आत्मा उपादेय है, क्षणिक रागादिक भाव उपादेय नहीं है।

पुण्य-पाप अधिकार में सहज शुद्ध चैतन्य की दृष्टि, ज्ञान और रमणता की परिणति को शुभभाव कहा है, उसे ही मोक्षमार्ग कहा है और शुभाशुभविकारी भाव को बन्धमार्ग कहा है। शुभ अर्थात् सच्चा-अच्छा-भला। ज्ञानानन्दस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई दृष्टि -ज्ञान की परिणति भी शुभ है, वही अच्छी है। पुण्य-पाप के भाव अशुभ हैं, त्यागनेयोग्य हैं।

ज्ञानी जीव चाहे घर में रहे परन्तु मोक्षमार्ग साधता है – ऐसा अब कहेंगे। वहाँ भाषा तो ऐसी ही आयेगी कि ज्ञानी घर में रहते हैं परन्तु ज्ञानी घर में नहीं रहते, ज्ञानी तो आत्मा में रहते हैं। शरीर, वाणी, मन, और पुण्य-पापभाव से मुक्त ज्ञानी बन्धभाव में नहीं आते हैं।

ज्ञानी जीव चाहे घर में रहें, चाहे वन में रहें; मोक्षमार्ग साधते हैं (सवैया इकतीसा)

जिन्हकैं सुमति जागी भोगसौं भये विरागी,
परसंग त्यागी जे पुरुष त्रिभुवनमैं।
रागादिक भावनिसौं जिनिकी रहनि न्यारी,
कबहूं मगन ह्वै न रहैं धाम धन मैं॥
जे सदैव आपकौं विचारैं सरवांग सुद्ध,
जिन्हकै विकलता न व्यापै कहूं मन मैं।
तेई मोख मारगके साधक कहावैं जीव,
भावै रहौ मंदिरमैं भावै रहौ वनमैं॥ १६॥

अर्थ – जिन्हें सुबुद्धि का उदय हुआ है, जो भोगों से विरक्त हुए हैं, जिन्होंने शरीर आदि परद्रव्यों से ममत्व हटाया है, जो राग-द्वेष आदि भावों से रहित हैं, जो कभी घर और धन-सम्पत्ति आदि में लीन नहीं होते, जो सदा अपने आत्मा को सर्वांग शुद्ध विचारते हैं,

www.vitragvani.com

जिन्हें मन में कभी आकुलता नहीं व्यापती, वे ही जीव त्रैलोक्य में मोक्षमार्ग के साधक हैं, चाहे घर में रहें, चाहे वन में रहें।

काव्य-१६ पर प्रवचन

देखो, क्या कहते हैं ? जिसे ऐसी सुमति जगी है कि मैं तो राग के अनुभव से भिन्न चीज हूँ, इस कारण जिसे अन्तरङ्ग में राग के भोग से वैराग्य जागृत हुआ है कि राग की वृत्ति तो जहर है। राग या संयोग कहीं छूट नहीं जाते परन्तु उनसे विरक्ति आती है; इस कारण राग में या भोग में ज्ञानी रक्त नहीं है। पुण्य-पाप के विकल्प का रस टूट जाए, इसका नाम वैराग्य है। पूर्णानन्द के नाथ की प्रतीति आयी, वहाँ राग के विकल्प से हट गया, वही वैराग्य है, बाकी सब राग कहलाता है।

रागी जीव, कर्म से बँधता है और विरक्त जीव, कर्म से छूटता है - ऐसा आगम का वचन है। सामान्यरूप से रागीपने के कारण शुभाशुभ दोनों भाव से जीव बँधता है; इसलिए उन दोनों भावों का निषेध है। शुभाशुभ दोनों भावों से हटकर रागरहित परिणति हो, उसका नाम वैराग्य है। वैराग्य हो तो भोग की जड़ की क्रिया भी छूट जाये - ऐसा नहीं है। जड़ की क्रिया जड़ से होती है, धर्मी उससे भिन्न है। राग का अनुभव ही भोग है, उससे धर्मी विरक्त होने से धर्मी वैरागी है।

परसंग त्यागी... शरीर, वाणी, मन आदि परद्रव्य का ममत्व जिसने दूर किया है,... धर्मी चाहे ऊर्ध्वलोक में हो, मध्यलोक में हो, या अधोलोक में हो परन्तु पर के ममत्व से वह छूटा हुआ है। सम्यक्त्वी नरक में भी ममत्व का त्यागी है। व्यन्तर या भवनवासी देवलोक में भी सम्यक्त्वी, भोग का त्यागी है और ऊपर वैमानिक देवलोक में हो तो भी धर्मी भोग का त्यागी है। तिर्यंच में बड़े-बड़े मगरमच्छ आदि भी सम्यक्त्वी होते हैं, वे भोग के त्यागी हैं। तीन लोक में जहाँ हो, वहाँ सम्यक्त्वी परसंग के त्यागी हैं। जहाँ-जहाँ मैं हूँ, वहाँ-वहाँ परसंग नहीं है।

फिर कहेंगे कि धर्मी घर में रहे या वन में रहे... परन्तु उसे पर का संग ही नहीं है। सम्यक्त्वी घर में या वन में नहीं परन्तु वह तो आत्मा में है। तीन लोक में जहाँ सम्यक्त्वी हो, वहाँ वह संग से छूटा हुआ ही है।

www.vitragvani.com

रागादिक भावनिसौं जिनिकी रहनि न्यारी – धर्मी की करनी राग से न्यारी है। रागादिक कहने से हास्य, रति, अरति, शोक आदि सब आ जाता है। चैतन्य का अनुभव हुआ, वहाँ राग-द्वेष आदि सबसे रहित हो गया। अब वह कभी धन या धाम में मग्न नहीं होता, भले चक्रवर्ती का राज्य हो और धन का पार न हो, नवनिधान भरे हों परन्तु धर्मी उनमें एकाकार नहीं है।

जे सदैव आपकौं विचारैं सरवांग सुद्ध..... इसमें सदैव और सर्वांग दो शब्द हैं। धर्मी सदैव अर्थात् हमेशा और सर्वांग अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा को शुद्ध ही जानता है। धर्मी स्वयं को समस्त पहलुओं से शुद्ध जानता है – द्रव्य से शुद्ध है और पर्याय से अशुद्ध है – ऐसा भी नहीं। अशुद्धि का तो वह त्यागी है और शुद्धता का भोगी है। धर्मी के मन में कभी व्याकुलता व्याप्त नहीं होती, क्योंकि आकुलता, वह राग है और धर्मी तो उससे भिन्न है। धर्मी के मन में तो सदा शान्ति व्याप्त है, अकषायभाव व्यापता है।

तेई मोख मारगके साधक कहावैं..... ऐसे धर्मी जीव ही मोक्षमार्ग के साधक कहलाते हैं। वे भले ही गृहस्थाश्रम में हों, गृहस्थ सम्बन्धी विकल्प उठते हों परन्तु उनसे धर्मी भिन्न है। उन्हें घर का संग नहीं है, इसी कारण मोक्षमार्ग के साधक घर में हों या वन में हों, असंग ही रहते हैं।

अब, छठवाँ श्लोक लेना है, यह श्लोक नियमसार ५० गाथा में भी आया है – **सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां...**

मोक्षमार्गी जीवों की परिणति (सवैया तेईसा)

चेतन मंडित अंग अखंडित,
सुद्ध पवित्र पदारथ मेरौ।
राग विरोध विमोह दसा,
समुझै भ्रम नाटक पुदगल केरौ॥
भोग संयोग वियोग बिथा,
अवलोकि कहै यह कर्मज घेरौ।

www.vitragvani.com

है जिन्हकौ अनुभौ इह भांति,
सदा तिनकौं परमारथ नेरौ॥ १७॥

अर्थ – जो विचारते हैं कि मेरा आत्मपदार्थ चैतन्यरूप है, अछेद्य, अभेद्य, शुद्ध और पवित्र है, जो राग-द्वेष-मोह को पुद्गल का नाटक समझते हैं, जो भोग सामग्री के संयोग और वियोग की आपत्तियों को देखकर कहते हैं कि ये कर्मजनित हैं – इसमें हमारा कुछ नहीं है, ऐसा अनुभव जिन्हें सदा रहता है, उनके समीप ही मोक्ष है।

काव्य-१७ पर प्रवचन

धर्मी विचार करता है कि चैतन्य पदार्थ अछेद्य अभेद्य है क्योंकि चैतन्य अखण्डित है, उसे कोई छेद या भेद नहीं सकता तथा मेरी चीज शुद्ध और पवित्र है; मेरी चीज अशुद्ध और अपवित्र नहीं हो सकती। राग, द्वेष, और विमोहदशा मेरा स्वरूप नहीं है, वह तो पुद्गल का नाटक है। समयसार में भी तत्त्वार्थश्रद्धान की विपरीतता से अपनी भिन्नता कही है अर्थात् भ्रम मिथ्यात्व है और मैं उससे भिन्न हूँ – ऐसा नहीं परन्तु मिथ्यात्व है ही नहीं। राग-द्वेष और पर में अटका हुआ भाव मेरा स्वरूप नहीं है, पुद्गल का नाटक है।

धर्मी को भी भोगों की सामग्री का संयोग होता है, वियोग होता है, आपत्ति आती है... परन्तु वह सब कर्मजनित है – ऐसा धर्मी जानता है। रोगादि में अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से जुड़ान भी होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, वह तो कर्म का घेरा है। मेरे चैतन्य में वह नहीं है।

जिसे सदा ऐसा अनुभव रहता है, उसे परमार्थ-मोक्ष नजदीक है। अल्प काल में ही उसे केवलज्ञान होगा – ऐसी दशावाले धर्मी को मोक्षमार्ग का साधक कहा जाता है।

अब, इस मोक्ष अधिकार का ७ वाँ-८ वाँ कलश है, उस पर १८ वाँ-१९ वाँ पद्य लेना है।

सम्यग्दृष्टि जीव साधु हैं और मिथ्यादृष्टि जीव चोर हैं (दोहा)

जो पुमान परधन हरै, सो अपराधी अग्य।
जो अपनौ धन व्यौहरै, सो धनपति सरवग्य॥ १८॥

www.vitragvani.com

परकी संगति जौ रचै, बंध बढ़ावै सोइ।
जो निज सत्तामैं मगन, सहज मुक्त सो होइ॥ १९॥

अर्थ – जो मनुष्य परद्रव्य हरण करता है, वह मूर्ख है, चोर है; जो अपने धन का उपयोग करता है, वह समझदार है, साहूकार है।

जो परद्रव्य की संगति में मग्न रहता है, वह बन्धसंतति को बढ़ाता है और जो निज-सत्ता में लीन रहता है, वह सहज ही मोक्ष पाता है।

काव्य – १८-१९ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि जीव साधु है अर्थात् वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा जाननेवाला है – भला है, जबकि मिथ्यादृष्टि जीव चोर है। वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा नहीं जानता है, इसलिए परचीज का मालिक होता है।

जो पुमान परधन हरै..... लोक में भी जो पुरुष पर का धन हरण करता है, उसे चोर कहा जाता है – अपराधी कहा जाता है और जो पुरुष अपने धन का उपयोग करता है, उसे साहूकार कहा जाता है और वह अपराधी नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में उतारते हैं कि जो जीव पर की संगति करता है, निज भगवान आत्मा की एकाग्रता छोड़कर पर में रागादिक विकल्प करके उसमें एकाग्र होता है, वह अपराधी है; इसलिए बन्ध को बढ़ाता है। आनन्द और ज्ञानस्वरूप को भूलकर राग के भाव को, विकल्प को और शरीरादि को अपना मानता है, वह तो चोर है, अर्थात् गुनहगार है-अपराधी है। राग का स्वामी होता है, और उसका ही सेवन करता है, वह चोर है – ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

चैतन्यस्वरूप आत्मा अपने स्वरूप का संग करने के बदले राग का संग करता है, इसलिए वह गुनहगार है, इससे उसे बन्ध होता है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बन्धन उसे बढ़ता है। जबकि अपने स्वरूप को सम्हालता है और उसका ही सेवन करता है, उसी में एकाग्र होता है – ऐसा ज्ञानी बन्ध को बढ़ाता नहीं है, अपितु मुक्त होता है क्योंकि वह अपना धन खर्च करनेवाले साहूकार के समान है, परधन का स्वामी नहीं होता है। शुद्ध चैतन्य, ज्ञानानन्द सहजानन्दस्वरूप में एकाग्र – ऐसा वह साहूकार है।

www.vitragvani.com

संस्था में एक नौकर ऐसा था कि संस्था का बहीवट करता, इसलिए उसके पास संस्था के पैसे जो जेब में पड़े हों और कोई गरीब व्यक्ति मांगे तो वह पैसा दे देता, फिर खतौनी मिलाने पर पैसे का मेल नहीं मिला, तीन-चार हजार कम हुए तब कहने लगा, मेरे पास पैसा हो और कोई माँगे तो मैं इनकार कैसे कर सकता हूँ.... ऐसा जवाब दिया। अरे! परन्तु वह पैसा तेरा कब था? दूसरे के पैसे से दान करना, वह कहीं साहूकारी नहीं है।

इसी प्रकार अज्ञानी, निमित्त के संग में रहता है, इसलिए उसे जो राग होता है, उसे ही अपना स्वरूप मानकर सेवन करता है, वह कहीं साहूकारी नहीं है, चोरी है। यह शरीर मेरा, परिवार मेरा है, धनादि वैभव मेरा है - ऐसा मानकर परद्रव्य का स्वामी होता है, और उसके सम्बन्धी राग में एकाग्र होता है, वह उसकी मूढ़ता है - अज्ञानता है, भला नहीं है- खोटा कार्य है। राग में या व्यवहार के विकल्प में मग्न होनेवाले वे जीव चोर हैं, गुनहगार हैं, इसलिए उन्हें मिथ्यात्व का बन्धन पड़ता है।

अपनी सत्ता-स्वभाव तो शुद्ध है, उसमें एकाग्र नहीं होकर अज्ञानी राग को ही स्वभाव का साधन जानकर उसमें एकाग्र रहता है, इसलिए मिथ्यादृष्टि है और अपने स्वभाव का साधन स्वभाव को ही जानकर स्वभाव में एकाग्र होता है, वह ज्ञानी है। वह निज सत्ता में मग्न होने से सहजरूप से मुक्ति को प्राप्त होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि बन्ध की जेल में पड़ता है। धर्मी जीव शुद्धस्वभाव में एकाग्र होता होने से निरपराधी है, इसलिए सहज मोक्ष प्राप्त करता है।

यह अर्थ हुआ था। अब इसका विशेष भावार्थ भी दिया है। लोक में प्रवृत्ति है कि जो दूसरे के धन को लेता है, उसे अज्ञानी, चोर या डाकू कहते हैं, वह गुनहगार और दण्डनीय होता है, और जो अपने धन को वर्तता है, वह महाजन या समझदार कहलाता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। उसी प्रकार जो जीव, परद्रव्य अर्थात् शरीर या शरीर के सम्बन्धी चेतन-अचेतन पदार्थों को अपना मानता है, अथवा उनमें लीन होता है, वह मिथ्यात्वी है, संसार के क्लेश पाता है और जो निजात्मा को अपना मानता या उसी का अनुभव करता है, वह ज्ञानी है, मोक्ष का आनन्द पाता है।

www.vitragvani.com

शरीर और शरीर के सम्बन्धवाले चेतन-अचेतन सबको तथा साथ में रागादिक भी ले लेना, उन्हें जो अपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। वह भले दया पाले, व्रत पाले, पूजा करे, भक्ति करे परन्तु पर में एकाग्र होने से चार गतियों में भटकता है परन्तु जो शुद्ध निजात्मा को ही अपना जानता है, और उसी में एकाग्र होता है, वह ज्ञानी है, वह चार गति से छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है।

यह मोक्ष अधिकार है न! 'राग की एकता, बन्ध का कारण है और स्वभाव की एकता, मुक्ति का कारण है' - इस प्रकार संक्षेप में बहुत कह दिया है। दया, दान, व्रतादि में भी जिसकी एकताबुद्धि है, वह अपराधी है, वह चार गति में भटकेगा और जिसकी एकता अन्तर्मुखस्वभाव में है, वह सहजरूप से मुक्ति प्राप्त करेगा।

अब, २० वें दोहे में द्रव्य और सत्ता का स्वरूप कहते हैं।

द्रव्य और सत्ता का स्वरूप (दोहा)

उपजै विनसै थिर रहै, यह तो वस्तु वखान।
जो मरजादा वस्तुकी, सो सत्ता परवांन॥ २०॥

अर्थ - जो पर्यायों से उत्पन्न और नष्ट होता है परन्तु स्वरूप से स्थिर रहता है, उसे द्रव्य कहते हैं, और द्रव्य के क्षेत्रावगाह को सत्ता कहते हैं।

काव्य-२० पर प्रवचन

थिरता एक समय में, उपजे-विणसे तब ही,
उलट पलट ध्रुव सत्ता राखै, या हम सुनि न कबही,
अवधू नट-नागर की बाजी.....

भगवान! लोक के नगर के नट की बाजी-मर्यादा ऐसी है कि एक ही समय में वस्तु स्थिर रहकर पर्याय से उत्पन्न होती है और विनशती है अर्थात् पुरानी अवस्था से वस्तु व्यय को प्राप्त होती है, उसी समय में नयी अवस्था से उत्पन्न होती है और वस्तुरूप से ध्रुव रहती है - ऐसी वस्तु की मर्यादा है और वस्तु का क्षेत्र, वही उसकी सत्ता है। वस्तु अपने क्षेत्र से बाहर नहीं जाती है।

www.vitragvani.com

षट् द्रव्य की सत्ता का स्वरूप (सवैया इकतीसा)

लोकालोक मान एक सत्ता है आकाश दर्व,
धर्म दर्व एक सत्ता लोक परमिति है।
लोक परवान एक सत्ता है अधर्म दर्व,
काल के अनू असंख सत्ता अगनिति है॥
पुद्गल सुद्ध परवानुकी अनंत सत्ता,
जीव की अनंत सत्ता न्यारी न्यारी छिति है।
कोऊ सत्ता काहूसौं न मिलि एकमेक होइ,
सबै असहाय यौं अनादिहीकी थिति है॥ २१॥

अर्थ – आकाशद्रव्य एक है, उसकी सत्ता लोक-अलोक में है, धर्मद्रव्य एक है, उसकी सत्ता लोक-प्रमाण है, अधर्मद्रव्य भी एक है, उसकी सत्ता भी लोक-प्रमाण है, काल के अणु असंख्यात हैं, उनकी सत्ता असंख्यात है, पुद्गलद्रव्य अनंतानंत हैं, उनकी सत्ता अनंतानंत है, जीव द्रव्य अनंतानंत हैं, उनकी सत्ता अनंतानंत है, इन छहों द्रव्यों की सत्ताएँ जुदी जुदी हैं, कोई सत्ता किसी से मिलती नहीं, और न एकमेक होती है। निश्चयनय में कोई किसी के आश्रित नहीं सब स्वाधीन हैं। ऐसा अनादि काल से चला आ रहा है।

काव्य-२१ पर प्रवचन

यह छह द्रव्य की संख्या और उनका क्षेत्र बतलाया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में काल द्रव्य असंख्यात कहे गये हैं और उनकी सत्ता एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर है – ऐसा कहा है। श्वेताम्बर में भी एक हेमचन्द्राचार्य हो गये हैं, उन्होंने योगशास्त्र में कालद्रव्य की सत्ता कही है, बाकी श्वेताम्बर के शास्त्रों में काल को जीव-अजीव की पर्याय ही कही है; कालद्रव्य नहीं कहा है। यहाँ तो कहते हैं कि कालद्रव्य अगणित है, उनकी स्वतन्त्र सत्ता है, अनन्त पर्यायोंवाला वह भी द्रव्य है, अनादि अनन्त वस्तु है। काल कोई द्रव्य नहीं है – ऐसा नहीं है। काल द्रव्यसहित छहों द्रव्यों को जीव की एक समय की पर्याय जान ले – ऐसी जीव की एक पर्याय की ताकत है; इसलिए छहों द्रव्यों को मानने पर उसमें जीव की एक पर्याय की पूर्णता का स्वीकार हुआ गिना जाता है। छह द्रव्य में से कम मानता है,

www.vitragvani.com

उसे तो आत्मा की एक पर्याय की पूर्ण शक्ति का स्वीकार नहीं है। आत्मा त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है, उसकी एक समय की पर्याय में छह द्रव्य ज्ञात हों – ऐसी ही उसकी सत्ता की सामर्थ्य है। जीवद्रव्य तो ऐसी अनन्त पर्यायवाला अनन्त गुणों का एक पिण्ड है।

पुद्गल सुद्ध परवानुकी अनंत सत्ता – एक-एक रजकण को भिन्न गिनो तो पुद्गल की सत्ता अनन्त है और अनादि की है। किसी सत्ता की दूसरी सत्ता में कभी मिलावट नहीं होती। एक अंगुल के असंख्य भाग में निगोद के एक-एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। उन सबकी सत्ता भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र है। आलू, काई, कन्दमूल आदि के एक-एक टुकड़े में सिद्धों से भी अनन्तगुने जीव हैं। वे सब जीव के ज्ञान के ज्ञेय हैं। जिसे उन ज्ञेयों का स्वीकार नहीं है, उसे ज्ञान की पर्याय का भी स्वीकार नहीं है और जिसे पर्याय का स्वीकार नहीं होता, उसे द्रव्य का स्वीकार तो होता ही नहीं। इसलिए कोई एक जीव द्रव्य ही मानता है; कोई जीव और अजीव द्रव्य दो ही द्रव्य मानता है, कोई काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों को ही मानता है – इन सबको जीव की एक पर्याय की शक्ति का भी भरोसा नहीं है – स्वीकार नहीं है; इसलिए उन्हें जीवद्रव्य का भी वास्तव में स्वीकार नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अनादि, अनन्त स्वतन्त्र है। प्रत्येक द्रव्य, अन्य द्रव्य का कर्ता, हर्ता या भोक्ता नहीं है। छहढाला में आता है कि लोक का कोई कर्ता नहीं है, धारण करनेवाला नहीं है या नाश करनेवाला नहीं है।

जीव की अनंत सत्ता न्यारी न्यारी छिति है। प्रत्येक जीव अपनी स्वतन्त्र सत्ता में – अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में व्याप्त है। कन्दमूल में एक टुकड़े में असंख्य तो शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनन्त जीव हैं। उस प्रत्येक की सत्ता भिन्न-भिन्न है। सब अपनी -अपनी सत्ता में कार्य कर रहे हैं। पर सत्ता के साथ किसी का कोई सम्बन्ध नहीं है। वहाँ से निकलकर एक जीव मनुष्य होता है तो दूसरा जीव फिर वहीं का वहीं निगोद में उत्पन्न होता है। कोई जीव भव्य है तो कोई अभव्य है। इस प्रकार प्रत्येक की सत्ता और उसका परिणमन भिन्न-भिन्न है। जीव की संख्या से पुद्गल के परणामुओं की संख्या अनन्तगुनी है। एक-एक बड़े स्कन्ध में अनन्त परमाणु रहते हैं, उन सबकी सत्ता अलग-अलग है।

www.vitragvani.com

वे कोई दूसरे की सत्ता में मिल नहीं जाते हैं। स्कन्ध में प्रत्येक परमाणु स्थूल परिणमन में आये हैं, वे भी स्वयं से ही है। स्थूल सत्ता के परिणमन में आये हैं, इसलिए परमाणु स्थूल परिणमित हुए हैं – ऐसा भी नहीं है। अपनी योग्यता से ही स्थूलरूप से परिणमे हैं।

तीन काल में कोई सत्ता दूसरी सत्ता में मिलकर एकमेक नहीं होती। सिद्ध में तो ज्योत में ज्योत मिल जाती होगी न? नहीं; सब सिद्ध अपने-अपने अनुभव में रहते हैं। किसी के कारण से किसी का अनुभव नहीं है। जहाँ सिद्ध हैं, वहीं अनन्त निगोद के जीव भी हैं परन्तु सब अपनी-अपनी सत्ता का अनुभव करते हैं। स्थूलरूप परिणमन हो या सूक्ष्मरूप परिणमन हो, सबमें अपना स्वतन्त्ररूप से परिणमन है। दूसरे द्रव्य के कारण से इस द्रव्य का परिणमन नहीं है। संयोग में अथवा व्यंजनपर्याय में ऐसा लगता है कि इन अनेक द्रव्यों का एक ही परिणमन है परन्तु ऐसा नहीं है।

जीव की पर्याय में बिगाड़ है, वह जीव से स्वयं से है; कर्म के कारण जीव में बिगाड़ नहीं होता है। बिगाड़ अर्थात् अशुद्धता। प्रत्येक द्रव्य असहाय है – दूसरे के सहारे नहीं है। सबकी सत्ता अलग-अलग है। पञ्चाध्यायी में आठवें श्लोक में कहा है कि समस्त द्रव्य स्वसहाय और निर्विकल्प है। यह सब पढ़कर अन्तर में भाव बैठना चाहिए। ऊपर-ऊपर से पढ़ लेने से समझ में नहीं आता है।

यह लकड़ी ऊँची करना हो तो हाथ की अंगुलियों का सहारा तो चाहिए न? नहीं, समस्त परमाणु अपने उत्पाद-व्यय के कर्ता हैं, उन्हें दूसरे के सहारे की आवश्यकता नहीं है। दो द्रव्यों के बीच आधार-आधेय सम्बन्ध या कर्ता-कर्म सम्बन्ध बिल्कुल नहीं है – ऐसा वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार अपनी पर्याय में जाने और ऐसी अनन्त पर्यायों का पिण्ड मैं एक द्रव्य हूँ – ऐसी दृष्टि करे, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। ऐसी वस्तु की स्थिति है, इसे भगवान ने बनाया नहीं है परन्तु जाना है और कहा है।

सबै असहाय यौं अनादिहीकी थिति है। प्रत्येक द्रव्य अनादि से अपने स्वतन्त्रस्वरूप से ही है। उसमें यह लोक और यह समस्त रचना किस प्रकार हुई? – यह सवाल ही नहीं है। सब है ही, नया नहीं हुआ है, यह अनादि की मर्यादा है। एक आत्मा के कारण से दूसरे आत्मा का परिणमन हो या एक परमाणु के कारण से दूसरा परिणमित

www.vitragvani.com

हो – ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। वस्तुस्थिति से कोई किसी के आश्रित नहीं है, सब स्वाधीन है। प्रत्येक सिद्ध स्वाधीन.... निगोद का प्रत्येक जीव स्वाधीन, एक-एक परमाणु स्वाधीन... प्रत्येक द्रव्य स्वाधीन है। आत्मा, राग करता है; इसलिए परमाणु को कर्मरूप से परिणमित होना पड़ता है – ऐसा नहीं है और कर्म का उदय आया, इसलिए जीव को अशुद्धरूप से परिणमित होना पड़ता है – ऐसा नहीं है।

राजकोट में एक बार प्रश्न हुआ था कि जीव, राग करे तो ही पुद्गल परमाणु को कर्मरूप परिणमना पड़ता है न? नहीं, तुम्हें वस्तुस्थिति का पता नहीं है। परमाणु, जीव के राग की सहायता के बिना स्वयं से ही कर्म पर्यायपने परिणमते हैं और आत्मा भी कर्म के उदय की सहायता के बिना रागपने परिणमता है। प्रत्येक द्रव्य अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव में रहता है, किसी के कारण से किसी के उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते हैं।

बहुत से लोगों को यह प्रश्न रहा ही करता है कि एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य की किञ्चित् थोड़ी सहायता तो चाहिए न! यह पुस्तक यहाँ से उठाकर अन्यत्र रखना हो तो हाथ आदि का सहारा तो चाहिए न? भाई! किसी की अस्ति में अन्य किसी की अस्ति की बिल्कुल मदद नहीं है – ऐसी वस्तुस्थिति है। उसकी श्रद्धा अभी व्यवहार से (विकल्प में) भी न बैठे, तब तक आगे कहाँ से बढ़ेगा? अंश दृष्टि में रुकता है, वह मिथ्यादृष्टि है। द्रव्यदृष्टि होने पर पर्याय है, उसका ज्ञान होता है परन्तु द्रव्यदृष्टि के बिना पर्याय में ही मूढ़ है, वह तो परसमय है। पर्याय – अंश में ही एकत्व माननेवाला तो पर को अपना मानता है, सम्पूर्ण द्रव्य को नहीं मानता है।

'सत्ता' कहते ही उसमें पूरा अस्तित्व आ गया। सत्ता का अस्तित्व पर के कारण हो – ऐसा होता ही नहीं है। द्रव्य, द्रव्य से है; पर्याय से नहीं। 'उत्पाद उत्पन्न होनेवाले अंश का है, व्यय नष्ट होते हुए अंश का है और ध्रौव्य स्थायीभाव के आश्रित है।' सम्पूर्ण द्रव्य का नाश या उत्पाद नहीं है। एक समय में पूर्ण सामर्थ्यवाली सत्ता के क्षेत्र में दूसरे अनन्त जीव रहते होने पर भी, एक-दूसरे में किसी का प्रवेश नहीं है। अपने तत्त्व को त्रिकाल अस्तिरूप मानने पर ही उसने अपने स्वरूप को जाना कहा जाता है। त्रिकाल तत्त्व की श्रद्धा करनेवाली पर्याय है, इसलिए कथंचित् पर्याय भी है। द्रव्य में पर्याय है ही नहीं – ऐसा

www.vitragvani.com

मानकर द्रव्य का स्वीकार करता है, वह तो अज्ञान है। एक ओर नियमसार में पर्याय को परद्रव्य कहा है और फिर पर्याय के द्वारा ही द्रव्य ज्ञात होता है तो क्या परद्रव्य के द्वारा स्वद्रव्य ज्ञात होता है – ऐसा कहना है ? नहीं, भाई ! यह तो वीतरागमार्ग है। इसमें जिस अपेक्षा से जो कथन हो, उसे उस अपेक्षा से समझना चाहिए। वाद-विवाद करना नहीं होता है। यह तो चौरासी के अवतार में से उभरने का काल है, उसमें वाद में रुकना भी क्लेश है। रागी जीव को सत्य को स्थापित करने में राग है और असत्य का उत्थापन करने में जरा द्वेष का अंश है। गजब बात है न ! रागी जीव को राग होता है, रागरहित परमात्मा को तो वीतरागभाव से वाणी निकलती है।'

सबै असहाय यौं अनादिहीकी थिति है। सर्व पदार्थ पर की सहायता रहित है – ऐसी वस्तुस्थिति अनादि की है; नयी नहीं, परन्तु अभी विकल्पात्मक ज्ञान में पर से भिन्नता भी नहीं बैठती, उसे विकल्प की भी अपेक्षारहित द्रव्य किस प्रकार लक्ष्य में आयेगा ? स्वयं अपनी सेवा कभी नहीं की है। आँख बन्द होने पर अंधेरा हो जाएगा बापू ! उससे पहले इस तत्त्व को श्रद्धा में बैठा ले। यदि इस तत्त्व की श्रद्धा और सेवा नहीं की तो पर की सेवा नहीं छूटेगी।

छह द्रव्य ही से जगत की उत्पत्ति है (सवैया इकतीसा)

एई छहौं दर्व इनहीकौ है जगतजाल,
तामैं पांच जड़ एक चेतन सुजान है।
काहूकी अनंत सत्ता काहूसौं न मिलै कोइ,
एक एक सत्तामैं अनंत गुन गान है॥
एक एक सत्तामैं अनंत परजाइ फिरै,
एकमैं अनेक इहि भांति परवान है।
यहै स्यादवाद यहै संतनिकी मरजाद,
यहै सुख पोख यह मोखकौ निदान है॥ २२॥

अर्थ – ऊपर कहे हुए ही छह द्रव्य हैं, इन्हीं से जगत उत्पन्न है। इन छह द्रव्यों में पाँच अचेतन हैं, एक चेतनद्रव्य ज्ञानमय है। किसी की अनन्त सत्ता किसी से कभी मिलती

www.vitragvani.com

नहीं है। प्रत्येक सत्ता में अनन्त गुण-समूह हैं, और अनन्त अवस्थाएँ हैं, इस प्रकार एक में अनेक जानना। यही स्याद्वाद है, यही सत्पुरुषों का अखण्डित कथन है, यही आनन्दवर्धक है और यही ज्ञान मोक्ष का कारण है।

काव्य-२२ पर प्रवचन

जगत छह प्रकार के द्रव्यों से बना हुआ है। उसमें प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। कर्म की सत्ता से जीव की सत्ता नहीं है और जीव से कर्म की सत्ता नहीं है। यह बात अभी धारणा में भी न बैठे तो अन्तर अनुभव में बैठना तो बहुत कठिन है।

स्वयं मरणशय्या पर पड़ा हो, पूरा बड़ा परिवार इकट्ठा हुआ हो परन्तु है कोई शरण? परद्रव्य किस प्रकार शरण दे सकेगा? भाई मर जाए तो बापू रोता है कि अरे! भरे घर में से उसे निकलना कैसे रुचा?..... अरे! परन्तु उसे कहाँ जाना था?.... वास्तव में तो भरा घर अन्दर में है, वहाँ आना तुझे क्यों नहीं रुचता? भाई! तुझे किसी की - पर की सहायता / मदद की आवश्यकता नहीं है।

एक ओर शास्त्र कहता है कि जीव और पुद्गल, धर्मास्तिकाय की सहायता से गति करते हैं और यहाँ कहते हैं कि किसी द्रव्य को परद्रव्य की सहायता की आवश्यकता नहीं है। हाँ! किसी को किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है - ऐसे समस्त द्रव्य 'असहाय' गुणधारी हैं, यह बात तो निश्चित है और धर्मास्तिकाय की सहायता की बात की है, वह निमित्त का ज्ञान करने के लिए बात है।

एक-एक सत्ता में अनन्त गुण हैं और अनन्त पर्याय है। प्रति समय पर्याय बदलती है, वह स्वयं के कारण बदलती है; पर के कारण पर्याय नहीं बदलती। वस्तु एक है परन्तु उसमें गुण और पर्याय अनेक हैं। इस प्रकार एक में अनेक है - ऐसा स्याद्वाद है और वही सत्पुरुषों का अखण्डित कथन है। अनादि सनातन भगवान सर्वज्ञ और सन्तों का यह खण्डित न हो - ऐसा कथन है। इसलिए अज्ञानियों का कथन सुनकर सर्वज्ञ के कथन में सन्देह नहीं करना। आत्मा एक ही है, आत्मा सर्व व्यापक है, दूसरा कोई द्रव्य ही नहीं है - ऐसी अज्ञानी की बात में फँसना नहीं चाहिए। प्रत्येक द्रव्य का व्यापकपना अपनी सत्ता में है; परसत्ता में किसी का कुछ नहीं है। किसी का आसन किसी में नहीं है। प्रत्येक सत्ता

www.vitragvani.com

को भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र स्वीकार करना ही सुख का पन्थ है, आनन्द का देनेवाला है। साधु और सन्त यही मार्ग बतला रहे हैं, यह मार्ग ही आनन्दवर्धक है।

अरे! एक समय में अनन्त पदार्थों को जानने की जिसकी एक समय की पर्याय की ताकत है - ऐसे अखण्ड आत्मा को खण्ड-खण्ड मानना बड़ा अपराध है। मेरी सत्ता पर से भिन्न है; मेरे गुण-पर्याय मेरे कारण रहते हैं और मेरे कारण पर्याय बदलती है, उसमें पर की सहायता नहीं है - ऐसा दृष्टि में लेने से मिथ्यादृष्टि मिटकर सम्यग्दृष्टि होती है; पर्यायदृष्टि मिटकर द्रव्यदृष्टि होती है, वही सुख का साधन है, वही मोक्ष का पन्थ है।

अब, श्री समयसार नाटक में मोक्षद्वार का २३ वाँ पद्य है। उसमें क्या सिद्ध करते हैं? आत्मा एक सत्ता है। सत्ता अर्थात् अस्तित्व। जो है, था और रहेगा - ऐसी आत्मा की सत्ता अनादि-अनन्त ध्रुव सत्ता है, उस ध्रुव सत्ता का साधन करने का नाम मोक्षमार्ग है।

भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द से भरपूर अनादि-अनन्त एक सत्ता है; इसलिए जिसे धर्म करना हो, सुखी होना हो, उसे स्वसत्ता को साधना चाहिए।

पुनः (सवैया इकतीसा)

साधी दधि मंथमैं अराधी रस पंथनिमैं,
जहां तहां ग्रंथनिमैं सत्ताहीकौ सोर है।
ग्यान भान सत्तामैं सुधा निधान सत्ताहीमैं,
सत्ताकी दुरनि सांझ सत्ता मुख भोर है॥
सत्ताकौ सरूप मोख सत्ता भूल यहै दोष,
सत्ताके उलंघे धूमधाम चहूं वोर है।
सत्ताकी समाधिमैं बिराजि रहै सोई साहू,
सत्तातैं निकसि और गहै सोई चोर है॥ २३॥

अर्थ - दही के मथने में घी की सत्ता साधी जाती है, औषधियों की क्रिया में रस की सत्ता है, शास्त्रों में जहाँ-तहाँ सत्ता ही का कथन है। ज्ञान का सूर्य सत्ता में है, अमृत का पुंज सत्ता में है, सत्ता का छुपाना सांझ के अन्धकार के समान है, और सत्ता को प्रधान करना सबेरे का सूर्य उदय करना है। सत्ता का स्वरूप ही मोक्ष है, सत्ता का भूलना ही जन्म-मरण

www.vitragvani.com

आदि दोषरूप संसार है। अपनी आत्मसत्ता का उल्लंघन करने से चतुर्गति में भटकना पड़ता है। जो आत्मसत्ता के अनुभव में विराजमान है, वही भला आदमी है और जो आत्मसत्ता को छोड़कर अन्य की सत्ता को ग्रहण करता है, वही चोर है।

काव्य-२३ पर प्रवचन

जो वस्तु-शक्ति सत्ता में होती है, वह उसके साधन से प्रगट होती है। दही में घी रहा है, वह उसका मन्थन करने से प्राप्त होता है। जैसे, अभ्रक को एक बार, दो बार नहीं परन्तु हजार बार ताप देते हैं, तब उसकी भस्म होती है परन्तु मूल सत्ता में उसकी शक्ति पड़ी है तो होती है। कंकड़ को इतना ताप दो तो उसकी राख हो जाएगी परन्तु भस्म / औषधि नहीं होगी क्योंकि उसमें अभ्रक की सत्ता ही नहीं है।

जैसे, मोर के पंख में ताम्र की सत्ता है तो उसमें से ताँबा निकालकर उसकी भस्म बनायी जाती है। जिसमें जिसका अस्तित्व हो, उसमें से वह आता है। वैद्य उस ताँबे में से भस्म बनाकर क्षयरोगी को दवा देते हैं, उसके साता का उदय हो तो अच्छा होता है। कहीं दवा से अच्छा नहीं होता है परन्तु यहाँ तो सत्ता को सिद्ध करना है।

वृक्ष के रस में से दवायें बनती हैं न! तो रस में दवा का अस्तित्व था तो बाहर आता है। इसलिए शास्त्रों में अर्थात् भगवान की वाणी में जहाँ हो, वहाँ सत्ता का कथन आता है कि चेतन में चेतन का अस्तित्व है और जड़ में जड़ का अस्तित्व है, धर्मास्तिकाय में धर्मास्तिकाय का अस्तित्व है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में उसका अस्तित्व है; पर से उसका अस्तित्व नहीं है।

आत्म भगवान के अस्तित्व में ज्ञानसूर्य की सत्ता है, अन्दर में पूरा ज्ञानप्रकाश भरा पड़ा है, उसमें से प्रगट होता है। कहीं क्रियाकाण्ड से केवलज्ञान या मोक्ष हो - ऐसा नहीं है। चैतन्यसत्ता में एकाग्रता करने से ज्ञानप्रकाश बाहर आता है, इसलिए कहते हैं कि प्रभु! अपने अस्तित्व में ही ज्ञान भरा है, उसमें से आता है। कहीं बाहर से किसी पदार्थ में से या शास्त्र में से ज्ञान नहीं आता है। देव-शास्त्र-गुरु ज्ञान नहीं देते हैं या उनकी वाणी सुनने से ज्ञान नहीं मिलता है। ज्ञानस्वभावी आत्मा में सर्वज्ञ होने की शक्ति पड़ी है, उसमें से सर्वज्ञपना प्रगट होता है। ज्ञानसूर्य पर नजर करके उसमें एकाग्र होने पर मोक्ष का मार्ग प्रगट

www.vitragvani.com

होता है और पूर्ण एकाग्र होने पर मोक्ष प्रगट होता है। इस प्रकार मोक्ष या मोक्ष का मार्ग कहीं बाहर से प्रगट नहीं होता है; इसलिए गुरु की कृपा से आत्मज्ञान हो जाएगा... सुनते- सुनते कल्याण हो जाएगा... ऐसा जो कुछ बोला जाता है, वह व्यवहार का कथन है।

अपनी ध्रुव सत्ता में पूर्ण ज्ञानसूर्य रहा हुआ है, वह ध्रुव के आश्रय से प्रगट हो जाता है और पूर्णरूप से एकाग्र होने पर केवलज्ञान सूर्य प्रगट हो जाता है; इसलिए जहाँ हो वहाँ सत्ता का ही बोलबाला है। आत्मा की सत्ता में राग-द्वेष, पुण्य-पाप तो नहीं है परन्तु अल्पज्ञ पर्याय जितना आत्मा नहीं है। आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। उसमें नजर डालने से उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष का मार्ग प्रगट होता है। प्राप्त की प्राप्ति होती है। छोटी पीपल में चौसठ पहरी चरपराहट उसकी सत्ता में है तो उसे घिसने से प्रगट होती है। इसी प्रकार अन्तर में पूर्ण ज्ञान का सूर्य भरा पड़ा है तो उसमें एकाग्रता के साधन से पूर्ण साध्यदशा प्रगट होती है।

वीतराग का मार्ग क्या है ? वह लोगों को मिला नहीं है; इसलिए मार्ग जिस प्रकार है, उससे उल्टे प्रकार से कहा जाता है। साक्षात् भगवान के पास समवसरण में जाए तो भी भगवान ऐसा कहेंगे कि हमारे सन्मुख देखने से या हमें सुनने से तुझे ज्ञान नहीं होगा। हमारे सन्मुख देखना छोड़कर तू अपने ज्ञानसूर्य को देख तो ज्ञान अवश्य प्रगट होगा। सोने की खान में से सोना निकलेगा, लोहे की खान में से सोना नहीं निकलेगा - ऐसी सीधी बात है।

यह शरीर की सत्ता है, वह शरीर के परमाणु के कारण से है, आत्मा के कारण से इसका अस्तित्व नहीं है। यह बोलना-चलना, खाना-पीना आदि की क्रिया होती है, वह आत्मा के कारण से नहीं होती है, जड़ के कारण होती है।

अमृत का पुंज सत्ता में है। अमृत अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का सुख तेरी सत्ता में है। कोई अतीन्द्रिय आनन्द के सुख को बाहर ढूँढ़ने जाए तो मिले - ऐसा नहीं है। भक्ति, पूजा के विकल्प में भी आनन्द नहीं है। तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ, इन्द्र आदि सभाजनों के समक्ष यह कहते थे। सम्यक्श्रद्धा और ज्ञान होने पर अतीन्द्रिय आनन्द के सुख का अंश वेदन में आता है और अज्ञानदशा के कारण जो दुःख का वेदन होता था, वह मिटता है। राग की भट्टी सुलगती थी, वह बुझती है। 'यह राग आग दाह दहै सदा तातैं समामृत

www.vitragvani.com

सेईये'। चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, वह कषाय की भट्टी है। जिस भाव से तीर्थङ्करनामकर्म बँधे – ऐसा राग भी तेरे स्वरूप में नहीं है, वह भी कषाय है।

राग और विकार में एकत्वबुद्धि है, वही वास्तव में दु:ख है। छप्पनिया दुष्काल में ग्वाले गायों पर सिर रखकर रोते थे, क्योंकि छह-छह गाँव तक कहीं घास का तिनका भी नहीं उगा था, पशु भूखे मरते थे। देखो, यह कैसी दशा! यह सब राग की एकत्वबुद्धि का दु:ख है। ये सेठ, राजा, देव, सुखी दिखते हैं, वे सब दुखिया हैं, सुखी नहीं क्योंकि अन्दर में सुख भरा है, उसका तो इन्हें पता नहीं है और बाहर से सुख चाहते हैं; इसलिए भिखारी हैं। अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र भरा है, उसका विश्वास नहीं आता, तब तक सब दु:खी ही है।

भगवान आत्मा अपने प्रत्येक गुण से छलाछल भरा समुद्र है – ऐसी मेरी महान सत्ता है – ऐसी श्रद्धा जीव को पहले आना चाहिए। तेरी सत्ता में अमृत का पूर है, अमृत का ढेर है। देह-मन-वाणी तेरी सत्ता में नहीं है; पुण्य-पाप तेरी सत्ता में नहीं है; हिंसा, झूठ, चोरी आदि के परिणाम या अहिंसा, सत्य आदि के परिणाम भी तेरा स्वरूप नहीं है, वह तो आस्रवतत्त्व है, अनात्मसत्ता है। आस्रव से भिन्न भगवान आत्मा में अमृत का समुद्र भरा है। उसकी पर्याय में अमृत आनन्द का नमूना आवे तो उस नमूना द्वारा पूरी सत्ता प्रतीति में आती है।

जो एक तम्बाकू सूँघकर प्रसन्न होता है, उसे यह बात प्रतीति में कैसे जमेगी? दो, तीन बीड़ी पीवे तब तो इसका पेट साफ होता है! अरे! मूर्ख के गाँव कहीं अलग होते हैं! शुभ या अशुभ कोई भी कल्पना तू करता है, वह सब तुझे दु:ख का कारण होती है। तू तेरी सत्ता का अनजान होकर दु:ख की प्रसिद्धि करता है, इसलिए आचार्यदेव तुझे तेरी सत्ता का भान कराते हैं परन्तु अमृत सागर भगवान आत्मा के सन्मुख देखे बिना और राग के विकल्प से परान्मुख हुए बिना ऐसी सत्ता का स्वीकार नहीं हो सकता है। तीन लोक के नाथ कहते हैं कि हम भी तुझे तेरी सत्ता की श्रद्धा कराने में समर्थ नहीं हैं। तेरा आत्मा ही तेरी सत्ता का स्वीकार कराने में समर्थ है।

ग्यान भान सत्तामैं.... ज्ञान का सूर्य और अमृत का निधान तेरी सत्ता में है। आत्मा

www.vitragvani.com

की सत्ता में दु:ख का या राग का निधान नहीं है – ऐसी सत्ता का भगवान ने आन्दोलन प्रसिद्ध किया है। सुन रे सुन प्रभु सब तेरे पास है।

सत्ताकी दुरनि सांझ.... सत्ता को छुपाना तो साँझ की सन्ध्या समान है। ज्ञानानन्द भगवान को ढँक देना कि यह मैं नहीं... मैं नहीं... इस प्रकार सत्ता को छुपाना, वह अन्धकार के समान है। राग में मैंपना माननेवाला और राग करते-करते धर्म होना माननेवाला जीव, ज्ञानसूर्य की सत्ता को ढँक रहा है।

यह बहुत संक्षिप्त में बनारसीदासजी ने चैतन्यसत्ता की प्रसिद्धि की है। प्रभु! तुझमें तो ज्ञानानन्द की प्रभुता की सत्ता है; पामरता की सत्ता तेरे स्वभाव में नहीं है। जिसे राग में, पुण्य में अधिकता भासित होती है, वह तो अज्ञानरूपी अन्धकार को प्रसिद्ध करता है। जागृत ज्योति का निषेध करके अज्ञान अन्धकार को स्वीकार करता है कि जिसमें दु:ख है, दु:ख का कारण है। मैं पर से प्रगट होऊँ – ऐसा हूँ, यह माननेवाला ज्ञानसूर्य को ढँक देता है। वस्तु तो जो है, वही है परन्तु उसकी दृष्टि में राग का ही वस्तुपने स्वीकार आया, इसलिए मूलवस्तु ढँक जाती है।

इस प्रकार अज्ञान में जीव विद्यमान वस्तु को अविद्यमान करता है और अविद्यमान ऐसा जो राग, उसे विद्यमान करता है।

बापू! मार्ग तो ऐसा है। सर्वज्ञ परमात्मा ने यह मार्ग फरमाया है।

सत्ता मुख भोर है.... सत्ता के स्वरूप को मुख्य करना और राग तथा निमित्त गौण करना। जैसे, प्रात:काल सूर्य का उदय होता है, वैसे ही त्रिकाल ज्ञानसूर्य की सत्ता को मुख्य करके उसका स्वीकार करने से मति-श्रुतज्ञान का प्रकाश प्रगट होता है। अपरिणामी ध्रुववस्तु का स्वीकार करने से सम्यक्मति-श्रुतज्ञान आदि के परिणाम प्रगट हो जाते हैं, क्योंकि परिणमित होना तो वस्तु का पर्यायधर्म है और त्रिकाल आनन्दरूप रहना भी वस्तु का धर्म है।

लोगों को ऐसा धर्म महँगा लगता है और वे सस्ता धर्म ढूँढ़ते हैं परन्तु सस्ता धर्म तो महँगा पड़ेगा। तेरा पूरा अवतार चला जाएगा। इसलिए सच्चा धर्म समझना हो तो चैतन्यसत्ता को मुख्य करना और दूसरा सब गौण करना। अकेला चैतन्यस्वभाव ही

www.vitragvani.com

जिसकी दृष्टि में मुख्य होता है और देव-शास्त्र-गुरु, उनके प्रति भक्ति का राग और अपनी पर्याय भी जिसकी दृष्टि में गौण होती है, उसे सत्ता के सूर्य का उदय होता है। सत्ता को मुख्य किये बिना मति-श्रुतज्ञान का प्रकाश प्रगट हो - ऐसा तीन काल में नहीं होता है। बहुत पढ़े, सीखे, बहुत याद रखे, उससे सत्ता के सूर्य का उदय नहीं होता है। सत्ता को मुख्य करने से ही सत्ता का सूर्य उदय होता है। भोर अर्थात् प्रातः हुई - सूर्य उदित हुआ... वह अब पूर्णता को प्राप्त करके सादि-अनन्त काल ऐसा ही रहेगा।

इन बनारसीदासजी ने गृहस्थाश्रम में रहकर कैसी बात लिखी है! ये कहाँ गृहस्थाश्रम में थे! ये तो आत्मा में थे। धर्मी घर में नहीं होते, धर्मी आत्मा में ही होते हैं। गृहस्थाश्रम का विकल्प उत्पन्न होता है, उसे भी धर्मी जानते हैं। धर्मी विकल्प में नहीं रहते हैं; धर्मी ज्ञान में ही रहते हैं।

व्यापार-धन्धे में से कठिनता से थोड़ा समय मिले, उसमें सीधा धर्म लेने जाए वहाँ कुगुरु उसे लूट लेते हैं। व्यापार में थोड़ा समय जाए, थोड़ा खाने में जाए, थोड़ा नींद में जाए, थोड़ा बाकी बचे, उसमें कुगुरु के पास जाए तो वह भी लुट जाता है। यहाँ तो भगवान स्वाधीनता का सच्चा मार्ग बतलाते हैं कि तेरी सत्ता को मुख्य कर तो धर्म प्रगट होगा; दूसरी किसी चीज को मुख्य करेगा तो धर्म प्रगट नहीं होगा।

अपना स्वरूप ज्ञानानन्द प्रभुता से भरा हुआ है - ऐसा भान होता है, वही मोक्ष है। ऐसा वस्तुस्वरूप अनादि से है, यह भगवान कहते हैं। यह कहीं कल्पना की बात नहीं है, भगवान के घर की बात है। धर्म प्राप्त करने में देव-गुरु का निमित्त तो होता है परन्तु निमित्त कुछ कर नहीं देता, निमित्त तो अकिंचित्कर है। भगवान तो सत् का सत्पना प्रसिद्ध करते हैं। जो जीव उसे समझकर स्वीकार करता है, उसे लाभ है।

सत्ता भूल यहै दोष.... अपनी सत्ता को भूल जाना ही बड़ा दोष है। देव-शास्त्र-गुरु कहते हैं कि तू अपने को भूलकर हमें ही याद करेगा यह भी तेरी भूल है। अपनी पूर्णानन्द प्रभु सत्ता को भूलकर कुछ भी करना, वह सब चार गतिरूप संसार में भटकने का कारण है। चैतन्यसूर्य, अमृत पुञ्ज अपनी महासत्ता के सन्मुख न देखकर परसन्मुख देखता है, उसने निजसत्ता का उल्लंघन किया है, उसके फल में वह चार गति के चक्कर

www.vitragvani.com

में फिरता है। निज को भूलकर पर का स्मरण करना, वह संसार में भटकने का कारण है – ऐसा भगवान कहते हैं।

सत् तो अनादि से इसी प्रकार है। इससे विपरीत मानेगा, उसे विपरीत फल आयेगा। अपनी चिदानन्दसत्ता की सन्मुखता नहीं करके परसन्मुखता करता है, वही उसे संसार में परिभ्रमण का कारण होती है। इसलिए यहाँ तो कहते हैं कि अपनी सत्ता को पकड़! हमारे अस्तित्व के कारण तेरा अस्तित्व नहीं है और तेरे अस्तित्व के कारण हमारा अस्तित्व नहीं है; तेरा अस्तित्व तेरे कारण है, उसे पकड़!

गुरु से ज्ञान नहीं होता और गुरु के पास से जो सुना हो, वह ज्ञान भी ज्ञान नहीं है। गुरु ने कहा कि तेरी सत्ता शुद्ध है – ऐसा जो तुझे ख्याल आया, उससे भी ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान तो एकमात्र स्वसत्ता के आश्रय से ही होता है – ऐसी बात है। आज माने, कल माने, या अनन्त काल के बाद माने परन्तु यह मानने से ही इसके जन्म-मरण का अन्त आयेगा, इसके बिना तो जीव चौरासी लाख योनियों की घानी में पिलेगा। अभी इसे मनुष्यभव मिला है, साता का उदय है; इसलिए खाने-पीने इत्यादि की अनुकूलता है और १०-२० लाख की पूँजी हो तो अपने को सुखी मानता है परन्तु वह सुखी नहीं है। अधिक पैसावाला हो, वह तो अधिक दु:खी होता है क्योंकि उसे पैसे की ममता है न! अपनी सत्ता को भूलकर धनादि की सत्ता से अपना अस्तित्व मानता है, इसलिए वह दु:खी है – मूर्ख है। यह बात आगे २८ वें पद्य में आयेगी कि सम्पत्ति तो मिट्टी है, उसे अपनी मानते हैं और उससे बड़प्पन का वेदन करते हैं, वे सब मूर्ख हैं। करोड़ के पति अर्थात् जड़ हैं।

सत्ताके उलंघे धूमधाम चहूं वोर है..... अपनी चैतन्यसत्ता के श्रद्धा-ज्ञान के सन्मुख होकर स्वीकार किये बिना राग, पुण्य, शरीर आदि की सत्ता को ही अपना सत्ता मानता है, वह चार गति में भटकता है। जिससे स्वयं को लाभ मानता है, उसे अपनी सत्ता मानता है परन्तु पर को अपना मानने से लाभ तो नहीं होता, उलटा चार गति में भटकना पड़ता है।

सत्ता की समाधिमैं.... जो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव की सत्ता में रहता है, वही भला मनुष्य है, सत्जन है। सज्जन = सत् +जन। अपनी पूर्ण सत्ता का स्वीकार करनेवाला और

www.vitragvani.com

रागादि को अपना नहीं माननेवाला जीव, सज्जन है। राग तो ज्ञानी को भी होता है परन्तु साथ में विवेकबुद्धि होती है। पर की दया पालने का भाव होता है परन्तु हेयबुद्धि से होता है। अज्ञानी को उसमें उपादेयबुद्धि होती है; इसलिए वह सत्ता को भूला हुआ है। अपनी सत्ता की उपादेयता को भूलकर परसत्ता को उपादेय मानता है, वह चोर है। अपने सहज ज्ञानानन्द भाव को भूलकर पुण्य-पाप की सत्ता को सम्हालता है, वह चोर है, भूला हुआ है, अपराधी है।

अब, २४ वें पद्य में कहते हैं कि आत्मसत्ता का अनुभव निर्विकल्प है। सविकल्प में अनुभव नहीं होता है। भगवान आत्मा के पूर्णस्वभाव का स्वीकार निर्विकल्पदशा में ही होता है। अपनी पूर्ण ज्ञानानन्दसत्ता का अनुभव निर्विकल्पता में ही होता है, वह कहते हैं।

आत्मसत्ता का अनुभव निर्विकल्प है (सवैया इकतीसा)

जामैं लोकवेद नांहि थापना उछेद नांहि,
पाप पुन्न खेद नांहि क्रिया नांहि करनी।
जामैं राग दोष नांहि जामैं बंध मोख नांहि,
जामैं प्रभु दास न अकास नांहि धरनी॥
जामैं कुल रीत नांहि जामैं हारि जीत नांहि,
जामैं गुरु सीष नांहि वीष नांहि भरनी।
आश्रम बरन नांहि काहूकी सरन नांहि,
ऐसी सुद्ध सत्ताको समाधिभूमि बरनी॥ २४॥

अर्थ - जिसमें लौकिक रीतियों की न विधि है न निषेध है, न पाप-पुण्य का क्लेश है, न क्रिया की आज्ञा है, न राग-द्वेष है, न बंध-मोक्ष है, न स्वामी है - न सेवक है, न आकाश है न धरती है, न कुलाचार है, न हार-जीत है, न गुरु है, न शिष्य है, न चलना-फिरना है, न वर्णाश्रम है, न किसी का शरण है। ऐसी शुद्धसत्ता अनुभवरूप भूमि पर पाई जाती है।

काव्य-२४ पर प्रवचन

यह पद्य बनारसदासजी ने सन्तों की वाणी में से निकालकर बनाये हैं, कोई घर का

www.vitragvani.com

नहीं बनाया है। चौथे गुणस्थानवाला, पाँचवेंवाला, या छठवें गुणस्थानवाले मुनिराज कहें या केवली कहें, उस वस्तु के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं होता है। उनकी स्थिरता में अन्तर होता है परन्तु वस्तु की दृष्टि और ज्ञान में जरा भी अन्तर नहीं होता है।

जामैं लोकवेद नांहि.... आत्मा का अनुभव राग-द्वेष आदि से रहित है; इसलिए उसमें लोकवेद अर्थात् लौकिक रिवाज कुछ नहीं है। जहाँ आत्मा का निर्विकल्प अनुभव है, वहाँ लौकिक रिवाज तो क्या परन्तु शास्त्र में कही हुई व्यवहारपद्धति का भी उसमें अभाव है। **थापना उछेद नांहि....** मूर्ति को ईश्वर कहना, यह लोकव्यवहार है और मूर्ति पूजा का खण्डन करना, वह लोकस्थापना का निषेध है। सत्ता के अनुभव में दो में से एक भी भाव नहीं होता है। विकल्प में भगवान की स्थापना-पूजा आदि का शुभभाव होता है परन्तु अनुभव में वह विकल्प भी नहीं होता है। इस कारण मूर्ति और मूर्ति पूजा का निषेध कर डालना, यह मिथ्या बात है तथा उससे धर्म मानना भी खोटी बात है। साक्षात् भगवान की पूजा करना भी राग है, वह कहीं धर्म नहीं है परन्तु उसका निषेध नहीं होता है।

पाप पुन्न खेद.... अनुभव में पुण्य और पापरूप खेद का भी अभाव है। पाप और पुण्य दोनों खेद है। वस्तु निर्विकल्प है, उसमें जिसका अभाव है, उसका वस्तु के अनुभव में भी अभाव है।

आत्मा का धर्म निर्विकल्प है, इसलिए आत्मा की दृष्टि भी निर्विकल्प है। जिसने चैतन्य की शरण ली है, उसे कोई परद्रव्य या परभाव की शरण की आवश्यकता नहीं है। जहाँ पर की शरण ली है, वहाँ तो दु:ख और आकुलता है। सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव, राग के वेदनरहित निर्विकल्प सुखरूप होता है।

जामैं लोकवेद नांहि.... लौकिक में जो सुख-दु:ख की कल्पना है, वह आत्मा के अनुभव में नहीं है। आत्मा के अनुभव में लौकिक ज्ञान भी नहीं है, अकेले चैतन्य का निर्विकल्प अनुभव है। **थापना उछेद नांहि....** आत्मा ऐसा है और ऐसा नहीं - ऐसा विधि और निषेध का विकल्प भी आत्मा के अनुभव में नहीं होता है अथवा मूर्ति की स्थापना सम्बन्धी विधि-निषेध भी उसमें नहीं है - ऐसे दोनों अर्थ हो सकते हैं। **पाप पुन्न खेद**

www.vitragvani.com

नांहि.... शुभ और अशुभ दोनों भावों में क्लेश है। निर्विकल्प अनुभव में उन दोनों का अभाव होने से क्लेश नहीं है।

अनुभव चिन्तामणि रत्न, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप॥

अनुभव में किसी क्रिया का भी बन्धन नहीं है कि इतनी क्रिया करो तो अनुभव होता है। अनुभव में राग और द्वेष भी नहीं है। राग-द्वेष तो आत्मा भिन्न पड़ गया है; इसलिए स्वानुभव में राग-द्वेष का अनुभव नहीं है, निरालम्बी परिणति है।

बन्ध और मोक्ष पर्याय में है परन्तु वस्तु की दृष्टि के अनुभव में बन्ध और मोक्ष का विकल्प नहीं है। मुझे बन्ध मिटाना है, और मोक्ष करना है - ऐसा विकल्प भी अनुभव में नहीं होता है। परमात्मा मेरे स्वामी हैं और मैं सेवक हूँ - ऐसा भेद भी अनुभव में नहीं है। न आकाश है, न धरती है अर्थात् अनुभव में ऊँच-नीच का भेद भी नहीं है। मन और राग से भिन्न पड़कर स्वरूप के अनुभव में आया है, वहाँ ऐसा कोई भेद नहीं है।

जामैं कुल रीत नांहि.... अपने कुल का यह रिवाज है, इसलिए ऐसा करना - ऐसा कुछ अनुभव में नहीं है। **जामैं हारि जीत नांहि....** मेरी हार हुई या जीत हुई - ऐसे किसी भाव का अनुभव आत्मा के अनुभव में नहीं होता है।

स्थानकवासी में ऐसी बात आती है कि महावीर भगवान को केवलज्ञान होने से पहले दश स्वप्न आये थे, और फिर केवलज्ञान हुआ; इसलिए वे लोग स्वप्न को गुणरूप मानते हैं। जबकि वेदान्ती स्वप्न को दोषरूप मानते हैं। इसलिए दोनों पक्ष के बीच एक महीने तक चर्चा चली थी। अरे भाई! स्वप्न तो मन की कल्पना है, उससे आत्मा में गुण भी नहीं होता और दोष भी नहीं होता। चार ज्ञान - मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्ययज्ञान से भी केवलज्ञान नहीं होता तो स्वप्न तो केवलज्ञान का कारण कहाँ से होगा? चार ज्ञान का अभाव होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान तो आत्मा के आश्रय से प्रगट होता है, चार ज्ञान से केवलज्ञान नहीं होता है। मोक्षमार्ग से मोक्ष नहीं होता है, मोक्षमार्ग तो अपूर्णदशा है, उससे पूर्णदशा किस प्रकार होगी? मोक्षमार्ग का व्यय होकर मोक्ष की उत्पत्ति होती है।

www.vitragvani.com

अन्तर के अनुभव में आत्मा, गुरु और पर्याय, शिष्य – ऐसा भेद भी नहीं रहता। ध्रुव के अनुभव में कोई विकल्प नहीं है। **वीष नांहि भरनी....** अर्थात् अन्तर के अनुभव में अनुभव के लिए इतनी गति करना पड़ेगी या इतनी स्थिति करना पड़ेगी – ऐसा कुछ नहीं है। अनुभव में हलन-चलन नहीं है। अनुभव में कोई वर्ण भी नहीं है। अकेले अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है, उसमें किसी की शरण भी नहीं है। आत्मा की शरण ली, वहाँ तीर्थंकर और केवली आदि की भी शरण नहीं है। **चत्तारि शरणं पव्वज्जामि** आता है, यह सब विकल्प के कथन हैं। भगवान को याद किया और फिर अनुभव हुआ, इसलिए भगवान की शरण से अनुभव हुआ है – ऐसा नहीं है।

आनन्दस्वरूप आत्मा के अनुभव की निर्मल परिणति जैन में ही होती है, अन्यत्र कहीं नहीं होती, क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही जैन है। 'जिन सोही है आत्मा....' वीतराग परमात्मा के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। आत्मा वीतरागस्वरूप है और उसका अनुभव वीतरागीदशा है। इसके अतिरिक्त दूसरे किसी प्रकार से धर्म मनवाते हैं, वह सब कल्पना है, अन्यत्र कल्पना से धर्म मनवाया है।

अब, २५-२६-२७ वें पद्य में कहते हैं कि जो आत्मतत्त्व को नहीं जानता है, वह अपराधी है।

जो आत्मसत्ता को नहीं जानता, वह अपराधी है (दोहा)

जाकै घट समता नहीं, ममता मगन सदीव।
रमता राम न जानई, सो अपराधी जीव॥ २५॥
अपराधी मिथ्यामती, निरदै हिरदै अंध।
परकौं मानै आतमा, करै करमकौ बंध॥ २६॥
झूठी करनी आचरै, झूठे सुखकी आस।
झूठी भगति हिए धरै, झूठे प्रभुकौ दास॥ २७॥

अर्थ – जिसके हृदय में समता नहीं है, जो सदा शरीर आदि परपदार्थों में मग्न रहता है और अपने आतमराम को नहीं जानता, वह जीव अपराधी है।

www.vitragvani.com

अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाननेवाला अपराधी जीव, मिथ्यात्वी है; अपनी आत्मा का हिंसक है, हृदय का अन्धा है। वह शरीर आदि परपदार्थों को आत्मा मानता है और कर्म-बन्ध को बढ़ाता है।

आत्मज्ञान के बिना उसका तपाचरण मिथ्या है, उसकी मोक्षसुख की आशा झूठी है, ईश्वर को जाने बिना ईश्वर की भक्ति वा दासत्व मिथ्या है।

काव्य - २५-२७ पर प्रवचन

जहाँ समता अर्थात् स्वभाव में एकाग्रता वीतरागता नहीं है, वहाँ अकेली ममता होती है। ममता अर्थात् शुभाशुभराग में मग्नता है। शरीर की ममता तो है और जो कुछ विकल्प उत्पन्न होता है, उसकी भी ममता है कि वही मैं हूँ। इस ममता को मिथ्यात्व कहा जाता है।

रमता राम न जानई..... पुण्य-पाप के रागरहित भगवान आत्मा अपने आनन्द में रमनेवाला है परन्तु उसका जिसे ज्ञान नहीं है, वह जीव अपराधी है। निजपद में रमे उसे ही आत्माराम कहा जाता है। आत्मा को तो जाने नहीं और राग में ही रमा करता है, वह जीव अपराधी है। वह भले ही दया, दान, व्रतादि की क्रिया ठीकठाक करता हो तो भी अपराधी है गुनहगार है। जो व्यवहार की क्रिया में ही मग्न है, वह मिथ्यादृष्टि है। शुभराग से स्वयं को लाभ मानता है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि अपराधी-गुनहगार है। क्रिया को और उदय को अपना माननेवाला और यह करते-करते मेरा कल्याण होगा - ऐसा माननेवाला मात्र अपराधी है, ऐसा नहीं परन्तु मिथ्यामति है, उसकी दृष्टि झूठी है। राग को पालता है, वह तो मिथ्यामति ही है। रागरहित शुद्ध चैतन्य भगवान को पालता है, वह निरपराधी चैतन्यराम है। कोई पण्डित धारावाहीरूप से आत्मा की बात कर सकता हो, इसलिए वह सच्ची दृष्टिवाला है - ऐसा नहीं है। धारावाही अनुभव करे, वह आत्मा ज्ञानी है - निरपराधी है। धारावाही बोले, वह तो जड़ वाणी है और उपदेश में तो विकल्प है। बहुत लोग रंजित हो जाएँ, इसलिए वह आत्माराम है - ऐसा नहीं है। शुभ उपयोग करते-करते शुद्धता हो जाएगी - ऐसा माननेवाला अपराधी है, मिथ्यामति है और निर्दय है - आत्मा की हिंसा करनेवाला है।

www.vitragvani.com

पुरुषार्थसिद्धिउपाय में आता है कि राग है, वही हिंसा है। जिस भाव से तीर्थंकर -नामकर्म बँधता है - ऐसे शुभराग में भी आत्मा की हिंसा है। यह तो वीतरागमार्ग है! अतीन्द्रिय आनन्द का धाम भगवान आत्मा का स्वभाव वीतरागमय है, उसका आश्रय न लेकर राग के आश्रय से धर्म मानता है, वह निर्दय है, अपराधी है। पंचास्तिकाय आदि शास्त्र में निश्चय साध्य-साधन और व्यवहार साध्य-साधन कहे हैं, वहाँ तो मात्र निमित्त का ज्ञान कराया है। व्यवहार साधन से निश्चय साध्य होता है - ऐसा बिल्कुल नहीं है।

बनारसीदासजी ने मिथ्यादृष्टि को कैसे-कैसे विशेषण दिये हैं कि जो निर्दय है, अपराधी है, मिथ्यामति है, और हृदय का अन्धा है। पर को ही आत्मारूप मान-मानकर वह कर्मों का बन्ध करता है। पर में राग भी आ जाता है। उसे पर में ममत्व की ऐसी पकड़ हो गयी है कि उसे बदलना भी मुश्किल है। शुद्ध चैतन्य को राग की अपेक्षा ही नहीं है, फिर भी राग हो तो धर्म होता है - ऐसा माननेवाला हृदय से अन्ध है, अर्थात् ज्ञान-अन्ध है।

प्रवचनसार की १७२ गाथा में अलिंगग्रहण के छठवें बोल में आता है कि आत्मा स्वयं से ज्ञात हो - ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। आत्मा, राग से ज्ञात हो - ऐसा नहीं, इन्द्रियों से ज्ञात हो - ऐसा नहीं है। इन्द्रियों से जाने, वैसा आत्मा नहीं है। आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है। आत्मा अकेला अनुमान से पर को जाने - ऐसा नहीं है और स्वयं भी दूसरे को अनुमान से ज्ञात हो, वैसा नहीं है। आत्मा वह है कि जो अपने स्वभाव से प्रत्यक्ष ज्ञात हो वैसा है।

परकौं मानै आतमा, करै कमरकौ बंध.... आत्मा पर को निज मानकर कर्म अर्थात् मिथ्यात्व का बन्ध करता है। उलटे रास्ते चलता है और मानता है कि हम सुलटे रास्ते चलते हैं। उसकी दिशा कब फिरेगी?

झूठी करनी आचरै.... आत्मा के ज्ञान बिना, अन्तर अनुभव बिना, स्व के शरण बिना, मुनिपना ले ले और महाव्रत पालन करे; बारह व्रत, तप आदि आचरण करे और अपने को ज्ञानी माने, उसकी सब क्रिया झूठी है। अर्थ में है न! आत्मज्ञान बिना उसका तपश्चरण मिथ्या है। वह मोक्ष के लिए तपस्या करता है परन्तु जिसे गहरे-गहरे पुण्य का प्रेम है, उसे इन्द्रियसुख की ही आशा है। जिसे पुण्य के भाव का प्रेम है, उसे पुण्य के फल

www.vitragvani.com

ऐसे इन्द्रियसुख का ही प्रेम है; उसे अतीन्द्रिय आत्मा की रुचि नहीं है। भोग के लिए ही वह पुण्य को करता है। बन्ध अधिकार में आता है कि उसने जिस सुख को भाया है, उसकी ही उसे भावना है। उसे अतीन्द्रिय सुख का अनुभव ही नहीं है, इसलिए उसकी भावना नहीं होती है। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे जड़ की ही रुचि है, उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है।

आत्मा का स्वरूप अनेकान्तमय है। एक व्यक्ति अन्य धर्मी था, उसने यह अनेकान्तस्वरूप समझकर जैनधर्म अंगीकार किया, इसलिए उसे उसके मत के व्यक्ति व्यंग्य करते हैं कि इसने बाप-दादा का धर्म छोड़कर सप्तभंगियों का संग किया है! तब वह जवाब देता है कि बाप-दादा के धर्म में मैंने इतना कचरा इकट्ठा किया था कि उसकी सफाई एक भंगी द्वारा हो - ऐसा नहीं था, इसलिए सप्तभंगी की आवश्यकता पड़ी है। सन्मति सन्देश में यह बात आयी है। दूसरा भी दृष्टान्त आया है कि एक व्यक्ति मरणशय्या पर पड़ा है, वह अपने तीनों ही पुत्रों को अपने समीप बैठा हुआ देखकर कहता है कि बड़ा, मँझला, छोटा तुम तीनों यहाँ हो तो दुकान कौन खोलेगा? मरण के समय भी उसे दुकान की पड़ी थी - देखो यह जीव की दशा! (फिर गुरुदेवश्री ने सन्मति सन्देश में से यह सप्तभंगी का दृष्टान्त पढ़कर सुनाया था।) तुम्हारे सम्प्रदाय में रहकर मिथ्यात्व का इतना अधिक कचरा एकत्रित हो गया था कि उसे निकालने के लिए एक, दो भंगी से चले - ऐसा नहीं है।

एक सम्प्रदाय के साधु ने बुढ़िया माँ से व्यंग्य किया की माँ जी! तुम्हें रत्नप्रभा जाना है न! (पहले नरक का नाम रत्नप्रभा है)। तब माँ जी कहती हैं कि अरे महाराज! हमारे जैसे पामर रत्नप्रभा कहाँ से जाएँगे! आप जैसे जाएँगे। उसे ऐसा लगा कि रत्नप्रभा अर्थात् ऊँचा स्थान होगा।

सम्प्रदाय छोड़कर कोई दूसरा धर्म अंगीकार करे तो सम्प्रदायवाले ऐसा कहते हैं कि अरे! एक भव में दो बाप किये! अरे भाई! बाप तो एक ही होता है।

चिदानन्द भगवान आत्मा एक ही उसकी दृष्टि का पिता है। निर्विकल्प सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि उसकी प्रजा है और त्रिकाली आत्मा पिता है। शुभराग, आत्मा की प्रजा नहीं है और आत्मा शुभराग का पिता नहीं है।

www.vitragvani.com

झूठी भगति हिए धरै, झूठे प्रभुकौ दास। मिथ्यादृष्टि राग का दास है और अपने को प्रभु को दास सिद्ध करता है; इसलिए झूठा है। यह मोक्ष अधिकार है न! मोक्षमार्ग में राग बिलकुल कारण नहीं है। राग को विघ्न करनेवाला है। मार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है। प्रभु तो ऐसा कहते हैं कि तेरा स्वरूप रागरहित है, उसका अनुभवन कर तो तेरा मोक्ष होगा। तथापि यह ऐसा मानता है कि राग कुछ तो मदद करेगा - ऐसा करके राग का सेवन करता है, वह प्रभु का या प्रभु की आज्ञा का भी दास नहीं है।

अब, आगे २८ वें पद्य में भी बनारसीदासजी मिथ्यात्व की विपरीत प्रवृत्ति को स्पष्ट करेंगे कि मिथ्यादृष्टि जड़, मिट्टी ऐसे सोने-चाँदी को अपनी सम्पत्ति मानता है और कर्म को तो अमृत मानता है तथा जो वास्तव में अमृत है - ऐसे ज्ञान को जहर मानता है- ऐसी अज्ञानी की विपरीत चाल को बतलाते हैं। अज्ञानी जीव वास्तविक तत्त्व को नहीं मानता तो क्या मानता है? वह कहते हैं।

मिथ्यात्व की विपरीत वृत्ति (सवैया इकतीसा)

माटी भूमि सैलकी सो संपदा बखानै निज,
कर्ममैं अमृत जानै ग्यानमैं जहर है।
अपनौ न रूप गहै औरहीसौं आपौ कहै,
साता तो समाधि जाकै असाता कहर है॥
कोपकौ कृपान लिए मान मद पान कियैं,
मायाकी मरोर हियैं लोभकी लहर है।
याही भांति चेतन अचेतनकी संगतिसौं,
सांचसौं विमुख भयौ झूठमैं बहर है॥ २८॥

अर्थ - सोना-चांदी जो पहाड़ों की मिट्टी है, उन्हें निज-सम्पत्ति कहता है, शुभक्रिया को अमृत मानता है और ज्ञान को जहर जानता है। अपने आत्मरूप को ग्रहण नहीं करता; शरीर आदि को आत्मा मानता है, सातावेदनीयजनित लौकिक-सुख में आनन्द मानता है, और असाता के उदय को आफत कहता है, क्रोध की तलवार ले रखी है, मान की शराब पी बैठा है, मन में माया की वक्रता है, और लोभ के चक्कर में पड़ा हुआ

www.vitragvani.com

है। इस प्रकार अचेतन की संगति से चिद्रूप आत्मा सत्य से परान्मुख होकर झूठी ही में उलझ रहा है।

काव्य-२८ पर प्रवचन

माटी.... जो सोना-चाँदी, हीरा-माणिक आदि लक्ष्मी है, वह तो सब पहाड़ की मिट्टी है। उसे अज्ञानी अपनी सम्पत्ति मानता है और जो अपनी सम्पत्ति है - ऐसे अनन्त ज्ञान-दर्शन, सुख-सत्ता आदि को नहीं मानता है। जड़ धूल को सम्पत्ति माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। फिर भले ही वह सामायिक, प्रौषध, व्रत, तप आदि करता हो परन्तु जड़ लक्ष्मी को अपना मानता है तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। उसे सामायिक आदि करने से धर्म नहीं होता है।

कर्ममैं अमृत जानै.... मिथ्यादृष्टि, शुभराग की क्रिया जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग है, उसे ही अमृत मानता है अर्थात् धर्म मानता है।

श्रोता : शास्त्र में उन्हें अमृत कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, शास्त्र में उन्हें अमृत कहा है परन्तु किसे? जिसने अमृतस्वरूप आत्मा का आश्रय लिया है, उसके व्यवहार को निश्चय का आरोप देकर अमृत कहा है। जबकि यहाँ तो अज्ञानी अकेले शुभभाव को ही अमृत मानता है परन्तु वह अमृत नहीं है। अमृत तो वास्तव में एक ही प्रकार का है परन्तु उसका कथन दो प्रकार से होता है। भगवान सर्वज्ञदेव को जो निर्मल पूर्णदशा प्रगट हुई है - ऐसी ही मुझमें शक्ति है, ऐसा मैं द्रव्य हूँ। जिसे ऐसा निर्विकल्प भान प्रगट होता है, उसकी पर्याय में जो शुभराग उत्पन्न होता है, उसे व्यवहार से अमृत कहा जाता है। निश्चय अमृत, वही अमृत है परन्तु निश्चय अमृत-अनुभव जिसे प्रगट हुआ है, उसके शुभराग को व्यवहार से अमृत कहा जाता है परन्तु वह जहर है, क्योंकि आत्मा अमृत आनन्दस्वरूप है, उसमें यह जो ऐसा करूँ-वैसा करूँ - ऐसी वृत्ति उत्पन्न होती है, वह तो आत्मा के स्वभाव से उल्टी वृत्ति है - बहिर्बुद्धि है; इसलिए जहर है परन्तु ज्ञानी के मन्दराग को कथनमात्र से अमृत कहा जाता है, वस्तुदृष्टि से वह अमृत नहीं है।

मिथ्यादृष्टि ज्ञान को जहर मानता है। ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा में एकाग्र होना,

www.vitragvani.com

वह तो आनन्द है, उसे अज्ञानी जहर जानता है – ऐसी उसकी विपरीत वृत्ति है, वही मिथ्यादृष्टि–अज्ञानी का लक्षण है। अनन्त काल से परिभ्रमण करता है परन्तु सत्य क्या, असत्य क्या ? इसका पता इसने नहीं पाया है। धर्म के नाम से साधु हुआ तो भी राग की मन्दता और क्रियाएँ करके मर गया परन्तु आत्मा की पहचान करके उसका ध्यान करना, यह इसे सिरपच्ची लगती है। चैतन्य आत्मा अकेला समझ का पिण्ड है, उसमें एकाग्र होना इसे रुचता नहीं है और राग में एकाग्र होना रुचता है; इसलिए सम्यक्त्वी के रागभाव को मोक्ष का कारण सिद्ध करता है परन्तु भाई ! ज्ञानी हों या मुनि हों, उनका शुभराग भी बन्ध का ही कारण है – मोक्ष का कारण नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त बाहर में जो वृत्ति जाती है, वह जहर ही है।

अपनौ न रूप गहै औरहीसौं आपौ कहै.... अपने चैतन्य के शुद्धस्वरूप को तो ग्रहण नहीं करता, अनुभव नहीं करता, नहीं मानता, नहीं जानता और अन्य भावों को ही अपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। **साता तो समाधि....** पूर्व का सातावेदनीय का उदय हो, पैसा, इज्जत, कीर्ति, मकान, दुकान सब अनुकूल हो तो अपने को समाधि अर्थात् सुखी मानता है। साता के उदय में सुख मानता है, वह मूढ़ है – पापी है। सुख तो आत्मा में है, उसे न मानकर सामाग्री में सुख मानता है, उसे ही असाता के उदय में दु:ख लगता है। शरीर में रोग आये, निर्धनता हो, लड़का मरे, लड़की विधवा हो, बीमावाला भाग जाये, उस समय दुकान जल जाये.... ऐसे प्रसंग बनें, तब उसे जहर जैसा लगता है। **असाता कहर.....** अर्थात् असाता के उदय में आपत्ति भासित होती है।

बाहर की सामग्री में फेरफार होने में आपत्ति क्या आयी ? आपत्ति तो आत्मा में मिथ्यात्व और राग–द्वेष होता है, वह आपत्ति है। घर में एक के बाद एक व्यक्ति की बीमारी चलती हो तो इसे ऐसा लगता है कि अरे ! यह पलंग खाली नहीं होता। एक के बाद एक उपाधि आया ही करती है... परन्तु इसमें आपत्ति कहाँ आयी ? यह प्रतिकूलता को आपत्ति मानता है, यह इसकी विपरीतमान्यता ही इसे आपत्तिरूप है। तेरे सारे मापदण्ड मूर्खता से भरे हुए हैं। भाई ! वास्तव में मोह–राग–द्वेष ही जीव को आपत्तिरूप है।

एक जगह प्लेग में एक घर में से एकदम एक के बाद एक लोग मरने लगे। दूसरे

www.vitragvani.com

फिर घाची के यहाँ एक के बाद एक तीन युवा लड़के मर गये तो सब आपत्ति मानकर दु:खी होते देखे थे परन्तु बापू! यह तो संयोग है, उसका वियोग होता है, उसमें आपत्ति नहीं है। तेरी संयोगदृष्टि तुझे आपत्तिरूप है। संयोग से ही सुख-दु:ख का माप निकालता है परन्तु जो वस्तु पर है, वह तेरी होकर रही है या पर है वह पर ही है? परवस्तु तीन काल में तेरी हुई ही नहीं है, होती ही नहीं है। यह शरीर-पैसा आदि अजीव, अजीव होकर जो रहे हैं, या जीव हो गये हैं? उस अजीव का वियोग होने से आत्मा में से कुछ कम नहीं हो जाता है।

कोपकौ कृपान लिए..... अज्ञानी ने क्रोध की तलवार हाथ में ही रखी है। जरा सी प्रतिकूलता आवे वहाँ क्रोध हो जाये... चलते-चलते ठोकर लगे और गिर जाये तो तुरन्त गुस्सा आता है कि यहाँ रास्ते में पत्थर किसने डाला था? स्वयं ने ध्यान नहीं रखा - ऐसा नहीं विचारता परन्तु कषाय करके आत्मा के स्वभाव को पीड़ित करता है।

मान मद पान कियैं..... मिथ्यादृष्टि ने मान की शराब पी रखी है। हम सेठ हैं, हमारा घर बड़ा है, हमारे बड़े घर की कन्या चाहिए... हमारा घर सात पीढ़ी से खानदानी है, हमें कहीं कलंक नहीं लगा है, मेरी माता का कुल ऊँचा था इत्यादि.... परन्तु आत्मा को माता कैसी और कुल कैसा? परन्तु यह तो जहाँ-तहाँ मान ही चाहता है। मुझे आगे करो, मुझे प्रमुख करो, संघपति बनाओ... इस प्रकार जहाँ-तहाँ मैं.... मैं.... मैं.... करते हुए अज्ञानी ने मान की शराब पी रखी है।

मायाकी मरोर हियैं..... मिथ्यादृष्टि को माया / वक्रता का पार नहीं है, सरलता की तो गन्ध भी नहीं है। किसी भी प्रकार से सत्य को डूबोना और असत्य की प्रसिद्धि करना, यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि कपट में एकाकार है। माया में वक्रतायुक्त है, कल्पना में न आवे - ऐसी माया करता है। भगवान तो कहते हैं कि ऐसे कपटी-मायावी मरकर पशु होते हैं। वक्रता के परिणाम के फल में आड़े शरीर को धारण करते हैं।

लोभकी लहर है। मिथ्यादृष्टि लोभ के चक्कर में पड़ा हुआ है, उसे आत्मा के स्वरूप का पता नहीं है; इस कारण आत्मा की भावना भी नहीं भाता है कि मुझे तो मेरे

www.vitragvani.com

स्वरूप में स्थिर होना चाहिए। आत्मभान के अभाव में लोभ के चक्कर में पड़ जाता है। जो हो, उसे प्राप्त करने की ही भावना किया करता है, कहीं सन्तोष नहीं धरता है।

क्रोध और मान, द्वेष के प्रकार हैं तथा माया और लोभ, राग के प्रकार हैं। उसमें रुके हुए मिथ्यादृष्टि को आत्मा के आनन्द का पता ही नहीं है। अरे! मैं तो चैतन्यलक्ष्मी का स्वामी हूँ; मैं शरीर का या पत्नी का या पैसे का स्वामी नहीं हूँ – ऐसा भानवाला सम्यक्त्वी तो संसार में रहने पर भी किसी को निज नहीं मानता है। जो मेरा हो, वह मुझसे भिन्न नहीं होता; भिन्न हो, वह मेरा नहीं है.... ऐसा जानने से ज्ञानी को गृहस्थाश्रम में चक्रवर्ती का राज्य हो परन्तु कहीं भी मेरापन नहीं है। एक राग का कण भी मेरा नहीं है, वहाँ छह खण्ड का राज्य मेरा कहाँ से होगा?

याही भांति चेतन अचेतनकी संगतिसौं.... देखो! इस मोक्ष अधिकार में मिथ्यादृष्टि कैसे होते हैं? उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ऐसी वृत्तिवान मिथ्यादृष्टि मोक्ष का अधिकारी नहीं है। शरीर, लक्ष्मी आदि जड़ अचेतन और दया, दान आदि अचेतन राग के संग से मिथ्यादृष्टि सत्यस्वरूप भगवान आत्मा से विमुख हुआ है और झूठ में लीन है। जो अपना नहीं है, उन्हें अपना मानकर उसमें ही रचपच गया है।

मोक्ष अधिकार में यह बहुत अच्छी बात ली है। एक मुमुक्षु भाई को यह श्लोक बहुत रुचता था; इसलिए बोला करते थे। दिगम्बर शास्त्रों का उन्हें बहुत पठन था।

अब, फिर से मिथ्यादृष्टि के लक्षण को बहुत स्पष्ट करते हैं।

पुनः (सवैया इकतीसा)

तीन काल अतीत अनागत वरतमान,
जगमैं अखंडित प्रवाहकौ डहर है।
तासौं कहै यह मेरौ दिन यह मेरी राति,
यह मेरी घरी यह मेरौही पहर है॥
खेहकौ खजानौ जौरै तासौं कहै मेरौ गेह,
जहां बसै तासौं कहै मेरौही सहर है।

www.vitragvani.com

याहि भांति चेतन अचेतनकी संगतिसौं,
सांचसौं विमुख भयौ झूठमैं बहर है॥ २९॥

अर्थ – संसार में भूत, वर्तमान, भविष्य काल का धाराप्रवाह चक्र चल रहा है, उसे कहता है कि मेरा दिन, मेरी रात्रि, मेरी घड़ी, मेरा पहर है। कचरे का ढेर इकट्ठा करता है और कहता है कि यह मेरा मकान है। जिस पृथ्वीखण्ड पर रहता है, उसे अपना नगर बतलाता है। इस प्रकार अचेतन की संगति से चिद्रूप आत्मा सत्य से परान्मुख होकर झूठ में उलझ रहा है।

काव्य-२९ पर प्रवचन

इन बनारसीदासजी ने स्वतन्त्ररूप से मोक्ष अधिकार में यह बात रखी है। **तीन काल....** जगत् में भूत, वर्तमान, भावी काल का प्रवाह सहजरूप से अखण्डित प्रवाह चल रहा है, वह काल कहीं इस जीव का नहीं है, फिर भी मिथ्यादृष्टि जीव कहता है कि अभी तो हमारे दिन हैं। हमारी आज्ञा चलती है। शहर में, गाँव में सर्वत्र अभी हमारी प्रधानता है – ऐसा कहता है। हम तो रात के राजा हैं... हमारी रात बहुत अच्छी जाती है परन्तु भाई! रात तो कालद्रव्य का परिणमन है, वह रात तेरी कहाँ से हो गयी?

मेरी घड़ी, मेरा पहर – ऐसा मानकर इस घण्टे में तो हम हमारा काम करेंगे, बाद के घण्टे में तुम्हारा.... सबेरे के समय में हमें चाय-पानी चाहिए, फिर दिन का दूसरा... ऐसे समय के साथ अपनी तालमेल करता है.... समय बदलता है, तब सब बदलता है परन्तु मूर्ख! समय बदलने से तू कहाँ बदल गया है? एक समय ऐसा था कि हमारी खूब जहोजलाली थी, अच्छे घर के सम्बन्ध आते थे। अब समय बदल गया... ऐसा-ऐसा मूढ़ विचार करता है। मिथ्यात्व में उसे ऐसी ही सूझ पड़ती है।

खेहकौ खजानौ..... पैसा एकत्रित करना, वह राख का खजाना है। मकान पत्थर का खजाना है, उसे यह पागल मिथ्यादृष्टि अपनी मिलकत मानता है, उसके लिए देखरेख रखता है.... यह हमारा संगमरमर का मकान है। इसमें लाखों रुपया खर्च किया है, व्यापार में मेहनत से आमदनी करके इसमें खर्च किया है... भाई! किसका पैसा और किसका मकान? जड़ चीज कहाँ तेरी थी कि उसे तू खर्च करे? तू तो आत्मा है, तू जड़ का स्पर्श

www.vitragvani.com

भी नहीं करनेवाला उसे खर्च करने की क्रिया कैसे कर सकता है ? वह जड़ धन उसके स्वयं के कारण आता है और उसके कारण अन्यत्र जाता है, उसमें तेरा कुछ अधिकार नहीं है, तथापि तू जड़ का स्वामी होकर बैठा है, यह तेरी मूढ़ता है।

पत्थर और ईंट इत्यादि जोड़कर बनाये हुए मकान को अपना मानता है। मैं कुर्सी डालकर यहाँ बैठता था, तब यह मकान बना है, आठ महीने हुए – यह मेरी देखरेख का फल है। साधारण मकान में इसे अपना स्वामित्व लगता है, जबकि सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती, देवों द्वारा बनाये हुए विशाल मकान में रहते हैं परन्तु एक रजकण को भी अपना नहीं मानते हैं क्योंकि वे तो जानते हैं कि मैं जहाँ हूँ, वहाँ राग नहीं है; मैं जहाँ हूँ, वहाँ मकान नहीं हैं; मैं जहाँ हूँ, वहाँ तो ज्ञान–आनन्द और शान्ति है। मेरे स्वभाव में राग भी नहीं है तो मकान आदि तो मेरे कैसे होंगे ? रानियाँ भी हमारी नहीं हैं। वे तो मुझसे भिन्न आत्माएँ हैं, वे मेरी कैसे होंगी ? उनके शरीर के रजकण भी मेरे कैसे होंगे ? वे तो जड़ हैं।

जीव और अजीव की भिन्नता के भान बिना अजीव के संग में रहा हुआ अज्ञानी, यह सब मेरा है – ऐसा मान रहा है। अज्ञानसहित साधु हुआ हो तो शिष्यों में मेरापन करता है कि मेरे तो ऐसे... ऐसे... इतने शिष्य हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जिस शहर में बसता है, उसे अपना मानता है।

ऐसे सब दृष्टान्त देकर मिथ्यादृष्टि की विपरीत वृत्ति का स्वरूप बतलाया है कि मैं ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु हूँ – ऐसा अपना भान भूलकर, इस शरीर मकान, धन, गाँव आदि मेरे हैं – ऐसे भ्रम में वह भूल गया है। मैं ऐसी वाणी बोलता हूँ कि लोग प्रसन्न हो जाएँ.... परन्तु भाई! यह तो भाषा का कार्य है। कण्ठ का कम्पन्न आत्मा नहीं कर सकता। एक रजकण का भी फेरफार करना आत्मा का कार्य नहीं है। फिर भी अज्ञानी, सत्य से विमुख होकर असत्य में गति कर रहा है।

यह मिथ्यादृष्टि की बात की। अब, सम्यग्दृष्टि के विचार सुनो।

सम्यग्दृष्टि जीवों का सद्विचार (दोहा)

जिन्हके मिथ्यामति नहीं, ग्यानकला घट मांहि।
परचै आतमरामसौं, ते अपराधी नांहि॥ ३०॥

www.vitragvani.com

अर्थ – जिन जीवों की कुमति नष्ट हो गई है, जिनके हृदय में ज्ञान का प्रकाश है और जिन्हें आत्मस्वरूप की पहचान है, वे भले मनुष्य हैं।

काव्य-३० पर प्रवचन

जिसके अन्तर में से मिथ्याबुद्धि छूट गयी है, सत्यदृष्टि प्रगट हुई है, ज्ञान की कला अन्तर में जागृत हो गयी है। घट अर्थात् आत्मा में ऐसी ज्ञानकला प्रगट हुई है कि मैं तो शुद्धचैतन्य आनन्दमूर्ति आत्मा हूँ; विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी मेरा नहीं है – ऐसी ज्ञानकला जागृत हुई है, वह जीव मोक्ष का अधिकारी है। उसे आत्माराम का ही परिचय है, जड़ की संगति नहीं। राग का अनुभव भी वह नहीं करता है, वह तो अपने चैतन्य का अनुभव करता है। अकेले राग का वेदन करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। दया, दानादिक का विकल्प भी विकार है, उसे ही वेदन करता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है।

अनादि से मोक्ष का मार्ग तो ऐसा ही है परन्तु लोगों को सुनने नहीं मिला है, इसलिए ऐसा लगता है कि ऐसा मार्ग!

बापू! तू तो चैतन्य है न! राग कहाँ तेरा है? राग जानने का काम करता है? जो स्वयं को नहीं जानता, पर को नहीं जानता, वह चेतन नहीं होता; वह तो अचेतन है। ज्ञान द्वारा वह ज्ञात होता है परन्तु ज्ञान का वह स्वरूप नहीं है; इसलिए उसे अपना स्वरूप माननेवाला गुनहगार है, अपराधी है। अत: जो भिन्न द्रव्य हैं, उन्हें अपने माननेवाले की तो क्या बात करना?

भगवान आत्मा जानने-देखनेवाला शान्त अनाकुलस्वभावी वस्तु है। उसका परिचय करे, उसका वेदन करे-अनुभव करे, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

अब, मोक्षद्वार का ३१ वाँ पद्य है, उसमें सम्यग्दृष्टि जीवों के सद्विचार कैसे होते हैं? उसका वर्णन किया है।

(सवैया इकतीसा)

जिन्हकै धरम ध्यान पावक प्रगट भयौ,
संसै मोह विभ्रम बिरख तीनौं डढ़े हैं।

www.vitragvani.com

जिन्हकी चितौनि आगे उदै स्वान भूसि भागै,
लागै न करम रज ग्यान गज चढ़े हैं॥
जिन्हकी समुझिकी तरंग अंग आगममैं,
आगममैं निपुन अध्यातममैं कढ़े हैं।
तेई परमारथी पुनीत नर आठौं जाम,
राम रस गाढ़ करैं यहै पाठ पढ़े हैं॥ ३१॥

अर्थ – जिनकी धर्मध्यानरूप अग्नि में संशय-विमोह-विभ्रम – ये तीनों वृक्ष जल गये हैं, जिनकी सुदृष्टि के आगे उदयरूपी कुत्ते भोंकते-भोंकते भाग जाते हैं, वे ज्ञानरूपी हाथी पर सवार हैं, इससे कर्मरूपी धूल उन तक नहीं पहुँचती। जिनके विचार में शास्त्रज्ञान की तरंगें उठती हैं, जो सिद्धान्त में प्रवीण हैं, जो आध्यात्मिक विद्या के पारगामी हैं, वे ही मोक्षमार्गी हैं – वे ही पवित्र हैं, सदा आत्म-अनुभव का रस दृढ़ करते हैं और आत्म-अनुभव ही का पाठ पढ़ते हैं।

काव्य-३१ पर प्रवचन

जिन्हकै धरम ध्यान.... जिसे अर्थात् धर्मी को आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव का ध्यान-एकाग्रतारूपी अग्नि प्रगट हुई है; इसलिए संशय, विभ्रम और मोह जल गये हैं। धर्मी ध्यान में हो तभी धर्मध्यान है – ऐसा नहीं है परन्तु धर्मी को सदा धर्मध्यान होता है। राग से पृथक् शुद्ध चैतन्यवस्तु में एकाग्रतारूप ध्यान की श्रेणी धर्मी को सदा रहती है। उपयोग आत्मा में हो तभी धर्मध्यान है – ऐसा नहीं कहा है। निरन्तर धर्मध्यान की धारा बहती है।

अनादि से जीव की राग में एकाग्रता हुई थी, वह मिथ्यात्वभाव था, वह भी ध्यान था – आर्तध्यान और रौद्रध्यान की धारा थी। अब जहाँ भगवान आत्मा के पवित्र पूर्ण स्वरूप की सन्मुखता और एकाग्रता हुई – ऐसे धर्मध्यानरूपी अग्नि में संशय, विमोह और विभ्रमरूप वृक्ष का नाश हो गया है। वस्तुस्वरूप क्या होगा? केवलज्ञान में एक समय में तीन काल-तीन लोक कैसे ज्ञात होते होंगे? ऐसा संशय सम्यक्त्वी को नहीं होता है। विमोह अर्थात् पर में सावधानी – एकता, उसका धर्मी को अभाव है तथा कुछ होगा परन्तु

www.vitragvani.com

मुझे कुछ समझ में नहीं आता – ऐसा विभ्रम भी धर्मी को नहीं होता। इस प्रकार संशय, विमोह और विभ्रम ये तीनों दोष धर्मी को जल गये हैं – नष्ट हो गये हैं।

जिसकी दृष्टि के पास उदयरूपी कुत्ता तो भौंक कर भाग जाता है। सूक्ष्म बात है भाई! पूर्ण चैतन्यवस्तु ऊपर एकाग्रता हुई होने से धर्मी को कर्म का उदय आता है, उसमें एकता नहीं होती है; इसलिए उदय आकर खिर जाता है। मुझमें राग नहीं, विषय-वासना नहीं; मैं तो अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द का सागर हूँ – ऐसा जहाँ प्रत्यक्ष वेदन हुआ है, उसे सम्यक्त्वी कहते हैं। उस सम्यक्त्वी के पास उदयरूपी कुत्ते कुछ नहीं कर सकते। जैसे, हाथी के समक्ष कुत्ते भौंक-भौंक कर भाग जाते हैं, हाथी का कुछ नहीं कर सकते। इसी प्रकार धर्मी को कर्म का उदय कुछ नुकसान नहीं कर सकता है।

धर्मी की सवारी राग और उदय पर नहीं है; धर्मी की सवारी तो ज्ञानरूपी हाथी पर है। वहाँ कर्मों की रज नहीं पहुँच सकती। धर्मी तो अनन्त गुण का एकरूप जो आत्मा है, उसके स्वभाव में आरूढ़ होता है। धर्मी, राग का स्वामी नहीं है; धर्मी तो अपने शुद्ध आनन्द का स्वामी है। ज्ञान गज पर चढ़े हुए धर्मी को नये कर्म नहीं बँधते हैं, इसलिए कहा कि उदयरूपी कुत्ता भौंककर भाग जाता है।

सम्यक्त्वी को आगम का ज्ञान ऐसा होता है कि उसमें से न्याय का तरंग उठती है। सम्यग्ज्ञान की तरंग उठती है क्योंकि आगम का और आत्मा का स्वरूप उसके ज्ञान में है। भगवान के द्वारा कहे हुए सिद्धान्त में ज्ञानी निपुण होता है और अध्यात्मविद्या में तो पारंगत होता है। बनारसीदासजी ने **कढ़े** (शब्द) प्रयोग किया है। कढे अर्थात् ओटाया हुआ, जैसे दूध को औटा कर खीर बनाते हैं न? इसी प्रकार धर्मी अध्यात्मविद्या में अर्थात् आत्मा के निर्विकल्प आनन्द में ओटाये हैं – आनन्द के रस में चढ़ गया है। आत्मा का स्वभाव ही शुद्धोपयोग है। शुभ-अशुभराग उसका स्वभाव नहीं है, वह तो आस्रवतत्त्व है। आत्मा का भान होने पर जो शुद्धपरिणति वर्त रही है, वह शुद्धोपयोग ही है।

धर्मी को अन्तर में श्रद्धा होती है कि जिस क्षण में देह छूटनेवाली है, उसमें एक क्षण भी अन्तर नहीं पड़ता। इन्द्र आये या नरेन्द्र आये परन्तु वे देह को छूटने से रोक नहीं सकते; कोई उसे मदद कर सके – ऐसा नहीं है। स्वयं की आयु पूर्ण होने पर इन्द्र आदि देव भी

www.vitragvani.com

मर जाते हैं तो वे दूसरों को क्या बचा सकेंगे? देव मरकर तिर्यंच में चले जाते हैं। पूर्व में कुछ दया, दानादि पुण्य किया हो, इस कारण स्वर्ग में तो जाते हैं परन्तु मिथ्यात्व तो छूटा नहीं होता; अतः वासना की एकतासहित मरकर पशु होते हैं। देखो, यह संसार की लीला!

सम्यक्त्वी आत्मज्ञान के सिद्धान्तों में प्रवीण होते हैं। दूसरे सिद्धान्त जाने या न जानें, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु आत्मा में अशुद्धता नहीं है – ऐसे जो सिद्ध हो गये सिद्धान्त हैं, उनमें ज्ञानी प्रवीण हैं। ऐसे ज्ञानी जीव ही परमार्थ मोक्षमार्गी हैं – वे ही पुनीत-पवित्र हैं। छहढाला में लिया है कि सम्यक्त्वी, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और मुनिराज ये सब मोक्षमार्ग में चलनेवाले / मोक्षमार्गी हैं। तीनों अन्तरआत्मा शिवमगचारी हैं क्योंकि राग से भिन्न पड़े हुए ज्ञान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का अंश है। आज यह कैलाशचन्दजी का लेख आया है। उसमें धवला का आधार देकर लिखा है कि अनन्तानुबन्धी कषाय दर्शन और चारित्र दोनों का घात करती है; इसलिए अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश होने से चारित्र का अंश भी प्रगट होता है। वास्तव में अनन्तानुबन्धी की प्रकृति चारित्रमोह की ही प्रकृति है, इसलिए उसके नाश से स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है; इसलिए चौथे गुणस्थान से ही इतनी स्थिरता शुरु हो जाती है। यदि स्वरूपाचरण जितनी स्थिरता न हो तो अनन्तानुबन्धी के नाश का काम क्या?

गुणस्थान स्वयं व्यवहारनय का विषय है परन्तु चौथे गुणस्थान का विषय अखण्ड आत्मा है। चौदह गुणस्थान, पर्याय होने से व्यवहारनय का विषय है; इसलिए चौथा गुणस्थान भी व्यवहारनय का विषय है परन्तु उस पर्याय का विषय पूर्ण शुद्ध अखण्ड चैतन्य है।

तेई परमारथी पुनीत नर..... ऐसे पवित्र सम्यग्दृष्टि परमार्थ ज्ञानी जीव आठों ही पहर चैतन्यराम के रस को गाढ़ा करते हैं। राग के रस को गाढ़ा नहीं करते। चार पहर दिन के और चार पहर रात के; इस प्रकार आठों ही पहर धर्मी आत्मा के आनन्द के रस को गाढ़ा करते हैं। उसमें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि अनन्त गुण के रस की प्रगट दशा है क्योंकि चौथे गुणस्थान में आत्मा के समस्त गुणों के अंश की व्यक्तता है।

www.vitragvani.com

प्रश्न होता है कि धर्मी आठों पहर आत्मा के रस को भोगते हैं तो सोते कब होंगे? जीमते कब होंगे? दूसरे सब कार्य कब करते होंगे.... अरे! आत्मा कहाँ खाता है या सोता है? ज्ञानी जीव को तो निरन्तर शुद्ध चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता होती है; इसलिए आत्माराम का रस गाढ़ा करते हैं। व्यवहार के - राग के रस को गाढ़ा नहीं करते। वस्तु की दृष्टि हुई और उसमें स्थिरता हुई, इसलिए उसी का रस ज्ञानी को होता है। राग का रस ज्ञानी को नहीं होता है। भोग का विकल्प हो परन्तु उसका रस नहीं है। राग हो परन्तु राग का रस नहीं है, ज्ञानी तो बस, आत्मा के अनुभव का पाठ पढ़ा करते हैं। शास्त्र के पृष्ठ पढ़ना तो विकल्प है; ज्ञानी तो उसके अनुभव के पाठ पढ़ते हैं।

यह ३१ वाँ पद्य हुआ। अभी सम्यग्दृष्टि के सद्विचार का ही विस्तार करते हैं।

पुनः (सवैया इकतीसा)

जिन्हकी चिहुंटि चिमटासी गुन चूनिबेकौं,
कुकथाके सुनिबेकौं दोऊ कान मढ़े हैं।
जिन्हकौ सरल चित्त कोमल वचन बोलै,
सोमदृष्टि लियैं डोलैं मोमकैसे गढ़े हैं॥
जिन्हकी सकति जगी अलख अराधिबेकौं,
परम समाधि साधिबेकौं मन बढ़े हैं।
तेई परमारथी पुनीत नर आठौं जाम,
राम रस गाढ़ करैं यहै पाठ पढ़े हैं॥ ३२॥

अर्थ - जिनकी बुद्धि गुण ग्रहण करने में चिमीटी के समान है, विकथा सुनने के लिए जिनके कान मढ़े हुए अर्थात् बहरे हैं, जिनका चित्त निष्कपट है, जो मृदु भाषण करते हैं, जिनकी क्रोधादिरहित सौम्यदृष्टि है, जो ऐसे कोमल स्वभावी हैं कि मानो मोम के ही बने हुए हैं, जिन्हें आत्मध्यान की शक्ति प्रगट हुई है और परम समाधि साधन को जिनका चित्त उत्साहित रहता है, वे ही मोक्षमार्गी हैं, वे ही पवित्र हैं, सदा आत्म-अनुभव का रस दृढ़ करते हैं और आत्म-अनुभव का ही पाठ पढ़ते हैं - अर्थात् आत्मा ही की रटन लगी रहती है।

www.vitragvani.com

काव्य-३२ पर प्रवचन

चिहुंटि.... अर्थात् बुद्धि जो कि चिमटे की तरह काम करती है। बारीक चिमटा छोटी वस्तु को भी ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार धर्मी की सूक्ष्म बुद्धि आत्मा के सूक्ष्म भावों को भी पकड़ लेती है। शास्त्र का ज्ञान कम हो या संसार की चतुराई कम हो, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। अन्तर में अनन्त गुण के नाथ को पकड़ने में जिसकी बुद्धि काम करती है, वह ज्ञानी है।

धर्म से विपरीत कथा, वह कुकथा है, उसे सुनने में धर्मी के कान बन्द हैं। पाप में मजा है, पुण्य से धर्म होता है, संयोग अनुकूल हो तो आत्मा को धर्म होता है... ऐसी जो कथा, वह कुकथा है, उसे धर्मी नहीं सुनते क्योंकि वह तो सम्यक्त्व का नाश करनेवाली कथा है। सुदृष्टि तरंगिणी में पच्चीस प्रचार की ऐसी कुकथा को सम्यक्त्व भेदनी कथा कहा है। सभी धर्म समान हैं, सभी धर्म सत्य हैं... यह सब कुकथा है।

धर्मी का सरल चित्त सत्य को तुरन्त ग्रहण कर लेता है। सत्य बात को समझने में धर्मी मोम जैसे कोमल होते हैं; जैसे मोड़ो वैसे मुड़ते हैं। वस्तु का भान तो है परन्तु किसी बात का ख्याल न हो और स्वयं को उसका सच्चा ख्याल कोई दे तो उसे यथार्थरूप से ग्रहण करते हैं। वस्तुस्वरूप को स्वीकार करने में उन्हें कठिनाई नहीं होती – कोमलता होती है। जैसे, मोम सहज में पिघल जाती है और मोड़ना हो वैसे मुड़ जाती है; उसी प्रकार ज्ञानी तत्त्व की बात सहज में समझ जाते हैं। थोड़े में बहुत समझ जाते हैं।

जिन्हकी सकति जगी अलख अराधिबेकौं,.... सम्यग्दृष्टि और धर्मी को अलख ऐसे आत्मा को अराधन करने की शक्ति प्रगट हुई है। भगवान आत्मा इन्द्रियों से दिखाई दे ऐसा या ज्ञात हो – ऐसा नहीं है; इसलिए आत्मा को अलख कहा है। धर्मी कदाचित् चक्रवर्ती के राज्य में पड़ा हो तो भी आत्मा की आराधना चालू है। भरत चक्रवर्ती को ज्ञात हुआ कि कैलाश पर्वत से ऋषभदेव प्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए हैं तो वे तुरन्त वहाँ गये और उनकी आँखों में से आँसुओं की धारा बहने लगी... स्वयं सम्यक्त्वी हैं, छह खण्ड के अधिपति हैं और उसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं। छह खण्ड का राज्य है, ९६ वें हजार

www.vitragvani.com

रानियाँ हैं, ९६ वें करोड़ सैनिक हैं, ४८ हजार पाटन और ७२ हजार नगर हैं परन्तु वे किसी को अपना नहीं मानते हैं।

इन्द्र, भरत से कहता है कि तुम तो इसी भव में मोक्षगामी हो, क्यों भगवान के विरह में रो रहे हो? तब भरत कहते हैं कि हम जानते हैं, फिर भी हमें परमात्मा का राग आता है; इसलिए रुदन हो जाता है परन्तु यह राग हमारी चीज नहीं है – ऐसा हम जानते हैं। राग में या रुदन में हम नहीं हैं.... सम्यक्त्वी ऐसे होते हैं।

अपने पूर्णानन्दस्वरूप की आराधना विकल्प से नहीं हो सकती है। धर्मी को तो चैतन्यगंज प्रभु आत्मा में एकाग्रता की आराधना अन्तर में से ही जागृत हुई है। व्यापार करके कमाने की अथवा दूसरों को उपदेश देकर समझाने की शक्ति जागृत हुई है – ऐसा नहीं कहा है परन्तु आत्मा को आराधने की शक्ति जागृत हुई है – ऐसा कहा है।

धर्मी को शरीर में रोग भी आता है। सनतकुमार चक्रवर्ती को मुनि अवस्था में गलित कोड़ हुआ था। जब तक राग है, तब तक रोग ही आता है परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि राग है, इसलिए रोग आता है। धर्मी तो अपनी पवित्रता के प्रेम में पड़ा है, शरीर गले या रहे, उसके साथ धर्म का सम्बन्ध नहीं है। कोई पापी हो और निरोगी हो परन्तु उससे क्या? वह सब तो शरीर की स्थिति है। धर्मी को तो अलख को आराधने की शक्ति जागृत हुई है, रोग को मिटाने की शक्ति जागृत नहीं हुई है। किसी के आशीर्वाद से शरीर का रोग मिट जाए – ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

धर्मी का मन तो परम शान्ति के धाम में जाने के लिए लगा है, उसमें उत्साह है; दूसरे कार्य साधने का उत्साह नहीं है। मेरी सत्ता अलग और पर की सत्ता अलग – स्वतन्त्र है; इसलिए पर के साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वरूप साधने में उत्साही, परमार्थी – ज्ञानी जीव रात-दिन स्वरूप का रस गाढ़ा हो – ऐसा पाठ पढ़ते हैं। आत्मा का शान्तरस कैसे बढ़े? ऐसा अभ्यास करते हैं। दूसरे पाठ आयें या न आवें, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। नौ पूर्व पढ़नेवाला मिथ्यादृष्टि अभव्य भी हो सकता है और पाँच समिति तथा तीन गुप्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं जाननेवाला भावलिङ्गी मुनि भी हो सकता है। उसे वश एक आत्मा का ही रटन लगा रहता है...।

www.vitragvani.com

अब, मुनि की समाधि का वर्णन करते हैं।

समाधि वर्णन (दोहा)

राम-रसिक अर राम-रस, कहन सुननकौं दोइ।
जब समाधि परगट भई, तब दुबिधा नहि कोइ॥ ३३॥

अर्थ - आत्मा और आत्म-अनुभव ये कहने-सुनने को दो हैं, जब आत्मध्यान प्रगट हो जाता है, तब रसिक और रस का, या और कोई भेद नहीं रहता।

काव्य-३३ पर प्रवचन

अमृतचन्द्राचार्य के मूल दसवें कलश का अर्थ तो इतना ही है कि जहाँ प्रतिक्रमण करने के शुभभाव को भी भगवान ने जहर कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण तो जहर है ही। यहाँ तो रामरसिक और राम रस में भेद नहीं है - ऐसा कहना है। भेद डालना, वह राग है। शुभराग है, वह भी जहर है तो पाप को अमृत कौन कहे ? हिंसा, झूठ, विषय-वासना आदि पापराग तो जहर का वृक्ष ही है तो अमृत क्या है ? - शुभराग से भी हटकर अन्तरस्वभाव में एकाग्रता करना, अमृत है। शुद्धभाव ही अमृत है।

लोगों को महाप्रभु परमात्मा जो कि शुद्धस्वभाव का सागर है, उसकी रुचि और प्रेम नहीं है और राग की रुचि व प्रेम है। उसका क्या फल आता है ? इसका उन्हें पता नहीं है। ज्ञानी तो अपने भाग्योदय को भी विष्टा समान मानता है, यह बात पूर्व में आ गयी है। १९५ पृष्ठ पर आ गयी है।

सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ वखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि बंदत बनारसी॥ १९॥

लोग चिल्ला उठें ऐसी बात है न ! ज्ञानी भाग्योदय को विष्टा मानते हैं, अज्ञानी को उसमें बड़प्पन लगता है कि हमारा लड़का तो बहुत अच्छा है, दुकान बहुत अच्छी चलती है। प्रति माह पाँच-पाँच लाख की आमदनी है.... पुराने जमाने में बड़े लोग चार-चार घोड़ेवाली बग्घी में बैठते थे... वह देखकर लोगों को आहा...हा... होता है परन्तु ज्ञानी तो ऐसे भाग्य को विष्टा मानता है। बन्ध अधिकार में यह बात आ गयी है।

www.vitragvani.com

अरे ! जहाँ शुभराग को ही जहर कहकर हम जीवों को शुद्धभावरूप अमृतभूमि में लाना चाहते हैं, वहाँ जीव, शुभभाव छोड़कर पाप करते हैं ! ऊपर जाने के बदले नीचे उतरते हैं.... ये क्या करते हैं ! शुभभाव छोड़कर शुद्ध में जाने को कहते हैं, अशुभ में जाने को हम नहीं कहते हैं। गाथा में कहे हुए इन भावों को बनारसीदासजी ने संक्षिप्त में पद्य में कहा है। रामरसिक अर्थात् आत्माराम; रामरस अर्थात् आत्मा का अनुभव। इन दोनों में भेद नहीं है। आनन्दरस का रसिया भगवान आनन्दरस में रमें, वह वस्तु एक ही है दो नहीं। मैं आत्मा का अनुभव करता हूँ – ऐसा भेद भी अनुभव में नहीं है। सम्यग्दृष्टि को अनुभव काल में मैं आनन्द का रसिया हूँ और आनन्द का अनुभव करता हूँ – ऐसा राग विकल्प या भेद नहीं होता है। ऐसे अभेद के अनुभव का नाम ही ध्यान अथवा निर्विकल्प समाधि है, वही शुद्धोपयोग है। ऐसे सम्यक्त्वी को ज्ञानी कहा जाता है।

शुभ क्रियाओं का स्पष्टीकरण (दोहा)

नंदन बंदन थुति करन, श्रवन चिंतवन जाप।
पढ़न पढ़ावन उपदिसन, बहुविधि क्रिया-कलाप॥ ३४॥

अर्थ – आनन्द मानना, नमस्कार करना, स्तवन करना, उपदेश सुनना, ध्यान करना, जाप जपना, पढ़ना, पढ़ाना, व्याख्यान देना आदि सब शुभ क्रियाएँ हैं।

काव्य-३४ पर प्रवचन

यह मोक्ष अधिकार है, इसमें कहते हैं कि शुभभाव तो ज्ञानी-मुनि सबको आता है परन्तु वह बन्ध का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है। नन्दन अर्थात् आनन्द – धर्म का श्रवण, भक्ति आदि में आनन्द आता है परन्तु वह शुभविकल्प है – शुभाचार है। मोक्षमार्ग में ऐसा भाव बीच में आता अवश्य है परन्तु वह मोक्षमार्ग नहीं है।

इन्द्र, भगवान को एक हजार नेत्र से देखता है न ! वह भी शुभभाव है परन्तु यहाँ मुनि की प्रधानता से कथन है। मुनि को **विषं प्रणीतम्।** मुनि को शुभभाव जहर जैसा लगता है। मुनिराज को स्वरूप में स्थिरता होने पर भी प्रमत्तभाव में – छठवें गुणस्थान में ऐसे भाव होते हैं।

प्रश्न : छठवें गुणस्थान में ऐसा भाव न होवे तो ?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि को शुद्धोपयोग और शुभोपयोग दो ही होते हैं। शुद्धभाव हो, तब शुभभाव नहीं होते और शुभभाव हो, तब शुद्धोपयोग नहीं होता। इसके अतिरिक्त तीसरा भाव मुनिराज को नहीं होता। मुनिदशा किसे कहें भाई! जहाँ स्वरूप पर दृष्टि पड़कर अनुभव हुआ है, तदुपरान्त शुद्धि की वृद्धि हुई है, प्रचुर स्वसंवेदन है। वह शुद्ध परिणति संवर और निर्जरा का कारण है तथा साथ में जो शुभराग है, वह बन्ध का कारण है। आगे कहेंगे कि वस्तु की व्यवस्था ही ऐसी है, वह भगवान ने कही है – ऐसी ही मैं कहता हूँ, तुम्हें कठिन लगे या न लगे परन्तु **इहि विधि वस्तुव्यवस्था जैसी, कही जिनंद कही मैं तैसी।**

अरे! चौरासी लाख योनि के अवतार में जन्म-मरण के दु:ख कितने कठोर हैं! वे क्या आत्मा को शोभा देते हैं! आत्मा की दशा तो ज्ञान-आनन्द की हो परन्तु जीव को उसका भान भी दुर्लभ हो गया है। वहाँ उस शान्तस्वरूप की दृष्टि होकर अनुभव होना, यह तो महा अलौकिक बात है परन्तु यहाँ तो उससे भी आगे की – मुनिदशा की बात करते हैं। मुनि को प्रचुर स्वसंवेदन तो सुखदायी है परन्तु साथ में रहा हुआ शुभराग दु:खदायी है – नुकसान का कारण है।

मुनिराज को भी परमात्मा को नमस्कार करने का भाव आता है। **णमो अरहंताणं।** – ऐसा कहते हैं वह भी शुभराग है। मुनिराज स्तुति भी करते हैं। भगवान की स्तुति करते हैं, गुरु की स्तुति करते हैं, गुणीजन की स्तुति करते हैं परन्तु वह भी शुभराग है। समन्तभद्राचार्य ने तो चौबीस तीर्थङ्कर की स्तुति की है और वे कहते हैं कि मुझे तो स्तुति का व्यसन हो गया है। ऐसा शुभभाव भूमिकानुसार होता है परन्तु वह शिवमार्ग नहीं है।

वीतरागी वाणी का श्रवण करना भी शुभराग है। गणधर और मुनि भी वाणी सुनते हैं। आत्मा ऐसा है... ऐसा है... ऐसा घोलन करना भी शुभराग है, धर्म नहीं। संवर, निर्जरा का कारण नहीं। शास्त्र वाचन और लिखने का भाव भी मुनिराज को आता है परन्तु यदि अन्तर में स्थिर हो जाएँ तो पढ़ना-लिखना नहीं रहता। मुनिराज को शुभराग आता है परन्तु उसका निषेध वर्तता है किन्तु इससे शुभराग नहीं आता – ऐसा नहीं है। यदि शुभराग आता ही न हो तो प्रमत्त गुणस्थान ही नहीं रह सकता।

www.vitragvani.com

मुनिराज को पात्र जीवों को उपदेश देने का विकल्प उत्पन्न होता है वह भी राग है, धर्म नहीं। इसलिए उपदेश देने से निर्जरा नहीं होती है। मुनिराज को निर्दोष आहार ग्रहण करने का भाव आता है, वह भी शुभराग है, संवर नहीं। इस प्रकार अनेक प्रकार की क्रिया-कलाप अर्थात् शुभविकल्प मुनिराज को आते हैं, वह राग है, वीतरागभाव नहीं क्योंकि वीतरागभाव तो आत्मा के लक्ष्य से प्रगट होता है, पर के लक्ष्य से वीतरागभाव प्रगट नहीं होता।

प्रभु! वीतराग का मार्ग तो तेरा मार्ग है क्योंकि तेरा स्वरूप ही वीतराग है। 'जिन सोहि है आत्मा' - आत्मा का स्वरूप ही अनादि-अनन्त वीतरागस्वरूप है। उसमें से बाहर निकलना, वह राग है। शुभराग की क्रियाओं को धर्म का नाम दिया जाता है परन्तु वह धर्म नहीं, बन्ध का कारण होने से आत्मा की घातक है। इसलिए अब कहते हैं कि....

शुद्धोपयोग में शुभोपयोग का निषेध (दोहा)

सुद्धातम अनुभव जहां, सुभाचार तहां नांहि।
करम करम मारग विषैं, सिव मारग सिवमांहि॥ ३५॥

अर्थ - ऊपर कही हुई क्रियाएँ करते-करते जहाँ आत्मा का शुद्ध अनुभव हो जाता है, वहाँ शुभोपयोग नहीं रहता। शुभक्रिया, कर्मबन्ध का कारण है और मोक्ष की प्राप्ति आत्म-अनुभव में है।

काव्य-३५ पर प्रवचन

शुभभाव करते करते शुद्ध अनुभव होता है - ऐसा कहा। उसका अर्थ यह है कि स्वरूप की दृष्टि और अनुभव तो है और साथ में शुभराग भी आता है, वह छूटकर जब स्वरूप में स्थिर होता है, तब आत्मा की निर्विकल्प शान्ति का अनुभव होता है और उसे ही निर्जरा कहा जाता है। जब ऐसा शुद्धोपयोगरूप सातवाँ गुणस्थान आता है, वहाँ शुभाचार या शुभराग नहीं होता। मुनि, प्रमत्तभाव से छूटकर अप्रमत्तभाव में आते हैं, तब मुनि को शुभाचार का क्रियाकलाप नहीं होता है।

नन्दन, वन्दन आदि आठ प्रकार का क्रियाकलाप कहा है। वह सब बन्ध का मार्ग

www.vitragvani.com

होने से मुनि को उसका निषेध वर्तता है। वह सब राग, कर्मबन्ध के मार्ग में है, मोक्षमार्ग तो शिवमाही अर्थात् आत्मा में है। आत्मा के आश्रय से दृष्टि, ज्ञान और रमणता है, वह मोक्षमार्ग है – शिवमार्ग है। अभी मोक्षमार्ग नहीं होता – ऐसा माननेवाले की दृष्टि में जहर है, वह उसे स्वयं को नुकसान करता है परन्तु उसे ख्याल नहीं आता। मोक्ष का मार्ग तो शुद्ध चैतन्य आनन्दधाम की क्रिया में होता है, किसी राग की क्रिया में मोक्षमार्ग नहीं होता। बन्ध तो बन्ध के मार्ग में होता है और मोक्ष, मोक्ष के मार्ग में होता है; दोनों मार्ग अलग हैं। भले समकिती ज्ञानी या मुनि हो परन्तु उन्हें जो शुभराग आता है, वह बन्ध का ही कारण है। जितने अंश में निर्विकल्प स्थिरता और शुद्धपरिणति है, उतने अंश में मुक्ति है और जितनी राग की परिणति है, उतने अंश में बन्ध है।

राग में धर्म मनवाने में मूल कारण यह है कि स्वयं को अन्तर के मार्ग की सूझ नहीं पड़ती, इसलिए जिसमें सूझ पड़ती है – ऐसे शुभराग को ही मोक्षमार्ग मान बैठते हैं और दूसरे को भी ऐसा उपदेश देते हैं।

आहा...हा...! बाहर में कहीं कोई शरण नहीं है। देह छूटेगा, तब आँतें खिंचेंगी या छाती में दर्द होगा, तब उससे भेदज्ञान नहीं किया होगा तो किसकी शरण लेगा? भगवान की शरण लेगा, वह भी विकल्प है, उससे शान्ति नहीं होगी। शान्ति तो एकमात्र निर्विकल्प, निज चैतन्य भगवान की शरण से ही होगी। दामोदर सेठ का लड़का रायचन्द छह महीने के विवाह उपरान्त गुजर गया था, उसकी तिथि में रोनेवाली महिलाओं को बुलाया था। यह सुनकर सबका हृदय पिघल जाता था, कौन बचा सका? कौन शरण हुआ? इज्जत, कीर्ति कुछ काम नहीं आये। वह लड़का पूना में पढ़ता था, तब एक बार पिता को पत्र में लिखा था कि हमारे पढ़ने की फीस, रहने-खाने के खर्च के उपरान्त, जेब खर्च दो सौ रुपये चाहिए। हम कोई गरीब घर के नहीं है कि थोड़े पैसे में चलायें, घर में नगद पैसा आता है, तब उठाने में हमारी कमर टूटती है, इसलिए पैसा भेजने में ढिलाई नहीं रखना। देखो, वह लड़का तीन महीने की बीमारी में चला गया। बेचारा स्वरूप की दृष्टि के बिना चला गया। आत्मा के भान बिना मरण, वह कौवे-कुत्ते के मरण जैसा है। चैतन्यभगवान की शरण ही सच्ची शरण है, इसके अतिरिक्त कोई शरण नहीं है।

www.vitragvani.com

यह ३५ वाँ पद्य हुआ। **करम करम मारग विषैं, सिव मारग सिवमांहि।** अब, ३६ वें पद्य में इसी बात को विशेष स्पष्ट करते हैं।

(चौपाई)

इहि बिधि वस्तु व्यवस्था जैसी।
कही जिनंद कही मैं तैसी॥
जे प्रमाद संजुत मुनिराजा।
तिनके सुभाचारसौं काजा॥ ३६॥

अर्थ – ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार पदार्थ का जैसा स्वरूप जिनराज ने कहा है, वैसा हमने वर्णन किया। जो मुनिराज प्रमाददशा में रहते हैं, उन्हें शुभक्रिया का अवलम्ब लेना ही पड़ता है।

काव्य-३६ पर प्रवचन

बनारसीदासजी कहते हैं कि भगवान सर्वज्ञदेव ने वस्तु की व्यवस्था जिस प्रकार कही है, वैसी ही हमने कही है। हमने कहीं कल्पना से वस्तुस्थिति नहीं कही है। छठवें -सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनि को प्रमत्तदशा में पंच महाव्रत आदि अट्ठाईस मूलगुण पालन का भाव आये बिना रहता ही नहीं है। शुभराग का आश्रय लेना पड़ता है, इसका अर्थ यह है कि मुनिराज को भूमिकानुसार शुभराग होता ही है।

पुनः (चौपाई)

जहां प्रमाद दसा नहि व्यापै।
तहां अवलंब आपनौ आपै॥
ता कारन प्रमाद उतपाती।
प्रगट मोक्ष मारगकौ घाती॥ ३७॥

अर्थ – जहाँ शुभ-अशुभ प्रवृत्तिरूप प्रमाद नहीं रहता, वहाँ अपने को अपना ही अवलम्बन अर्थात् शुद्धोपयोग होता है, इससे स्पष्ट है कि प्रमाद की उत्पत्ति मोक्षमार्ग में बाधक है।

www.vitragvani.com

काव्य-३७ पर प्रवचन

जहाँ अशुभभाव तो नहीं परन्तु शुभभाव भी नहीं है, वहाँ मुनिराज को अन्तर में स्वयं का - आत्मा का अवलम्बन है। वहाँ मुनि को निमित्त, विकल्प, या भगवान का भी अवलम्बन नहीं है। मरण के समय भगवान का अवलम्बन लेते हैं, वह भी विकल्प है- शुभराग है। देवलोक में देवों की आयु पूर्ण होनेवाली हो, वहाँ पता पड़ जाता है तो सम्यक्त्वीदेव भगवान की प्रतिमा के समक्ष जाकर चरण पर हाथ रखकर ध्यान में बैठता है, वहाँ आयु पूर्ण हो जाती है। ऐसे भाव भी पर तरफ के होने से शुभराग है। देवलोक में मणिरत्न की प्रतिमा और मन्दिर होते हैं। उनकी शरण लेना भी राग है - ऐसा भगवान स्वयं कहते हैं। भगवान कहते हैं कि मेरा स्मरण करेगा तो भी तुझे राग होगा।

वीतराग के सिवाय ऐसा कौन कहे! दूसरे तो ऐसा कहते हैं कि हमें याद करो तो तुम्हारी मुक्ति होगी, हमारे साधु को लड्डू दो तो तुम्हें बैकुण्ठ / स्वर्ग में लड्डू मिलेंगे... खोटी बात है न!

भूमिकानुसार शुभराग होता है परन्तु वह शरण नहीं है, उससे कल्याण होगा - ऐसा मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। शुभभाव होता है परन्तु वास्तव में उसका अवलम्बन मुनि को नहीं है। **ता कारन प्रमाद उतपाती।** सम्यग्दर्शनसहित अनुभवी जीव को और चारित्रसहित मुनि को जो प्रमाद की उत्पत्ति होती है, वह उत्पात है। वह प्रगट मोक्षमार्ग का घात करनेवाला है। महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण पालन का विकल्प आत्मा की स्थिरता का घातक है। यह उत्कृष्ट दर्जे की बात है - ऐसा नहीं है। ऐसा निर्णय तो प्रथम दर्जे में ही करने का है। जिसे निर्णय का भी ठिकाना नहीं है, उसे सम्यक्त्व, व्रत, या चारित्रादि कुछ नहीं हो सकता। बहुत से तो ऐसे होते हैं कि जो विधिपूर्वक भलीभाँति व्रत, यात्रादि करने से कल्याण हो जाएगा - ऐसा मानते हैं। भाई! उनसे कदापि कल्याण नहीं होता। विविध महाव्रत पालन करना, वह भी राग है। उसमें धर्म मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि को राग तो आता है परन्तु उसे बन्ध का मार्ग मानता है। प्रगट मोक्षमार्ग का घाती है - ऐसा मानता है (ज्ञानी और अज्ञानी की) दृष्टि में बड़ा अन्तर है।

www.vitragvani.com

पुनः (चौपाई)

जे प्रमाद संजुगत गुसांई।
उठहिं गिरहिं गिंदुककी नांई॥
जे प्रमाद तजि उद्धत हौंहीं।
तिनकौं मोख निकट द्रिग सौंहीं॥ ३८॥

अर्थ – जो मुनि, प्रमादसहित होते हैं, वे गेंद की तरह नीचे से ऊपर को चढ़ते और फिर नीचे को पड़ते हैं, और जो प्रमाद छोड़कर स्वरूप में सावधान होते हैं, उनकी दृष्टि में मोक्ष बिलकुल पास ही दिखता है।

विशेष – साधुदशा में छट्ठा गुणस्थान प्रमत्त मुनि का है, सो छट्ठे से सातवें में और सातवें से छट्ठे में असंख्यात बार चढ़ना गिरना होता है।

काव्य-३८ पर प्रवचन

प्रथम समझ में तो ले कि मार्ग कैसा है ? जिसे समझ का भी ठिकाना नहीं है, उसे सम्यग्दर्शन या अनुभव नहीं होता है। मूल विवाद अनादि से यह है कि जीव पर की रुचि और प्रेम में से हटता ही नहीं है, यह अनादि की दशा है।

गुसांई अर्थात् साधु। विष्णु लोग साधु को गुंसाई कहते हैं। पंच परमेष्ठी में शामिल और मिले हुए साधु भी यदि प्रमादसहित है तो गेंद की तरह इधर से उधर विकल्प में अटकते हैं। ईर्यासमितिसहित होने पर भी, शुद्धोपयोग की अपेक्षा से शुभराग की गति हल्की है – ऐसा बताते हैं। राग छोड़कर स्वरूप में सावधान होता है, उसकी गति ऊँची है, उसे मोक्ष निकट में ही दिखता है। मैं मोक्षस्वरूप हूँ, जहाँ ऐसा निर्विकल्प अनुभव हुआ और निर्विकल्प चारित्र हुआ, उसे मोक्ष समीप ही है। अल्प काल में मेरी मुक्ति होगी – ऐसा उसे भासित होता है।

संसार के साधारण धन्धे में भी वह ऐसा फँसा हुआ होता है कि उसमें से निकल नहीं सकता। कहाँ जाना है, उसका तो भान भी नहीं है। यहाँ तो शुभभाव की भूमिका में रहे हुए मुनि को भी गेंद जैसी दशा कही है, तो अज्ञानी की तो बात ही क्या करना! शुभराग

www.vitragvani.com

का प्रमाद भी छोड़कर अप्रमत्तदशा में - आनन्द में जाता है, उसे मुक्ति निकट है। शुद्धोपयोगी मुनि को अल्प काल में मुक्ति है।

पुनः (चौपाई)

घटमैं है प्रमाद जब ताईं।
पराधीन प्रानी तब ताईं॥
जब प्रमादकी प्रभुता नासै।
तब प्रधान अनुभौ परगासै॥ ३९॥

अर्थ - जब तक हृदय में प्रमाद रहता है, तब तक जीव पराधीन रहता है, और जब प्रमाद की शक्ति नष्ट हो जाती है, तब शुद्ध अनुभव का उदय होता है।

काव्य-३९ पर प्रवचन

शुभभाव, वह प्रमाद की प्रभुता है; आत्मा की प्रभुता नहीं। देखो, शुभभाव भी पराधीन है; पराधीन अर्थात् पर कराता है - ऐसा नहीं परन्तु स्वयं पर के आधीन होता है। कर्म के कारण प्रमाद होता है - ऐसा नहीं है; स्वयं प्रमाद के कारण पर के आधीन हो जाता है। अप्रमाद है, वह स्वाधीन है; राग के आधीन है वह पराधीन है। सैंतालीस नय में ईश्वरनय में आता है कि जीव स्वयं स्वतः पराधीन होता है, पर उसे आधीन नहीं कराता है। स्वभाव की अप्रमत्तदशा छोड़कर राग में आना ही पराधीनता है - विभाव है।

संवत् १९९० की साल में स्वाधीन-पराधीन की चर्चा हमारे बहुत चलती थी। सामनेवाला कर्म के आधीन सब होता है - ऐसा मानते थे। कर्म कुछ नहीं कर सकता, जीव स्वयं द्रव्यदृष्टि से स्वाधीन होने पर भी पर्यायदृष्टि से स्वयं ही अपने आप ही पराधीन होता है। जिसकी दृष्टि अंश पर है, वह पराधीन है। द्रव्य पर दृष्टि है, वह स्वाधीन है। स्याद्वाद अधिकार में नौवें पद्य में यह बात ली है। प्रवचनसार में सैंतालीस नय में ४३ वाँ नय ईश्वरनय है। उसमें दृष्टान्त देकर समझाया है कि मुसाफिरी में जाते हुए धाय की दुकान में मनुष्य अपने बालक को स्वयं ही छोड़ता जाता है। स्वयं अपने आप पराधीन होता है, उसे कोई पराधीन नहीं कराता - ऐसा ही जीव का पर्याय स्वभाव है। अनिश्वरनय से जीव स्वयं स्वतन्त्रता को भोगनेवाला है। दृष्टान्तरूप से हिरण को

www.vitragvani.com

स्वच्छन्दता से फाड़कर खानेवाले सिंह की तरह जीव, राग भी स्वतन्त्ररूप से करता है। यह सब समझना पड़ेगा।

घटमैं है प्रमाद जब ताईं.... शुभभाव आता है, वही पराधीनदशा है। राग के आधीन हुआ है। भाषा ही ऐसी प्रयोग की है कि जब तक हृदय में प्रमाद रहता है, तब तक जीव पराधीन रहता है। कर्म उसे पराधीन कराता है – ऐसा नहीं कहा है। कर्म की पर्याय कर्म में है और जीव की पर्याय जीव में है।

व्यवहार समझ में ही जिसे अन्तर है, उसे यह सम्यक् होने की योग्यता भी नहीं है।

ज्ञानी को–मुनि को जितने अंश में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट हुए हैं, उतनी तो स्वाधीनता है ही परन्तु जितना राग का भाग है, उतनी पराधीनता थी, उसका भी नाश करके शुद्ध अनुभवदशा प्रगट होती है। श्रीमद् में भी आता है न... उदय होय चारित्र का... राग की पराधीनता मिटाये और स्वभाव की स्थिरता प्रगट करे – यह स्वयं के आधीन है। इसमें जितना प्रमाद है, वह बन्धमार्ग है और जितनी स्थिरता है, वह मोक्षमार्ग है।

वस्तुत: तो सम्यग्ज्ञान होने पर सम्यक्त्वी राग से तो मुक्त ही है परन्तु यहाँ चारित्र का अधिकार है, इसलिए चारित्र में जितना प्रमाद है, उतनी पराधीनता है – ऐसा सिद्ध किया है। उपादान–निमित्त की चिट्ठी में भी बनारसीदासजी ने 'चारित्रगुण की संक्लेश–विशुद्धरूप गति, स्थिरता–अस्थिरतारूप शक्ति और मन्द–तीव्ररूप जाति, सब स्वयं के आधीन है – यह स्पष्ट किया है।' यहाँ यह सिद्ध किया है कि प्रमाद है, तब तक पराधीन है, और जब प्रमाद की प्रभुता का नाश होता है, तब शुद्ध अनुभव का उदय होता है।

समयसार नाटक शास्त्र में मोक्षद्वार चलता है। समयसार अर्थात् आत्मा, उसका यह नाटक है, उसमें यह मोक्षद्वार का ४० वाँ पद्य है।

(दोहा)

ता कारन जगपंथ इत, उत सिव मारग जोर।
परमादी जगकौं धुकै, अपरमादि सिव ओर॥ ४०॥

अर्थ – इसलिए प्रमाद, संसार का कारण है और अनुभव मोक्ष का कारण है। प्रमादी जीव, संसार की ओर देखते हैं और अप्रमादी जीव, मोक्ष की तरफ देखते हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-४० पर प्रवचन

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वभावी शुद्ध वस्तु है, उसे छोड़कर जितना दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव आता है, वह सब राग की क्रिया होने से प्रमादभाव है, जगत् का पन्थ है, संसारमार्ग है; इसलिए कहा कि प्रमाद है, वह संसार का कारण है।

मुनिराज को भी आत्मध्यान और शान्ति विशेष होने पर भी, जितने प्रमाण में पंच महाव्रत के परिणाम और अट्ठाईस मूलगुण के पालन का राग है, वह सब प्रमादभाव है, वह संसार-भ्रमण का कारण है। वास्तव में कोई भी राग है, वह संसार के बन्ध का कारण है। शुभराग को परम्परा मुक्ति का कारण कहा जाता है, वह अपेक्षा अलग है। शुभराग को छोड़कर मुक्ति होती है - ऐसी परम्परा है।

ता कारन जगपंथ इत.... शुद्ध चैतन्य निर्मलानन्द प्रभु का स्वभावसन्मुख का आचरण - निर्विकल्प वीतरागपरिणति, वह मोक्ष का कारण है। इसके सिवाय जितना रागभाव है, वह सब संसार का कारण है। **उत सिव मारग जोर....** इस ओर भगवान आत्मा के सन्मुख ढलने से परमानन्द का आचरण होने पर प्रमाद का आचरण मिट जाता है। **परमादी जगकौं धुकै, अपरमादि सिव ओर।** स्व आश्रय से जो परिणाम होता है, वह सब मोक्ष का मार्ग है और पर के लक्ष्य से जो परिणाम होता है, वह सब बन्ध का - संसार का मार्ग है। धुकै अर्थात् देखता है। जो राग को देखता है अर्थात् उसका आश्रय और लक्ष्य करता है, वह संसार के पन्थ में है।

जिसे अपने अन्तर में सुख भासित होता है, बाहर कहीं शरीर या रागादिक में सुख भासित नहीं होता, वह स्वरूप में स्थिरतावाला - अप्रमादी है। वह मोक्षमार्ग में चलनेवाला है, मोक्षमार्ग को देखनेवाला है और यह शरीर तो जड़-मिट्टी का पुतला है। लक्ष्मी जड़ है, शरीर जड़ है, दाल, भात, रोटी आदि जड़ है, स्त्री का शरीर भी जड़ है, लड्डू भी जड़ है। उनमें सुख मानता है, वह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, मूर्ख है। सुख और आनन्द तो आत्मा में है, उसके सन्मुख वह नहीं देखता है।

सम्यग्दृष्टि को अन्तर में सुख भासित होता है, जबकि मिथ्यादृष्टि को बाहर में सुख भासित होता है। कितना बड़ा अन्तर है? जैनधर्म अर्थात् राग को जीतकर स्वभाव में

www.vitragvani.com

स्थिर होना, वह जैनधर्म है। उसका जिसे पता नहीं है, उसे ही बाहर में सुख लगता है। इस कारण वह पर में आकर्षित हो जाता है। वह उसके लिए संसार का कारण होता है। पर की ओर का आकर्षण हो, वहाँ भले अशुभराग हो या फिर शुभराग हो, दोनों बन्ध का कारण होते हैं। राग से लाभ मानना मिथ्यात्व है, उससे आत्मा को पर्याय में हानि होती है। वस्तु अबन्ध है परन्तु जब तक अबन्ध परिणाम प्रगट न करे, तब तक पर्याय में बन्ध तो होता ही है।

वीतरागमार्ग अलौकिक है, उसका लौकिक मार्ग के साथ सामंजस्य नहीं होता। जिसे परिणमन में अतीन्द्रिय आनन्द आया है, वह जीव, मोक्ष के मार्ग में है। भले वह गृहस्थाश्रम में और राग में रहता हुआ दिखाई दे, फिर भी वह उनमें नहीं है, वह मोक्ष के मार्ग में है। भरतजी घर में वैरागी थे – ऐसा आता है न! क्योंकि वे मोक्षमार्गी थे। छियानवें हजार स्त्री, छियानवे करोड़ सैनिक, छियानवें करोड़ गाँव के संयोग में खड़े थे परन्तु अरे! यह हम नहीं, यह हमारे नहीं.... जहाँ हम हैं, वहाँ ये नहीं.... ऐसी जिन्हें अन्तर्दृष्टि हुई है – ऐसा सम्यक्त्वी स्वरूप का आचरण करनेवाला ज्ञानी है।

अरे! तेरी चीज क्या है? इसका तुझे पता नहीं है। परमेश्वरदेव ने जो पर्याय प्रगट की है, वह पर्याय कहाँ से आयी है? – कि अन्तर में शक्ति है, उसमें से आयी है। ऐसी ही शक्ति तुझमें है परन्तु तुझे उसका पता नहीं है।

पुनः (दोहा)

जे परमादी आलसी, जिन्हकैं विकलप भूरि।
होइ सिथल अनुभौविषै, तिन्हकौं सिवपथ दूरि॥ ४१ ॥

अर्थ – जो जीव प्रमादी और आलसी हैं, जिनके चित्त में अनेक विकल्प होते हैं, और जो आत्म-अनुभव में शिथिल हैं, उनसे स्वरूपाचरण दूर ही रहता है।

काव्य-४१ पर प्रवचन

जिसे स्वरूप के अनुभव में आलस्य है, प्रमाद है, वह जीव शुभभाव करता हो तो भी प्रमादी और आलसी है। आहा...हा...! पुरुषार्थ करके स्वरूप में स्थिर होनेवाले को पुरुषार्थी कहते हैं। यह तो भाई! गागर में सागर भर दिया है। वीतरागता का उद्यम करता

www.vitragvani.com

है, वही उद्यमी है, बाकी शुभाशुभ का उद्यम करता है, वह उद्यमी नहीं परन्तु आलसी है। दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम करना वह पुरुषार्थ नहीं है। स्वरूप की रचना करे, उसे वीर्यगुण कहा है। राग की रचना करे वह वीर्य नहीं, वह तो नपुंसकता है। 'आत्मवैभव' पुस्तक में वीर्यगुण के वर्णन में यह सब आ गया है। स्वरूप की रचना करे, उसे पुरुषार्थ कहा है; बाकी तो सब प्रमाद है, निरुद्यम है।

तू महाप्रभु है भाई! जितने वीतराग परमात्मा हुए, वे सब तेरे जैसे आत्मा ही थे, उनमें से परमात्मा हुए हैं। कोई बाहर से परमात्मा आये नहीं हैं। नजर करे उसे निधान मिले – ऐसा है परन्तु इसने नजर ही नहीं की है। धर्म के नाम से महीने-महीने के उपवास करे तो भी वह पुरुषार्थी नहीं है, प्रमादी है। व्यापार-धन्धे में बहुत उद्यम करता है, उसे भी यहाँ आलसी कहा है। निज घर का उद्यम नहीं और पर घर में उद्यम करे उसे पुरुषार्थी कैसे कहा जाए?

श्रोता : शुभराग को धर्म का समर्थ निमित्तकारण तो कहा जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं... नहीं... बिल्कुल नहीं। वह तो पाप का कारण है। योगीन्दुदेव ने योगसार में कहा है न! पाप को तो सब पाप कहते हैं परन्तु अनुभवीजन पुण्य को भी पाप कहते हैं।

भगवान ऐसा कहते हैं कि तुझे नवतत्त्व की श्रद्धा का राग हो या पंच महाव्रत का राग हो या हमारे प्रति प्रेम हो, वह सब तेरा निरुद्यम है – प्रमाद है, अपने भगवान आत्मा का प्रेम नहीं – स्वसन्मुखता नहीं और उस ओर का प्रयत्न भी नहीं है, उसे भगवान पुरुषार्थहीन कहते हैं।

जिन्हकैं विकलप भूरि। जिन्हें बारम्बार राग-द्वेष की तरंगें उठा ही करती हैं, वे सब निरुद्यमी हैं। स्वरूप का पुरुषार्थ करना चाहिए, वह नहीं करते और विकल्प – शुभ-अशुभराग की वृत्तियाँ उत्पन्न किया करते हैं कि जो स्वभाव में नहीं हैं, वे सब स्वरूप के आलसी हैं। आत्मा की शुद्धता, पवित्रता और प्रमादरहितता की रचना करे, वही सच्चा वीर्य है, बाकी राग की रचना करता है, उसमें तो निजघर में नुकसान होता

www.vitragvani.com

है। महीने के पाँच-पाँच लाख रुपये की आमदनी होती हो तो उसे कितना हर्ष होता है! फिर भी उसे यहाँ निरुद्यमी और आलसी कहा जाता है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य भी पंचास्तिकाय गाथा १७० में कहते हैं कि जो अनुभव में आलसी है, उसे निर्वाण दूरतर है। उसे भले ही तीर्थंकर भगवान की, नव तत्त्व की, सूत्र की रुचि है तो भी निर्वाण दूर है। यही बात यहाँ कहते हैं कि जो अनुभव में शिथिल है, उसे मोक्ष दूर है। भले वह ज्ञानी और मुनि हो तो भी उसका ज्ञान जब तक राग में अटकता है, तब तक मोक्ष दूर है। **होइ सिथल अनुभौविषै, तिन्हकौं सिवपथ दूरि।**

शुभाशुभभाव वह जीव का स्वरूप ही नहीं है, शुद्धोपयोग ही उसका स्वरूप है। अत: जहाँ स्वरूप का भान होता है, वहाँ उसकी दृष्टि में शुद्धोपयोग का आचरण आता है। उसी का नाम स्वरूपाचरणचारित्र है; इसलिए कोई चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग नहीं होता - ऐसा कहता है, वह योग्य नहीं है।

अब, ११ वें कलश का ४२ वाँ पद्य इस प्रकार है।

पुनः (दोहा)

जे परमादी आलसी, ते अभिमानी जीव।
जे अविकलपी अनुभवी, ते समरसी सदीव॥ ४२॥

अर्थ - जो जीव प्रमादसहित और अनुभव में शिथिल हैं, वे शरीर आदि में अहंबुद्धि करते हैं और जो निर्विकल्प अनुभव में रहते हैं, उनके चित्त में सदा समता रस रहता है।

काव्य-४२ पर प्रवचन

जो मिथ्यादृष्टि है, वह राग का अभिमान करता है। जबकि सम्यग्दृष्टि को राग का अभिमान नहीं, परन्तु राग का परिणमन है; इसलिए मिथ्यादृष्टि को अभिमानी जीव कहा है। ज्ञानी को राग उत्पन्न होता है परन्तु उसकी कर्ताबुद्धि नहीं है। यदि राग की कर्ताबुद्धि है तो वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी, राग के परिणमन को दु:खदायक जानता है, जबकि अज्ञानी राग के परिणमन को सुखदायक जानता है, हितकर मानता है; इस कारण वह राग का अभिमानी है।

www.vitragvani.com

नग्न-दिगम्बर सच्चे सन्त को तीन कषाय का तो नाश है परन्तु संज्वलन कषाय में पंच महाव्रतादि राग का परिणमन है, उसे मुनि दुःखदायक जानते हैं परन्तु इतनी शिथिलता है, तब तक राग का परिणमन है।

जे अविकलपी अनुभवी, ते समरसी सदीव। जो कोई जीव, राग से भिन्न पड़कर स्वरूप का अनुभव करता है, वह अविकल्पी है; अन्तर के आनन्द के अनुभव में विकल्प का अभाव है - ऐसा अविकल्पी मुनि सदैव समरस में लीन है।

पहले कुछ व्रत करो, भक्ति करो, दया पालो, फिर धर्म होगा - ऐसी बात तो सन्त करते ही नहीं, इसलिए जीवों को सन्तों की बात कठोर लगती है। धर्म करना चाहते हैं, उसे इस काल में ऐसा ही राग होता है। अशुभ से बचने के लिए ज्ञानी को भी ऐसा राग होता है, फिर भी वह राग है, वह अनुभव से अलग ही चीज है। पुण्य-पाप अधिकार में तो वहाँ तक कहा है कि व्यवहाररत्नत्रय जीव को अनुभव से पतित करता है, इसलिए पाप है। पहले जरा महिमा भी की है कि व्यवहाररत्नत्रय है, वह व्यवहार से पवित्र है इत्यादि.... परन्तु निश्चय से उसकी महिमा नहीं है। अतीन्द्रिय अमृत सागर को स्पर्श करके वेदन करना, वही वास्तविक मोक्षमार्ग है। अनुभवी को इतना रे आनन्द में रहना रे.....

सदा ज्ञाता-दृष्टा भाव में रहनेवाला जीव समतारस का आस्वादी है - धर्मी है। वह जब अनुभव से शिथिल होता है, तब राग आता है - ऐसा यहाँ कहना है। अर्थ में उसे शरीरादि में अहंबुद्धि होती है - ऐसा कहा है परन्तु अहंबुद्धि नहीं होती, मात्र राग आता है। राग में और शरीर में अहंपना करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। समझाने की भाषा में ऐसा कथन आता है परन्तु धर्मी को शरीरादिक में अहंबुद्धि होती ही नहीं है।

अब, ४३ वाँ पद्य कहते हैं।

पुनः (दोहा)

जे अविकलपी अनुभवी, सुद्ध चेतना युक्त।
ते मुनिवर लघुकालमैं, हौंहि करमसौं मुक्त॥ ४३॥

अर्थ - जो मुनिराज विकल्परहित हैं, अनुभव और शुद्ध ज्ञान-दर्शनसहित हैं, वे थोड़े ही समय में कर्मरहित होते हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

www.vitragvani.com

काव्य-४३ पर प्रवचन

जो कोई राग के विकल्प से रहित और स्वरूप की दृष्टिसहित आनन्द के अनुभव में रहता है, वह जीव शुद्धचेतना से युक्त है, शुद्ध ज्ञानानन्द की परिणति से सहित है। आनन्दमूर्ति प्रभु शुद्ध चेतनायुक्त है अर्थात् ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता और राग से पृथक्ता युक्त है, जागृत है – ऐसे मुनिवर लघु काल में अर्थात् अल्प काल में ही कर्म से मुक्त होते हैं। शुद्ध चेतना के अनुभव बिना मात्र क्रियाकाण्ड करता है, उसकी मुक्ति नहीं होती है। आनन्दघनजी जैसे भी कहते हैं कि –

कोई कहे सेविये विविध किरीया करि, फल अनेकान्त लोचन न देखे,
फल अनेकान्त क्रिया करि बापड़ा, रणवड चार गति मांहि लेखे॥

जिसके फल में चार गति में परिभ्रमण है – ऐसी क्रिया से मुक्ति नहीं है; स्वभाव की एकता के फल में मुक्ति है। शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में एकरूप वीतरागता प्रगट होना, वह एक मोक्ष का फल देती है। क्रिया करने के फल में तो अनेकता मिलती है... कोई सेठ होता है, कोई भूत होता है, या किसी को शरीर की निरोगता आदि का फल प्राप्त होता है।

स्वसंवेदनज्ञान, स्व का दर्शन और स्व में स्थिरता के फल में ही अल्प काल में मुक्ति होती है।

अब, ४४ वें पद्य में विशेष स्पष्टता करते हैं कि वस्तुदृष्टि से ज्ञान में सर्व जीव एक समान परमार्थस्वरूप है – ऐसा भासित होता है; पर्यायदृष्टि से देखने पर जिसकी जो स्थिति है, वह ज्ञात होती है।

ज्ञान में सब जीव एक से भासते हैं (कवित्त)

जैसैं पुरुष लखै परवत चढ़ि,
भूचर-पुरुष ताहि लघु लग्गै।
भूचर-पुरुष लखै ताकौं लघु,
उतरि मिलैं दुहुकौ भ्रम भग्गै॥

www.vitragvani.com

तैसैं अभिमानी उन्नत लग,
और जीवकौं लघुपद दग्गै।
अभिमानीकौं कहैं तुच्छ सब,
ग्यान जागै समता रस जग्गै॥ ४४॥

अर्थ – जैसे पहाड़ पर चढ़े हुए मनुष्य को नीचे का मनुष्य छोटा दिखता है, और नीचे के मनुष्य को ऊपर पहाड़ पर चढ़ा हुआ मनुष्य छोटा दिखता है, पर जब वह नीचे आता है, तब दोनों का भ्रम हट जाता है और विषमता मिट जाती है, उसी प्रकार ऊँचा सिर रखनेवाले अभिमानी मनुष्य को सब आदमी तुच्छ दिखते हैं, और सबको वह अभिमानी तुच्छ दिखता है, परन्तु जब ज्ञान का उदय होता है, तब मान कषाय गल जाने से समता प्रगट होती है। ज्ञान में कोई छोटा बड़ा नहीं दिखता, सब जीव एक से भासते हैं।

काव्य-४४ पर प्रवचन

जैसे, इसमें पर्वत और तलहटी का दृष्टान्त दिया है, उसी प्रकार प्लेन में बैठे हुए व्यक्ति को जमीन पर स्थित लोग, गाँव, तालाब आदि सब छोटे-छोटे लगता है और जबकि जमीन के लोगों को प्लेन, उसमें बैठे हुए लोग सब छोटे लगते हैं परन्तु जब ऊपर से व्यक्ति नीचे आकर नीचे के लोगों से मिलता है, तब दोनों जैसे हैं वैसे दिखते हैं।

देखा ? ऊपर से उतर कर लोग नीचे के लोगों से मिलते हैं – ऐसा लिखा है। नीचे का व्यक्ति ऊपर जाकर उनसे मिलता है – ऐसा नहीं कहा है क्योंकि अभिमानी की बात करनी है न! नीचेवाला उसे छोटा लगता था परन्तु ऊपर से नीचे आकर देखता है तो वह तो स्वयं के जितना ही है – ऐसा ज्ञात होता है। इससे मिथ्याभ्रम दूर होता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि, ज्ञानी-धर्मात्मा को तुच्छ समझता है, वह उसका अभिमान है। जब वह अभिमान से नीचे उतरता है, तब उसे ज्ञानी का सच्चा स्वरूप समझ में आता है। सम्यग्दृष्टि तो समस्त जीवों को जैसे हैं, वैसे ही जानता है। कहा है न! 'सर्व जीव है ज्ञानमय, जानै समता धार'। समता से देखे तो सभी जीव ज्ञानमय है – ऐसा दिखता है। यह द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से बात है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि समस्त जीव ज्ञानमय है; इसलिए अज्ञानी भी ज्ञानी है – ऐसा नहीं है। पर्याय में जो भाव है, उसे ज्ञानी यथार्थतः जानता है।

www.vitragvani.com

श्रीमद्जी ने नीचे की गाथा में समभाव की व्याख्या करते हुए कहा है कि –

आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग;
अपूर्ववाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।

समभाव का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानी को समभाव है, इसलिए कुदेव आदि को भी सुदेव मानता है। कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र मिथ्या हैं – ऐसा ज्ञानी भलीभाँति जानता और कहता भी अवश्य है। यह कोई विषमभाव नहीं है। धर्मी जीव को अपने स्वरूप का भान है, इसलिए प्रत्येक जीव को द्रव्यदृष्टि से मेरे जैसा ही है – ऐसा देखता है परन्तु पर्यायदृष्टि से प्रत्येक जीव की जैसी–जैसी अवस्था है, वैसी यथावत् जानता है। पर्यायदृष्टि से भी सबको समान माननेवाला तो मूढ़ है।

समभाव का अर्थ तो यह है कि जिसकी दृष्टि विपरीत है, चारित्र विपरीत है, उसके प्रति भी ज्ञानी को द्वेष नहीं है। नियमसार में एक ऐसा श्लोक आता है कि धर्मात्मा को कुगुरु–कुदेव के प्रति द्वेष नहीं है और सुगुरु–सुदेव के प्रति राग नहीं है कि यह मेरे हैं, इसलिए मेरा कल्याण कर देंगे। सामनेवाला व्यक्ति गुणी हो या अवगुणी हो, धर्मात्मा को दोनों के प्रति समभाव है। ज्ञान में यथावत् जानता है कि यह गुण है और यह अवगुण है परन्तु इस कारण राग–द्वेष नहीं करता है और गुणी या अवगुणी ऐसा नहीं कहते कि तुम हमें जानकर राग–द्वेष करो।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में आता है कि केवली के अनन्त गुण, निर्मल पर्यायें या भगवान का द्रव्य ऐसा नहीं कहता कि तू हमें जान! तू तुझे जान उसमें हम तो स्वयं ज्ञात हो जाएँगे। रूप नहीं कहता कि तू हमें जानने में रुक... शब्द नहीं कहता कि तू हमें सुन! जाननेवाला भी अपने क्षेत्र से हटकर उनके पास जानने नहीं जाता परन्तु सहज ज्ञात हो जाता है – ऐसा ही ज्ञान का स्वभाव है।

अज्ञान से अभिमान में चढ़े हुए को दूसरे सब तुच्छ दिखते हैं परन्तु जब वह अभिमान से नीचे उतरता है तो उसे वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा समझ में आता है। दूसरे को समझाना आये, इससे कहीं वह बड़ा नहीं हो जाता है। स्वयं अपने को समझावे उसमें

www.vitragvani.com

महानता है। बहुत वर्ष पहले प्रश्न चला था कि दूसरे को समझावे, वह बड़ा या किसी को नहीं समझावे, स्वयं अकेला अपना किया करे, वह बड़ा?

हीराभाई के मकान में रहते थे, तब एक व्यक्ति आया था, वह कहने लगा कि अपना ही करने में क्या बड़ी बात है! कुत्ते जैसा प्राणी भी अपना पेट भरता है, दूसरे का कुछ करना जाने, वह बड़ा माहात्मा कहलाता है... अरे! पर का कार्य कौन कर सकता है? मैं पर का कर्ता हूँ – ऐसा अभिमान करता है। स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्यात तिर्यंच सम्यक्त्वी है, वे किसका काम कर देते हैं या किसे समझाने जाते हैं? वे तो अपने स्वरूप का साधन करते हैं। एक हजार योजन के बड़े मच्छ होते हैं परन्तु पाँचवें गुणस्थानवाले होवें तो उन्हें सम्यक्त्वी देव से भी शान्ति बढ़ गयी है। अपने स्वरूप का साधन करना ही स्वयं का कर्त्तव्य है; पर को समझाने का विकल्प हो और वाणी आवे तो समझावे परन्तु ज्ञानी उस विकल्प या वाणी का स्वामी अपने को नहीं मानता। मैं दूसरों को समझा सकता हूँ – ऐसा माननेवाला तो दूसरे का स्वामी हुआ। क्या दूसरे की पर्याय को यह जीव कर सकता होगा?

अज्ञानी अभिमानी को थोड़ा पुण्य विशेष हो और ज्ञानी को पुण्य विशेष न हो तो अभिमानी ऐसा कहता है कि देखो! हम आते हैं तो कैसा स्वागत होता है! कितने लोग हमको सम्मान देते हैं! इसे तो कुछ बोलना भी नहीं आता.... परन्तु स्वयं को मान देते हैं! – ऐसा ज्ञानी को अभिमानी तुच्छ दृष्टि से देखता है। अरे भाई! सुन न! ज्ञानी को भले ही बोलना न आता हो, इससे क्या उसके अन्तर की ज्ञानदशा चली जाती है? सम्यक्त्वी पशु को नव तत्त्व के नाम भी नहीं आते हैं, इससे क्या? अन्तर में आनन्द का साधन करता है, उसके द्वारा ही ज्ञानी बड़ा है।

ग्यान जागै समता रस जग्गै। अभिमानी दूसरे को तुच्छ समझता है और दूसरे अभिमानी को तुच्छ समझते हैं परन्तु जब ज्ञान का उदय होता है, तब साथ में समतारस जगता है; इस कारण विषमभाव नहीं रहता। दुनिया में कोई बैरी या सज्जन मेरे लिए नहीं हैं, सब मेरे लिए ज्ञेय है। साक्षात् सर्वज्ञ भगवान भी ज्ञेय है – परज्ञेय है। वे कभी मेरे नहीं होते हैं।

www.vitragvani.com

अभिमान के कारण अपने परिणाम में विषमभाव होता है कि यह अच्छा है और यह खराब है; यह बैरी है और यह मित्र है... ज्ञान जागृत होने पर ऐसा विषमभाव नहीं रहता है। किसी के प्रति बैरभाव नहीं होता है। व्यक्ति का अभिप्राय अलग हो, उसे अलग जानें परन्तु द्वेष नहीं होता। सामनेवाला व्यक्ति पर्याय से भी सिद्ध जैसा शुद्ध है – ऐसा न जाने परन्तु द्वेष नहीं करे।

अभिमानी जीवों की दशा (सवैया इकतीसा)

करमके भारी समुझैं न गुनकौ मरम,
परम अनीति अधरम रीति गहे हैं।
हौंहि न नरम चित्त गरम घरमहूतैं,
चरमकी द्रिष्टिसौं भरम भूलि रहे हैं॥
आसन न खोलैं मुख वचन न बोलैं,
सिर नाये हू न डोलैं मानौं पाथरके चहे हैं।
देखनके हाऊ भव पंथ के बढ़ाऊ ऐसे,
मायाके खटाऊ अभिमानी जीव कहे हैं॥ ४५॥

अर्थ – जो कर्मों का तीव्र बन्ध बाँधे हुए हैं, गुणों का मर्म नहीं जानते, अत्यन्त अनुचित और पापमय मार्ग ग्रहण करते हैं, नरमचित्त नहीं होते, धूप से भी अधिक गरम रहते हैं और इन्द्रियज्ञान ही में भूले रहते हैं, दिखाने के लिए एक आसन से बैठते व खड़े हो रहते हैं, मौन से रहते हैं, महन्तजी जानकर कोई नमस्कार करे तो उत्तर के लिए अंग तक नहीं हिलाते, मानों पत्थर ही चिन रखा हो, देखने में भयंकर हैं, संसारमार्ग के बढ़ानेवाले हैं, मायाचारी में पक्के हैं, ऐसे अभिमानी जीव होते हैं।

काव्य-४५ पर प्रवचन

अब, ४५ वें पद्य में अभिमानी जीव की दशा बतलाते हुए बनारसीदासजी कहते हैं कि **करमके भारी समुझैं न गुनकौ मरम....** अज्ञानी-अभिमानी जीव, रागरहित भगवान आत्मा के गुण को नहीं समझता है, उसे तो ऐसा लगता है कि हम कितना व्यवहार पालन करते हैं, कितनी दया-दान-भक्ति करते हैं.... वह सब कर्म के भारवाले हैं। वे गुण

www.vitragvani.com

के मर्म को नहीं जानते हैं। रागरहित शुद्ध चैतन्य प्रभु के अनुभवी कौन हैं ? उसे वे नहीं पहचानते हैं, उन्हें तो पुण्य के फलवाला बड़ा दिखाई देता है परन्तु गुण में बड़े को वह समझ नहीं सकते हैं।

बड़े पुण्यवन्त हों.... कीर्तिवान् हों.... दान में बहुत पैसा देते हों.... उस अज्ञानी का मन बड़े पुरुषों में लगता है। पैसेवाले, मन्दिर, पाठशाला आदि में दान दें, उससे यह धर्म शोभित होता है – ऐसा उसे लगता है। भाई! धर्म के पास पैसे का कोई मूल्य नहीं है, पैसा या पैसेवालों से धर्म शोभित नहीं होता है।

जिसे आत्मा का भान नहीं है – मैं शुद्ध चैतन्य आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसा जिन्हें पता नहीं है, वे जीव बाह्य चीजों को अपनी मानकर उसके अभिमान में और पुण्य-पाप के विकल्प के अभिमान में जिन्दगी व्यतीत कर देते हैं। आत्मा का स्वभाव राग से रहित मुक्तस्वरूप है, उसका तो उन्हें आधार नहीं है और बाह्यपदार्थ का आधार माना है, शुभराग का आधार मानता है, वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव है। उसकी दशा कैसी होती है ? उसका वर्णन इस पद्य में करते हैं।

अज्ञानी, कर्म के तीव्र बन्धन को बाँधता है। मैं शरीर और राग से अत्यन्त भिन्न भगवान आत्मा हूँ – ऐसी दृष्टि नहीं करता है। मुक्त होने का मार्ग ग्रहण नहीं करता है। मोक्ष अधिकार है न! इसलिए छूटने का मार्ग बतलाते हैं परन्तु उसे वह नहीं लेता है, बन्ध के मार्ग में ही पड़ा है। कठोर कर्म बाँधता है, इसलिए कहते हैं कि कर्म का भाव बढ़ाता है परन्तु गुण नहीं बढ़ाता है। दोष को ही गुण मानता है। आत्मा में होनेवाले जो शुभाशुभभाव हैं, वे दोषस्वरूप हैं, उन्हें अज्ञानी गुणस्वरूप मानता है।

मोक्ष अधिकार है न! भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्यदल है। अज्ञानी उसका आश्रय नहीं लेता, उसे नहीं मानता और अनुभव नहीं करता; इसलिए उसे शुभाशुभराग का आश्रय और अनुभव है, जो वास्तव में दोषरूप है, बन्ध का कारण है। उसका सेवन करके अज्ञानी, अभिमानी जीव अत्यन्त अनीति करता है। जो तीनों काल टिके ऐसा तत्त्व नहीं, आत्मा का स्वभाव नहीं – ऐसे रागभाव को स्वयं दोषरूप न मानकर गुणरूप मानता है। मुझे और परद्रव्य को तथा राग को कोई सम्बन्ध नहीं है – ऐसा वह नहीं मानता; इसलिए

www.vitragvani.com

उसका चित्त नरम नहीं रहा है। अरे! मैं तो आत्मा हूँ, मुझे राग से क्या काम है! ऐसा नरम नहीं होता, राग का अभिमान करता है। हम पैसेवाले हैं, हम बुद्धिवाले हैं, हम कमाई करते हैं – ऐसा अभिमान करके परिभ्रमण की बुद्धि में रचता-पचता है। बहिर्लक्षी विशेष बुद्धि का विकास हो और फिर उसका अभिमान हो, आगे कुर्सी पर स्थान मिलता हो तो इसे ऐसा लगता है कि हम तो चतुर हैं। अभिमान के कारण उसका चित्त ऐसा – धूप जैसा गरम रहता है। कोई जरा सा बुलावे, वहाँ मस्तिष्क तप जाता है। भाषा भी ऐसी कठोर बोलता है कि जिसमें कोमलता जरा भी नहीं होती।

चरमकी द्रिष्टिसौं..... इन्द्रियज्ञान से भ्रम में पड़कर भूल रहा है। पाँच इन्द्रियों के द्वारा जानना तो इन्द्रियज्ञान है, उसके अभिमान में चढ़ जाता है परन्तु आत्मज्ञान क्या चीज है? उसका अज्ञानी को पता नहीं है। साधु नाम धराकर भी इन्द्रियज्ञान के विकास को अभिमान का साधन बनाकर बन्ध का कारण बनाता है। हमें शास्त्र का क्षयोपशम है, पूर्व का उघाड़ है – ऐसा अभिमान करके कर्म बाँधता है।

आसन न खोलैं.... एक आसन से बराबर बैठा रहता है, मुख से कुछ नहीं बोलता, मानो मौनरूप से साधना करता है। भले ही अन्दर में आर्तध्यान और रौद्रध्यान चलता हो परन्तु वह तो बाहर में दिखता नहीं, कल्पना से उसके द्वारा अपने को अधिक मानकर डोलता है। साधु हो तो कोई नमस्कार करे तो भी मानो पत्थर की तरह स्थिर हो जाता है, सामने देखता भी नहीं है।

देखनके हाऊ..... यहाँ अभिमानी की दशा बतलाते हुए साधु को भी ले लिया है कि दिखने में तो भयंकर दिखता है और भव के पन्थ को बढ़ानेवाला है। मोक्ष अधिकार है, इसलिए मोक्ष के साथ भव पन्थ लिया है कि ऐसे अज्ञानी जीव चौरासी के अवतार में भव करनेवाले हैं और उसे ही बढ़ानेवाले हैं।

मायाचार में तो ऐसे जीव पक्के हैं, स्वयं की जैसी दशा हो, उसे दिखने नहीं देते और मिथ्या अभिमान का सेवन करते हैं। उसके समक्ष बनारसीदासजी ज्ञानी जीवों की कैसी दशा होती है यह बतलाते हैं।

www.vitragvani.com

ज्ञानी जीवों की दशा (सवैया इकतीसा)

धीरके धरैया भव नीरके तरैया भय,
भारके हरैया बर बीर ज्यौं उमहे हैं।
मारके मरैया सुविचारके करैया सुख,
ढारके ढरैया गुन लौसौं लहलहे हैं॥
रूपके रिझैया सब नैके समझैया सब,-
हीके लघु भैया सबके कुबोल सहे हैं।
बामके बमैया दुख दामके दमैया ऐसे,
रामके रमैया नर ग्यानी जीव कहे हैं॥ ४६ ॥

अर्थ - जो धीरज के धरनेवाले हैं, संसार समुद्र से तरनेवाले हैं, सब प्रकार के भय नष्ट करनेवाले हैं, महायोद्धा समान धर्म में उत्साहित रहते हैं, विषय-वासनाओं को जलाते हैं, आत्महित का चिन्तवन किया करते हैं, सुख-शान्ति की चाल चलते हैं, सद्गुणों की ज्योति से जगमगाते हैं, आत्मस्वरूप में रुचि रखते हैं; सब नयों का रहस्य जानते हैं, ऐसे क्षमावान हैं कि सबके छोटे भाई बनकर रहते हैं व उनकी खरी-खोटी बातें सहते हैं, हृदय की कुटिलता छोड़कर सरल चित्त हुए हैं, दुःख सन्ताप की राह नहीं चलते, आत्मस्वरूप में विश्राम किया करते हैं, ऐसे महानुभाव ज्ञानी कहलाते हैं।

काव्य-४६ पर प्रवचन

बनारसीदासजी कवि हैं न! इसलिए कविता बनायी है। पहले शृंगारी कवि थे, तब शृंगार की कविता बनाते थे, तत्पश्चात् उन्हें तो गोमती नदी में डाल दिया। यह कवित्त तो आत्मज्ञान होने के बाद लिखे हैं।

धीरके धरैया.... ज्ञानी जीव धीरजवान होते हैं। मिथ्या उतावल नहीं करते हैं, शान्ति से - धीरज से विचार करते हैं। उतावल करके ऐसा कर डालूँ... वैसा कर डालूँ... ऐसा ज्ञानी नहीं करते हैं।

भव नीरके तरैया.... धर्मी जीव, संसार-समुद्र को तिरनेवाले हैं। राग और शुभपरिणाम से भी भिन्न स्वभाव में एकाग्र होने के लिए धर्मी जीव तत्पर होते हैं। भव

www.vitragvani.com

कराये – ऐसे भाव को रखने के लिए धर्मी तैयार नहीं होते हैं। ज्ञानी समस्त प्रकार के भयों से रहित निर्भय होते हैं। इस भव में मेरा क्या होगा ? – ऐसा इसलोक का भय नहीं होता तथा परलोक में मेरा क्या होगा ? ऐसा परलोक का भय भी ज्ञानी को नहीं होता क्योंकि ज्ञानी जानते हैं कि हम तो हमारे स्वरूप में जानेवाले हैं, अन्यत्र कहीं जानेवाले नहीं।

देखो, यह मोक्ष के अधिकारी ऐसे होते हैं। धर्म के धारक.... धीरज धारण करनेवाले... भव को हरनेवाले... संसार-समुद्र को तिरनेवाले होते हैं। अरे! रोग आवे तो क्या होगा ? मृत्यु आवे तो क्या होगा ? ऐसा डर धर्मी को नहीं होता है। आनन्दस्वरूप चैतन्यस्वभाव को जिसने जाना-माना और अनुभव किया है, उसे भय किसका ? वह तो वीर – महायोद्धा की तरह धर्म में उत्साहित होता है। अपने आत्मस्वभाव में उत्साही – ऐसे धर्मी को पर में उत्साह नहीं होता है।

भारके हरैया.... ज्ञानी जीव विषय-वासनाओं को मार डालते हैं क्योंकि उन्हें तो आनन्द का आस्वाद है, उसके समक्ष विषयों में कहीं सुख दिखाई नहीं देता। स्त्री, पैसा, कीर्ति आदि में कहीं सुख भासित नहीं होता; सुख तो एक अपने में भासित होता है। छह खण्ड के स्वामी चक्रवर्ती को छियानवे हजार स्त्रियाँ थी न ? नहीं; स्त्रियाँ उन्हें नहीं थीं, उनका जो था, वह तो उनमें था, बाकी कुछ ज्ञानी का नहीं था – ऐसा मार्ग है भाई!

धर्मी तो सुविचार अर्थात् आत्महित का चिन्तवन करते हैं। अभेदज्ञान और आनन्द मुझमें है – ऐसा चिन्तवन धर्मी करते हैं। राग का चिन्तवन किया करे, वह ज्ञानी नहीं है। बहुत बड़ा वेतनवाला और होशियार लोग हों परन्तु आत्मा के विषय में विचार नहीं करता हो – 'आत्मा है' इतना निर्णय भी न हो... ऐसे जगत् के प्राणी कहाँ जाएँगे ? बड़ी पदवी या बड़ा वेतन या वृद्धि किस काम की ? भटकने के काम की होती है! अरे आत्मा! तुझे कहाँ जाना है और क्या करना है ? कहाँ रहना है ? इसका तुझे पता नहीं है।

ज्ञानी जीव तो सुविचार का धारक होता है। मैं त्रिकाली आत्मा हूँ, आनन्द हूँ, मेरे स्वभाव में राग है ही नहीं, किसी परपदार्थ के साथ मुझे कुछ सम्बन्ध नहीं है... ऐसा हितरूप विचार धर्मी करता है।

सुख, ढारके ढरैया..... ज्ञानी जीव सुख के ढाले में ढल गये होते हैं। राग से

www.vitragvani.com

परान्मुख होकर आनन्द में ढल गये हैं। आत्मा सत्-चित्त-आनन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि हुई होने से उसमें ढल गये हैं और शुभाशुभ की दुःखरूप चाल से हट गये हैं। ज्ञानी सद् गुणों की ज्योति से जगमगाते हैं, ज्ञानी उसकी प्रगट दशा से जगमगाते हैं। भूख लगी हो और उजले गेहूँ के आटे का गरम-गरम हलुवा मिले तो कैसा आनन्द आता है! उसी प्रकार ज्ञानी को उज्ज्वल आत्मा के अनन्त गुण, उनकी पर्याय में जगमगाते हैं, ज्ञानी उसमें आनन्द करता है। भगवान सर्वज्ञ द्वारा कथित और प्रगट की हुई आनन्ददशा को ज्ञानी भी अपनी पर्याय में अनुभव करता है और मजा मानता है। ज्ञानी को अन्यत्र कहीं मजा नहीं लगता है, इन्द्र या चक्रवर्ती के वैभव में ज्ञानी को सुख नहीं लगता है।

यहाँ तो लोगों को पाँच-दस करोड़ हो जाये तो ऐसा लगता है कि हम सुखी हैं। भाई! उसमें धूल भी सुख नहीं है, तू तो दुःख के ढेर में पड़ा है। ज्ञानी, **रूपके रिझैया...** है। आत्मरूप में रंगा हुआ है, प्रसन्न है। ज्ञानी पर से प्रसन्न नहीं है। धर्मी ही उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा के आनन्दस्वरूप में ही रुचि है। बाह्य रूपवान शरीर की रुचि नहीं है। ज्ञानी को निश्चयनय, व्यवहारनय आदि समस्त नयों का यथार्थ ज्ञान होता है; इसलिए यहाँ कहा है कि ज्ञानी **सब नैके समझैया....** है।

ज्ञानी सबके छोटे भाई होकर रहते हैं, किसी से बड़प्पन की अपेक्षा नहीं है। दुनिया में अपनी कोई गिनती ही न हो - ऐसे रहते हैं। अपनी खरी या खोटी कोई बात करे, उसे सहन करते हैं। समाधान रखते हैं कि इसे बोलने की क्रिया का काल होगा तो बोला परन्तु मुझे उस भाषा से कोई असर नहीं होता। कोई गुणगान करे तो भी वह ज्ञाता-दृष्टा रहता है, कोई महिमा करे, निन्दा करे परन्तु वह तो ज्ञाता-दृष्टा ही है। किसी के गुणगान से आत्मा में कोई विकास नहीं हो जाता और कोई निन्दा करे, इससे आत्मा में संकोच नहीं हो जाता।

बामके बमैया.... बाम अर्थात् आड़ीदशा-तिरछाई छोड़कर धर्मी सरलचित्त हो गया है। दुःख हो - ऐसे मार्ग में धर्मी चलता ही नहीं। संकल्प और विकल्प उठता है, वह दुःख का पन्थ है; इसलिए उस मार्ग में धर्मी नहीं जाता है। वह तो आत्माराम में रमनेवाला है। निजपद रमे सो राम कहिये। इसलिए ज्ञानी ही वास्तव में राम है। राग और परद्रव्य के

www.vitragvani.com

साथ उसकी क्रीड़ा नहीं होती। आत्मस्वरूप में ही उसका विश्राम है कि जहाँ ज्ञान और आनन्द है। राग में उसका विश्राम नहीं होता है। ऐसे गुणवाले को ज्ञानी कहा जाता है। अज्ञानदशा में पर और राग-द्वेष आदि की एकत्वबुद्धि की तरफ करवट होती है। जहाँ ज्ञानी हुआ वहाँ उसकी करवट बदल गयी है। राग का पक्ष छोड़कर आत्मा के पक्ष में आराम करता है। अज्ञानी और ज्ञानी की दिशा फेर होने से दशा में भी ऐसा अन्तर है। निज पद-आरामी ऐसे महानुभाव को ज्ञानी कहा जाता है।

यह मोक्ष अधिकार है, उसके १२ वें कलश पर ४७ से ५० ऐसे चार पद्य द्वारा समकिती जीवों की महिमा बतलाते हैं कि जो मोक्ष के पन्थ में गतिशील हैं और संसार पंथ से निवृत्त हुए हैं - ऐसे जीवों की बात है।

सम्यक्त्वी जीवों की महिमा (चौपाई)

जे समकिती जीव समचेती
तिनकी कथा कहौं तुमसेती॥
जहां प्रमाद क्रिया नहि कोई।
निरविकलप अनुभौ पद सोई॥ ४७॥

परिग्रह त्याग जोग थिर तीनौं।
करम बंध नहि होय नवीनौं॥
जहां न राग दोष रस मोहै।
प्रगट मोख मारग मुख सोहै॥ ४८॥

पूरब बंध उदय नहिं व्यापै।
जहां न भेद पुन्न अरु पापै॥
दरब भाव गुन निरमल धारा।
बोध विधान विविध विस्तारा॥ ४९॥

जिन्हकी सहज अवस्था ऐसी।
तिन्हकै हिरदै दुबिधा कैसी॥

www.vitragvani.com

जे मुनि छपक श्रेणि चढ़ि धाये।
ते केवलि भगवान कहाये॥ ५०॥

अर्थ – हे भव्य जीवों! समता स्वभाव के धारक सम्यग्दृष्टि जीवों की दशा तुमसे कहता हूँ, जहाँ शुभाचार की प्रवृत्ति नहीं है, वहाँ निर्विकल्प अनुभवपद रहता है।

जो सर्व परिग्रह छोड़कर, मन–वचन–काय के तीनों योगों का निग्रह करके बन्ध–परम्परा का संवर करते हैं, जिन्हें राग–द्वेष–मोह नहीं रहता, वे साक्षात् मोक्षमार्ग के सन्मुख रहते हैं।

जो पूर्व बन्ध के उदय में ममत्व नहीं करते, पुण्य–पाप को एक–सा जानते हैं, अन्तरङ्ग और बाह्य में निर्विकार रहते हैं, जिनके सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र गुण उन्नति पर हैं।

– ऐसी जिनकी स्वाभाविकदशा है, उन्हें आत्मस्वरूप की दुविधा कैसे हो सकती है? वे मुनि, क्षपकश्रेणी पर चढ़ते हैं और केवली भगवान बनते हैं।

काव्य – ४७–५० पर प्रवचन

बनारसीदासजी ने सम्यक्त्व से लेकर केवलज्ञान तक की दशा की महिमा ले ली है।

जिसने आत्मा का अनुभव करके सम्यक्त्व प्रगट किया है – ऐसे जीव की दशा, हे भव्यों! तुम्हें सुनाता हूँ। प्रथम तो परद्रव्य और राग से भिन्न पड़कर यह जीव आत्मानुभवी सम्यक्त्वी हुआ, तत्पश्चात् आगे बढ़कर स्वरूप में शान्ति और वृद्धि को प्राप्त हुआ – ऐसे जीव को प्रमाद नहीं होता है। सम्यग्दर्शन के उपरान्त स्वरूप की स्थिरता की दशा में आया – ऐसे जीव को दूसरा प्रमाद तो नहीं परन्तु पंच महाव्रतरूप प्रमाददशा भी उसे नहीं होती है। परद्रव्य के प्रति होनेवाला भाव छोड़कर, स्वद्रव्य भगवान आत्मा की गति को प्राप्त हुआ है। स्वद्रव्य का आश्रय ही मुक्ति का मार्ग है, परद्रव्य का आश्रय मुक्ति का मार्ग नहीं है, भले तीर्थंकरदेव का समवसरण हो परन्तु वह परद्रव्य होने से उसका आश्रय लेने से राग ही होता है।

www.vitragvani.com

आत्मा के शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त जो कोई परद्रव्य है, वह रति करने योग्य नहीं है; इसलिए **त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि** अशुद्धता का कारण जानकर परद्रव्य की ममता छोड़कर स्वद्रव्य में रति-प्रीति करने योग्य है। जिसकी प्रीति-रति आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में लगी है, वह जीव मोक्ष के पन्थ में चल रहा है - ऐसा कहा जाता है। जिसे स्वद्रव्य का तो प्रेम नहीं और परद्रव्य के प्रेम में फँस गया है, वह संसार के फन्द में पड़ा हुआ है।

सम्यक्त्वी श्रद्धा-ज्ञान में तो प्रमाद से भिन्न पड़ गया है परन्तु प्रमाद के विकल्प उत्पन्न होते हैं। जब प्रमाद के विकल्पों से भी छूटकर स्वरूप में आनन्द में स्थिर होता है, उसे मुनि कहा जाता है। मुनि का पद निर्विकल्प पद है। चारित्र के राग से भी रहित अन्तर की स्थिरता है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक की बात करना है; इसलिए कहते हैं कि परद्रव्य की ओर झुकाववाला भाव छोड़कर स्वद्रव्य के झुकाव में आया है, अन्तर में सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, वह आगे जाकर प्रमाद के परिणाम को भी छोड़कर निर्विकल्प पद में आया है। उसे शुभाचार की प्रवृत्ति भी नहीं रही है। जहाँ तक शुभाचार का विकल्प रहता है, वहाँ तक मुनि को भी आस्रव-बन्ध हुआ ही करता है तो अज्ञानी की तो क्या बात करना? जब मुनिराज अपने स्वभाव में स्थिर होते हैं, तब शुभविकल्प भी छूट जाता है, अप्रमाददशा हो जाती है।

परिग्रह त्याग जोग.... तत्पश्चात् सम्यग्दृष्टि आगे बढ़कर परिग्रह का त्याग करता है। उसे एक वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं होता। अन्तरंग में तीन कषाय के अभाव की दशा और बाह्य में नग्नदिगम्बर दशा में आता है, तब वह मन-वचन-काया के तीनों ही योगों का निग्रह करके स्वरूपसन्मुखता की निर्विकल्पता में आ गया है, वह मोक्ष का मार्ग है। बीच में २८ मूलगुण के पालन का भाव होता है परन्तु वह राग और आस्रव है। उसे भी छोड़कर जब अप्रमत्तदशा में आता है, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की एकता हुई होने से कर्मों का बन्धन नहीं होता।

जहाँ राग नहीं है, द्वेष नहीं है, मोह नहीं है और सद् चिदानन्दस्वरूप में जमावट जम गयी है - ऐसा जीव साक्षात् मोक्षमार्ग के सन्मुख है। वह जीव ही केवलज्ञानदशा तक

www.vitragvani.com

पहुँच जाता है। वह जीव केवलज्ञान प्राप्त करने के योग्य हो गया है। पंच महाव्रत और नग्नदशा का उसे अभिमान नहीं है, वह तो स्वरूप में स्थिर हो गया है। उसे पूर्व कर्म का उदय आता है, वह भी नये बन्ध का कारण नहीं होता। अबन्धपरिणाम में गतिशील जीव को बन्ध कैसा? पूर्व कर्म के उदय से तो सम्यक्त्वी भी विरक्त है, परन्तु मुनिराज तो अस्थिरता के उदय से भी विरक्त है – ऐसा सिद्ध करना है क्योंकि यह जीव, मोक्षमार्ग में आगे बढ़ रहा है।

शुभभाव ठीक है और अशुभभाव अठीक है – ऐसा भेद उसे अस्थिरता में भी नहीं रहा है। श्रद्धा में तो भेद नहीं परन्तु चारित्र में भी शुभभाव आचरण करने योग्य है और अशुभभाव छोड़ने योग्य है – ऐसा भेद नहीं रहा है; वह तो शुभाशुभ दोनों भावों को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो गया है।

यह तत्त्व ही कोई निराला है। देह से पृथक्, वाणी से भिन्न, शुभाशुभ विकल्प से भी भिन्न मोक्षस्वरूप भगवान आत्मतत्त्व की पर्याय में मोक्ष होने के लिए आगे बढ़ रहा है, वह शुभाशुभ के भेद नहीं करता है। प्रवचनसार में कहा है न! जो कोई पुरुष, पुण्य और पाप में भेद-अन्तर मानता है, वह घोर संसार में परिभ्रमण करेगा (गाथा ७७)। शुभ और अशुभ दोनों भाव, बन्ध के कारण हैं – ऐसा जो नहीं मानता है, वह घोर अपार संसार में भ्रमण करता है।

नहीं मानता इस रीत पुण्य पाप में न विशेष है;
वह मोह से आछन्न घोर अपार संसार में भ्रमै॥

(श्री प्रवचनसार, गाथा ७७)

शुभभाव ठीक है और अशुभभाव अठीक है – इस प्रकार जो बन्ध के कारण में अन्तर डालता है, वह मिथ्यादृष्टि है; इसलिए संसार में भटकेगा।

ऐसी स्पष्ट बात है, फिर भी अभी गड़बड़ करते हैं। मोह से ढंके हुए जीव ही शुभ-अशुभ में अन्तर मानते हैं। समकिती तो दोनों को बन्ध का कारण जानता है। शुभाशुभ उपयोग एक प्रकार का है; उसके फल में प्राप्त संयोगों की जाति भी एक है और पुण्य-पाप का बन्धन भी एक प्रकार का है। इस प्रकार परमार्थ से बन्धभाव में अन्तर नहीं है,

www.vitragvani.com

बन्धन में अन्तर नहीं है और फल में भी अन्तर नहीं है; सब एक जड़ का प्रकार है। प्रवचनसार के प्रथम ज्ञान अधिकार में ही यह गाथा आयी है।

दरब भाव गुन निरमल धारा। जिन्हें अन्तरंग में तीन कषाय के अभावरूप निर्विकारपरिणति है और बाह्य में नग्न-दिगम्बर निर्विकार वेश है - ऐसे मुनिराज को द्रव्य और भाव से निर्मल गुणों की धारा बहती है। **बोध विधान विविध विस्तारा।** सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र के विधान का जिन्हें विविध प्रकार है, विस्तार से वह सब मोक्षमार्ग का ही विस्तार है, बन्धमार्ग का विस्तार नहीं। जिनकी ऐसी सहज दशा है उनके हृदय में किसी प्रकार की द्विविधा नहीं होती। शुभाचार करने योग्य है और अशुभ छोड़ने योग्य है - ऐसी द्विविधा उनके मन में नहीं होती है। अरे! यह द्रव्य है और यह पर्याय है - ऐसा भेद भी मुनिराज को निर्विकल्पदशा में नहीं होता है।

बहुत कठिन बात है! शुरुआत से ऐसा मार्ग होगा? - अनादि से ऐसा मोक्षमार्ग है।

स्वरूप में लीनता करते-करते... उपयोग को अन्तर में जमाते हुए, मुनिराज को स्थिरता की धारा ऐसी बहती है कि मुनिराज, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो जाते हैं। जैसे, हाथी के हौदे पर बैठकर हाथी को दौड़ावें, वैसे आत्मस्थिरता की श्रेणी में चढ़े हुए मुनिराज केवलज्ञान लेने के लिए दौड़ते हैं और केवलज्ञान ले लेते हैं तथा उनकी ही मुक्ति होती है, वे ही भगवान कहलाते हैं।

अब, समयसार नाटक मोक्षद्वार का १३ वाँ कलश है, उस पर ५१ वाँ पद्य है। उसमें सम्यग्दृष्टि जीवों को वन्दना करते हैं। यों तो सिद्ध परमात्मा की बात करते हैं परन्तु ऐसे सिद्ध परमात्मा की पूर्ण दशा की जिन्हें महिमा आयी है - ऐसे सम्यक्त्वी जीवों का यहाँ आदर करते हैं।

संसार में तो चौरासी के अवतार में दुःख ही है, सुख तो एक मोक्ष में है और वह मोक्ष अपने आत्मा के स्वभाव के आश्रय से होता है। जिसने ऐसे स्वभाव का आश्रय लिया है, उसे सम्यक्त्वसहित अतीन्द्रिय आनन्द आता है, जो आनन्द पूर्ण होने पर मोक्ष होता है। यही बात यहाँ बनारसीदासजी कहते हैं।

www.vitragvani.com

सम्यग्दृष्टि जीवों को वन्दना (दोहा)

इहि बिधि जे पूरन भये, अष्टकरम बन दाहि।
तिन्हकी महिमा जो लखै, नमै बनारसि ताहि॥ ५१॥

अर्थ – जो इस रीति से अष्टकर्म का वन जलाकर परिपूर्ण हुए हैं, उनकी महिमा को जो जानता है, उसे पण्डित बनारसदासीजी नमस्कार करते हैं।

काव्य-५१ पर प्रवचन

आगे ५० वें पद्य में **जे समकिती जीव समचेती..... ते केवलि भगवान कहाये....।** तक में सब क्रम कह दिया था कि प्रथम, सम्यग्दर्शन उसे कहते हैं कि जो परपदार्थ का कर्ता तो न हो परन्तु व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग का भी कर्ता न हो। देव –शास्त्र–गुरु की श्रद्धा, शास्त्र का पठन, पंच महाव्रत के परिणाम.... यह सब राग है। उस राग का कर्ता होता है और स्वभाव को तो जानता नहीं, वह मिथ्यादृष्टि है। उस मिथ्यादृष्टि को संसार में – चार गति के दु:ख में भटकना पड़ता है।

जिसे प्रथम सम्यक्त्व होता है; तत्पश्चात् स्वरूप में विशेष स्थिरता होने पर चारित्र की दशा प्रगट होती है। जहाँ सम्यक्त्व ही न हो, वहाँ चारित्रदशा तो होती ही नहीं और चारित्र के बिना मोक्ष तो होता ही नहीं है।

आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह एक रजकण का भी कर्ता नहीं है। जड़ की क्रिया चेतन से नहीं होती। आत्मा हाथ हिला नहीं सकता, वाणी बोल नहीं सकता; आत्मा तो जाननहार स्वभावी होने से राग का भी कर्ता नहीं है। इसलिए आत्मा को जाननेवाला समकिती भी राग का कर्ता नहीं होता। आत्मा की खान में राग का अभाव है।

आत्मा की पूर्णदशा को प्राप्त सिद्धों का जिसे माहात्म्य आया है, उसे अपने स्वभाव का माहात्म्य आया है कि '**सिद्धसमान सदा पद मेरो**' मैं तो पूर्ण ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति से भरपूर सिद्ध जैसा पदार्थ हूँ। इस प्रकार जिसे स्वभावसन्मुख होकर प्रतीति होती है, उसे अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है – यह सम्यक्त्व की निशानी है। देव –शास्त्र–गुरु को मानता है, शास्त्र पढ़ता है या व्रत पालता है; इसलिए सम्यक्त्वी है – ऐसा नहीं है।

www.vitragvani.com

श्रीमद्जी ने सम्यक्त्व की संक्षिप्त व्याख्या की है कि 'सर्व गुणांश वह सम्यक्त्व'। अपने भी उसमें आता है कि जिसने ज्ञानादि अनन्त गुणों को एक अंश निर्मल रूप से प्रगट किया है, उसने पूरा आत्मा आनन्दमूर्ति है – ऐसी प्रतीति की है। उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी साथ ही होता है, वह सम्यक्त्वी है। ऐसे सम्यक्त्व के भान बिना सीधे व्रत, नियम, तपस्या आदि करने लगता है, वह सब एक के बिना शून्य है। इसीलिए तो छहढाला में कहा है कि –

मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥

निरतिचार पंच महाव्रत पालन करके, मुनि होकर नौवे ग्रैवेयक तक जाये परन्तु सम्यक्त्व के बिना मोक्ष नहीं होता; चार गति में भटकना ही होता है। इसलिए यहाँ मोक्ष की विधि बतायी है, उसमें प्रथम सम्यग्दर्शन का सोपान आता है, उसमें सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान का अंकुर फूटता है और अतीन्द्रिय आनन्द तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव की शान्ति होती है, वह शान्ति और आनन्द की दशा बढ़ाते हुए पाँचवें गुणस्थान में विशेष शान्ति और आनन्द आता है। छठवें में उससे भी विशेष शान्ति और आनन्द आता है। सातवें में उससे भी विशेष आता है। ऐसा करते-करते.... बारहवें गुणस्थान में शान्ति और आनन्द पूर्ण प्रगट होता है परन्तु अनन्त नहीं। वह केवलज्ञान होने पर अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रगट होता है – यह विधि है। इसके अतिरिक्त सीधा चारित्र ले लेता है, वह राग की क्रिया करते-करते धर्म होगा – ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है।

अनन्त काल में नहीं आयी हुई शान्ति और आनन्द का अनुभव सम्यक्त्व होने पर होता है। तत्पश्चात् गुणस्थान बढ़ने से शान्ति और आनन्द बढ़ते जाते हैं परन्तु जितना प्रमाद है, राग है, वह तो ज्ञानी को भी दु:खरूप है। राग है, वह अनाचार है। पंच महाव्रत या देह का नग्नपना, वह कोई चारित्र नहीं है; आत्मा के आश्रय से जो शान्ति और आनन्द का उग्र परिणाम प्रगट हुआ है, उसे चारित्रदशा कहा जाता है।

इहि बिधि जे पूरन भये,..... प्रथम मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का छेद किया और सम्यक्त्व तथा स्वरूप में स्थिरता का अंश प्रगट किया.... तत्पश्चात् अव्रत का

www.vitragvani.com

नाश हुआ और स्वरूप की शान्ति तथा आनन्द की वृद्धि हुई.... फिर जो बुद्धिपूर्वक राग था, उसे छोड़कर स्थिरता हुई.... तत्पश्चात् अबुद्धिपूर्वक का राग भी छूटकर स्थिरता हुई... यह मुक्ति की प्राप्ति का क्रम है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से धर्म करने जाता है, उसे धर्म भी नहीं होता और मुक्ति भी नहीं होती है।

ऊपर कहे हुए क्रम से जिन्होंने विधि अनुसार आठ कर्मों के वन को जलाकर भस्म किया है – ऐसे सिद्ध परमात्मा की सच्ची महिमा जिसकी दृष्टि में आयी है, वह सम्यक्त्वी है क्योंकि सिद्ध जैसे अपने आत्मा का अनुभव होता है, तभी उसे ख्याल में आता है कि अहो! मेरा आत्मा सिद्ध समान है; इसलिए सिद्धदशा / पूर्णदशा कैसी होगी? इस प्रकार सिद्धदशा का माहात्म्य उसे आता है। बनारसीदासजी कहते हैं कि मैं ऐसे सम्यक्त्वी को नमन करता हूँ।

अब फिर से बनारसीदासजी ५२ वें पद्य में मोक्ष प्राप्ति का क्रम बताते हैं।

मोक्ष प्राप्ति का क्रम (छप्पय छन्द)

भयौ सुद्ध अंकूर,
गयौ मिथ्यात मूर नसि।
क्रम क्रम होत उदोत,
सहज जिम सुकल पक्ष ससि॥
केवल रूप प्रकासि,
भासि सुख रासि धरम धुव।
करि पूरन थिति आउ,
त्यागि गत लाभ परम हुव॥
इह विधि अनन्य प्रभुता धरत,
प्रगटि बूंदि सागर थयौ।
अविचल अखंड अनभय अखय,
जीव दरब जग मंहि जयौ॥ ५२॥

अर्थ – शुद्धता का अंकुर प्रगट हुआ, मिथ्यात्व जड़ से हट गया, शुक्लपक्ष के

www.vitragvani.com

चन्द्रमा के समान क्रमशः ज्ञान का उदय बढ़ा, केवलज्ञान का प्रकाश हुआ, आत्मा का नित्य और पूर्ण आनन्दमय स्वभाव भासने लगा, मनुष्य आयु और कर्म की स्थिति पूर्ण हुई, मनुष्यगति का अभाव हुआ और पूर्ण परमात्मा बना। इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ महिमा प्राप्त करके पानी की बूँद से समुद्र होने के समान अविचल, अखण्ड, निर्भय और अक्षय जीव पदार्थ, संसार में जयवन्त हुआ।

काव्य-५२ पर प्रवचन

भयौ सुद्ध अंकूर,.... शुभ और अशुभ दोनों भाव अशुद्ध और मलिन हैं; एक शुद्धभाव ही निर्मल है, उसका अंकुर प्रगट हुआ, उस अंकुर में से ही अब केवलज्ञान और पूर्णता प्रगट होनेवाली है – ऐसा कहते हैं। चौथे गुणस्थान में अपने निर्मलानन्द भगवान का अनुभव होने पर वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द और संवर-निर्जरा प्रगट होते हैं।

शुभ और अशुभभाव तो जीव अनादि से करता आया है, उन्हीं का सेवन किया है और वही मिथ्यात्वभाव है। अब जहाँ शुद्धात्मा के अनुभव से शुद्धता का अंकुर प्रगट हुआ, वही धर्म और वही मोक्षमार्ग की शुरुआत हुई। वहाँ अनादि से चली आ रही भ्रमणा तो उसे मूल में से छूट गयी। सूक्ष्म भी जो विकल्प – गुणगुणी के भेद का विकल्प उत्पन्न होता है, उससे लाभ होगा – ऐसा भ्रम भी मूल में से छूट गया है।

क्रम क्रम होत उदोत,.... जिस प्रकार दूज का चन्द्रमा क्रम से क्रम से बढ़ता हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा हो जाता है, उसी प्रकार धर्मी को प्रथम शुद्धता का अंकुर फूटा, वह क्रम-क्रम से बढ़ते-बढ़ते सिद्धदशा को-पूर्णता को पायेगा। चौथे गुणस्थान में जो त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय है, वह आश्रय बढ़ते-बढ़ते पूर्ण दशा को प्राप्त होता है तथा वह शुद्धता सहजरूप से बढ़ती है। पंच महाव्रत आदि के परिणाम किये, उससे शुद्धता बढ़ती है – ऐसा नहीं है। लोगों को यह बात गले उतरना कठिन पड़ती है परन्तु मार्ग तो जैसा है, वैसा है। प्रथम व्यवहार हो तो निश्चय होता है, यह बात यथार्थ नहीं है। निश्चय के बिना सच्चा व्यवहार होता ही नहीं है। अकेला व्यवहार तो राग है, आस्रव है, भावबन्ध है, जहर है; उससे हटकर जो अपने अबन्धस्वभाव की दृष्टि करके, अबन्ध परिणाम प्रगट करता है, उसे एक समय में अनन्त गुण के अंश प्रगट होते हैं और फिर तो जैसे शुक्ल पक्ष का

www.vitragvani.com

चन्द्रमा सहज बढ़ता जाता है, वैसे ही भगवान आत्मा अपने अवलम्बन से सहज बढ़ता जाता है। उसे बढ़ने में बाह्य क्रियाकाण्ड का आश्रय नहीं है। पूर्ण शुद्ध वस्तु के आश्रय से ही पूर्णपना प्रगट होता है।

केवल रूप प्रकासि,.... केवलज्ञान होने पर पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण दर्शन और पूर्ण वीर्य – ऐसे अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं। **करि पूरन थिति आउ,....** अघातिकर्म शेष थे, उनमें भी उनकी स्थिति पूरी होने से मनुष्य आयु पूरी करके अपनी अनन्य प्रभुता को धारण करता है। **इह विधि अनन्य प्रभुता धरत,....** इस विधि से आत्मा अपनी पूर्ण प्रभुता को धारण करता है।

बाहर में सुधार-बिगाड़ कर दूँ, पैसा संग्रह करके बहुत काम कर लेना है – ऐसे सब भाव हैं, वह मिथ्यात्व है। जगत से पैसा लेकर पाठशाला चलाऊँ, पर का काम करूँ, दूसरों को सुधारूँ – यह सब मिथ्यात्वभाव है।

श्रोता : जगत किस प्रकार सुधरे?

पूज्य गुरुदेवश्री : जगत् के जीव स्वयं, स्वयं से सुधरें तो सुधर सकते हैं; कोई उन्हें सुधार नहीं सकता। पर की पर्याय को मैं बनाऊँ, यह तो मिथ्यात्वभाव है।

यहाँ तो अपने अवलम्बन से ही शुद्धता के अंश से लेकर पूर्णता प्रगट होती है, यह बात है। सादि अनन्त... अनन्त... समाधि का सुख प्राप्त करने का उपाय यह एक ही है। **प्रगटि बूंदि सागर थयौ.....** अनुभव की बूँद प्रगट हुई थी, उसमें से यह केवलज्ञान का सागर प्रगट हो जाता है। अन्तर में वस्तुस्वभाव में जो केवलज्ञान और अनन्त आनन्द पड़ा है, उसमें से अनुभव होने पर जो अंकुर फूटा, उसमें से केवलज्ञान और सिद्धदशा का समुद्र प्राप्त होता है।

वह सिद्धदशा कैसी है? अविचल है, अखण्ड है, अनुभय है, और अक्षय है। सिद्धदशा प्रगट हुई, वह अब कभी विचलित नहीं होगी – ऐसी अचल है। पर्याय की पूर्णता प्रगट हुई है, उसमें कहीं खण्ड नहीं पड़ेगा – ऐसी अखण्डदशा है। सिद्धपद में कोई भय नहीं है, इसलिए वह अनुभय है और अक्षय है, इसलिए अब उसका कभी

www.vitragvani.com

क्षय होनेवाला नहीं है। सिद्धपद का उत्पाद हुआ, वह व्ययरहित है; इसलिए सिद्धपद का कभी व्यय नहीं होता और संसार का व्यय हुआ, उसका अब कभी उत्पाद नहीं होगा।

जब तक स्वयं हीनदशा करता था, तब तक ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का निमित्त था, वरना ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा के ज्ञान का नाश करता है – ऐसा तीन काल में नहीं है। परद्रव्य आत्मा को नुकसान करता है – ऐसा तीन काल-तीन लोक में कभी नहीं हो सकता। स्वयं ज्ञान की दशा हीन करे, तब ज्ञानावरणी कर्म को निमित्त कहा जाता है। इसी प्रकार दर्शन उपयोग को जीव स्वयं हीन करता है, तब दर्शनावरणीकर्म को निमित्त कहा जाता है। सुख-दुःख की कल्पना स्वयं करता है, तब उसे वेदनीयकर्म का निमित्त कहा जाता है, उसके साथ मोह भी सुख-दुःख की कल्पना का कारण है। मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप जीव स्वयं परिणमे, तब उसे दर्शनमोह और चारित्रमोह का निमित्त है। कर्म कहीं आत्मा को हीन कर देता है – ऐसा नहीं है।

स्वयं अपने स्वरूप का लाभ नहीं लेता, तब लाभान्तराय कर्म का निमित्त होता है। स्वरूप का भोग नहीं करता, तब भोगान्तराय कर्म का निमित्त होता है। स्वरूप का बारम्बार भोग करना चाहिए था, वह नहीं करता, तब उपभोगान्तराय कर्म का निमित्त कहलाता है परन्तु कर्म, आत्मा को कुछ भी नुकसान कर सकता है, यह बात तीन काल-तीन लोक में शक्य नहीं है – ऐसी वस्तुस्थिति है। इस स्थिति को अनुभव में लेकर जिसने केवलज्ञान प्रगट किया, उसे क्या प्रगट होता है ? वह आगामी पद्य में कहते हैं।

अष्ट कर्मों के नष्ट होने से अष्ट गुणों का प्रगट होना (सवैया इकतीसा)

ग्यानावरनीकै गयैं जानियै जु है सु सब,
दर्सनावरनकै गयैतैं सब देखियै।
वेदनी करमके गयैतैं निराबाध सुख,
मोहनीके गयैं सुद्ध चारित विसेखियै॥
आउकर्म गयै अवगाहना अटल होइ,
नामकर्म गयैतैं अमूरतीक पेखियै।

www.vitragvani.com

अगुरु अलघुरूप होत गोत्रकर्म गयै,
अंतराय गयैतैं अनंत बल लेखियै॥ ५३॥

अर्थ – ज्ञानावरणीय कर्म के अभाव से केवलज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के अभाव से केवलदर्शन, वेदनीय कर्म के अभाव से निराबाधता, मोहनीय कर्म के अभाव से शुद्ध चारित्र, आयु कर्म के अभाव से अटल अवगाहना, नाम कर्म के अभाव से अमूर्तीकता, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व और अन्तराय कर्म के नष्ट होने से अनन्त वीर्य प्रगट होता है। इस प्रकार सिद्ध भगवान में अष्ट कर्मरहित होने से अष्ट गुण होते हैं।

काव्य-५३ पर प्रवचन

पहले उपादान से बात ली थी कि शुद्धता के आश्रय से क्रम-क्रम से सिद्धपद प्राप्त होता है। अब इस पद्य में निमित्त से बात की है। शुद्धस्वभाव का आश्रय करने पर ज्ञानावरणादि निमित्त छूटते जाते हैं। आत्मा उन निमित्तों को छोड़ता है – ऐसा नहीं है। जड़ कर्म तो जगत के स्वतन्त्र पदार्थ हैं। उन्हें ग्रहण कौन करे और छोड़े कौन? वे तो स्वयं छूटते हैं। आत्मा ज्ञानावरणी का नाश करता है – ऐसा कहना भी व्यवहार है। आत्मा में ज्ञानानन्द की दशा की पूर्णता होने पर ज्ञानावरणी कर्म स्वयं अकर्मरूप हो जाता है, तब उसका नाश आत्मा ने किया – ऐसा कहा जाता है। केवलज्ञान होने पर तीन काल-तीन लोक का जानना होने लगता है।

श्रोता : केवलज्ञान में ज्ञात होता है – ऐसा ही जगत में होता है तो पुरुषार्थ कुछ नहीं रहा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : केवलज्ञान में ज्ञात होता है – ऐसा ही जगत में होता है परन्तु उस केवलज्ञान को कौन मान सकता है? जो अपने श्रद्धा-ज्ञान में अखण्डानन्द मूर्ति को लेता है – अनुभव करता है, वही केवलज्ञान को मानता है, वही पुरुषार्थ है।

एक व्यक्ति ने प्रश्न किया था कि क्रमबद्ध की बात करो न! तो कहा, जगत् के पदार्थ की अवस्था जिस काल में जो होने योग्य है, वह हुआ ही करती है परन्तु उसे माननेवाला कौन होता है? जिसकी दृष्टि निमित्त से हटकर, राग से हटकर, एक समय की पर्याय से हटकर, त्रिकाल ज्ञायकभाव पर दृष्टि पड़े और अनुभव हो, तब उसे क्रमबद्ध का

www.vitragvani.com

सच्चा ज्ञान होता है। कठोर बात है। क्रमबद्ध में कर्तापने का नाश है, ज्ञातापने का उत्पन्न होना है। क्रम-क्रम से जिस समय में जो राग होता है, उसका भी क्रमबद्ध माननेवाला ज्ञाता रहता है, कर्ता नहीं होता। मैं पर का कुछ कर दूँ, राग करूँ.... ऐसा माननेवाले ने क्रमबद्ध को नहीं माना है।

दर्शनावरणी कर्म के अभाव से केवलदर्शन होता है अर्थात् जिसने स्वभाव का आश्रय लेकर केवलदर्शन प्रगट किया, उसे दर्शनावरणी कर्म स्वयं नष्ट हो जाता है; आत्मा उस कर्म का नाश नहीं करता है। अरे! आत्मा, राग का भी नाश नहीं करता तो कर्म तो परद्रव्य है, उसका नाश आत्मा किस प्रकार करेगा? कर्म बाँधना या नाश करना, आत्मा के स्वभाव में ही नहीं है। परमार्थ से आत्मा राग का नाश करनेवाला भी नहीं है। यदि राग का नाश करनेवाला हो, तब तो उसे राग की दृष्टि हुई। आत्मा तो रागरहित तत्त्व है, राग तो आस्रवतत्त्व है और आत्मा, जीवतत्त्व है। इन दोनों तत्त्व को एक माने, वह तो मूढ़ है। कठोर लगे ऐसी बात है।

सिद्ध भगवान को वेदनीय कर्म के अभावपूर्वक निराबाध-अव्याबाध गुण प्रगट होता है; वेदनीय कर्म हट जाता है। मोहनीय में दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ था और फिर चारित्रमोह का अभाव होने पर चारित्र प्रगट हुआ। चारित्र तो अपने पुरुषार्थ से प्रगट हुआ है परन्तु तब चारित्रमोह का नाश होता है और अपने आनन्द में रमणता होती है। आयुकर्म के अभाव से नष्ट न हो - ऐसी अवगाहना प्राप्त होती है, वह अवगाहनात्व गुण है। नामकर्म के अभाव से सिद्ध को अमूर्तिकपना होता है। अमूर्तस्वभाव था, वह पर्याय में पूर्ण प्रगट हो गया। गोत्रकर्म के अभाव से सिद्ध को अगुरुलघुपना प्राप्त होता है, सिद्ध में कोई छोटा-बड़ापना नहीं रहता है। सिद्ध भगवान को आठ कर्म के अभावपूर्वक ऐसी दशा होती है।

सम्यग्दर्शन होने पर आठों ही कर्म के अंश का नाश होता है और सिद्धदशा होने पर आठों ही कर्मों का पूर्ण नाश होता है। सिद्ध को अनन्त अन्तराय नष्ट हो गया है और अनन्त पुरुषार्थ प्रगट है। इसलिए कहा कि **अंतराय गयैतैं अनंत बल लेखियै।**

इस प्रकार सिद्ध भगवान को अष्ट गुण होते हैं। यों तो अनन्त गुण पूर्ण प्रगट हैं परन्तु

www.vitragvani.com

आठ कर्म के निमित्त में आठ गुण की पर्याय हीन थी, वह पूर्ण प्रगट हो गयी, इसलिए व्यवहार से सिद्ध को आठ गुण प्रगट हुए कहा जाता है। निश्चय से तो अनन्त गुण निर्मल हैं।

अब, इस नौंवे अधिकार का सार कहते हैं।

नववें अधिकार का सार

प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष है, और मोक्ष आत्मा का निज-स्वभाव अर्थात् जीव की कर्ममल रहित अवस्था है। वास्तव में सोचा जावे तो मोक्ष होता ही नहीं है, क्योंकि निश्चयनय में जीव बँधा हुआ नहीं है - अबन्ध है, और जब अबन्ध है, तब छूटेगा ही क्या? जीव का मोक्ष हुआ, यह कथन व्यवहारमात्र है, नहीं तो वह हमेशा मोक्षरूप ही है।

यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि जो मनुष्य दूसरों के धन पर अपना अधिकार जमाता है, उस मूर्ख को लोग अन्यायी कहते हैं। यदि वह अपनी ही सम्पत्ति का उपयोग करता है तो लोग उसे न्यायशील कहते हैं, इसी प्रकार जब आत्मा परद्रव्यों में अहङ्कार करता है, तब वह अज्ञानी मिथ्यात्वी होता है, और जब ऐसी बद आदत को छोड़कर आध्यात्मिक विद्या का अभ्यास करता है तथा आत्मीक रस का स्वाद लेता है, तब प्रमाद का पतन करके पुण्य-पाप का भेद हटा देता है और क्षपकश्रेणी चढ़कर केवली भगवान बनता है, पश्चात् थोड़े ही समय में अष्ट कर्मरहित और अष्ट गुणसहित सिद्ध पद को प्राप्त होता है।

मुख्य अभिप्राय ममता हटाने और समता सम्हालने का है। जिस प्रकार कि सुनार के प्रसङ्ग से सोने की नाना अवस्थाएँ होती हैं परन्तु उसकी सुवर्णता कहीं नहीं चली जाती, जलाने से फिर सुवर्ण का सुवर्ण ही बना रहता है; उसी प्रकार यह जीवात्मा अनात्मा के संसर्ग से अनेक वेष धारण करता है परन्तु उसकी चैतन्यता कहीं चली नहीं जाती - वह तो ब्रह्म का ब्रह्म ही बना रहता है। इसलिए शरीर से मिथ्या अभिमान हटाकर आत्मसत्ता और अनात्मसत्ता का पृथक्करण करना चाहिए। ऐसा करने से थोड़े ही समय में आधुनिक बूँद मात्र ज्ञान स्वल्प काल ही में समुद्ररूप परिणमन करता है और अविचल अखण्ड अक्षय अनभय और शुद्धरूप होता है।

www.vitragvani.com

सार पर प्रवचन

ज्ञात हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व, वह संवर, निर्जरा तथा मोक्ष है। यहाँ विशेषता यह है कि मिथ्यात्व को ही आस्रव-बन्ध गिना गया है। अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि तो साधारण है, उनकी यहाँ गिनती ही नहीं है, वे तो सामान्य पाप है, मिथ्यात्व ही महापाप है। कसाईखाने लगाने के पाप से भी इस मिथ्यात्व का पाप अनन्त गुना है।

सम्यग्दर्शन होने पर वह जीव एक भी रजकण या राग की क्रिया का कर्ता नहीं होता। कर्ता हो तो मिथ्यात्व है, वह आस्रव-बन्ध है। लोगों को बाह्यक्रिया की इतनी महिमा है कि हम व्यवहार भी पालन करते हैं और निश्चय की श्रद्धा रखते हैं - यह हमारा अनेकान्त है - ऐसा वे मानते हैं। भाई! यह अनेकान्त नहीं है। व्यवहार अर्थात् राग; उसे पालना है - ऐसा भाव मिथ्यात्व है। वीतराग का मार्ग वीतरागभाव से शुरु होता है; राग के भाव से शुरु हो, वह वीतरागमार्ग नहीं है।

मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध है - ऐसा कहा है तो एकान्त नहीं होता होगा? नहीं; भगवान के ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को भूलकर कहीं भी स्वामीपना मानना, वह मिथ्यात्वभाव ही है। उससे ही आस्रव-बन्ध होता है। भले ही वह क्रिया शुभ हो - व्रतादि पालन करता हो, आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करता हो परन्तु उस शुभराग की रुचि है और स्वभाव की रुचि नहीं है तो मिथ्यात्व ही है।

मुझे किसी से लाभ होगा - ऐसी चीज मैं नहीं हूँ तथा मैं दूसरे को लाभ प्राप्त कराऊँ - ऐसी चीज मैं नहीं हूँ। मुझे कोई नुकसान कर सके - ऐसा मैं नहीं हूँ। मैं दूसरे को नुकसान कर सकूँ - ऐसा मैं नहीं हूँ। इसलिए मैं पर को लाभ-नुकसान दूँ या मुझे परद्रव्य लाभ-नुकसान दे - ऐसी मान्यता मिथ्यात्वभाव है, वही आस्रव और बन्ध है। वीतराग के अतिरिक्त ऐसी बात अन्यत्र नहीं हो सकती। दुनिया अनेक प्रकार से मानती है, वह वीतरागमार्ग नहीं है। जैन के साधु के अतिरिक्त कोई साधु सच्चा नहीं हो सकता क्योंकि जैन अर्थात् वस्तुस्वरूप है।

www.vitragvani.com

जिन सो ही है आतमा, अन्य सो ही है कर्म,
ये ही वचन से समझ ले, जिनप्रवचन का मर्म॥

आत्मा जिनस्वरूप वीतराग मूर्ति है, उसमें राग नहीं होता। वीतरागस्वभाव में से ही वीतरागता आती है, बाहर से नहीं आती। वीतरागस्वभाव की बात वीतरागमार्ग में ही होती है, अन्यत्र नहीं हो सकती है।

मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, और योग – ये पाँचों ही बन्ध के कारण होने पर भी, बन्ध का मुख्य कारण मिथ्यात्व ही है; दूसरे कारण गौण हैं। मिथ्यात्व का अभाव ही सम्यक्त्व संवर, निर्जरा, और मोक्ष है। मिथ्यात्व का नाश होने पर समकितरूपी संवरदशा और संवरपूर्वक शुद्धता के कारण से अशुद्धता का नाश होता है और पूर्ण शुद्धता होने पर मोक्ष होता है। देखो! क्या कहा? सम्यक्त्व स्वयं संवर-निर्जरा और मोक्ष है तथा मोक्ष ही जीव का स्वभाव है अर्थात् जीव की कर्ममलरहित अवस्था है।

निश्चय से विचार किया जाये तो जीव का मोक्ष नहीं होता क्योंकि निश्चयनय से जीव बँधा हुआ नहीं है; पर्याय अपेक्षा से जीव को बन्धन है और मुक्ति होती है। वस्तु अपेक्षा से तो जीव अबन्ध ही है।

आत्मा को राग का बन्धन कहना, वह तो व्यवहार है। इस कारण राग का अभाव करना और मुक्ति होना, वह भी व्यवहार है। राग का परिणमन पर्याय में है, वह छूटकर मुक्ति / सिद्धदशा भी पर्याय में है; इसलिए व्यवहार है। निश्चय से देखें तो आत्मा अबन्ध है, इसलिए उसे छूटना भी कहाँ रहा? जीव का मोक्ष हुआ, यह कथन व्यवहार से है।

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ मुक्तस्वरूप ही है। उसका आश्रय करने पर पर्याय में मुक्ति होती है, वह व्यवहार है। जीव तो स्वभाव से हमेशा मोक्षस्वरूप ही है। श्रीमद् में आता है कि जीव का मोक्ष समझा जाता है, मोक्ष होता नहीं है.... 'दिगम्बर के आचार्यों ने ऐसा स्वीकार किया है कि जीव का मोक्ष होता नहीं है परन्तु मोक्ष समझा जाता है।' श्रीमद् ने जिस प्रकार कहा है, उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि जीव शुद्ध स्वरूपी है, उसे बन्ध हुआ ही नहीं है; इसलिए मोक्ष होना भी कहाँ रहा? जीव ने माना हुआ है कि मैं बँधा हुआ हूँ, यह मानना विचार द्वारा समझ में आता है कि मुझे बन्धन नहीं है, मात्र माना

www.vitragvani.com

था, वह मान्यता शुद्धस्वरूप समझने से नहीं रहती है, इसलिए मोक्ष समझा जाता है, यह बात निश्चयनय की है परन्तु यदि पर्यायार्थिकनयवाले इस नय को लगकर आचरण करें तो भटककर मरनेवाले हैं क्योंकि पर्याय अपेक्षा से वर्तमान में मुक्ति नहीं है, निश्चयनय से मुक्ति है। श्रीमद् के ३२ वें वर्ष में यह ८० वाँ बोल है – यही बात यहाँ आयी है।

भगवान आत्मा त्रिकाल विकल्प से रहित स्वरूप है। १४-१५ गाथा में समयसार में आया न! जिसने आत्मा को अबद्ध और अस्पृष्ट जाना, माना और अनुभव किया, वह जैनशासन है। लोगों को व्यवहार का पक्ष इतना हो गया है कि उसमें से निकलना कठिन पड़ता है।

परमात्मप्रकाश में भी कहा है कि व्यवहार से बन्ध और मोक्ष है; निश्चय से जीव को बन्ध और मोक्ष नहीं है। जो बँधा हुआ नहीं है, उसे बँधा हुआ कहना, वह गाली है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु वस्तुस्वभाव से मुक्त ही है, उसका अवलम्बन लेकर जो मुक्तपर्याय प्रगट होती है, वह व्यवहार है; त्रिकाली द्रव्य वह निश्चय है।

प्रगट होओ.... प्रसिद्ध होओ... कि मिथ्यात्व ही आस्रव और बन्ध है। मिथ्यात्व क्या है? निमित्त का आश्रय करना, शुभाशुभभाव का आश्रय लेना, वह सब मिथ्यात्वभाव है। वह मिथ्यात्व ही विकार है, आस्रव है, बन्ध है और संसार है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम की रुचि, निमित्तों की रुचि और एक समय की शुद्धपर्याय की रुचि भी मिथ्यात्व है।

प्रश्न : एक समय की शुद्ध पर्याय की रुचि भी मिथ्यात्व है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि को तो शुद्धपर्याय है ही कहाँ? सम्यक्त्वी को शुद्धपर्याय है परन्तु उसकी रुचि नहीं है; रुचि और दृष्टि द्रव्य की है। वस्तु सूक्ष्म है भाई! प्रगट निर्मल पर्याय को भी निश्चय से परद्रव्य कहा गया है।

निमित्त अथवा संयोग – देव-शास्त्र-गुरु का हो या स्त्री, कुटुम्ब, परिवार का हो या सम्मेदशिखर अथवा शत्रुंजय का हो.... उसकी रुचि तथा दया, दान, व्रतादि या हिंसा, झूठ, अव्रतादि की रुचि तथा एक समय की पर्याय – जो प्रगट अंश है, उसकी रुचि, वही

www.vitragvani.com

संसार, वही मिथ्यात्व और वही आस्रव-बन्ध है। ज्ञानी सम्यक्त्वी को यह सब होने पर भी उसकी रुचि नहीं है; रुचि तो द्रव्य की है कि जिसमें गुणरत्नों की खान पड़ी है।

देखो, ऐसी बात जैन के अतिरिक्त अन्य कहाँ होगी ? भगवान तीन लोक के नाथ ने आत्मा को त्रिकाल आनन्दकन्द देखा है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसी वस्तु अन्य किसी को देखने में नहीं आती है; इसलिए सर्वज्ञ द्वारा कथित आगम और सर्वज्ञ अनुसारिणी वाणी ही 'प्रमाण' है। इसके अतिरिक्त अज्ञानी की वाणी या तर्क आदि कोई प्रमाण नहीं है।

भाई ! मिथ्यात्व ही संसार है। राग की, निमित्त की या पर्याय की रुचि अर्थात् द्रव्य के साथ उनकी मैत्री करना, वह मिथ्यात्व है। वीतराग पर्याय में भी रुचि तो द्रव्य की है। वीतराग पर्याय में से वीतरागता नहीं आती है। सम्यग्दर्शन पर्याय में से सम्यक्चारित्र नहीं आता है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की रुचि से सम्यक्त्व आदि पर्यायें प्रगट होती हैं। दृष्टि का विषय तो ध्रुव ही है।

भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण शुद्ध चैतन्यघन आनन्दकन्द है परन्तु उसका इसे विश्वास नहीं है और शरीर मेरा, वाणी मेरी, राग मेरा है और एक समय का अंश ही मैं हूँ - ऐसा विश्वास है, वही मिथ्यात्व है, वही आस्रव-बन्धभाव है, संसारभाव है। ऐसी बात सर्वज्ञ वीतराग के सिवाय कहीं नहीं होती।

'मिथ्यात्व ही संसार है' - ऐसे शब्द कहें हैं तो उसमें एकान्त तो नहीं होता न ? मिथ्यात्व एक ही संसार हो तो अव्रत, प्रमाद, कषाय, और योग को क्या कहोगे ? क्या वह संसार नहीं है ? क्या वह आस्रव-बन्ध का कारण नहीं है - ऐसा प्रश्न उठे तो कहते हैं कि अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग तो अल्प आस्रव है, उसकी कोई गिनती नहीं है। अनन्त संसार का आस्रव करनेवाला तो मिथ्यात्वभाव ही है; इसलिए मिथ्यात्व ही आस्रव है, बन्ध है, दुःख है, संसार है और उसका अभाव अर्थात् सम्यक्त्व ही संसार का अभाव है, दुःख के नाश का उपाय है। सम्यक्त्व ही संवर, निर्जरा और मोक्ष है। मिथ्यात्व, वह संसार है तो उसके समक्ष सम्यक्त्व, वह मोक्ष है।

अरे प्रभु ! तेरी एक-एक शक्ति में अनन्त ताकत है। ऐसी अनन्त शक्तिवान तू परमात्मा है, तू जिनस्वरूप आत्मा है, उसकी रुचि छोड़कर राग की रुचि करता है, वह

www.vitragvani.com

पामरता की रुचि है, वह रुचि तेरी प्रभुता को लूट लेती है। अनन्त काल में तूने अपनी चीज का अवलम्बन लिया ही नहीं; बाह्य चीज का अवलम्बन लिया है। अब यदि राग की, व्यवहार की रुचि का, पर की रुचि का, एक समय की पर्याय की रुचि का अभाव और त्रिकाल ज्ञायकभाव की रुचि का सद्भाव होवे तो वह सम्यक्त्व है। परमसत् त्रिकाली भगवान का आश्रय लेना ही सम्यक्त्व है, वह संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण है। यह मूल बात है।

अहा! सम्यग्दर्शन क्या चीज है? यह लोगों को पता नहीं है। इसलिए व्रत ले लो, तप करो, संयम पालो, इस प्रकार बाह्य क्रिया और राग की क्रिया करते-करते आत्मा का आश्रय हो जाएगा – ऐसा मानते हैं, वह मिथ्यादृष्टि की मूढ़ता है।

त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु ही मूल वस्तु है, वही सत्य है, वही भूतार्थ है, वही यथार्थ है; उसके सन्मुख होकर स्वद्रव्य का ज्ञान करके प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है। वही संवर, निर्जरा और मोक्ष है। आत्मा मोक्षस्वरूप है, उसकी प्रतीति और अनुभव होना, वह मोक्ष है। अस्थिरता का थोड़ा भाग बाकी है, वह गौण है; वह तो निकल जाएगा। मूल हाथ में आ गया फिर क्या बाकी रहेगा?

आत्मा स्वयं साक्षात् भगवान है, वस्तुरूप से ऐसे भगवान आत्मा का अनुभव करने पर जो आनन्दसहित प्रतीति आती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति है। प्रभु! स्वयं महा खजाना है, उसका विश्वास करने योग्य है। आत्मा परम अमृत का सागर है। लोगों को ऐसा लगता है कि क्या सम्यक्त्व हुआ तो मोक्ष हो गया? अरे भाई! जिसने त्रिकाली शक्ति के नाथ को अनुभवसहित प्रतीति में लिया उसने पूर्ण आत्मा को अधिकार में कर लिया है। जिसमें अनन्त चारित्र शक्ति पड़ी है, अनन्त वीर्य पड़ा है, अनन्त आनन्द पड़ा है, वह सब अधिकार में आ गया। उसका वीर्य अब स्वसन्मुख गति करने लगता है।

देखो, कितना स्पष्ट किया है! सम्यग्दर्शन संवर है, सम्यग्दर्शन निर्जरा है और सम्यग्दर्शन मोक्ष है। कल श्रीमद् में से कहा था न! दिगम्बर के आचार्य ऐसा मानते हैं कि आत्मा का मोक्ष होता नहीं है, मोक्ष समझ में आता है। अज्ञान में इसने माना था कि मैं रागादि बन्धस्वरूप हूँ; सम्यक्त्व होने पर वह छूट गया और स्वयं को बन्धरहित – अबन्धस्वरूप

www.vitragvani.com

देखने लगा। इसलिए कहा कि जीव का मोक्ष होता नहीं है परन्तु मैं मोक्षस्वरूप हूँ – ऐसा समझ में आ जाता है।

साधारण लोगों को अटपटी लगे परन्तु मूल मार्ग की बातें ही ऐसी हैं। भाई! मूलमार्ग को समझे बिना सब निरर्थक है। वृक्ष का मूल काटे तो पत्ते तो पन्द्रह दिन में सूख जानेवाले हैं। इसी प्रकार संसार वृक्ष का मूल मिथ्यात्व है, उसका स्वभाव के आश्रय से नाश किया तो राग के पत्ते तो सूख जानेवाले हैं। मूल में से पोषण नहीं मिले तो पत्ते सूख जाएँगे। इसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी मूल का नाश होने पर अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि को पोषण नहीं मिलने से वे मिट जाते हैं।

साक्षात् चैतन्य परमात्मा को अनुसरण करके जो परिणति प्रगट होती है, वही सम्यग्दर्शन है, वही संवर, निर्जरा और मोक्ष है। सम्यग्दृष्टि को व्रत का विकल्प आता है, वह भी आस्रव है तो मिथ्यादृष्टि व्रत ले लो... व्रत ले लो तो संसार से छूट जाएँगे – ऐसा मानता है परन्तु वह तो आस्रवभाव ही है। स्त्री, पुत्रादि छोड़ दूँ तो मेरा संसार छूट जाएगा... भाई! तुझे अजीव और आस्रवतत्त्व का भी पता नहीं है। जो छूटे हुए ही पड़े हैं – ऐसे अजीवतत्त्व को तू अपने से भिन्नपने जान तो वे तो छूटे हुए ही हैं।

मोक्ष, आत्मा का निज स्वभाव अर्थात् जीव की कर्ममलरहित अवस्था है। अष्टपाहुड़ में मोक्षपाहुड़ की एक गाथा में आता है कि सम्यक्त्व का ध्यान करने से अष्टकर्म का नाश होता है। मैं पूर्ण आनन्दमय पूर्ण शुद्ध हूँ – ऐसा ध्यान करने से आठ कर्मों का नाश होता है। रागादि, मल से रहित मोक्ष, वह आत्मा की निर्मल दशा है।

वास्तव में विचार किया जाए तो जीव मोक्षस्वरूप होने से उसका मोक्ष होता नहीं है, क्योंकि निश्चयनय में जीव बँधा नहीं है, अबन्ध है और जब अबन्ध है, तब छूटेगा क्या? जीव का मोक्ष हुआ – यह कथन व्यवहारमात्र है। जीव तो हमेशा मोक्षरूप ही है।

यथार्थदृष्टि से देखें तो जीव का मोक्ष होता नहीं है। श्रीमद् ने भी यह बात बत्तीसवें वर्ष में लिखी है कि दिगम्बर के आचार्यों ने ऐसा स्वीकार किया है कि जीव का मोक्ष होता नहीं है परन्तु मोक्ष समझा जाता है। मैं त्रिकाल रागरहित हूँ, मुझे बन्धन ही नहीं है। समयसार में १४-१५ गाथा में भी आया है कि जीव अबद्ध है। अबद्ध अर्थात् बँधा हुआ

www.vitragvani.com

नहीं, मोक्षस्वरूप है। वह इस प्रकार है कि आत्मा शुद्ध स्वरूप है। आस्रव और बन्ध, आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं, मात्र पर्याय में है। पुण्य-पाप और भावबन्ध आत्मा के स्वरूप में कहाँ है? आत्मा तो भावबन्ध और भावास्रव से रहित शुद्धस्वरूपी है। वस्तु में बन्ध कैसा? वस्तु-स्वभाव में बन्ध हो तो बन्ध का अभाव कभी होगा ही नहीं। अन्तर में अनुभव में ऐसी प्रतीति आना, उसमें अनन्त पुरुषार्थ है। उसकी महिमा नहीं है और बाहर की क्रिया करने में रस है, उसे अन्तर अनुभव कहाँ से होगा?

आत्मा को द्रव्य-अपेक्षा से बन्ध हुआ ही नहीं तो फिर मोक्ष कहाँ से होगा? इसने अज्ञान से माना था कि मैं रागसहित हूँ और मैं ही बँधा हूँ.... विचार द्वारा समझ में आता है, सम्यग्ज्ञान द्वारा समझ में आता है कि वास्तव में मैं राग से बँधा हुआ नहीं हूँ। मुझमें द्रव्यबन्ध तो है ही नहीं परन्तु राग में रुकनेरूप जो भावबन्ध है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है।

यह तो वीतरागमार्ग है बापू! सर्वज्ञदेव एक समय में अनन्त केवलियों को जानते हैं; भूत, भविष्य, वर्तमान को तीन काल को जानते हैं... अरे! उस ज्ञान की सत्ता का माहात्म्य कितना! एक समय की पर्याय की इतनी ताकत है तो उस द्रव्य का माहात्म्य कितना! द्रव्यस्वभाव से मैं मुक्त ही हूँ, मुझे बन्धन नहीं है; मात्र मान्यता ऐसी थी कि मैं रागी हूँ - ऐसा माननापना शुद्ध स्वरूप समझने से नहीं रहता। इसलिए 'मोक्ष समझ में आता है' - यह बात शुद्धनय की / निश्चयनय की है। पर्यायनयवाले अर्थात् राग मेरा है, पुण्य मेरा है, इस प्रकार लग रहे जीव यदि ऐसा आचरण करने लगे कि मुझे कोई बन्ध नहीं है, मैं तो मुक्त हूँ तो वे परिभ्रमण कर मरनेवाले हैं क्योंकि पर्यायबुद्धि में तो पड़े हैं और शुद्धनय जैसा आचरण करने लगे तो क्या होगा?

दो वस्तु हों तो बन्ध होता है न! अकेले आत्मा को बन्ध कैसा? प्रवचनसार में आता है कि 'भावबन्ध है, वह द्वितीय चीज है; आत्मा की चीज नहीं है'। अबन्धस्वरूपी आत्मा ज्ञान में आया, उसे मोक्ष ही है। 'एकडे एक और बिगड़े दो।' दो हो तो बन्ध होता है, एकरूप शुद्धस्वरूप में बन्ध नहीं है। सम्यग्दर्शन की विषयभूत ध्रुववस्तु अबन्ध है, वह अलौकिक चीज है, उसका सम्यग्दर्शन हुआ, उसे सम्यग्ज्ञान और मोक्ष होगा ही। जहाँ अबन्धवस्तु का भान हुआ, श्रद्धा हुई, वह परिणाम भी अबन्ध हो गया। द्रव्य और गुण तो अबन्ध है और परिणाम भी अबन्ध हो गया।

www.vitragvani.com

यह मूल चीज है। इसकी समझ बिना व्रत, तप, करके मर जाए तो भी वह बिना अंक की शून्य है। रण में रुदन जैसा कार्य है। अरण्य रुदन को कौन सुनेगा?

भगवान आत्मा शुद्धस्वरूपी प्रभु अबन्ध ही है तो वह छूटेगा क्या? पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की १४ वीं गाथा में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि भगवान आत्मा, कर्म और कर्म के निमित्त से होनेवाले विकार से असमाहित है। जड़कर्म और रागरूपी आस्रव से आत्मा रहित है, उसे सहित मानना, वह भव का बीज है। भव का बीज अर्थात् मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही भव का बीज है।

जीव का मोक्ष हुआ, यह कथन व्यवहारमात्र है; निश्चय से तो जीव त्रिकाली ज्ञायकभाव ही है। सिद्धदशा और संसारदशा पर्याय है; इसलिए व्यवहार है। वीतराग द्वारा कथित त्रिकाली आत्मा ही वास्तविक आत्मा है। वीतराग के अतिरिक्त दूसरा कोई आत्मा की बात करता है, वह यथार्थ आत्मा नहीं है। केवलज्ञान में भगवान ने एक-एक आत्मा को जैसा देखा है, वह यह अबन्ध और शुद्धस्वरूपी आत्मा है। उसे मोक्ष कहना, वह व्यवहार है, पर्याय है। द्रव्य तो सदा मोक्षस्वरूप ही है।

यह बात जगत प्रसिद्ध है कि जो मनुष्य दूसरे के धन पर अपना अधिकार जमाता है, उस मूर्ख को लोग अन्यायी कहते हैं। यदि वह अपनी ही सम्पत्ति का उपयोग करता है तो लोग उसे न्यायशील कहते हैं। नियमसार में भी ऐसा दृष्टान्त आता है कि निधि पाकर जीव एकान्त में उसका भोग करता है। यह बाहर की निधि का दृष्टान्त है। स्वयं के पुण्य से प्राप्त लक्ष्मी स्वयं भोगे तो उसे चोर नहीं कहा जाता; लौकिक अपेक्षा से उसे न्याय कहते हैं, धर्म अपेक्षा से नहीं। धर्म की अपेक्षा से तो जब आत्मा, परद्रव्यों में अहंकार करता है, तब वह अज्ञानी मिथ्यात्वी है और जब ऐसी टेव छोड़कर उस आध्यात्मिक विद्या का अभ्यास करता है तथा आत्मिकरस का स्वाद लेता है, तब वह ज्ञानी होता है।

यह परद्रव्य मेरे हैं, राग वह मैं हूँ, पर्यायमात्र ही मैं हूँ – ऐसा अहंकार करता है, वह अज्ञान है, मिथ्यात्व है। आत्मा तो वास्तव में परद्रव्य का स्पर्श ही नहीं करता परन्तु राग का भी स्पर्श नहीं करता। आत्मा के लिए 'करना सो मरना' जैसी बात है। आत्मा को रहने का स्थान – आयतन स्वयं आत्मा है, बाकी सब परद्रव्य आत्मा के लिए अनायतन हैं। इसलिए

www.vitragvani.com

भले वह मुनि हो, पंच महाव्रत पालन करता हो परन्तु राग की क्रिया करना, वही मेरा कार्य है और एक समय की पर्याय जितना ही मैं हूँ – ऐसा मानता है तो वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

राग में और एक समय के परिणमन में ही अपनापन मानना, वह बद् आदत है अर्थात् खराब आदत है। बाह्य विद्याएँ भी सब व्यर्थ है, मूर्खता है, यह तुम्हारी वकालात की विद्या को कैसी कहना?

रामजीभाई : वह विद्या तो भटकने की विद्या है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह डॉक्टर की विद्या, वकील की विद्या आदि सब विद्याएँ मूर्खता से भरी हैं। जब मैं ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा, राग से भिन्न हूँ – ऐसी आध्यात्मिक विद्या का अभ्यास करता है–स्वभाव से अभिन्न और राग से भिन्नपने का अभ्यास करता है, तब उसे सच्ची विद्या प्राप्त होती है। तब से आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्दरस का स्वाद आता है। अध्यात्मविद्या की शुरुआत चौथे गुणस्थान से होती है, तब से अतीन्द्रिय आनन्द शुरु हुआ। वह पाँचवें, छठवें, सातवें में बढ़ते–बढ़ते बारहवें गुणस्थान में पूर्णानन्द प्रगट हो जाता है और तेरहवें में तो अनन्त आनन्द आता है। शुभभाव ठीक और अशुभभाव अठीक – ऐसा भाव भी उसे नहीं होता। प्रमादमात्र का पतन करके पुण्य–पाप का भेद मिटा देता है। आत्मा का आनन्द आना, वह अप्रमाद है, उसके समक्ष शुभभाव भी प्रमाद है।

बहिर्मुखता में से हटना और अन्तरोन्मुख होना ही अध्यात्मविद्या है। उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है, इस कारण प्रमत्तभाव का नाश होता है। अन्दर में स्थिरता की धारा बढ़ते–बढ़ते क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट किया तत्पश्चात् प्रमाद छोड़कर अप्रमाद में आया और तत्पश्चात् शुक्लध्यान की धारा में केवलज्ञान प्रगट किया। देखो! यह परमात्मा होने की विधि है।

केवली हुए, वहीं भगवान को चार घातिकर्मों का तो नाश हो गया, चार अघातिकर्म शेष रहे वे भी अल्प काल में मिटकर भगवान आठ गुणसहित सिद्धपद को प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् तो सादि अनन्त–अनन्त काल प्रभु सिद्ध समाधि सुख में ही रहते हैं।

www.vitragvani.com

इस प्रकार मोक्ष अधिकार में सिद्धपद प्राप्ति का उपाय बतलाया है। यहाँ मुख्य अभिप्राय ममता दूर करने का और समता लाने का है। रागादि मेरे हैं – ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्व की मान्यता है। कोई ऐसा कहे कि हम तो व्यवहार का आचरण करते हैं और श्रद्धा में निश्चय रखते हैं, तो यह बात सत्य नहीं है। राग का करना – व्यवहार का करना, वह आत्मा का कार्य नहीं है।

लोगों को राग करने की बात बहुत पसन्द आती है; इसलिए उसे सुनने में तो बड़ी-बड़ी सभाएँ भर जाती हैं परन्तु वहाँ सत्य का शरण नहीं है। भाई! सत्य का शरण तो कोई अलग ही चीज है। वहाँ दूसरे के साथ समन्वय कैसे होगा? आत्मा का धर्म, वही एक धर्म है, दूसरा कोई धर्म नहीं है। समस्त धर्मों को समान माननेवाले लोग बहुत उदार लगते हैं परन्तु सभी धर्म कहाँ हैं? धर्म तो भगवान आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं हैं। संक्षिप्त में मुख्य अभिप्राय यह है कि परद्रव्य की सम्हाल छोड़कर स्वद्रव्य की सम्हाल करना – यह मुख्य वस्तु है।

पहला लड़का एक्सीडेंट में मर गया, वह बहुत याद आता है... ड्राईवर के बगल में वाहन में बैठा था, सामने से ट्रक आया, उसमें खिंच गया और दो वाहन के बीच में चपेट में आ गया। इसकी दशा ऐसी होने योग्य थी, वह हुई परन्तु माता-पिता को तो मोह का दु:ख लगता है न! माँ रोते-रोते निकलती थी कि बेटा! अब तू कहाँ जाएगा! २४ वर्ष का युवा ऐसा चला गया, इसलिए पूरे गाँव में त्रास हो गया, गाँव बन्द रहा। तिथि पर कितने लोग सब आये, ऐसी स्थिति इस जीव की अनन्त बार हुई।

जैसे बाहर में दो वाहन के बीच में मनुष्य चपेट में आ जाता है, इसी प्रकार राग में एकत्व मानकर आत्मा मिथ्यात्व की चपेट में आ गया है। अपने शुद्धस्वरूप की रुचि छोड़कर दया, दान आदि एक समय की पर्याय में एकत्वबुद्धि से आत्मा की शान्ति को चकचूर कर डालता है, आत्मा का नाश करता है।

यह शरीर तो माँस का पुतला है, पहला लड़का रोटी की तरह चपेट में आ गया। इसी तरह तेरे साथ भी ऐसी दशा अनन्त बार हुई है, भगवान! इसलिए माँस के पुतले में रस लेने योग्य नहीं है भाई! शरीर की सुन्दरता देखकर मजा मानना, वह मूर्खता है। तेरा

www.vitragvani.com

मजा तो तेरे पास है, पर से मजा / आनन्द माननेरूप मिथ्यात्व में तो आत्मा का नाश होता है; इसलिए पर में से आनन्द की गन्ध लेना, वह भी मिथ्यात्व है।

जैसे, सोनी के संग में स्वर्ण की अलग-अलग अवस्थाएँ होती हैं, परन्तु उसका स्वर्णपना चला नहीं जाता, गलने से फिर स्वर्ण का स्वर्ण ही बना रहता है। आभूषण अनेक प्रकार के बनाओ तो भी स्वर्ण का स्वर्णपना कहीं चला नहीं जाता; इसी प्रकार यह जीवात्मा, अनात्मा के संसर्ग से अनेक वेष धारण करता है परन्तु उसका चैतन्यपना कहीं चला नहीं जाता है। राग और विकल्प के संसर्ग से आत्मा अनेक वेष धारण करता है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय... पंचेन्द्रिय, स्त्री, पुरुष आदि पर्यायें धारण करता है परन्तु उसकी चेतनता कहीं चली नहीं जाती है। चैतन्य का चेतनपना जो ध्रुवस्वरूप है, वह कहाँ जाएगा? आभूषण होने से स्वर्ण का स्वर्णपना कहीं चला नहीं जाता; इसी प्रकार एकेन्द्रिय आदि पर्यायें धारण करने से चेतन का चेतनपना कहीं चला नहीं जाता है। चेतनपना तो ऐसा का ऐसा ही रहता है। आनन्दस्वरूप ब्रह्म तो आनन्दस्वरूप ही रहता है - ऐसी दृष्टि होने में अनन्त पुरुषार्थ है। राग पर दृष्टि है, उसकी गुलाट मारकर मैं तो त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ - ऐसी दृष्टि करने में अनन्त पुरुषार्थ है।

॥ समयसार नाटक प्रवचन - दूसरा भाग सम्पूर्ण ॥